श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरॉव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी–५

प्रथम संस्करण ११०० प्रति,
दीपावली, वी० नि० सं० २५०२

मूल्य [illegible]

भगवान महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-रजतशती
तथा वर्णी-शताब्दिके मङ्गल प्रसङ्गपर

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९६२ में जैन साहित्यका इतिहास (पूर्ववीठिका) प्रकाशित हुआ था। उसके अगले दो भागोंकी सामग्री भी ग्रन्थमालामें उसके यशस्वी लेखक श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री-ने लिखकर दे दी थी। और वे दोनो भाग भी कई वर्ष पूर्व छप जाना चाहिए थे। किन्तु कई कारणो और विघ्न-बाधाओसे वे नही छप पाये। हम नही चाहते कि उन कारणो और विघ्न-बाधाओका यहाँ अकन किया जाय। कठिनाई यह है कि जिसे मत्री चुना जाता है उसे ही **'पीर ववरची भिस्ती खर'** बनना पडता है।

सन् १९६४–६५ में हमे अध्यक्ष व अन्य सदस्योने आर्थिक सहायता प्राप्त करानेके आश्वासनके साथ ग्रन्थमालाके नये मन्त्रित्वका दायित्व सोपा था। उस समय ग्रन्थमालाकी स्थिति ऐसी थी कि उसे भारतीय ज्ञानपीठ या अन्य प्रकाशन-सस्थाओको दे देनेका समितिने कई वार विचार ही नही किया, पत्राचार भी किया। किन्तु कोई प्रकाशन-सस्था उसे ले न सकी। फलत ग्रन्थमाला-समिति-ने १९–१०–१९६४ की कटनी बैठकमें हमें मत्री और हमे ग्रन्थमालाकी आर्थिक दशा सुधारनेके लिए स्वर्गीय सेठ भागचन्द्रजी डोगरगढ और उपाध्यक्ष श्रीमान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने प्रेरणा और आश्वासन दिया कि वे हमें अवश्य ग्रन्थमालाकी दशा सुधारनेमें सहयोग करेंगे। किन्तु हमें स्वय उसकी स्थितिको उन्नत करनेमें लगना पडा और संरक्षक-सदस्यकी योजना द्वारा न केवल ग्रन्थ-मालाकी स्थितिको उन्नत किया, अपितु कई ग्रथोको प्रकाशित भी किया गया। पूज्य वर्णीजीका समयसार-प्रवचनके दो सस्करण, वर्णी-वाणी १, २, ३ के दो-दो संस्करण, मेरी जीवनगाथाका द्वितीय सस्करण, जैनदर्शनका दूसरा-तीसरा सस्करण, द्रव्यसंग्रह-भाषावचनिका, मन्दिरवेदीप्रतिष्ठा-कलशारोहणविधिका दूसरा संस्करण, सामायिकपाठ, अनेकान्त और स्याद्वादका दूसरा सस्करण, अध्यात्म-पत्रावली व सत्यकी ओर के दो-दो सस्करण, आदिपुराणमें प्रतिपादित भारत, तत्त्वार्थसार, सत्प्ररूपणासूत्र और कल्पवृक्ष इन ग्रंथोका पिछले वर्षोमें प्रकाशन हुआ है और इससे ग्रन्थमाला सप्रमाण हो गयी।

किन्तु हमें दु ख ही नही मार्मिक पीडा है कि पिछले दिनोमें हमें जो आर्थिक सकट रहा उसे बार-बार अध्यक्षजीके सामने रखा। किन्तु हम उनसे उस सकट-निवारणमें असमर्थ रहे। सौभाग्यकी बात है कि जैनसाहित्यके इतिहासके अगले दो भागोको स्वर्गीय डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री, श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी और

हमने व्यवस्थित रूप देनेका प्रयास ही नही किया, आर्थिक सहयोगमें भी प्रयत्न किया है। बा० नन्दलालजी सरावगी कलकत्ता और उनकी प्रेरणासे तैयार कुछ दाताओने भी इन भागोके प्रकाशनमे महत्त्वपूर्ण आर्थिक दान दिया। सुहृद्वर प० खुशालचन्द्रजी गोरावालाकी प्रेरणाको भी हम नही भुला सकते, जिन्होने भी इनके प्रकाशनमे हाथ बटाया है। अभी इन दोनो भागोकी छपाई-बाईडिग, कागज आदिमें हमे लगभग छ हजार रुपएकी आवश्यकता है। आशा है हमारे उपर्युक्त सहयोगी तथा अन्य उदार दानी हमें उक्त छोटी-सी राशिके प्राप्त करानेमें पूरा-पूरा सहकार करेगे।

हम श्रद्धेय पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री सिद्धान्ताचार्यके बहुत आभारी है, जिन्होंने ये दोनों भाग १३ वर्ष पूर्व लिखकर ग्रन्थमालाको दे दिये थे और अब तक धैर्य पूर्वक उनके प्रकाशनकी प्रतीक्षा की। किन्तु हम सकारण विवश थे इससे पूर्व छापने में। फिर उनसे क्षमा-प्रार्थी हूँ। हर कार्यकी काल-लब्धि होती है, तभी वह सम्पन्न होता है। पिछले दो वर्षोकी एक लम्बी कहानी है, जिसे हम यहाँ छोड रहे है।

हमें इतनी ही प्रसन्नता है कि वर्द्धमान मुद्रणालयकी प्रतीक्षित सलग्नतासे अब दोनों भाग दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशमें आ जायेंगे और सरक्षक सदस्योको दिये आश्वासनोकी पूर्ति हो सकेगी।

जय महावीर।

भ० महावीरकी २५००वी,
निर्वाण-शताब्दी
३ नवम्बर १९७५

(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया
मन्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला,

लेखकके दो शब्द

जैन साहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिका सन् १९६३ में प्रकाशित हुई थी। अव बारह वर्षोंके पश्चात् जैनसाहित्यका यह करणानुयोग विषयक इतिहास प्रकाशित हो रहा है, यह भी मेरे लिये परम सन्तोष और प्रसन्नताकी बात है। मुझे तो इसके प्रकाशनकी कोई आशा ही नही थी, क्योंकि उक्त प्रकाशनके साथ ही श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमालाका कार्य ठप्प जैसा हो गया था। किन्तु सौभाग्यवश उसके मन्त्रित्वका भार डॉ० प० दरबारीलालजी कोठियाने उठा लिया और उन्हीके प्रयत्नके फलस्वरूप मेरा यह श्रम रद्दीकी टोकरीमें जानेसे बच गया। यह करणानुयोगके अन्तर्गत केवल कर्मसिद्धान्त विषयक साहित्यका ही इतिहास है। लोकानुयोग विषयक साहित्यका इतिहास इसके दूसरे भागमें आयेगा। वह भी प्रेसमें है और यदि वर्द्धमान मुद्रणालयके मालिक की कृपा दृष्टि रही तो शीघ्र ही प्रकाशित हो जायगा और मैं उसे प्रकाशित हुए अपनी आँखोंसे देख सकूँगा।

दि० जैनसमाजमे विद्वानोकी तो कमी नही है किन्तु जैनसाहित्य और उसके इतिहासके प्रति विशेष अभिरुचि नही है। दि० जैनसमाजमें भी चरित्रके प्रति तो आदरभाव है किन्तु ज्ञानके प्रति आदरभाव नही है। इसीसे जहाँ दि० जैनमुनिमार्ग वृद्धि पर है वहाँ जैन पण्डित धीरे-धीरे कालके गालमें जाते हुए समाप्तिकी ओर बढ रहे है। दि० जैनमुनिमार्ग पर धन खर्च करनेसे तो श्रीमन्तोको स्वर्ग सुखकी प्राप्तिकी आशा है किन्तु दि० जैन विद्वानोके प्रति धन खर्च करनेसे उन्हें इस प्रकारकी कोई आशा नही है। फलत निर्ग्रन्थोके प्रति तो धनिकोके द्रव्यका प्रवाह प्रवाहित होता है और गृही जैन विद्वानोंको आजकी महँगाईमें भी पेट भरने लायक द्रव्य भी कोई देना नही चाहता। इससे विद्वान् तैयार होते है और समाजसे विमुख होकर सार्वजनिक क्षेत्र अपना लेते है। वहाँ उन्हें धन-सम्मान दोनो मिलते हैं। ऐसेमें साहित्यकी सेवा तो वही कर सकता है जिसे उससे अनुराग होता है। ऐसे अनुरागी थे डॉ० हीरालाल और डॉ० उपाध्ये। किन्तु आज दोनो ही नही है। डॉ० हीरालालजीके पश्चात् डा० उपाध्येके स्वर्गत हो जानेसे दि० जैनसमाजका साहित्यिक क्षेत्र सूना जैसा हो गया है। उनकी सब साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नि शेप हो गई हैं और ग्रन्थमालाएँ अनाथ जैसी हो गई है।

डॉ० उपाध्येसे पहले डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री तो एकदम असमयमे ही स्वर्गवासी हो गये।

मैंने यह इतिहास आजसे बीस वर्ष पहले लिखना शुरू किया था। उस समय मैं लिखता चला गया और फिर उसे व्यवस्थित करनेकी रुचि भी नही हुई क्योकि प्रकाशनकी तो कोई आशा नही थी। लिखकर समाप्त करनेके दस वर्ष पश्चात् जब उसके प्रकाशनकी बात चली तो मैं उस लिखे विषयसे दूर चला गया था, मेरी स्मृतिमे वह नही था। उसमें मन भी नही लगता था। तब यह तय हुआ कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ एक बार उसका पारायण कर लिया जाये। स्वर्गवासी होनेके तीन मास पूर्व वह कुछ दिन बनारसमें ठहरे और उनकी तथा डॉ० कोठियाकी उपस्थितिमें उसे व्यवस्थित किया गया। तब किसे कल्पना थी कि डॉ० नेमिचन्द शास्त्रीके साथ यही अन्तिम संगोष्ठी है।

आज इसके प्रकाशनके समय उनकी स्मृति विशेष रूपसे होना स्वाभाविक है। वह भी जैनसाहित्यरूपी महलके एक स्तम्भ थे। उनके पश्चात् ही डॉ० गुलाबचन्द चौधरी भी स्वर्गवासी हो गये। जैनसाहित्य और इतिहासके वे भी एक सुलेखक विद्वान् थे। इन सबके अभावमें जैनसाहित्यका यह इतिहास प्रकाशित होनेसे भी एक तरहका दु ख ही होता है कि अब इसको आगे गति कौन देगा ?

दि० जैन समाजमें एक वर्ग ऐसा है जो अपनेमें ही मग्न रहता है और विश्व-में क्या होता है, इसे देखकर भी नही देखता। दि० जैनसाहित्य कितना पिछड गया है, सार्वजनिक क्षेत्रमें उसका मूल्याकन करनेकी ओरसे कितना अज्ञान या उपेक्षा है इसे अनुभव करनेवाले भी इने गिने है। डॉ० उपाध्ये देश विदेशके जर्नल्समें जैनसाहित्यके विषयमे लिखते रहते थे। उनके पश्चात् तो कोई ऐसा विद्वान् दृष्टिगाचर नही होता। अत अब यह पिछडना और भी बढेगा। इस ओर मैं उदीयमान जैन विद्वानोका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। अस्तु

कर्मसिद्धान्तका विषय सूक्ष्म है। आज तो उसके अध्येता भी अत्यन्त विरल है। तब मेरे इस इतिहासको कौन पढेगा यह मैं नही जानता। किन्तु इसे देखकर भी यदि किन्हीकी साहित्यिक इतिहास विषयक रुचि जाग्रत हुई तो मैं अपने श्रमको सफल समझूँगा।

जब पीठिकाका प्रकाशन हुआ था तो उसमें जो खर्चेकी विगत दी गई थी, उसमें पारिश्रमिक मध्ये दस हजार रुपये दिखाये गये थे। उसकी कोई विगत नही दी गई थी और न उस विषयमे कुछ लिखा ही गया था। फलत एक आवाज समाचार पत्रोमे उठाई गई कि जैनसाहित्यके इतिहासकी पूर्वपीठिकाका पारिश्रमिक मुझे दस हजार रुपया दिया गया है। ग्रन्थमालाकी ओरसे उसका स्पष्टीकरण किया गया। यहाँ मैं अपने उन मित्रोकी गलतफहमी दूर करनेके लिये यह स्पष्ट कर देना उचित समझता हूँ कि यह भाग और इसका आगामी दूसरा भाग भी पूर्व

पारिश्रमिकमें ही सम्मिलित है, इनका मैंने कोई नया पारिश्रमिक नही लिया है। भगवान महावीरके पच्चीससौवे निर्वाण महोत्सव वर्षकी समाप्तिके साथ ही इसका प्रकाशन विशेप आनन्दकारी है। इसमें उन्हीकी दिव्यध्वनिसे निसृत वाड्मयका इतिहास गुम्फित है। वीरप्रभुका शासन जयवन्त रहो।

दीपावली
वीर नि० स० २५०२

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय-सूची

अन्य कर्मसाहित्य

उत्तरकालीन कर्मसाहित्य

जैनसाहित्यका इतिहास

जैनसाहित्यका इतिहास

प्रथम अध्याय

मूलागम-साहित्य

प्रथम परिच्छेद

कसायपाहुड

प्रास्ताविक

पूर्वमें प्रकाशित 'जैन साहित्यका इतिहास' (पूर्व पीठिका) प्रथम भागमें श्रुतावतार और श्रुत-परिचय विस्तारपूर्वक लिखा गया है। अत यहाँ केवल सन्दर्भ-निर्वाहके लिए जैन साहित्यके उद्गम, विस्तार और श्रुतावतारपर सक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है।

जैन साहित्यका उद्गम

जैनसाहित्यके उद्गमकी कथाका आरम्भ भगवान महावीरसे होता है, क्योंकि पार्श्वनाथके कालके जैनसाहित्यका कोई सकेत तक उपलब्ध नही है। फिर जैन परम्पराके अनुसार महावीर भगवानने जिस दिन धर्मतीर्थका प्रवर्तन करना प्रारम्भ किया उसी दिन पार्श्वनाथका तीर्थकाल समाप्त हो गया और भगवान महावीरका तीर्थकाल चालू हो गया। आज भी उन्हीका तीर्थ प्रवर्तित है। अत उपलब्ध समस्त जैनसाहित्यके उद्गमका मूल भगवान् महावीरकी वह दिव्यवाणी है, जो १२ वर्षकी कठोर साधनाके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर लगभग ४२ वर्षकी अवस्थामें (ईस्वी सन्से ५५७ वर्ष) श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके[1] दिन ब्राह्ममुहूर्तमें राजगृहीके बाहर स्थित विपुलाचल पर्वतपर प्रथम बार निसृत हुई थी और तीस वर्ष तक निसृत होती रही थी।

उनकी उस वाणीको हृदयगम करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने बारह अगोमें निबद्ध किया था। उस द्वादशागमें प्रतिपादित अर्थको यत गणधरने भगवान महावीरके मुखसे श्रवण किया था, इससे उसे 'श्रुत' नाम दिया गया और भगवान महावीर उसके[2] अर्थकर्ता कहलाये। गौतम गणधरने उसे ग्रन्थका रूप दिया,

---

१ षट्खं० पु० १, पृ० ६२-६३।

२. 'तत्थ कत्ता दुविहो, अत्थकत्ता गथकत्ता चेदि। तदो भावसुदस्स अत्थपदाण च तित्थयरो कत्ता। तित्थयरादो सुदपज्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दव्वसुदस्स गोदमो कत्ता। तत्तो गंथरयणा जादेत्ति।' —षट्खं०, पु० १, पृ० ६०-६५

इसलिये वह ग्रन्थकर्ता कहलाये।

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् वही द्वादशागरूप, श्रुत गुरु-शिष्यपरपराके रूपमें मौखिक ही प्रवाहित होता रहा और श्रुतकेवली भद्रबाहुके समय तक अविच्छिन्न बना रहा। किन्तु उनके समयमे मगधमें बारह वर्षका भयंकर दुर्भिक्ष पडनेसे सघ-भेद हो गया। और इस सघ-भेदके कारण सबसे अधिक क्षति द्वादशागरूप श्रुतको पहुँची। उस समय द्वादशाग श्रुतके एकमात्र प्रामाणिक उत्तराधिकारी श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। किन्तु बौद्ध सगीतिकी तरह पाटलिपुत्रमें जो प्रथम जैन वाचना हुई कही जाती है वह उनकी अनुपस्थितिमे ही हुई। और उसमें भी केवल ग्यारह अगोका ही सकलन किया जा सका। किन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बारहवा अग सकलित नही हो सका, क्योकि उसका जानकार श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरा व्यक्ति नही था।

भद्रबाहुके पश्चात् जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर पन्थमें विभाजित हो गया और दोनोकी गुरुपरम्परा भी भिन्न हो गई। सभवतया श्रुतकेवली भद्रबाहुका वारसा दोनो ही परम्पराओको प्राप्त हुआ था। फलत दिगम्बर परम्परामें महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष तक (विक्रम सम्वत्की दूसरी शताब्दी पर्यन्त) अगज्ञान यद्यपि प्रचलित रहा, किन्तु दिन-पर-दिन क्षीण होता चला गया।

(श्वेताम्बर परम्परामे पाटलिपुत्रके बाद दूसरी वाचना मथुरामे की गई और वीर निर्वाणसे ९८० वर्ष अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् वलभीकी तीसरी वाचनाके समय सकलित ग्यारह अगोको पुस्तकारूढ किया गया। किन्तु महत्त्वपूर्ण बारहवाँ अग तो नष्ट ही हो गया। उसीके भेद चौदह पूर्व थे। उन्हीके कारण बारहवे अगका महत्त्व था। श्वेताम्बर परम्परामे तो ग्यारह अगोकी उत्पत्ति पूर्वोसे ही मानी गई है। अत पूर्वोका महत्त्व निर्विवाद है।)

इन्ही चौदह पूर्वोमेसे दो पूर्वोके दो अवान्तर अधिकारोसे सम्बद्ध दो महान् ग्रन्थराज दिगम्बर परम्परामे सुरक्षित हैं। उनमे वर्णित विषय और उसका विस्तार भी पूर्वोके महत्त्वको ख्यापन करता है। दिगम्बर परम्पराके जैनसाहित्यका इतिहास एक तरहमे इन्ही ग्रन्थराजोसे आरम्भ होता है। अथवा यह कहना उचित होगा कि दिगम्बर परम्पराके साहित्यका उद्गम पूर्वोके उन विशकलित अशोसे होता है जो उमे उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुए थे।

जैनसाहित्यका विस्तार

जैन साहित्य बहुत विस्तृत है, ऐसा कोई विषय नही है जिसपर जैनाचार्योंने अपनी लेखनी न चलाई हो। और इसका कारण यह है कि भगवान् महावीरने अपने समयमे उपस्थित किसी चर्चाको अव्याकृत कहकर अलक्षित या उपेक्षित

नही किया था। तत्त्वज्ञान, आचार, लोकविभाग आदि सभी विषयोपर उनकी वाणी प्रवाहित हुई थी। उनमेंसे अनेक विषयोके सम्बन्धमे उनकी स्वतत्र और मौलिक देन थी, जो जैन तत्त्वज्ञानकी अपनी विशेषता कहलाती है। उनके पश्चात् उनके अनुयायी शिष्यो और प्रशिष्योने टीकाओ और मौलिक रचनाओके रूपमें उनके सिद्धान्तोको निबद्ध करके जैन साहित्यके भण्डारको बराबर समृद्ध किया।

यद्यपि भगवान् महावीरने तत्कालीन लोकभाषा अर्धमागधीको अपने उपदेशोका माध्यम बनाया था, और इस तरह गौतम गणधरके द्वारा ग्रथित द्वादशाग श्रुतकी भाषा भी अर्धमागधी थी। किन्तु उनका लोप होने पर भी महाराष्ट्री और शौरसेनी भाषाएँ, जो प्राकृतके ही भेद है, जैन आगमिक साहित्यकी रचनाका माध्यम रही। और जब सस्कृतभाषा लोकप्रिय हुई तो जैनाचार्योने उसके भण्डारको अपनी कृतियोंसे भरा। पीछे अपभ्रश भाषाका प्रचार होनेपर अपभ्रश भाषाको अपनाकर उसे समृद्ध बनाया। अपभ्रश भाषा तो एक तरहसे जैन ग्रन्थकारोकी कृतियोसे ही समृद्ध हुई थी।

इसलिये डाक्टर विन्टरनीट्सने[1] लिखा था कि "भारतीय भाषाओके इतिहासकी दृष्टिसे भी जैनोका साहित्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योकि जैनोने सदा इस बातका ध्यान रखा है कि उनकी रचनाएँ अधिक-से-अधिक जनताके लिये उपयोगी हो। इसीसे आगमिक रचनाएँ और प्राचीनतम टीकाएँ तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ और काव्य लिखना शुरू किये। कुछ ग्रन्थकारोने सरल सस्कृतमे रचनाएँ की, तो कुछने काव्यशैलीमें परिश्रमसाध्य सस्कृतभाषाको अपना कर प्राचीन सस्कृत-कवियोसे टक्कर ली। " ।

अन्तमें, काफी आधुनिक कालमें जैनोने विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओका भी उपयोग किया और उन्होने खासतौरसे हिन्दी और गुजराती भाषाको समृद्ध बनाया।[2]

---

१. हि० इ० लि०, भा० २, पृ० ४२७।

२ जैन साहित्यकी तालिकाके लिये देखिये—आर० जी० भण्डारकरकी रिपोर्ट १८८३-८४, पिटर्सनकी रिपोर्ट ४, और ५, ए० बी० कीथकी 'बोडलियन' (Bodlian) लाइब्रेरीके प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, मध्यप्रदेश और बरारकी सरकारी आज्ञासे प्रकाशित सस्कृत और प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची (नागपुर १९२६), रायल एशियाटिक सोसायटी बम्बई शाखाकी लायब्रेरीके सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंकी वर्णनात्मक सूची जिल्द ३,४। इण्डिया आफिसके सस्कृत-प्राकृत ग्रन्थोंकी सूची, जिल्द २। जिनरत्नकोश, पूना। जैन सिद्धान्त भवन आराकी सूची, भा० ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित कन्नड प्रान्तीय ग्रथसूची। राजस्थानके जैन भण्डारोंकी ग्रन्थसूची छह भाग। ऐलक पन्नलाल सरस्वती भवन बम्बईकी ग्रन्थसूची, तथा पाटन और जैसलमेरके भण्डारोंकी सूचियाँ, तथा अन्य सूचियाँ।

दक्षिणकी तमिल और कनडी भाषामे भी जैन साहित्य कम नही है। चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यकालके अन्तमें श्रुतकेवली भद्रबाहु मगधमे दुर्भिक्ष पड़ने पर एक बडे साधु-संघके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। उसके बादसे दक्षिण जैन संस्कृतिका केन्द्र बन गया और लिंगायतोंके अत्याचारोंके आरम्भ होने तक वहां जैनोका अच्छा प्रभाव रहा। दिगम्बर परम्पराके अधिकाश प्राचीन ग्रन्थकार दक्षिणके थे। अत उन्होने प्राकृत और संस्कृतकी तरह कनडी और तमिलमे भी खूब रचनाएँ की। अतएव कनडी और तमिल भाषामे भी प्रचुर जैन साहित्य उपलब्ध है। इस तरह जैन साहित्य बहुत विस्तृत है।

वर्गीकरण और कालक्रम

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराओके साहित्यमे समस्त जैन साहित्यका वर्गीकरण विषयकी दृष्टिसे चार भागोमे किया है। वे चार विभाग है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। पुराण, चरित आदि आख्यानग्रन्थ प्रथमानुयोगमें गर्भित किये गये है। करणशब्दके दो अर्थ है—परिणाम और गणितके सूत्र। अत खगोल और भूगोलका वर्णन करनेवाले तथा जीव और कर्मके सम्बन्ध आदिके निरूपक कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ करणानुयोगमें लिए गये है। आचार-सम्बन्धी साहित्य चरणानुयोगमे आता है और द्रव्य, गुण, पर्याय आदि वस्तुस्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थ द्रव्यानुयोगमे आते है।

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार यह अनुयोग-विभाग आर्यरक्षितसूरिने किया था। अन्तिम दसपूर्वी आर्यवज्रका स्वर्गवास वि० स० ११४ में हुआ। उसके बाद आर्यरक्षित हुए। उन्होने भविष्यमें होनेवाले अल्पबुद्धि शिष्योका विचार करके आगमिक साहित्यको चार अनुयोगोमें विभाजित कर दिया। जैसे, ग्यारह अगोको चरणकरणानुयोगमें समाविष्ट किया, ऋषिभाषितोका समावेश धर्मकथानुयोगमें किया, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदिको गणितानुयोगमे रखा और बारहवें अग दृष्टिवादको द्रव्यानुयोगमें रखा।[1]

दिगम्बर परम्परामें जिसे प्रथमानुयोग नाम दिया है उसे ही श्वेताम्बर परम्परामें धर्मकथानुयोग कहा है और श्वे० परम्परामें जिसे गणितानुयोग सज्ञा दी गई है, उसका समावेश दिगम्बर परम्पराके करणानुयोगमें होता है।

इस तरह विषयकी दृष्टिसे जैन आगमिक तथा तदनुसारी अन्य साहित्य चार भागोमें विभाजित है।

डा० विन्टरनीट्सने लिखा है[2] कि यद्यपि जैनधर्म बौद्धधर्मसे प्राचीन है तथापि

---

१ आव० नि० गा० ७६३-७७७।

२, हिं० इं० लि०, भा० २, पृ०४२६।

जैनोका आगमिक साहित्य अपने प्राचीनतम रूपमें हम तक नही आ सका (दुर्भाग्य-से उसके कुछ भाग ही सुरक्षित रह सके और उनका वर्तमान रूप अपेक्षाकृत काफी अर्वाचीन है ।)

डा० भण्डारकरने[1] दिगम्वर परम्परके कथनको विश्वस्त मानते हुए यह मत प्रकट किया था कि 'वीरनिर्वाणके पश्चात् ६८३ व्रर्ष पर्यन्त, (ई० १३६) जब कि अगोके अन्तिम ज्ञाता आचार्यका स्वर्गवास हुआ, जैनोमे कोई लिखित आगम नही था' ।

सम्भवतया यह वात वारह अगोके सम्वन्धमें कही गई है, क्योकि उनका लेख-नकार्य श्वेताम्वर मान्यताके अनुसार वीरनिर्वाणसे ९८० या ९९३ वर्प पश्चात् हुआ था ।

किन्तु डा० विन्टरनीट्सका मत है कि उक्त द्वादशागरूप आगमसाहित्यसे इतर आगमिक जैन साहित्यकी रचना श्वेताम्वरीय आगम-सकलनासे वहुत पहले ही प्रारम्भ हो गई थी, जैसा वि हमें आगे ज्ञात हो सकेगा ।

सव वातोको दृष्टिमें रखते हुए जैन साहित्यके विकासका इतिहास प्रथम शताव्दी ईस्वीपूर्वसे आरम्भ होकर वर्तमानकाल तक आता है । इस सुदीर्घ कालको पाँचसौ-पाँचसौ वर्पोमें विभाजित करनेसे निम्न प्रकारसे उसका विभाग होगा—

१. ईस्वी पूर्व प्रथम शताव्दीसे ईस्वी सन्‌की चतुर्थ शताव्दीके अन्ततक ।
२, ईस्वी सन्‌की पाचवी शताव्दीके प्रारम्भसे ईस्वी सन्‌की नौवी शताव्दीके अन्ततक ।
३ ईस्वी सन्‌की दसवी शताव्दीके प्रारम्भमें १४वी शताव्दीके अन्ततक ।
४ और ईस्वी सन् १५ वी शताव्दीके प्रारम्भसे १९ वी शताव्दीके अन्ततक ।

श्रुतावतार

अन्तिम[2] तीर्थङ्कर भगवान महावीर स्वामीने केवलज्ञान होनेके पश्चात् राज-गृह नगरके निकट विपुल नामक पर्वतपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन ब्राह्म मुहूर्तमें अपनी प्रथम धर्मदेशना दी । उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतमने उसे वारह अगो और चौदह पूर्वोमे निवद्ध किया । इस श्रुतके अर्थकर्ता भगवान महा-वीर थे और ग्रन्थकर्ता गौतम गणधर । गौतम गणधरसे वह श्रुत लोहाचार्य अपर नाम सुधर्मा स्वामीको प्राप्त हुआ और सुधर्मासे जम्वू स्वामीको । जम्वू स्वामीके

---

१. रिपोर्ट १८८३-८४, पृ० १२४ ।

२. भूतवली-पुष्पदन्तकृत पट्‌ख०, पु० १, पृ० ६५-६६ । गुणधरकृत क० पा०, भा० १, पृ० ८३-८७ ।

पश्चात् क्रमश पांच आचार्य श्रुतज्ञानके पारगामी हुए, जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। भद्रबाहुके पश्चात् श्रुतज्ञानका क्रमश विच्छेद होना प्रारम्भ हो गया।

(भद्रबाहुके पश्चात् ग्यारह आचार्य ग्यारह अगो और दश पूर्वोके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमश पांच आचार्य ग्यारह अगोके पारगामी और चौदह पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमश चार आचार्य आचारागके पूर्ण ज्ञाता और शेष अगो तथा पूर्वोके एकदेश ज्ञाता हुए। इस तरह भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षतक श्रुतकी परपरा चालू रही।

तत्पश्चात् सब अगो और पूर्वोका एकदेश धरसेनाचार्य और गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधर भट्टारक ज्ञानप्रवाद नामक पंचम पूर्वकी दसवी वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत नामक महासमुद्रके पारगामी थे। उन्होने ग्रन्थविच्छेदके भयसे सोलह हजार पदप्रमाण 'पेज्जदोसपाहुड'का एकसौ अस्सी गाथाओमे उपसहार किया और उन्हे कसायपाहुड (कषायप्राभृत) नाम दिया। आचार्य धरसेन अष्टाग महानिमित्तके पारगामी थे और उस समय सौराष्ट्र देशके गिरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे। उन्होंने ग्रन्थ-विच्छेदके भयसे प्रवचनवात्सल्यसे प्रेरित होकर महिमा नामकी नगरीमे सम्मिलित हुए दक्षिणापथके आचार्योके पास एक लेख भेजा। उस लेखसे धरसेनाचार्यके अभिप्रायको भली-भाँति जानकर उन आचार्योंने दो सुयोग्य साधुओको आध्र देशमे बहनेवाली वेणा नदीके तटसे भेजा।

इधर एक दिन धरसेनाचार्यने रात्रिके पिछले पहर स्वप्नमे दो श्वेत विनम्र बैलोको अपने चरणोमें नमस्कार करते हुए देखा। उसी दिन वे दोनो साधु धरसेनाचार्यके चरणोमे पहुँच गये। मार्गका श्रम दूर होने पर तीसरे दिन दोनो साधुओने अपने आगमनका प्रयोजन आचार्यसे निवेदित किया। आचार्यने उनकी परीक्षा लेनेके निमित्तसे उन्हे विद्याएँ सिद्ध करनेके लिए दी। उनमेसे एकमें अधिक अक्षर थे और दूसरीमे कम। विद्याएँ सिद्ध हो गई, किन्तु दोनों विद्यादेवताओका रूप विकृत था, एक देवीके दाँत बाहर निकले थे और दूसरी कानी थी। 'देवता विकृत अगवाले नही होते' ऐसा विचारकर उन दोनोने मत्रशास्त्र-सम्बन्धी व्याकरणसे अपनी-अपनी विद्याओके हीनाधिक अक्षरोको ठीक करके पुन सिद्ध किया, तो दोनो विद्यादेवताएँ अपने स्वाभाविक रूपमें दृष्टिगोचर हुईं।

विद्या सिद्ध करनेपर उन्होने आचार्यसे सब वृत्तान्त निवेदित किया। सन्तुष्ट होकर धरसेनने उन्हे पढाना प्रारम्भ किया। पठन समाप्त होनेपर उनमेंसे एककी पूजा भूत जातिके देवोने की। इससे धरसेनने उनका नाम भूतबलि रखा। दूसरे साधुकी भूतोने अस्त-व्यस्त दंतपक्तिको पूजापूर्वक सुन्दर बना दिया, इससे

उनका नाम पुष्पदन्त रखा ।

धरसेनसे विदा लेनेके पश्चात् दोनों साधुओंने अंकलेश्वर (गुजरात) में वर्षा-वास किया । वर्षायोग समाप्त होनेपर आचार्य पुष्पदन्त तो जिनपालितको देखनेके लिए वनवास देशको चले गये और भूतबलि द्रमिल देशको चले गये । पुष्पदन्तने सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की और जिनपालितको दीक्षा देकर तथा पढ़ाकर भूतबलिके पास भेज दिया । भूतबलिने जिनपालितके पास सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे और उनके द्वारा यह भी जाना कि पुष्पदन्तकी अल्प आयु शेष है । अतः उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जानेकी आशंका हुई । तब उन्होंने द्रव्यप्रमा-णानुगमको आदि लेकर ग्रन्थ रचना की । इस तरह भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्यने षट्खण्डागम सिद्धान्तकी रचना की ।

(श्रुतावतारका यह विवरण वीरसेन स्वामीने कषायपाहुडकी टीका जयधवलामें तथा षट्खण्डागमकी टीका धवलामें दिया है । किन्तु इन्द्रनन्दिने अपने श्रुताव-तारमें[1] दोनों ग्रन्थोंके अवतारका वर्णन क्रमसे किया है । उन्होंने प्रथम षट्खण्डा-गमके अवतारकी कथा दी है, पश्चात् कषायपाहुडके अवतारकी । षट्खण्डागमकी अवतारकथामें इतना विशेष कथन है कि भूतबलि आचार्यने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारको लेकर पाँच खण्डोंकी रचना की, फिर महाबन्ध नामक छठे खण्डकी रचना की । इस तरह भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उन्हें पुस्तकोंमें स्थापित किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विध संघके साथ पुस्तकोंके द्वारा विधिपूर्वक पूजा की । इससे वह तिथि श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई । आज भी जैन उस दिन श्रुतपूजा करते हैं ।)

संक्षेपमें यह उन दो सिद्धान्त-ग्रन्थोंके अवतारकी कथा है जिनका पूर्वोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध है और जिनके ऊपर कितनी ही टीकाएँ रची गई थीं ।

यद्यपि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागमके अवतारकी कथाको प्रथम स्थान दिया है और वीरसेन स्वामीने भी प्रथम उसीपर टीका रची थी, तथापि रचनाकाल आदिकी दृष्टिसे कषायपाहुड प्रथम प्रतीत होता है । अतः प्रथम उसीके सम्बन्धमें विवेचन किया जाता है ।

---

१. एवं षट्खण्डागमरचनां प्रविधाय भूतबल्यार्यः ।
आरोप्यासद्भावस्थापनया पुस्तकेषु ततः ॥१४२॥
ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥१४३॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥१४४॥
—तत्त्वानु० पृ० ८६

कषायपाहुड

कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर

वीरसेन स्वामीकी जयधवला टीका तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे यह तो स्पष्ट है कि कसायपाहुडके रचयिता आचार्य गुणधर थे। किन्तु ये कौन थे और कब हुए थे इत्यादि बातोंको जाननेके कोई साधन दृष्टिगोचर नही होते।

इन्द्रनन्दिने[1] तो अपने श्रुतावतारमें स्पष्ट लिख दिया है कि गुणधर और धरसेनके वशगुरुके पूर्वापर क्रमको हम नही जानते, क्योंकि उनके अन्वयका कथन करने वाले आगम और मुनिजनोंका अभाव है। ऐसी स्थितिमे गुणधर और धरसेनकी वशपरम्पराके सम्बन्धमे तथा उनके पौर्वापर्यके सम्बन्धमे निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कितना कठिन है, यह लिखनेकी आवश्यकता नही है।

इन्द्रनन्दिके पूर्वज वीरसेन दोनोको वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् हुआ बतलाते है, किन्तु दोनोकी पूर्वपरम्पराके सम्बन्धमे वह भी मूक है। अत स्पष्ट है कि वीरसेन स्वामीको भी दोनोका पूर्वापर क्रम ज्ञात नही था। चूकि वीर निर्वाणसे ६८३ वर्ष पर्यन्त अगज्ञानके प्रवाहित होनेकी परम्परा प्रवर्तित थी और अगज्ञानके प्रवर्तित रहते किसी अगज्ञानीने अंगज्ञानको पुस्तकारूढ करनेका प्रयत्न किया हो, ऐसा कोई सकेत अनुपलब्ध था और गुणधर तथा धरसेनका नाम अंगज्ञानियोकी परम्परामें था नही। अत वीरसेनने दोनोको वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् बतला दिया। किन्तु ६८३ वर्षके कितने काल पश्चात् दोनो हुए, यह भी वह नही बतला सके।

जहाँ तक हम जान सके है, वीर निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त होने वाले अंगज्ञानियोकी परम्पराका सबसे प्राचीन निर्देश[2] त्रिलोकप्रज्ञप्तिमे मिलता है। त्रिलोकप्रज्ञप्ति आचार्य यतिवृषभकी कृति मानी जाती है। और आचार्य यतिवृषभने ही गुणधरके कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोकी रचना की थी। किन्तु उन्होने भी गुणधरके विषयमे कुछ नही लिखा।

अत. हमे गुणधराचार्यके विषयमे जयधवला टीका और इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे ही नीचे लिखी जानकारी प्राप्त होती है—

१ गुणधराचार्य ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्वकी दसवी वस्तु सम्बन्धी तीसरे कषायप्राभृत या पेज्जदोसपाहुडरूपी महासमुद्रके पारगामी थे।

---

१. 'गुणधरधरसेनान्वयगुर्वो. पूर्वापरक्रमोऽस्माभि ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥'

२ ति० प०, अ० ४, गा० १४७६--१४९२।

२ उन्होने सोलह हजार पदप्रमाण पेज्जदोसपाहुडको एकसौ अस्सी गाथाओमे निवद्ध किया था।

३ जयधवलाकारके अनुसार वे गाथाएँ आचार्य-परम्परासे आकर आर्यमक्षु और नागहस्ती आचार्यको प्राप्त हुई थी। किन्तु इन्द्रनन्दिके अनुसार गुणधरने स्वय उनका व्याख्यान नागहस्ती और आर्यमक्षुके लिये किया था।

४ गुणधराचार्य अगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जाने पर वीर निर्वाणके ६८३ वर्षके पश्चात् किसी समय हुए।

५ जयधवलाकारने उन्हें वाचक भी लिखा है।

अत गुणधराचार्यकी परम्परा तथा कालनिर्णय करनेके लिये उनके उत्तराधिकारी आर्यमक्षु और नागहस्तीकी ओर ध्यान देना आवश्यक है।

आर्यमक्षु और नागहस्ती—

किन्तु गुणधरकी तरह आर्यमक्षु और नागहस्तीका उल्लेख कपायप्राभृतके प्रसगसे केवल जयधवलाटीका और श्रुतावतारमे ही मिलता है, उपलब्ध अन्य दिगम्वर जैन साहित्य या शिलालेखो अथवा पट्टावलियोमें नही मिलता। जयधवलाकारने[1] गुणधरको तो केवल वाचक लिखा है किन्तु आर्यमक्षु और नागहस्तीके पहले महावाचक[2] और पीछे 'खवण' या 'महाखवण' जैसे आदरसूचक विशेषण लगाये है। इससे इतना ही व्यक्त होता है कि दोनो महान् आचार्य थे। इससे अधिक इनके सम्वन्धमे ज्ञात करनेका अन्य कोई उपाय नही है। हाँ, एक वात अवश्य उल्लेखनीय है। चूर्णिसूत्रकार यतिवृपभने अपने चूर्णिसूत्रोमे कई विपयोके सम्वन्धमें दो उपदेशोका उल्लेख किया है और उनमेंसे एक उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है। जयधवलाकारने 'पवाइज्जमाण' का अर्थ 'सर्वाचार्यसम्मत और गुरुशिष्यपरम्पराके क्रमसे आया हुआ' किया है। तथा उक्त उपदेशोमें नागहस्तीके उपदेशको पवाइज्जमाण और आर्यमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है। इसके सम्वन्धमें आगे विशेप प्रकाश डाला जायेगा।

कतिपय श्वेताम्वर पट्टावलियोमे आर्यमगु और नागहस्ती नामके आचार्योका निर्देश अवश्य मिलता है। नन्दिसूत्रकी[3] स्थविरावलीमें इन दोनो आचार्योका सम-

---

१. 'एतेनाशङ्का द्योतिता आत्मीया गुणधरवाचकेन।' —क० पा०, भा० १ पृ० ३६५।

२. 'महावाचयाणमज्जमखुखवणाणमुवदेसेण
महावाचयाण णागहत्थिखवणाणमुवदेसेण । —ज० ध० प्रेसकापी, पृ० ७५८१।

३ 'भणग करग झरग पभावग णाणदसणगुणाण।
वदामि अज्जमगु सुयसागरपारग धीर ॥२८॥'
वड्ढउ वायगवसो जसवसो अज्जणागहत्थीण।
वागरणकरणभगियकम्मपयडीपहाणाण ॥३०॥,' —नन्दि०

रण बडे आदरके साथ करते हुए आर्यमंगुको ज्ञान और दर्शन गुणोंका प्रभावक तथा श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है और नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान बतलाते हुए उनके वाचकवंशकी वृद्धिकी शुभकामना की है।

आवश्यक नि० में[1] गणधरवंशके साथ वाचकवंशको भी नमस्कार किया है। टीकाकार मलयगिरिने इसकी टीकामें वाचकका अर्थ उपाध्याय, और गणधरका अर्थ आचार्य किया है। किन्तु नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्होंने वाचकका दूसरा ही अर्थ दिया है—'जो शिष्योंको पूर्वगत सूत्र तथा अन्य सूत्रोंकी वाचना करता है उसे वाचक कहते[2] है।'

षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत बन्धन-अनुयोगद्वारके १९वें सूत्रमें भी वाचक गणि आदि लब्धियोंका निर्देश है। धवलाटीकाकार वीरसेन स्वामीने ग्यारह अंगोके ज्ञाताको गणी और बारह अंगोके ज्ञाताको वाचक[3] कहा है। इससे यही व्यक्त होता है कि पूर्वोके ज्ञाताको वाचक कहा जाता था और वाचकोंकी परम्पराको वाचकवंश कहा जाता होगा।

श्वेताम्बर मुनि दर्शनविजयजीने लिखा[4]—'विक्रमकी छठी शताब्दी तक जैन ग्रन्थोंमें पूर्ववित् होनेका उल्लेख है।' 'पूर्वज्ञानका विच्छेद होनेके बाद वाचकवंश या वाचकशब्दका कोई पता नही लगता। इससे भी वाचक और पूर्ववित्का सम्बन्ध ठीक मालूम होता है।'

मुनिजीके लेखानुसार वाचकवंश माथुरी वाचनाका सूत्रधार अर्थात् आगमसंग्राहक सम्प्रदाय था। इसकी पट्टावली नन्दिसूत्रमें है। उसके अनुसार आर्य नागहस्तिसे आर्य नागार्जुन वाचक तक वाचकवंश होना सम्भव है।

उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर उल्लेखोसे यह प्रकट है कि पूर्वविद्को वाचक कहते थे। किन्तु वाचकवंशकी स्थिति स्पष्ट नही होती। 'नागहस्तीके वाचकवंश' से तो यही ज्ञात होता है कि नागहस्ती वाचकवंशके संस्थापक थे। किन्तु आगे नन्दीसूत्रमें[5] रेवती नक्षत्रके वाचकवंशकी वृद्धिकी कामना की गई है। और टीका-

---

१ 'एक्कारस वि गणहरे पवायए पवयणस्स वदामि।
सव्व गणहरवंस वायगवंस पवयण च ॥८२॥'
—आ० नि०

२. 'पूर्वगत सूत्रमन्यच्च विनेयान् वाचयन्तीति वाचका तेषा वंश —क्रमभाविपुरुषपर्वप्रवाह।'
—न० सू० टी०, गा० ३०।

३. षट्ख०, पु० १४, पृ० २२।

४ अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ५७७।

५ 'जच्च जणधाउसमप्पहाणमुद्दिय कुवलयनिहाण।
वड्ढउ वायगवसो रेवइनक्खत्तनामाणं ॥३१॥'

कार मलयगिरिने उन्हें नागहस्तीका शिष्य बतलाया है।

इसके सिवाय प्रज्ञापनासूत्रके प्रारम्भमे दो गाथाओके द्वारा उसके कर्ता श्यामार्यको नमस्कार करते हुए उन्हें वाचकवरवशका तेईसवाँ धीर पुरुप बतलाया है। चूकि ग्रन्थकी आदिमें ग्रन्थकार अपनेको नमस्कार नही करता, इसलिए टीकाकार मलयगिरिने उन दो गाथाओको अन्यकर्तृक कहा है, किन्तु व्याख्यान दोनो गाथाओका किया है। उन्होने लिखा है कि सुधर्मा स्वामीसे लेकर भगवान आर्य श्याम तेवीसवे थे। इसका मतलब यह होता है कि परम्परा सुधर्मासे आरम्भ हुई। (किन्तु सुधर्मासे श्यामार्य तक स्थविरोकी सख्या १२ ही होती है) अत' भगवान् महावीर और उनके शेप दस गणधरोको भी उसमें सम्मिलित करके वीरसे श्यामार्य तककी तेईस[1] सख्या पूरी की गई है और इस तरहसे वाचकवरोका वश भगवान् महावीरसे प्रारम्भ हुआ माना जाता है। किन्तु जिस श्यामार्यको प्रज्ञापनाका कर्ता और वाचकवशका तेवीसवाँ पुरुप कहा है उनकी स्थिति निर्विवाद नही है। मेरुतुगकी[2] विचारश्रेणिमें उस स्थान पर कालकाचार्यका नाम है। और व्याख्यामें लिखा है कि यह निगोदव्याख्याता कालकाचार्य ही श्यामार्य है या अन्य है, यह विचारणीय है। तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें उन्हे तत्त्वार्थसूत्रकार स्वातिका शिष्य बतलाया है। और वीर निर्वाणके ३७६वें वर्पमें उनका स्वर्गवास बतलाया है। पट्टावलीसारोद्धारमें[3] भी यही काल दिया है। (एक टिप्पणीमें[5] लिखा है कि चार कालकाचार्य हुए, जिनमेंसे प्रथम इन्द्रके प्रतिबोधक निगोदका व्याख्यान करनेवाले श्यामाचार्य थे, जो स्वातिके शिष्य थे और वी० नि० स० ३२० से ३३५ में हुए थे। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें भी उन्हे स्वातिका शिष्य बतलाया है।)

किन्तु प्रज्ञापनामें जो उन्हें वाचकवरवशका तेवीसवाँ पुरुप बतलाया है उससे

---

१ 'वायगवरवसाउ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण।
दुद्धरधरेण मुणिणा पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीण ॥३॥
सुयसागराविएऊण जेण सुयरयणमुत्तम दिण्ण।
सीसगणस्स भगवओ तस्स णमो अज्जसामस्स ॥४॥
टी०—'वाचका पूर्वविदो वाचकाश्च ते वराश्च वाचकवरा वाचकप्रधानास्तेपा वश. प्रवाह। सुधर्मस्वामिन आरभ्य भगवानार्यश्यामस्त्रयोविंशतितम एव।'
—प्रज्ञा०

२ 'अय च प्रज्ञापनोपाङ्गकृतसिद्धान्ते श्रीवीरादन्वेकादशगणभृद्भि सह त्रयोविंशतितम पुरुप. श्यामार्य इति व्याख्यात।' ततोऽसौ श्यामार्योऽन्यो वेति चिन्त्यम्।'—वि०श्र०।

३ पट्टा० स०, पृ० ४६।

४ पट्टा० स०, पृ० १५०।

५ 'चत्वार कालिकाचार्या। तद्यथा—प्रथम शक्रप्रतिबोधक. प्रज्ञापनासूत्रकृत् श्रीस्वातिसूरिशिष्य श्यामाचार्य वी० स० ३२० त. ३३५'—पट्टा० स०, पृ० १९८।

केवल यही व्यक्त होता है कि वे पूर्वविदोकी परम्परामेंसे थे। किन्तु उससे वाचक-वंशकी स्थितिपर कोई प्रकाश नही पडता।

यह हम ऊपर लिख आये है कि आवश्यकनिर्युक्तिमे गणधरवंशके साथ वाचक-वशको भी नमस्कार किया है। विशेषावश्यकभाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमे[1] उसका विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यदि गणधरो और वाचकोका वश न होता तो जिनवर भगवान् और गणधरोसे उत्पन्न हुए श्रुतका ग्रहण, धारण और दान आदि कौन करता? जैसे गणाधिप (गौतमादि) और गणधर (जम्बूस्वामी आदि शेष आचार्य) द्वादशागके वक्ता होनेके कारण शिष्योके हितकारी है, वैसे ही उस सूत्रके पाठक उपाध्याय भी शिष्योंके हितकारी है। अतः उन उपाध्यायोके वशको भी नमस्कार करते है।'

इस भाष्यके अर्थसे स्पष्ट है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणने वाचकवंशसे द्वाद-शागके पाठकोकी परम्पराका ही ग्रहण किया है। उन्होने वाचकनामके किसी विशेष वशकी सूचना नही की।

अत मूल द्वादशागके वेत्ता वाचक कहे जाते थे और उनकी परम्पराको वाचकवश कहते थे। किन्तु नन्दिसूत्रमे जो नागहस्तीके वाचकवशका उल्लेख है वह उक्त सामान्य अर्थमे प्रयुक्त न होकर विशेष अर्थमे प्रयुक्त हुआ है।

(आर्यमंगु और नागहस्तीमेंसे आर्यमगुकी गणना दशपूर्वियोमें की जाती है, क्योकि वे अन्तिम दशपूर्वी वज्रस्वामीसे पहले हुए माने जाते है। किन्तु नागहस्ती वज्रस्वामीके पश्चात् हुए थे, अत वे दशपूर्वी नही थे। वज्रस्वामीके उत्तराधिकारी[2] आर्यरक्षित थे। वे सम्पूर्ण नौ पूर्व और दशम पूर्वके २४ यविक मात्रके पाठी थे। उनके शिष्य दुर्वलिका पुष्पमित्र नौ पूर्व पढकर भी नवें पूर्वको भूल गये।)

प्रभावकचरितमें[3] आर्यनन्दिलको आर्यरक्षितके वशका तथा साढे नौपूर्वी वत-लाया है। किन्तु नन्दीसूत्रकी टीकामें मलयगिरिने आर्यनन्दिलको आर्यमगुका शिष्य वतलाया है और आर्य नन्दिलके शिष्य नागहस्ती थे। नन्दिसूत्रमे आर्यमगुको श्रुत-सागरका पारगामी और आर्यनन्दिलको दर्शन, ज्ञान एव तपमे नित्य उद्यत तथा नागहस्तीको कर्मप्रकृतिमें प्रधान वतलाया है। (टीकाकार मलयगिरिने नदिसू० टीकामें 'कर्मप्रकृति प्रसिद्ध है' मात्र इतना ही लिखा है। किन्तु कर्मप्रकृतिकी टीका-में उन्होने दूसरे अग्रायणी पूर्वके पचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका

---

१. 'जिणगणहरुग्गयस्स वि सुयस्स को गहणधरणतणाइ
कुणमाणो यह गणहरवायगवसो न होज्जाहि ॥१०६६॥
सीसहिया वत्तारो गणाहिवा गणहरा तपत्थस्स
सुत्तस्सोवज्झाया वसो तेसिं परम्परओ ॥१०६७॥'—विशे० भा०।

२ विशे० भा०, टी, गा० २५११।

३ 'आर्यनन्दिल प्रवन्ध'—प्र० च०।

नाग कर्मप्रकृति बतलाया है। यह वही कर्मप्रकृतिप्राभृत है जिसके अन्तिम ज्ञाता दिगम्बर परम्परामें धरसेनाचार्य थे और जिसे उनसे पढ़कर भूतबलि और पुष्प-दन्तने षट्खण्डागमकी रचना की थी। अत नागहस्ती पूर्वपदांशवेदी थे। उनके समयमें पूर्वोंके ज्ञानका बहुत कुछ लोप हो गया था। सम्भवत इसीसे उन्होंने वाचकोंकी परम्परा (वंश) स्थापित करके उनके बचे-खुचे अंशोंको सुरक्षित बनाये रखनेका प्रयत्न किया था।

श्वेताम्बर परम्परामें पूर्वोंके ज्ञानकी परम्पराका चलन वीर नि० के एक हजार वर्ष पर्यन्त माना गया है। माथुरी वाचनाके समयमें वलभीमें आगमवाचना करनेवाले नागार्जुनको नन्दिसूत्रमें वाचक तथा उनके गुरु हिमवंतको पूर्वधर लिखा है। इससे प्रकट होता है कि कम-से-कम माथुरी वाचना पर्यन्त पूर्वविद् थे। (किन्तु माथुरी और उसके समकालीन वालभी वाचनाओंमें यद्यपि ग्यारह अंगोंकी वाचना तो हुई, किन्तु पूर्वोंके किसी भी अंशकी वाचना नहीं हुई। यदि हुई होती तो माथुरी वाचनाके डेढसौ वर्ष बाद वलभीमें हुई अन्तिम वाचनामें ग्यारह अंगो-की तरह पूर्वोंके भी कुछ अंश अवश्य लिपिबद्ध किए जाते, किन्तु ऐसा नहीं किया गया। अत स्पष्ट है कि श्वेतांबर परम्परामें पूर्वोंका ज्ञान नागहस्तीसे पहले ही विलुप्त हो चुका था। वह भी घटते-घटते देवर्द्धिगणिके कालमें केवल विषयसूची आदिके रूपमें ही अवशिष्ट रहा, जिसका प्रमाण नन्दिसूत्र तथा समवायांगसूत्रमें पायी जानेवाली दृष्टिवादविषयक सूची है) अस्तु, अब हमें देखना है कि नन्दिसूत्र-की स्थविरावलीमें आगत आर्यमंगु और नागहस्ती कब हुए थे।

नन्दिसूत्रमें आर्यमंगुके पश्चात् आर्य नन्दिलको स्मरण किया है और उनके पश्चात् नागहस्तीको। नन्दिसूत्रकी चूर्णि और हरिभद्रकी नन्दिवृत्तिमें भी यही क्रम पाया जाता है। तथा दोनोमें आर्यमंगुका शिष्य आर्य नन्दिलको और आर्य नन्दिलका शिष्य नागहस्तीको बतलाया है। इससे नागहस्ती आर्यमंगुके प्रशिष्य अवगत होते हैं। किन्तु मुनि कल्याणविजयजीका कहना है कि आर्यमंगु और आर्य नन्दिलके बीचमें चार आचार्य और हो गये हैं और नन्दिसूत्रमें उनसे सम्बद्ध दो गाथाएँ छूट गई हैं जो अन्यत्र मिलती हैं। अपने इस कथनके समर्थनमें उनका कहना है कि आर्य मंगुका युगप्रधानत्व वीर नि० ४५१ से ४७० तक था। परन्तु आर्य नन्दिल आर्य रक्षितके पश्चात् हुए थे और आर्य रक्षितका स्वर्गवास वी० नि० सं० ५९७ में हुआ था। इसलिए आर्य नन्दिल वी० नि० सं० ५९७ के पश्चात् हुए थे। इस तरह मुनिजीकी कालगणनाके अनुसार आर्य मंगु और आर्य नन्दिलके मध्यमें १२७ वर्षका अन्तराल है। और उसमें आर्य नन्दिलका समय और जोड देने पर आर्य मंगु और नागहस्तीके बीचमें १५० वर्षके लगभग अंतर बैठता है। अत मुनि कल्याणविजयजीके अनुसार आर्य मंगु और नागहस्ती सम-

कालीन नही हो सकते । किन्तु जयधवलाकार[1] चूर्णिसूत्रोके कर्ता आचार्य यतिवृषभको आर्य मंक्षुका शिष्य और नागहस्तीका अन्तेवासी बतलाते है । यद्यपि साधारणतया शिष्य और अन्तेवासीका एक ही अर्थ माना जाता है तथापि चूँकि अन्तेवासीका शब्दार्थ 'निकटमे रहनेवाला' भी होता है और इसलिये यतिवृषभको नागहस्तीका निकटवर्ती साक्षात् शिष्य और आर्यमक्षुका परम्परा शिष्य माना जा सकता है । किन्तु जयधवलाकारका कहना है कि यतिवृषभने उन दोनोके पादमूलमें गुणधर कथित गाथाओके अर्थका श्रवण किया । अत. दोनो समकालीन होने चाहिये ।

जयधवलाकारके अनुसार गुणधर आचार्य अगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त होनेपर वीर नि० सम्वत् ६८३ के बादमे हुए। और श्वेताम्बर मान्यताके अनुसार आर्या मगुका युगप्रधानत्व वीर नि० सम्वत् ४७० में समाप्त हुआ । अत गुणधरका समय मगुसे दो सौ वर्षोसे भी अधिक उत्तरकालीन होनेसे गुणधरकी गाथाएँ आर्य मगुको प्राप्त नही हो सकती । रहे नागहस्ती । सो यदि मुनि कल्याणविजयजीके मतानुसार आर्या मगु और नागहस्तीके मध्यमे १५० वर्षोका अन्तर मान लिया जाता है तो वीर नि० स० ६२० में उन्हे पट्टासीन होना चाहिए । श्वेताम्बर परम्परामें उनका युगप्रधातकाल ६१ वर्ष माना जाता है । अत उनका समय वी० नि० ६८९ तक जाता है । यदि गुणधराचार्यको वीर नि०स० ६८३ के लगभगका मानकर सीधे गुणधरसे ही नागहस्तीको कसायपाहुडकी प्राप्ति हुई मान ली जाये, जैसा कि इन्द्रनन्दिका मत है, तो गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जाता है, किन्तु एक दूसरी बाधा उपस्थित होती है—

जयधवलाकार और इन्द्रनन्दि दोनोका कहना है कि आर्यमक्षु और नागहस्तीके पास कसायपाहुडके गाथासूत्रोका अध्ययन करके यतिवृषभ आचार्यने उनपर चूर्णिसूत्र रचे । वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभका समय वी० नि० स० १०००के आस-पास होता है । अत उक्त प्रकारसे गुणधर और नागहस्तीका पौर्वापर्य बैठ जानेपर भी नागहस्ती और यतिवृषभका गुरु-शिष्यभाव नही बनता, नागहस्तीके दूसरे साथी आर्य मगुको तो पहले ही छोडा जा चुका है ।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि स्वय यतिवृषभने आर्य मंक्षु या नागहस्तीका कोई निर्देश नही किया । उनके चूर्णिसूत्रोमे किसी आचार्यका सकेत तक नही है । त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथामे गुणधरका नाम होनेकी सम्भावना अवश्य है । अपने चूर्णिसूत्रोमे वे पवाइज्जमाण और अपवाइज्जमाण

---

१. 'जो अज्जमखुसीसो अंतेवासी वि णागहत्थिस्स ।
सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देऊ ॥८॥'

—क० पा०, भा० १०, पृ ४ ।

उपदेशका निर्देश अवश्य करते है, किन्तु किसका उपदेश पवाइज्जमाण और किसका उपदेश अपवाइज्जमाण है इसकी कोई चर्चा नही करते। यह चर्चा करते है जयधवलाकार, जिन्हे इस विषयमें अवश्य ही अपने पूर्वके अन्य टीकाकारोका उपदेश प्राप्त रहा होगा। ऐसी अवस्थामें आर्यमक्षु, नागहस्ती तथा यतिवृषभके गुरुशिष्य-भावको सहसा काल्पनिक और भ्रान्त भी नही कहा जा सकता।

ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि क्या दिगम्बर परम्परामें आर्यमक्षु और नागहस्ती नामके श्वेताम्बर परम्पराके उक्त नामधारी दोनो आचार्योंसे भिन्न कोई दूसरे ही आचार्य हुए है जो महावाचक और क्षमाश्रमण जैसी उपाधियोसे भूषित थे? किन्तु इस विषयमें कहीसे प्रकाश प्राप्त नही होता, क्योकि किसी दिगम्बर पट्टावलीमे इन आचार्योका नाम नही मिलता।

इसके सिवाय दोनोकी तुलना करनेसे कतिपय बातोमें समानता भी पायी जाती है। श्वेताम्बर परम्पराके आर्यमगुकी तरह दिगम्बर परम्पराके आर्यमक्षु भी नागहस्तीसे जेठे थे, क्योकि जयधवलाकारने सर्वत्र नागहस्तीसे पहले आर्य मक्षुका नाम निर्देश किया है। दूसरे, मगलाचरणमें तो आर्य मक्षुको ही विशेष महत्त्व देते हुए लिखा है—'जिन आर्यमक्षुने गुणधर आचार्यके मुखसे प्रकट हुई गाथाओके समस्त अर्थका अवधारण किया, नागहस्ती सहित वे आर्यमक्षु हमें वर प्रदान करें।' यहाँ नागहस्तीका केवल नाम निर्देश किया है और आर्यमक्षुको गुणधरकृत गाथाओके समस्त अर्थका अवधारक कहा है। किन्तु आर्य मक्षुको ज्येष्ठता देनेपर भी जयधवलाकारने उनके उपदेशको 'अपवाइज्जमाण' और नागहस्तीके उपदेशको 'पवाइज्जमाण' कहा है। जो उपदेश सर्वाचार्य सम्मत होता है और चिरकालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्यपरम्पराके द्वारा लाया जाता है उसे पवाइज्जमाण कहते है। किन्तु जयधवलाकारने आर्य मक्षुके सभी उपदेशोको 'अपवाइज्जमाण' नही कहा है। ऐसे भी प्रसग है जहाँ दोनोके उपदेशोको 'पवाइज्जमाण' कहा है। परन्तु ऐसे प्रसग वे ही है जिनमें आर्यमक्षु और नागहस्तीमें मतैक्य है। इससे यह प्रकट होता है कि नागहस्तीके उपदेश ही पवाइज्जमाण माने जाते थे—आर्य मक्षुके नही।

उधर श्वेताम्बर साहित्यमें आर्य मगुकी एक कथा पाई जाती है, जिसमें लिखा है कि आर्य मगु मथुरामें जाकर भ्रष्ट हो गये थे और मरकर यक्ष हुए थे। शायद इसीसे उनके उपदेशोका मूल्य नही रहा था। इत्यादि बातोसे दोनो परम्पराओके उक्त समान नामवाले दोनो आचार्य एक ही प्रतीत होते है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। नन्दिसूत्रके अनुसार नागहस्ती कर्मप्रकृति (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) के विशिष्ट ज्ञाता थे और जयधवलाके अनुसार कषायप्राभृतके विशिष्ट ज्ञाता थे। नागहस्तीसे कषायप्राभृतका

करके यतिवृषभने उसके ऊपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की थी। उन चूर्णिसूत्रोंमें यतिवृषभने 'एसा कम्मपयडीसु' के द्वारा कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। इससे यह प्रकट होता है कि यतिवृषभ महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके भी ज्ञाता थे। सम्भवतया उसका भी अध्ययन उन्होंने नागहस्तीसे किया होगा। इससे भी नन्दिसूत्रमें निर्दिष्ट नागहस्ती और जयधवलामें निर्दिष्ट नागहस्ती एक प्रतीत होते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चूँकि कषायप्राभृत और कर्मप्रकृति दोनो कर्मसिद्धान्तसे सम्बद्ध थे, इसलिए दोनोके कुछ प्रतिपाद्य विषयोंमें समानता थी। दिगम्बर परम्परामें तो 'कर्मप्रकृति' नामक कोई ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नही है किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें कर्मप्रकृति नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है जो मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात) से प्रकाशित हुआ है। उसके कर्ताका नाम शिवशर्मसूरि कहा जाता है। किन्तु अभी वह निर्विवाद नही है। कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें कहा है[1]—'मैंने अल्पबुद्धि होते हुए भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिप्राभृतमें इस ग्रन्थका उद्धार किया। दृष्टिवादके ज्ञाता पुरुष स्खलितांशोको सुधारकर उनका कथन करें।' इस ग्रन्थपर एक चूर्णि है। उसके आरम्भमें लिखा है कि—'विच्छिन्न कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका परिज्ञान करानेके लिए आचार्यने उसीका सार्थक नामधारी कर्मप्रकृतिसंग्रहणी प्रकरण प्रारम्भ किया है।' अत यह ग्रन्थ प्राचीन होना चाहिए।

इसके संक्रमकरण नामक अधिकारमें कषायप्राभृतके बन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम-अनुयोगद्वारकी तेरह गाथाएँ अनुक्रमसे पाई जाती हैं। तथा सर्वोपशमनानामक प्रकरणमें कषायप्राभृतके दर्शनमोहोपशमना नामक अधिकारकी चार गाथाएँ पाई जाती हैं। दोनो ग्रन्थोंमें आगत उक्त गाथाओके कुछ पदो और शब्दोमें व्यतिक्रम तथा अन्तर भी पाया जाता है।

यहाँ इस बातके निर्देशसे केवल इतना ही अभिप्राय व्यक्त करना है कि कषायप्राभृतके ज्ञाता कर्मप्रकृतिके और कर्मप्रकृतिके ज्ञाता कषायप्राभृतके अंशत या पूर्णत ज्ञाता होते थे। अत नागहस्ती दोनोके ज्ञाता थे और उन्हींकी तरह यतिवृषभ भी दोनोके ज्ञाता थे। किन्तु कषायप्राभृतके वह विशिष्ट ज्ञाता थे।

इसके सिवाय आर्यमंक्षु और नागहस्तीको महावाचक कहा गया है। उधर नन्दीसूत्रमें नागहस्तीके वाचकवंशका निर्देश है

इन सब बातोंके प्रकाशमें दोनो परम्पराओके उक्त दोनो आचार्य हमें तो अलग-अलग व्यक्ति प्रतीत नही होते। किन्तु ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि वे किस परम्पराके थे—दिगम्बर थे या श्वेताम्बर? क्योंकि यों

---

१ 'इय कम्मप्पगडीओ जहा सुयं नीयमप्पमइणावि।
सोहियणा भोगकयं कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥"

तो अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके निर्वाणके साथ ही दोनों परम्पराओंके आचार्योंकी नामावली भिन्न हो जाती है। किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहु उसके मध्यमें एक ऐसे आलोकस्तम्भ है, जिनके प्रकाशकी किरणोंको दोनो अपनाये हुए है। उनके पश्चात् ही संघभेदका सूत्रपात होता है, जो आगे जाकर विक्रम सम्वत्की द्वितीय शताब्दीके पूर्वार्धमें स्पष्ट रूप ले लेता है। अत श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् अन्य कोई आचार्य ऐसा नही हुआ, जिसे दोनो परम्पराओने मान्य किया हो। इससे उक्त प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है। उसके समाधानके लिए हमें दोनो परम्पराओमे उक्त दोनो आचार्योंकी स्थितिका विश्लेषण करना होगा।

गुणधर और धरसेनकी गुरुपरम्परा भिन्न थी। गुणधररचित कषायप्राभृतको आर्यमक्षु और नागहस्तीके द्वारा जानकर यतिवृषभने उसपर चूर्णिसूत्रोंकी रचना की और धरसेनसे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतको पढकर भूतवलि और पुष्पदन्तने उसके आधारपर षट्खण्डागम सिद्धान्तकी रचना की। इन दोनो ग्रन्थोके कतिपय मन्तव्यो-मे भेद भी पाया जाता है—जयधवला और धवलाटीकामें उनकी चर्चा है। उनका निर्देश करते हुए टीकाकारने दोनोको भिन्न[1] 'आचार्योंका कथन' कहा है। इससे भी दोनो सिद्धान्तग्रन्थोकी परम्पराके भेदका समर्थन होता है। किन्तु इस गुरु-परम्पराभेदमें ऐसी कोई बात नही ज्ञात होती है जिससे श्वेताम्बर-दिगम्बरपरम्परा-रूप भेदका समर्थन होता हो या संकेत मिलता हो।

उधर श्वेताम्बर परम्परामें न तो गुणधराचार्यका नामोनिशा मिलता है और न यतिवृषभका। हाँ, [2]सित्तरीचूर्णिमे 'कषायप्राभृत'का निर्देश अवश्य पाया जाता है। इधर दिगम्बर परम्परामें गुणधर, आर्यमक्षु और नागहस्तीका नाम कषाय-प्राभृतके निमित्तसे केवल जयधवला और श्रुतावतारमे ही स्पष्टरूपसे आता है। किसी गुर्वावली या पट्टावलीमे इनका नाम हमारे देखनेमें नही आया।

श्वेताम्बर परम्परामे भी आर्यमंगु और नागहस्तीका विवरण एक-एक गाथा-के द्वारा केवल नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें ही पाया जाता है। इनके किसी मत-का या किसी कृतिका कोई उल्लेख श्वेताम्बर साहित्यमे नही मिलता। जब कि जयधवलाके देखनेसे यह प्रकट होता है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीके सामने कोई ऐसी रचना अवश्य थी, जिसमे इन दोनो आचार्योके मतोका स्पष्ट निर्देश था, क्योकि यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे 'पवाइज्जमाण' उपदेशका निर्देश अवश्य किया है किन्तु किसका उपदेश 'पावाइज्जमाण' और किसका उपदेश 'अपवाइ-ज्जमाण' है, यह निर्देश नही किया। इसका स्पष्ट विवेचन किया है टीकाकारने,

---

[1] क०, पा०, भा० १, पृ० ३८६। षट्खं०, पु० १, पृ० २१७।

[2] 'त च कसायपाहुडादिसु विहडत्तिति काउ परिसेसिय'—सि० चू०, पृ० १२।

अतः उनके सामने कोई उक्त प्रकार की रचना अवश्य होना चाहिये । इस तरह आर्यमंगु और नागहस्तीको हम दोनो परम्पराओंमें इस रूपमें पाते है कि उनपर से यह निर्णय करना शक्य नही है कि वे दोनों आचार्य अमुक परम्पराके ही थे । किन्तु इतना स्पष्ट है कि वे दोनों [illegible] प्रमुख ज्ञाता थे और इसीसे महावाचक कहे जाते थे । [illegible] विषय है जिसपर दिगम्बर और श्वेताम्बरपरम्पराके [illegible] मतभेद [illegible] । कर्म-शास्त्रके वेत्ताओंकी एक स्वतन्त्र परम्परा थी, [illegible] थे । इन कार्मिकोका सैद्धान्तिकोसे अनेक विषयोंमें मतभेद था, [illegible] अव-लोकनसे ही यह बात प्रकट होती है । सैद्धान्तिकोका [illegible] दिगम्बर परम्परामें नही पाया जाता, किन्तु कार्मिकोका मत दिगम्बर परम्पराके [illegible] पाया जाता है । आर्यमंगु और नागहस्ती [illegible] परम्परागत आचार्य थे । दूसरी बात यह भी है कि ये दोनों आचार्य ऐसे समयमें हुए, जब दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदका प्राबल्य नही हुआ था । अतः [illegible] सिद्धान्तके पठन-पाठनमें उस समय आम्नायभेदका प्रश्न नही था । आगे सैद्धान्तिकों और कार्मिकोंके मतभेदोंके प्रदर्शन-द्वारा इस विषयपर विशेष प्रकाश डाला जायगा ।

इस तरह दोनो परम्पराओंमें उक्त आचार्य हमें भिन्न-भिन्न प्रतीत नही होते । फिर भी दोनोकी समकालीनताका प्रश्न बना ही रहता है । उसके समाधानके लिये हमें सर्वप्रथम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीका ही पर्यालोचन करना होगा ।

श्वेताम्बर आम्नायकी दो स्थविरावलिया प्रमुख और प्राचीन मानी जाती है । उनमेंसे एक कल्पसूत्रमे पाई जाती है और दूसरी नन्दिसूत्रमे । भद्रबाहु श्रुतकेवली-के गुरुभाई सभूतिविजयके शिष्य स्थूलभद्रसे दोनो स्थविरावलिया चलती है । स्थूलभद्रसे पूर्वके स्थविरोमें कोई अन्तर नही है ।

स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और सुहस्ती । आर्य महागिरिकी स्थविरावली नन्दिसूत्रमें है और आर्य सुहस्तीकी कल्पसूत्रमे । किन्तु दोनो गुर्वाव-लियाँ देवर्द्धिगणिसे सम्बद्ध होनेसे देवर्द्धिगणिकी कही जाती है । मुनि दर्शनविज-यजी कल्पसूत्रस्थविरावलीको गणधरवशीय और नन्दिसूत्रपट्टावलीको वाचकवशीय बतलाते है । कल्प० स्थ० को क्यो गणधरवशीय माना गया है, यह हम नही समझ सके, क्योकि दोनो ही स्थविरावलियाँ सुधर्मा गणधरसे आरम्भ हुई है । स्थूलभद्रके दो शिष्योसे ही उनमें भेद पडता है । तथा आर्य महागिरिकी शिष्यप-रम्परामें ही आर्यमगु और नागहस्तीका नाम आया है । आर्य महागिरिकी नन्दि-सूत्रोक्त शिष्यपरम्परा इस प्रकार है—बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, शाण्डिल्य, समुद्र, मगु, नन्दिल, नागहस्ति आदि । और आर्य सुहस्तिकी शिष्यपरम्परामें उनके

दो शिष्य हुए—सुस्थित और सुप्रबुद्ध। उन दोनोके इन्द्रदिन्न नामका शिष्य हुआ। उसके आर्यदिन्न, उसके सिंहगिरि, उसके वज्रसेन आदि। नन्दिसूत्र स्थ० में मगु और नन्दिलके बीचमे चार नाम और भी पाठान्तररूपमें मिलते है—वे है—आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र और आर्य रक्षित। वज्रका नाम कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमे भी आया है। ये वज्रस्वामी[1] अन्तिमदसपूर्वी थे। इन्होने सिंहगिरिसे दीक्षा ली थी और भद्रगुप्तसे पूर्वोका अध्ययन किया था। इसीसे शायद उन्हे दोनो स्थविरावलियोमे स्थान दिया गया है। किन्तु कल्पसूत्रकी स्थविरावलीके अनुसार आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमे चार नाम है। और नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमे यदि उक्त चार नामोको सम्मिलित किया जाता है तो आर्य महागिरि और वज्रस्वामीके बीचमे आठ नाम हो जाते है। अर्थात् वज्रस्वामी आर्य सुहस्तीकी पाचवी पीढीमे थे और आर्य महागिरिकी आठवी पीढीमे थे। उधर एक 'दु पाकाल श्री श्रमणसघस्तोत्र'[2] नामक पट्टावलीमे आर्य सुहस्ति और वज्रस्वामीके बीचमे होनेवाले सात युगप्रधानोके नाम दिये है और तपागच्छकी[3] पट्टावलीमें भी उनका निर्देश किया है। वे सात युगप्रधान है—गुणसुन्दर, कालिकाचार्य, स्कन्दिलाचार्य रेवतीमित्र, धर्मसूरि, भद्रगुप्त और श्रीगुप्त। ये सातो नाम न तो कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमे है और न नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमे। हाँ, पाठान्तररूपमे जो चार नाम नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें सम्मिलित किये जाते है उनमेसे दो नाम 'धर्मसूरि और भद्रगुप्त' इनमे है।

मेरुतुगने अपनी विचारश्रेणीमे लिखा है—'स्थूलभद्रके दो शिष्य थे—आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती। उनमेंसे आर्य महागिरिकी शाखा मुख्य है। स्थविरावलीमे वह इस प्रकार कही है—सूरि बलिस्सह, स्वाति, श्यामार्य, शाडिल्य, समुद्र, मगु, नदिल, नागहत्थी, रेवती, सिंह, स्कन्दिल, हिमवन्त, नागार्जुन, गोविन्द भूतदिन्न, लोहित्य, दूष्यगणि और देवर्द्धि। श्रीवीरस्वामीके पश्चात् सत्ताईसवें युगप्रधान देवर्द्धिगणिने सिद्धान्तोका व्यवच्छेद न हो, इसलिये उन्हे पुस्तकारूढ किया दूसरी शाखा, जो कल्पसूत्रमे कही है, इस प्रकार है—'आर्य सुहस्ती, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, सिंहगिरि, वज्रस्वामी, वज्रसेन। इन दोनो शाखाओमे आर्य सुहस्तीके पश्चात् गुणसुन्दरका और श्यामार्यके पश्चात् स्कन्दिलाचार्यका नाम नही

---

१ देखो, प्रभा० च० में वज्रस्वामीका चरित।

२ पट्टा० स०, पृ० १६।

३. 'श्रीआर्यसुहस्ती श्रीवज्रस्वामिनोरन्तराले श्रीगुणसुन्दरसूरि, श्रीकालिकाचार्य, श्रीस्कन्दिलाचार्य, श्रीरेवतीमित्रसूरि, श्रीधर्मसूरि, श्रीभद्रगुप्ताचार्य, श्रीगुप्ताचार्यश्च क्रमेण युगप्रधानसप्तकं बभूव।' —पट्टा० स०, पृ० ४७

पाया जाता, तथापि सम्प्रदायमें देखा गया इसलिये यहाँ वैसा ही लिख दिया'।

अतः श्वेताम्बर पट्टावलियाँ भी व्यवस्थित नहीं हैं। डा० वेबरने (इ० ए०, जि० १९, पृ० २९३ आदि) नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीके विषयमें लिखा है कि उसमें बड़ी अनिश्चितता है। अवचूरिमें गाथा ३१–३२ के विषयमें लिखा है कि क्षेपक होनेसे वृत्तिमें उनका कथन नहीं किया। गाथा ३३–३४ पर टिप्पणी है कि इन दोनों गाथाओंका अर्थ आवश्यकचूर्णिकाके आधारसे लिखा है, अवचूर्णिमें भी नहीं है। गाथा ४१–४२ प्रक्षिप्त है। गोविन्दाचार्यके विषयमें उनका कथन है कि 'शिष्यक्रमका अभाव होनेसे वृत्तिमें नहीं कहा—आवश्यकटीकामें लिखा है।'

डा० वेबरने जो गाथानम्बर दिया है वह गाथानम्बर हमारे सामने उपस्थित स्थविरावलीसे मेल नहीं खाता। वह लिखते हैं कि गाथानम्बर ३३, जिसमें आर्य नन्दिलका निर्देश है, सन्देहास्पद है। मलयगिरिटीकावाले नन्दिसूत्रमें तथा पट्टावलीसमुच्चयमें प्रकाशित नन्दिसूत्रपट्टावलीमें आर्य नन्दिलवाली गाथाका नम्बर २९ है। इस तरह चारका अन्तर है। यदि दो प्रक्षिप्त गाथाओंको भी सम्मिलित कर लिया जाये तो भी दोका अन्तर रहता ही है। अतः नन्दिसूत्रकी पट्टावली भी सुव्यवस्थित नहीं है और इसलिये उसके आधारपर आर्यमंगु और नागहस्तीके मध्यमें जो एक शताब्दिसे भी अधिकका अन्तराल निकलता है, विश्वसनीय नहीं माना जा सकता।

गुणधर और धरसेनका पौर्वापर्य

आर्यमक्षु और नागहस्तिकी प्रासंगिक चर्चाके अनन्तर हम पुनः आ० गुणधरकी ओर आते हैं। आचार्य गुणधरके समयपर प्रकाश डालनेके लिए धरसेनके समय-पर संक्षेपमें चर्चा करना अनुपयुक्त न होगा।

धवलाकारने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष पश्चात् जब अंगपरम्पराका विच्छेद हो गया, उनका भी होना बतलाया है। किन्तु जैसे गुणधर और यतिवृषभका नाम किसी दि० जैन पट्टावलीमें नहीं पाया गया, वैसी बात धरसेन और उनके शिष्य भूतबलि-पुष्पदन्तके विषयमें नहीं कही जा सकती। नन्दीसंघकी प्राकृतपट्टावलीमें इन गुरु-शिष्योंका नाम पाया जाता है। यह पट्टावली कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि इसमें भी महावीरके निर्वाणके पश्चात् ६८३ वर्षोंमें कालक्रमसे होने-वाले आचार्योंकी नामावली प्रायः उसी क्रमसे दी है जिस क्रमसे वह तिलोय-पण्णत्ति, धवला, जयधवला आदिमें पाई जाती है किन्तु उसमें जो कालगणना दी है उसमें उक्त सब ग्रन्थोंसे वैशिष्ट्य है। उक्त ग्रन्थोंमें महावीर-निर्वाणसे अन्तिम आचारांगधर लोहाचार्य तककी कालगणना ६८३ वर्ष बतलाई है। किन्तु नन्दी० पट्टा० के अनुसार लोहाचार्य तक ५६५ वर्ष ही होते हैं। इस तरह

दोनोकी कालगणनामे ११८ वर्षका अन्तर है।

उक्त ग्रन्थोके अनुसार महावीर निर्वाणके पश्चात् क्रमश ६२ वर्षमे तीन-केवली, १०० वर्षोमे पाँच श्रुतकेवली और १८३ वर्षोमे ग्यारह दसपूर्वी हुए। न०प० मे भी यहाँ तक कोई अन्तर नही है। आगे उक्त ग्रन्थोमे पाँच एकादशाग-धारियोका काल २२० वर्ष और चार एकागधारी आचार्योका काल ११८ वर्ष वतलाया है, जो अधिक प्रतीत होता है। किन्तु न० पट्टा० में ५ ग्यारह अग-धारियोका काल १२३ वर्ष और चारका काल ९९ वर्ष वतलाया है जिसमें २ वर्ष की भूल होनेसे ९७ वर्ष होते है, अत ११८ वर्षका अन्तर स्पष्ट है। इन ११८ वर्षोमें क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि हुए। इस प्रकार इस पट्टावलीके अनुसार धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। पट्टावली[1]में धरसेनका काल १९ वर्ष, पुष्पदन्तका तीस वर्ष और भूतवलिका वीस वर्ष वतलाया है। अत इन तीनोका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् ६१४से ६८३ वर्षके अन्दर आता है।

पीछे धवलासे जो श्रुतावतारका आख्यान दिया है उससे यह स्पष्ट है कि धरसेनाचार्य मत्रशास्त्रके भी विद्वान् थे। उनके द्वारा रचित एक जोणिपाहुड नामक ग्रन्थका निर्देश १५५६ वि० सम्वत्मे लिखी गई वृहट्टिप्पणिका नामक सूचीमे पाया जाता है। उसमें[2] उसे धरसेनके द्वारा वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् रचा हुआ लिखा है।

इससे भी नन्दी० पट्टा० क धरसेनविषयक समयकी पुष्टि होती है। अतः धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है।

पहले लिख आये है कि वीरसेनने वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष वाद गुणधर और धरसेनका होना वतलाया है। और इन्द्रनन्दिके कथनसे यह स्पष्ट है कि इन दोनो आचार्योकी गुरुपरम्परा विस्मृतिके गर्तमे जा चुकी थी। फिर भी जो वीरसेन स्वामीने उक्त दोनो आचार्योका उक्त समय वतलाया है वह सभवतया इस आधारपर वतलाया है कि अगज्ञानके रहते हुए उसे लिपिवद्ध करनेका कोई प्रयत्न नही किया गया। अगज्ञानियोकी परम्परा समाप्त हो जानेपर जब श्रुतविच्छेद-

---

१ 'अहिवल्लि माघनदि य धरसेणं पुप्फयत भूतवली।
अडवीस इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥१६॥
इगसय अठार वासे इयगधारी य मुणिवरा जादा।
छ सय तिरासिय वासे णिव्वाणा अगदित्ति कहिय जिणे ॥१७॥' न०प०

इस पट्टावली तथा धरसेनके समयकी विवेचनाके लिए देखें—षट्ख० पु० १, की प्रस्तावना, तथा 'समन्तभद्र' पृ० १६१।

२ 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेनम्।' वृह० टिप्प०, जैन०सा०म० भाग १, २।

का भय उपस्थित हो गया तथा उसके फलस्वरूप अंगोंको लिपिबद्ध करनेकी चिन्ता उत्पन्न हुई।

किन्तु अंगज्ञानियोंकी परम्परा समाप्त हो जानेके बाद ही श्रुतविच्छेदके भयकी सम्भावनाका होना हमें समुचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कषायप्राभृत और षट्खण्डागमकी रचना पूर्वोके अवशिष्ट अंशोंके आधारपर हुई थी और पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त वीरनिर्वाण ३४५ वर्ष पश्चात् ही हो गया था। उसके होनेपर धीरे-धीरे पूर्वोके अवशिष्ट अंश भी विस्मृत होते गये। पूर्वोकी अविच्छिन्न परम्पराका अन्त हो जानेपर भी अंगज्ञान शेष रहा और वह भी अधिक कालतक क्रमशः हीयमान अवस्थामें वर्तमान रहा। इससे पूर्वोके कारण विच्छिन्न पूर्वोके अवशिष्ट अंशोंको सुरक्षित रखनेकी भावनाका न होना और जब अंगज्ञान ही नष्ट हो चुका तब ऐसा होना कुछ सम्भव प्रतीत नहीं होता। पीछेसे यह स्पष्ट किया गया है कि अंगोंका पूर्वोका विशेष सम्बन्ध था। और पूर्वोका ज्ञान ६८३ वर्षोंके मध्यमें ही विच्छिन्न हो गया। अतः उनके विच्छिन्न होनेके पश्चात् ही उनको सुरक्षित रखनेकी भावनाका उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

फिर भी यतः धरसेनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीका पूर्वार्ध प्रमाणित होता है और लगभग यही समय (वी० नि० ६२०-६८९) श्वेताम्बरीय पट्टावलियोंके अनुसार नागहस्तीका आता है। और गुणधरके द्वारा रचित गाथाएँ आर्यमंक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई थीं, अतः गुणधर अवश्य ही उनसे पूर्ववर्ती होने चाहिये।

धरसेन और नागहस्तीकी समकालीनता इसलिये भी सम्भव प्रतीत होती है कि दोनों कर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे। धरसेनने कर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञान भूतबलि-तथा पुष्पदन्तको दिया, उन्होंने उसके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना की। उसके पश्चात्से कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होगया। टीकाकार वीरसेन[1] स्वामीके अनुसार उसी कर्मप्रकृतिप्राभृतका निर्देश अपने चूर्णिसूत्रोंमें 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर यतिवृषभने भी किया है। यतिवृषभको नागहस्तीसे कषायप्राभृतका ज्ञान प्राप्त हुआ था और नागहस्ती कर्मप्रकृतिके विशिष्ट ज्ञाता थे। अतः धरसेन और उनके शिष्य भूतबलि-पुष्पदन्त तथा नागहस्ती और उनके शिष्य यतिवृषभ ऐसे समयमें हुए थे, जब कर्मप्रकृतिप्राभृत विच्छिन्न नहीं हो सका था। अतः इनके मध्यमें दीर्घकालका अन्तर सम्भव प्रतीत नहीं होता। और ऐसी स्थितिमें आचार्य गुणधर अवश्य ही धरसेनके पूर्वकालिक प्रतीत होते हैं।

यह ऊपर लिख आये हैं कि नन्दिसंघकी पट्टावलीमें लोहाचार्यके पश्चात् ११८

---

१ 'एसा कम्मपयडीसु। कम्मपयडीओ णाम विदियपुव्वपंचमवत्थुपडिबद्धो चउत्थो पाहुडो साणिदो अहियारो अत्थि।'—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६५६७।

वर्षमें क्रमश पाँच आचार्योका होना वतलाया है वे आचार्य हैं—अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतवलि । इनमेंसे अर्हद्वलिके विपयमें इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमे लिखा है कि उन्होने जैनधर्ममे सघोकी रचना की थी । जो मुनि शाल्मलिमहावृक्षके मूलसे पधारे थे उनमेंसे कुछको 'गुणधर'[1] सज्ञा दी और कुछको 'गुप्त' नाम दिया । यदि ये 'गुणधर' नाम आचार्य गुणधरकी स्मृतिमे दिया गया हो तो स्पष्ट है कि गुणधराचार्य अर्हद्वलिमे पहले हो चुके थे। किन्तु चू कि गुणधर सज्ञा देनेका कोई कारण नही वतलाया गया, इसलिये इसपर विशेप जोर नही दिया जा सकता । फिर भी यह सज्ञा उपेक्षणीय भी नही है ।

प्रकृत विपयपर और भी प्रकाश डालनेके लिये हमें धवला और जयधवलाको टटोलना होगा । वीरसेन स्वामीने गुणधरको वाचक और आर्यमक्षु तथा नागहस्तीको महावाचक लिखा है । और धवलाकी टीकामे वाचकका अर्थ पूर्वविद् किया है । जैसे गुणधर कपायप्राभृतके ज्ञाता थे, वैसे ही धरसेन भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे । किन्तु फिर भी धरसेनको वाचक नहीं लिखा, इसका कारण क्या है ?

इसके समाधानके लिये हमें धवला और जयधवलाके प्रारम्भिक भागपर दृष्टि डालनी चाहिये । धवलाके प्रारम्भमे वीरसेन स्वामीने धरसेनको अष्टाग[2]महानिमित्तका पारगामी लिखा है, किन्तु किसी पूर्व या उसके अशका ज्ञाता नही लिखा, पुष्पदन्त-भूतवलिको क्या पढाया, यह भी स्पष्ट नही किया—ग्रन्थ प[3]ढाया और ग्रन्थ समाप्त होगया। जब पुष्पदन्त सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी रचना करके जिनपालितको भूतवलिके पास भेजते हैं तब उन्हे भय होता है कि म[4]हाकर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद हो जायेगा । और उसपरसे यह अनुमान करना पडता है कि धरसेनने अपने शिष्योको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत पढाया था और वह उसके ज्ञाता थे[5] । आगे तो वीरसेनने स्पष्टरूपसे उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ज्ञाता लिखा है । अब जयधवलाको देखिये । मगलाचरणके[6] पद्यसे ही यह स्पष्ट होजाता है कि गुणधरने कपायप्राभृतका गाथा-

---

१ ये शाल्मलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगतास्तेपु । कॉश्चिद् गुणधरसज्ञान् काश्चिद् गुप्ताह्वयानकरोत् ।।९४।। श्रुता० ।

२ 'अट्ठगमहाणिमित्तपारएण'—षट्ख०, भा०१, पृ० ६७ ।

३. 'गथो पारद्धो गथो समाणिदो'—पृ० ७० ।

४ महाकम्मपयडिपाहुडस्स वोच्छेदो होहदित्ति'—पृ० ७१ ।

५. 'महाकम्मपयडिपाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारय मपत्तो । भूतवलि पुप्फदताण महाकम्मपयडिपाहुड सयल समप्पिद । महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिऊण छखडाणि कयाणि ।—षट्ख, पु० ९, पृ० ५३ ।

६ 'जेणिह कसायपाहुडमणेयणयमुज्जल अणतत्थ । गाहाहि विवरिय न गुणहरभडारय वदे ।।६।। क० पा० भा० १ ।

ओंद्वारा व्याख्यान किया। मंगलाचरणके पश्चात् आदिवाक्यमें ही गुणधरका गुणगान करते हुए वह लिखते हैं—'ज्ञानप्रवाद पूर्वके निर्मल दसवें वस्तु-अधिकारके तीसरे कषायप्राभृतरूपी समुद्रके जलसमूहसे धोये गये मतिज्ञानरूपी लोचनोंसे जिन्होंने त्रिभुवनको प्रत्यक्ष कर लिया है ऐसे गुणधर भट्टारक हैं और उनके द्वारा उपदिष्ट गाथाओंमें सम्पूर्ण कषायप्राभृतका अर्थ समाया हुआ है। आगे पुनः वीरसेन स्वामीने तीसरे कषायप्राभृतको महासमुद्रकी उपमा दी है और गुणधरको उसका पारगामी बतलाया है। किन्तु धवलामें धरसेनाचार्यके प्रति उस प्रकारके उद्गार दृष्टिगोचर नहीं होते।

इन बातोंसे प्रतीत होता है कि गुणधर पूर्वविदोंकी परम्परामेंसे थे। किन्तु धरसेन पूर्वविद् होते हुए भी पूर्वविदोंकी परम्परामेंसे नहीं थे। दूसरे, धरसेनकी अपेक्षा गुणधर अपने विषयके विशिष्ट अथवा पूर्ण ज्ञाता थे और उसका कारण यह हो सकता है कि गुणधर ऐसे समयमें हुए थे जब पूर्वोंके आंशिक ज्ञानमें उतनी कमी नहीं आई थी जितनी कमी धरसेनके समयमें आगयी थी। इन सब बातोंपर विचार करनेसे गुणधर धरसेनसे पूर्ववर्ती प्रतीत होते हैं।

इस विषयमें एक बात और भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि 'भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोंमें न्यस्त किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन चतुर्विध संघके साथ उसकी पूजा की। उसके कारण यह तिथि श्रुतपंचमीके नामसे ख्यात हुई। आज भी जैन उस दिन श्रुतकी पूजा करते हैं।'

धरसेनाचार्यने मुनिसंघको पत्र लिखकर दो मुनियोंको बुलाया था और पढ़ा-लिखाकर उन्हें योग्य बनाया था। उन्होंने अर्थात आगमके आधारसे ग्रन्थरचना करके उसको पुस्तकोंमें न्यस्त कराया, अतः संघके द्वारा उसका उत्सव मनाया जाना उचित ही था। किन्तु गुणधरने तो स्वयं ही दोसौ तेतीस गाथाओंमें समस्त कषायप्राभृतको निबद्ध किया था। और उन्हें पुस्तकोंमें भी न्यस्त नहीं किया था, क्योंकि जयधवलामें लिखा[1] है कि आचार्यपरम्परासे आती हुई वे गाथाएँ आर्यमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुई। और उन दोनोंके पादमूलमें उनके अर्थको सम्यक् प्रकारसे सुनकर यतिवृषभने उनपर चूर्णिसूत्र बनाये।

---

१ 'पुणो ताओ चेव सुत्तगाहाओ आइरियपरंपराए आगच्छमाणाओ अज्जमखुणागहत्थीण पत्ताओ। पुणो तेसिं दोण्हं पि पादमूले असीदिसदगाहाणं गुणहरमुहकमलविणिग्गयाणमत्थं सम्मं सोऊण जयिवसहभडारएण पवयणवच्छलेण चुण्णिसुत्तं कयं'—क० पा०, भा० १, गा० १, पृ० ८८।

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि गुणधरने गाथासूत्रोको रचकर नागहस्ति और आर्यमक्षुके लिये उनका व्याख्यान किया और उन दोनोके पास यतिवृषभने उन गाथासूत्रोका अध्ययन किया और उनपर वृत्तिसूत्ररूप चूर्णिसूत्रोकी रचना की।

उक्त दोनो कथनोसे यही प्रमाणित होता है कि कषायप्राभृतके गाथासूत्र मौखिक ही प्रवाहित हुए। जब कि षट्खण्डागमके सूत्र पुस्तकबद्ध किये गये। अत आगमको सर्वप्रथम पुस्तकारूढ करनेके उपलक्ष्यमें हर्ष मनाना उचित ही था।

इससे भी यही प्रतिफलित होता है कि कषायप्राभृतकी रचनाके समय आगमको पुस्तकारूढ करनेकी परिपाटी प्रचलित नही हुई थी। जबकि षट्खण्डागमके समय उसका प्रचलन हो चुका था। इससे भी षट्खण्डमसे कषायप्राभृतके पूर्ववर्तित्वका ही समर्थन होता है। अत गुणधर धरसेनसे पहले होने चाहिये।

कषायपाहुड नाम और विषयवस्तुका स्रोत

कषायप्राभृत प्राकृतगाथासूत्रोमे निबद्ध है। इसकी पहली गाथा[2] मे बतलाया है कि पाँचवें पूर्वके दसवे वस्तु-अधिकारमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा प्राभृत है, उससे यह कषायप्राभृत उत्पन्न हुआ है।

पीठिकामें पूर्वोके अन्तर्गत अधिकारोका परिचय कराते हुए बतलाया गया है कि प्रत्येक पूर्वमें वस्तुनामक अनेक अधिकार होते है और एक-एक वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार होते है। तथा एक-एक प्राभृताधिकारके अन्तर्गत चौबीस-चौबीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार होते है। पाँचवे पूर्वका नाम ज्ञानप्रवाद है और उस ज्ञानप्रवादके अन्तर्गत वस्तु नामक बारह अधिकार है। और प्रत्येक वस्तु अधिकारके अन्तर्गत बीस-बीस प्राभृताधिकार है। उनमेसे दसवे वस्तु अधिकारके अन्तर्गत केवल एक तीसरे प्राभृतसे प्रकृत कषायप्राभृत रचा गया है। इससे पूर्वोके महत्त्व, वैशिष्ट्य और विस्तारका अनुमान किया जा सकता है।

कषायप्राभृतकी जयधवला[3] टीकामे तीसरे पेज्जपाहुडका परिमाण सोलह हजार पदप्रमाण बतलाया है। उस प्राभृतरूपी महार्णवको गुणधराचार्यने एकसौ अस्सी मात्र गाथाओमें उपसहृत किया है। इससे गुणधराचार्यकी उस विषयकी

---

१ 'एव गाथासूत्राणि पञ्चदशमहाधिकाराणि। प्रविरच्य व्याचख्यौ नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम्। पार्श्वे तयोर्द्वयोरप्यधीत्य सूत्राणि तानि यतिवृषभ। यतिवृषभनामधेयो बभूव शास्त्रार्थ निपुणमति ॥—श्रुता०

२ 'पुव्वम्मि पचमम्मि दु दसमे वत्थुम्हि पाहुडे तदिए। पज्ज ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुड णाम ॥१॥—क०पा०, भा० १, पृ० १०।

३ 'एद पेज्जदोसपाहुड सोलसपदसहस्सपमाण होंत असीदिसदमेत्तगाहाहि उवसघारिद।' क० पा० भा० १ पृ० ८७।

पारगतता और कुशलताका परिचय मिलता है। इस तरह पहली गाथासे ग्रन्थका नाम और उसकी उत्पत्तिका स्रोत ज्ञात हो जाता है।

अधिकार और गाथाओंका विभाग

दूसरी[1] गाथाके द्वारा यह बतलाते हुए कि एकसौ अस्सी गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोंमें विभक्त हैं, यह बतलानेकी प्रतिज्ञा की गयी है कि किस अधिकारमें कितनी-कितनी सूत्रगाथाएँ हैं। आगे तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी गाथासे बतलाया है कि प्रारम्भके पाँच अधिकारोंमें तीन गाथाएँ हैं। वेदकनामके छठे अधिकारमें चार गाथाएँ हैं। उपयोगनामक सातवें अधिकारमें सात गाथाएँ हैं। चतुःस्थाननामक आठवें अधिकारमें सोलह गाथाएँ हैं। व्यंजननामक नौवें अधिकारमें पाँच गाथाएँ हैं। दर्शनमोहोपशमनानामक दसवें अधिकारमें पन्द्रह गाथाएँ हैं। दर्शनमोहक्षपणानामक ग्यारहवें अधिकारमें पाँच गाथाएँ हैं। संयमासंयमलब्धिनामक बारहवें और चारित्रलब्धिनामक तेरहवें अधिकारमें एक गाथा है। और चारित्रमोहोपशमनानामक चौदहवें अधिकारमें आठ गाथाएँ हैं।

सातवीं और आठवीं गाथामें चारित्रमोहक्षपणानामक पन्द्रहवें अधिकारके अवान्तर अधिकारोंका निर्देश करते हुए उनमें अट्ठाईस गाथाएँ बतलाई हैं। नौवीं और दसवीं गाथामें बतलाया है कि चारित्रमोहक्षपणा-अधिकारसम्बन्धी अट्ठाईस

---

१ 'गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहत्तम्मि । वोच्छामि सुत्तगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि' ॥२॥—क० पा०, पृ० [illegible] ।

२ 'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय । तिण्णेदा गाहाओ पंचसु अत्थेसु णादव्वा ॥३॥ वही, पृ० १५५ ।

३. 'चत्तारि वेदयम्मि दु उवजोगे सत्त होंति गाहाओ । सोलस य चउट्ठाणे वियंजणे पंच गाहाओ ॥४॥ वही, पृ० १५९ ।

४. 'दंसणमोहस्सुवसामणाए पण्णरस होंति गाहाओ । पंचेव सुत्तगाहा दंसणमोहस्स खवणाए ॥५॥ वही, पृ० १६०

५. 'लद्धी य संजमासंजमस्स लद्धी तहा चरित्तस्स । दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामणद्धम्मि ॥६॥' वही, पृ० १६३

६ 'चत्तारि य पट्ठवए गाहा संकामए वि चत्तारि । ओवट्टणाए तिण्णि दु एक्कारस होंति किट्टीए ॥७॥ वही, पृ० १६४

७ 'चत्तारि य खवणाए एक्का पुण होदि खीणमोहस्स । एक्का संगहणीए अट्ठावीसं समासेण ॥८॥ वही, पृ० १६६

८ 'किट्टीकयवीचारे संगहणी खीणमोहपट्ठवए । सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभास गाहाओ ॥९॥ वही, पृ० १६८

९. 'संकामण ओवट्टण-किट्टीखवणाए एक्कवीसं तु । एदाओ सुत्तगाहाओ सुण अण्णा भास गाहाओ ॥१०॥ वही, पृ० १७०

गाथाओमे कितनी सूत्रगाथाएँ हैं और कितनी असूत्रगाथाएँ हैं। ग्यारहवी[1] और बारहवी गाथामें जिस जिस सूत्रगाथाकी जितनी भाष्यगाथाएँ हैं उनका निर्देश है। और तेरहवी[2] तथा चौदहवी गाथामे कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोंका नाम निर्देश है।

इस प्रकार प्रारम्भमें ही ग्रन्थके अन्तर्गत अधिकारो और उनमे गाथाओंके विभागका सूचन कर दिया गया है।

अधिकारोके अनुसार सूत्रगाथाओ और भाष्यगाथाओकी तालिका इसप्रकार है—

अधिकार नाम	गाथा सं०	चारित्रमोहक्षपणाकी भाष्य गाथाएँ		
		चारित्रमोह-क्षपणा	गाथा सं०	भाष्य गाथा
१-५ प्रारम्भके ५ अधि०	३	१ प्रस्थापक	६	(१)५,(२)११,(३) ४ गा०(४)२=२३
६ वेदक ,,	४	२ संक्रामक	४	
७ उपयोग ,,	७	३ अपवर्तना	३	(१)३,(२)१,(३) ४ = ८
८ चतु स्थान	१६	४ कृष्टिकरण	११	(१)३,(२)२,(३)१२, (४)३,(५)४,(६)२ (७)४,(८)४,(९)२ (१०) ५,=४१
९ व्यंजन	५			
१० दर्शनमोहोपशमना	१५			
११ दर्शनमोहक्षपणा	५	५ कृष्टिक्षपणा	४	(१)१,(२)१,(३)१० (४) २=१४
१२ संयमासंयमलब्धि और १३ चारित्र लब्धि	१	६ क्षीणमोह	१	
				८६ भाष्यगाथा
१४ चरित्रमोहोपशमना	८	७ संग्रहणी	१	
			२८ सूत्रगाथा	
१५ चारित्रमोहक्षपणा	२८			
	९२			

१ 'पच य तिण्णि य दो छक्क चउक्क तिण्णि तिण्णि एक्का य। चत्तारि य तिण्णि उभे पच य एक्क तह य छक्क ॥११॥ वही, पृ० १७१
तिण्णि य चउरो तह दुग चत्तारि य होंति तह चउक्क च। दो पच्चेव य एक्का अण्णा एक्का य दस दो य ॥१२॥' क० पा० पृ० १७१

२. 'पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणुभागे च बंधगे चेय। वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्तदेसविरयी सजम उवसामणा च खवणा च। दसणचरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ क० पा०, भा० १, पृ० १७८।

इस प्रकार पन्द्रह अधिकारोकी मूलगाथाओका जोड ९२ है और इनमेसे चारित्रमोहकी क्षपणासे सम्बन्ध रखनेवाली २८ गाथाओमेंसे २१ गाथाओकी भाष्य-गाथाओका जोड ८६ है। इन सबका जोड ९२ + ८६ = १७८ होता है। प्रारम्भमे पन्द्रह अधिकारोका नाम निर्देश करनेवाली दो गाथाओको जोडनेमे कुल गाथाओकी सख्या १८० होती है।

कसायपाहुडकी गाथासख्या

किन्तु कसायपाहुडकी कुल गाथाओकी सख्या २३३ है। पूर्वोक्त एकसौ अस्सी गाथाओके सिवाय ५३ गाथाएँ और भी है। १२ गाथाएँ सम्बन्धज्ञापक है, ६ गाथाएँ अद्धापरिमाणका निर्देश करती है, सक्रमवृत्तिमे सम्बन्द्ध ३५ गाथाएँ है। इन १२ + ६ + ३५ = ५३ गाथाओको १८० मे जोडनेसे कसायपाहुडकी गाथा-सख्या २३३ होती है। जयधवला-टीकाके रचयिता श्रीवीरसेन स्वामीके अनुसार इन समस्त गाथाओके रचयिता आचार्य गुणधर थे।

किन्तु जयधवला[1]मे उन्होने स्वय यह शका उठाई है कि जब कसायपाहुडकी गाथासख्या २३३ थी, तो गुणधराचार्यने ग्रन्थके प्रारम्भमे १८० गाथाओका ही निर्देश क्यो किया? वीरसेन स्वामीने उसका समाधान करते हुए लिखा है कि पन्द्रह अधिकारोमे विभक्त गाथाओका निर्देश करनेकी दृष्टिसे गुणधराचार्यने १८० गाथासख्याका निर्देश किया है, किन्तु बारह सम्बन्धगाथाएँ और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाएँ पन्द्रह अधिकारोमेसे किसी भी अधिकारसे बद्ध नही है, अत उनको छोड दिया है।

तब पुन शका की गई कि सक्रमणसम्बन्धी ३५ गाथाएँ तो बन्धक नामक अधिकारसे प्रतिबद्ध है, अत उनको १८० के साथ मिलाकर २१५ गाथासख्याका निर्देश करना क्यो उचित नही समझा? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने कहा है कि प्रारम्भके पाँच अर्थाधिकारोमे केवल तीन ही गाथाएँ है और उन तीन गाथाओसे बचे हुए पाँच अधिकारोमेसे बन्धक नामक अधिकारसे ही उक्त पैतीस गाथाएँ सबद्ध है, इसलिये उन पैतीस गाथाओको १८० मे सम्मिलित नही किया।

क्या इन गाथाओमे कुछ गाथाएँ नागहस्तिकृत भी है? इस प्रश्नपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जयधवलाके अनुसार वीरसेन स्वामीसे पहले होनेवाले कुछ टीकाकारोका ऐसा मत रहा है कि एकसौ अस्सी गाथाओके सिवाय जो शेष ५३ गाथाएँ है वे नागहस्तिकृत है[2]।

१ क० पा० भा० १, पृ० १८२–१८३।

२ 'असीदिसदगाहाओ मोत्तूण अवसेससबद्धापरिमाणणिद्देससक्रमणगाहाओ जेण णागहत्थिआइरियकयाओ तेण 'गाहासदे असीदे' त्ति भणिदूण णागहत्थिआइरिएण पइज्जा कदा इदि के वि वक्खाणाइरिया भणति, तण्ण घडदे।'—क० पा०, भा० १, पृ० १८३।

अर्थात् प्रारम्भकी मम्बन्धनिर्देशक वारह गाथाएँ, अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली १५ से २० तक छै गाथाएँ और सक्रमवृत्तिमम्बन्धी ३५ गाथायें किन्ही व्याख्याकारोके मतसे नागहस्तीकृत है। अत 'गाहासदे असीदे' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है, गुणधरका नही। इन गाथाओके सम्बन्धमें दो बातें उल्लेखनीय है—एक तो प्रारम्भकी पहली गाथाको छोडकर 'गाहासदे असीदे' आदि सम्बन्धनिर्देशक गाथाओपर और अद्धापरिमाणका निर्देश करनेवाली छै गाथाओपर यतिवृपभके चूर्णिमूत्र नही है, दूसरी वात यह है कि सक्रमसे सम्बद्ध ३५ गाथाओमेसे तेरह गाथाएँ शिवशर्म रचित माने जाने वाली कर्मप्रकृतिमे भी पायी जाती है।

यद्यपि इन बातोमे उक्त गाथाओके नागहस्तीकृत होनेका ममर्थन नही होता, तथापि ये वातें उक्त गाथाओकी स्थितिपर यत्किञ्चित् प्रकाश तो डालती ही है।

किन्तु वीरसेन स्वामी उक्त व्याख्याकारोके मतमे महमत नही है। उनका कहना है कि ऐसा माननेसे गुणधराचार्यकी अज्ञता द्योतित होती है। किन्तु यह युक्ति कोई जोरदार नही है। क्योकि मोलह हजार पदप्रमाण कपायप्राभृतको एकसौ अस्सी गाथाओमें सक्षिप्त करनेवाले गुणधराचार्य स्वरचित गाथाओका अधिकारोमे विभाजन वतलानेके लिये ग्यारह गाथाएँ जितना स्थान नही रोक सकते थे। फिर 'गाहासदे असीदे' आदि गाथाओकी रचनाशैलीमे भी उनके अन्यकर्तृक होनेका आभास होता है। उन गाथाओका रचयिता पन्द्रह अधिकारो-में विभक्त एकमौ अस्सी गाथाओको किम अधिकारमे कितनी गाथाएँ है, यह वतलानेकी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रकारकी प्रतिज्ञा गुणधरकृत सभव नही है, उन्हें यदि प्रतिज्ञा करनी होती, तो सोलह हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको एकमौ अस्सी गाथाओमे सक्षिप्त करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिए थी। वे कसाय-पाहुडको उपसहृत करनेके लिये सन्नद्ध हुए थे, न कि स्वरचित गाथाओको स्व-रचित अधिकारोमे विभाजित करनेके लिये।

दूमरे 'मत्तेदा गहाओ', 'एदाओ सुत्तगाहाओ' आदि पद यह सूचित करते है कि इन गाथाओकी रचनासे पूर्व मूलगाथाओ और भाष्यगाथाओकी रचना हो चुकी थी। अन्यथा अमुक अमुक सूत्रगाथा है, इस प्रकारका कथन मम्भव नही था। एक वात और भी द्रष्टव्य है। गाथा १३–१४ में गुणधराचार्यने अधिकारोका निर्देश किया है। उन गाथाओकी [1]टीकाके आरम्भमें ही जयधवलाकारने यह शका उठाई है कि 'इम इस अधिकारमे इतनी इतनी गाथाए है' इस प्रकारके कथनसे ही पन्द्रह अधिकारोका ज्ञान हो जाता है। फिर इन गाथाओके द्वारा १५ अधिकारो-

---

१ कसा० पा०, भा० १, पृ० १७८।

का कथन किस लिये किया गया है ?

इसका समाधान करते हुए जयधवलाकारने कहा है कि पूर्व निर्दिष्ट जिन गाथाओंमे यह वतलाया है कि अमुक-अमुक अधिकारमे अमुक-अमुक गाथा सम्बद्ध हैं, वे गाथाएँ इन्ही दो गाथाओकी वृत्तिगाथाएँ हैं अत इनके विना उनका कथन नही वन सकता।

इस कथनसे यह स्पष्ट है कि अधिकार-निर्देशक गाथाओके पश्चात् ही अधिकारोमे गाथाओका निर्देश करनेवाली गाथाएँ रची गई है, क्योकि सूत्रगाथासे वृत्तिगाथा पहले नही रची जा सकती। और वृत्तिगाथाका सूत्रगाथासे पूर्व निर्देश भी कुछ विचित्र-सा ही लगता है।

अत अन्य व्याख्याकारोका यह कथन कि 'गाहासदे असीदे' आदि प्रतिज्ञावाक्य नागहस्तीका है, नितान्त उपेक्षणीय नही है।

कसायपाहुडकी गाथाओका सूत्रत्व

यह पहले लिख आये है कि १६ हजार पदप्रमाण कसायपाहुडको गुणधराचार्यने केवल १८० गाथाओमे निवद्ध किया था। इतने विस्तृत गन्थका इतनी थोडी गाथाओमें निवद्ध किये जानेसे उन गाथाओका सूत्ररूप होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये गाथानम्बर २ मे 'वोच्छामि सुत्तगाहा' पदके द्वारा गाथाओके सूत्ररूप होनेका निर्देश किया गया है।

'सूत्र' शब्दका इतिहास वतलाते हुए डा० विन्टर नीट्स्ने लिखा है—'सूत्र' शब्दका मूल अर्थ 'धागा' या 'डोरा' था, फिर 'थोडेसे शब्दोमे निवद्ध 'नियम' या 'उपदेश' हो गया। जैसे वस्त्र अनेक धागोसे वुना जाता है वैसे ही एक शिक्षणका क्रम इन सक्षिप्त नियमोमे गथित किया जाता है। इस प्रकारके सक्षिप्त सूत्रोमे ग्रथित वडे ग्रन्थोको भी सूत्र कहा जाता है। ये ग्रन्थ केवल प्रयोगात्मक कार्योके काम आते है। इनमे अतिसक्षिप्त किन्तु सुष्ठुरीतिसे किसी ज्ञान-विज्ञानका समावेश रहता है और इसलिये विद्यार्थी उन्हे सरलतासे स्मृतिमे रख सकते है। सभवतया भारतीयोके इन सूत्रोके समान विश्वके समस्त साहित्यमें दूसरी वस्तु नही है। कम-से-कम शब्दोमे अधिक-से-अधिक कहना इन सूत्रात्मक ग्रन्थोकी रचना करनेवालोका कर्तव्य होता है। भाष्यकार पतञ्जलिकी इस उक्तिको प्राय. उद्धृत किया जाता है, जिसका आशय यह है कि सूत्रकार अर्धमात्राके लाघवसे उतना ही प्रसन्न होता है जितना पुत्रोत्पत्तिसे (हि० इ० लि०, भा० १, पृ० २६८-२६९)।

कसायपाहुडके गाथासूत्रोमे भी कम-से-कम शब्दोमे अधिक-से-अधिक कहनेका सफल प्रयास किया गया है, यदि ऐसा न किया जाता तो इतने विशाल ग्रन्थका इतनी थोडी गाथाओके द्वारा उपसहार करना सभव न होता।

जैन साहित्यके अवलोकनसे यह प्रकट है कि द्वादशाग वडा विशाल था।

उसकी विशालताका परिचय पूर्वपीठिकामे दिया गया है। किन्तु उस विशाल द्वादशागको 'सूत्र' भी कहते थे। कालक्रमसे जैन परम्परामें व्यक्तिविशेषके द्वारा रचित ग्रन्थोको ही सूत्र कहनेकी परिपाटी प्रवर्तित होगई थी। उसके अनुसार जो गणधरके द्वारा कथित अथवा प्रत्येकबुद्धके द्वारा कथित अथवा श्रुतकेवलीके द्वारा कथित, अथवा अभिन्नदसपूर्वीके द्वारा कथित हो उसे सूत्र[1] कहते थे।

इसीमे जयधवलामे[2] यह शका की गई है कि गुणधराचार्य न तो गणधर थे, श्रुतकेवली थे न प्रत्येकबुद्ध थे और न अभिन्नदसपूर्वी थे। तव उनके द्वारा रचित गाथाओको सूत्र क्यो कहा गया? इस शकाका समाधान करते हुए श्रीवीरसेन स्वामीने कहा है कि गुणधराचार्यके द्वारा रचित गाथाएँ निर्दोष है, अल्पाक्षर है, और असदिग्ध है, अत सूत्रसम होनेसे उन्हे सूत्र कहा गया है।

इस समाधानके द्वारा जयधवलाकारने सूत्रके सर्वप्रसिद्ध लक्षणको उद्धृत करके कसायपाहुडके गाथाओकी सूत्रसज्ञाका समर्थन किया है। सूत्रका[3] सर्वप्रसिद्ध लक्षण इस प्रकार है—'जिसमें अल्प अक्षर हो, जो असदिग्ध हो, जिसमे सार भरा हो, जिसका निर्णय गूढ हो, जो निर्दोष हो, सयुक्तिक हो और तथ्यभूत हो उसे विद्वान् सूत्र कहते हैं। सूत्रका यह लक्षण सर्वमान्य है।

इसपर भी जयधवलामे यह शका की गई है कि यह सम्पूर्ण सूत्रलक्षण तो जिनदेवके मुखसे निकले हुए अर्थपदोमे ही सभव है, गणधरके मुखसे निकली हुई ग्रन्थरचनामें नही, क्योकि गणधरके द्वारा रचित द्वादशागरूप श्रुत तो बडा विशाल होता है? इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि गणधरके वचन भी सूत्रसम होनेसे सूत्र कहे जानेके योग्य होते हैं।

इस चर्चासे यही प्रकट होता है कि 'सूत्रसज्ञाके योग्य वे ही रचनाए होती है जिनमें सूत्रका उक्त लक्षण घटित होता है। चूकि इस प्रकारकी रचना करना साधारण व्यक्तिका काम नही है, अत विशिष्ट व्यक्तियोकी उक्त प्रकारकी कृतिया भी सूत्र कही जा सकती है। फलत गुणधररचित कसायपाहुडकी गाथाओको भी सूत्र कहा जा सकता है।

किन्तु गुणधराचार्यने जिन एकसौ अस्सी गाथाओमें कसायपाहुडको उपसहृत किया है उनमें उन्हें 'सुत्तगाहा' नही कहा। 'गाहासदे असीदे' आदि जिन गाथाओके गुणधरकृत होनेमें विवाद रहा है उनमे ही उन्हें 'सुत्तगाहा' कहा है। उनमे भी

---

१ 'सुत्त गणधरकहिय तहेव पत्तेयबुद्धकहिय च। सुदकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुव्विकहिय च ॥३४॥ भ० आ०।

२ क० पा०, भा० १, पृ० १५३-१५४।

३ 'अत्रोपयोगी श्लोक —अल्पाक्षरमसन्दिग्ध सारवद्गूढनिर्णयम। निर्दोप हेतुमत्तथ्य सूत्र मित्युच्यते बुधै।'—क० पा० भा० १, पृ० १५४।

कुछको 'सुत्तगाहा', कुछको 'गाहा' और कुछको 'सभासगाहा' कहा है।

चारित्रमोहकी क्षपणा नामक पन्द्रहवें अधिकारमें कुल अट्ठाईस गाथाए है। उनमेंसे सातको[1] 'गाहा' और शेष इक्कीसको 'सभासगाहा' कहा है। जिन गाथाओंका व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाएँ है उन्हें 'सभासगाहा' (सभाष्यगाथा) कहा है। २८ मेंसे इक्कीस गाथाए ऐसी है जिनकी भाष्यगाथाए भी है, अत उन्हे सभाष्यगाथा कहा है। और शेष सातको केवल 'गाहा' लिखा है। किन्तु 'सत्तेदा गाहाओका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने[2] लिखा है कि 'ये सात गाथाएँ सूत्रगाथाएँ नही है, क्योंकि उनके द्वारा सूचित किये गये अर्थका व्याख्यान करनेवाली भाष्यगाथाओका अभाव है।'

इसका मतलब तो यह हुआ कि सभाष्यगाथाओको ही सूत्रगाथा कहना चाहिए। और ऐसा माननेसे केवल इक्कीस गाथाएँ ही सूत्रगाथा ठहरती है।

गाथासख्या नौकी उत्थानिकामे जयधवलाकारने लिखा है—'अब पन्द्रहवे अधिकारमें आई अट्ठाईस गाथाओमेंसे कितनी सूत्रगाथाए है और कितनी सूत्रगाथाएँ नही है, इसप्रकार पूछने पर असूत्रगाथाओका प्रमाण बतलानेके लिए आगेका सूत्र कहते है। जिससे अनेक अर्थ सूचित हो उसे सूत्रगाथा[3] कहते है और जिससे अनेक अर्थ सूचित न हो उसे असूत्रगाथा कहते है।' इससे भी उक्त कथनका ही समर्थन होता है।

किन्तु गाथासख्या दोमें एकसौ अस्सी गाथाओको सूत्रगाथा कहा है और जयधवलाकारने उसका समर्थन किया है। 'वोच्छामि सुत्तगाहा जयिगाहा जम्मि अत्थम्मि' पदका व्याख्यान करते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'उन एकसौ अस्सी गाथाओमेंसे जिस अधिकारमे जितनी सूत्रगाथाएँ पाई जाती है उन सूत्रगाथाओका मैं कथन करता हूँ। इस सूत्रगाथाके तीसरे चरणमे स्थित गाथाशब्दके साथ लगे हुए 'सूत्र' शब्दको इसी गाथाके चौथे चरणमे स्थित 'गाथा' शब्दके साथ भी लगा लेना चाहिये[4]।'

इसप्रकार जयधवलाकारने सभी गाथाओको सूत्रगाथा स्वीकार किया है। ऐसी स्थितिमे यही समाधान उचित प्रतीत होता है कि गाथासख्या नौमे जो सात गाथाओको असूत्रगाथा कहा है वह आपेक्षिक कथन है। चारित्रमोहक्षपणा नामक अधिकारकी इक्कीस गाथाओकी दृष्टिसे ही वे असूत्रगाथाएँ है क्योंकि उनकी भाष्यगाथाओका अभाव है।

---

१ 'सत्तेदा गाहाओ अण्णाओ सभासगाहाओ ॥९॥'

२ क०पा०, भा० १, पृ० १६९

३ 'का सुत्तगाहा ? सूचिदणेगत्था। अवरा असुत्तगाहा।' वही, पृ० १६८।

४. वही, पृ० १५३।

रूप गाथाओको 'भा यगाथा' कहा है। तथा अन्य गाथाओको 'सुत्तगाहा' शब्दसे निर्दिष्ट किया है।

[1]इन्द्रनन्दिने भी अपने श्रुतावतारमें सब गाथाओको गाथासूत्र कहा है। किन्तु उनमेंसे १८३ को (१८० होना चाहिये) मूलगाथा और शेप ५३ को विवरण-गाथा कहा है।

किन्तु जयधवलाकारने 'मूलगाथा'[2] का अर्थ भी सूत्रगाथा ही किया है। सभवतया वे १८० गाथाओको मूलगाथा[3] या सूत्रगाथा मानते है। किन्तु चूर्णि-सूत्रकारने 'मूलगाथा' शब्दका व्यवहार केवल चारित्रमोहक्षपणानामक अधि-कारमें आगत सभाष्य-गाथाओके लिये ही किया है और भाष्यगाथाओको छोड-कर शेप सबको सूत्रगाथा कहा है। यही हमें उचित प्रतीत होता है।

चूर्णिसूत्रकार श्रीयतिवृषभने कतिपय सूत्रगाथाओको उनके विपय-प्रतिपादन-के अनुसार कुछ अन्य नाम भी दिये है। वे नाम है—पुच्छासुत्त, वागरणसुत्त और सूचणासुत्त।

जिन गाथाओमें किसी विपयकी पृच्छा की गई हो, कोई वात पूछी गई हो वे गाथाएँ पृच्छासूत्र कही गई है। चारित्रमोहक्षपणानामक अधिकारकी तीस मूलगाथाएँ पृच्छासूत्र है। अन्य अधिकारोमें भी पृच्छात्मक गाथासूत्रोकी पर्याप्त सख्या पाई जाती है।

पृच्छासूत्रका उदाहरण इस प्रकार है—

'किस[4] कपायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? कौन उपयोगकाल किससे अधिक है और कौन जीव किस कषायमें निरन्तर एक-सा उपयोगी रहता है? ॥ ६३ ॥

जयधवलाकारने 'वागरणसुत्त' का अर्थ किया है व्याख्यानसूत्र। अर्थात् जिसके द्वारा किसी विषयका व्याख्यान किया जाता है उसे व्याकरणसूत्र कहते है। इसका उदाहरण—'विवक्षित कृष्टिका बन्ध अथवा सक्रमण नियमसे क्या सभी स्थितिविशेपोमें होता है? विवक्षित कृष्टिका जिस कृष्टिमें सक्रमण किया

१ अधिकाशीत्या युक्त शत च मूलसूत्रगाथानाम्। विवरणगाथाना च अधिकं पञ्चाशत-मकार्षीत् ॥१५३॥
एव गाथासूत्राणि पञ्चदश महाधिकाराणि प्रविरच्य व्याचख्यौ स नागहस्त्यार्यमक्षुभ्याम् ॥१५४॥

२ 'मूलगाहाओ णाम सुत्तगाहाओ'—क० पा० भा०।

३ 'एत्थेव पयडी य मोहणिज्जा एदिस्से मूलगाहाए अत्थो समत्तो।' क० पा० भा०

४ 'केवचिर उवजोगो कम्मि कसायम्मि को व केणहियो। को वा कम्मि कसाए अभिक्ख-मुवजोगमुवजुत्तो ॥६३॥

जाता है उसके सर्व अनुभागविशेषोंमें संक्रमण होता है। किन्तु उदय मध्यम-कृष्टिसे जानना चाहिये ॥ २१९ ॥

इस गाथाका[1] पूर्वार्ध तो पृच्छासूत्ररूप है किन्तु उत्तरार्धको चूर्णिसूत्रकारने वागरणसुत्त कहा है।

जिस गाथाके द्वारा किसी विषयकी सूचना की गई हो उसको 'सूचनासूत्र' कहा है। जैसे गाथा ६७ के 'केवडिया[2] उवजुत्ता' पदसे द्रव्यप्रमाणानुगम, 'सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' पदसे कालानुगम, 'केवडिया च कसाए' पदसे भागाभाग, और 'के के च विसिस्सदे केण' पदसे अल्पबहुत्व, इस प्रकार ये चार अनुयोग तो सूत्रनिबद्ध है। किन्तु शेष चार अनुयोग सूचनारूप अनुमानसे ग्रहण कर लेना चाहिये।

कसायपाहुड शैली

गाथाओके उक्त विवरणसे कसायपाहुडकी शैलीका आभास मिल जाता है। रचनाकी दृष्टिसे गाथाओकी शब्दावली क्लिष्ट नही है किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तसे सबद्ध होनेके कारण जैन कर्मसिद्धान्तका ज्ञाता ही उनका रहस्य समझ सकता है। परन्तु अधिकतर गाथाएं पृच्छारूप है—उनमें प्रत्येक अधिकारसे सबद्ध विषयोको प्रश्नके रूपमे निर्दिष्ट किया गया है किन्तु कही तो उन प्रश्नोसे सम्बद्ध कुछ आवश्यक बातोको सूत्ररूपसे कह दिया गया है, अन्यथा प्रश्नोके द्वारा ही विषयोकी सूचना देकर ज्यो-का-त्यो छोड दिया गया है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थकी रचना जनसाधारणके लिये नही की गई है, किन्तु जैन कर्मसिद्धान्तके पारगामी बहुश्रुतोके लिये की गई है। अत इसके पृच्छासूत्रोमें उठाये गये प्रश्नोको हृदयगम करके उनका समाधान वही कर सकता है जो आर्यमक्षु और नागहस्तीकी तरह उस विषयका मर्मज्ञ हो।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें जो यह लिखा है कि गुणधर आचार्यने अपने द्वारा रचित कसायपाहुडकी गाथाओका व्याख्यान आर्यमक्षु और नागहस्तीको किया, उसमें कितना तथ्य है, यह कहना तो शक्य नही है, किन्तु इसमें सन्देह नही कि गुणधराचार्यने कसायपाहुडकी रचना करके अवश्य ही उनका व्याख्यान अपने

---

१ 'त्तो व सकमो वा णियमा सव्वेसु ट्ठिदिविसेसु। सव्वेसु चाणुभागेसु सकमो मज्झिमो उदओ ॥२१९॥—'सव्वेसु चाणुभागेसु सकमो मज्झिमो उदओ त्ति एद सव्व वागरण सुत्त—क. पा. सू., पृ० २८३।

२ 'केवडिया उवजुत्ता सरिसीसु च वग्गणाकसाएसु' चेति एदिस्से गाहाए अत्थ विहासा एसा गाहा सूचणासुत्त। एदीए सूचिदाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि।—क. पा सू., पृ० ५८५।

किसी बहुश्रुत शिष्यको अवश्य किया होगा और वही व्याख्यान साक्षात् या परपरा-से आर्यमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ होगा। यदि ऐसा न होता, तो कसाय-पाहुडरूपी गागरमें जो श्रुत-सागर भरा हुआ है उसका उद्घाटन करना शक्य नही था।

प्रश्नात्मक प्रणाली बहुत प्राचीन है। बौद्धोके अभिधम्मपिटककी शैली भी प्रश्नात्मक प्रणालीको लिये हुए है। प्रश्न और उत्तरके रूपमें विषयको समझाया गया है। श्वेता० आगमसाहित्यमें भी इस प्रणालीके दर्शन होते है। भगवती-सूत्र तो प्रश्नोत्तररूपमें ही है। गौतम गणधरके प्रश्नोका उत्तर भगवान् महावीर देते है। सभवतया प्रश्नात्मक प्रणाली उसीकी सूचक है, क्योकि भगवान महावीर गौतम गणधरके प्रश्नोंका उत्तर देते थे। उसीसे श्रुतकी धाराको गति मिलती थी। वीरसेन स्वामीने [1]जयधवलामें प्रश्नात्मक प्रणालीके विषयमें यही समाधान किया है। आचार्य यतिवृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोमें इस प्रणालीको अपनाया है। उसका व्याख्यान करते हुए यह शका उठाई गई है कि यह पृच्छासूत्र किस लिये कहा है? इसका उत्तर दिया है—शास्त्रकी प्रामाणिकता बतलानेके लिये। इस पर पुन शका की गई कि पृच्छाके द्वारा शास्त्रकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? पुन उत्तर दिया गया—चूँकि यह पृच्छा गौतम स्वामीने तीर्थङ्कर भगवान महावीरसे की है, अत इससे शास्त्रकी प्रमाणिकताका बोध होता है।

वीरसेन स्वामीने इस सम्बन्धमें इतना और भी लिखा है कि 'इस पृच्छासूत्रके द्वारा चूर्णिसूत्रकारने अपने कर्तृत्वका निवारण किया है अर्थात् इससे उन्होने यह सूचित किया है कि उन्होने जिस तत्त्वका कथन किया है वह उनकी अपनी उपज नही है बल्कि गौतम गणधरने महावीर स्वामीसे जो प्रश्न किये थे और उनका जो उत्तर उन्हें भगवानसे प्राप्त हुआ था, उसे ही उन्होने यहाँ निबद्ध किया है।'

अतएव सक्षेपमें कसायपाहुडकी शैली प्रश्नोत्तररूप सूत्र-शैली है। यह शैली वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मयके प्राचीन ग्रन्थोमें भी पायी जाती है।

कसायपाहुडका विषय-परिचय

पहले लिख आए है कि आचार्य गुणधरने सोलह हजार पद प्रमाण कसाय-पाहुडको मात्र दो सौ तेतीस गाथाओमें उपसंहृत किया है तथा उनमेंसे कुछ गाथाएँ सूचनात्मक, कुछ पृच्छात्मक और कुछ व्याकरणात्मक या व्याख्यात्मक है।

सर्वप्रथम गाथामें आचार्य गुणधरने यह बतलाया है कि पाँचवें पूर्वकी दसवी वस्तुमें पेज्जपाहुड नामक तीसरा अधिकार है उससे यह कसायपाहुड उत्पन्न हुआ

---

१ क० पा०, भा २, पृ २११।

है। इस तरह इस गाथाके द्वारा ग्रन्थकारने ग्रन्थका नाम और उसके पूर्वगतको सूचित किया है।

दूसरी गाथामें कहा है कि इस कसायपाहुडमें एक सौ अस्सी गाथाएँ हैं और वे पन्द्रह अधिकारोंमें विभक्त हैं। उनमेंसे जिस अधिकारमें जितनी सूत्रगाथाएँ प्रतिबद्ध हैं, उन्हें मैं कहूँगा।

आगेकी छह गाथाओंके द्वारा कहा है कि पेज्जदोसविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, बन्धक अर्थात् बन्ध और संक्रम इन पाँच अधिकारोंमें तीन गाथाएँ निबद्ध हैं। वेदकनामक अधिकारमें चार, उपयोगनामक अधिकारमें सात, चतुःस्थाननामक अधिकारमें सोलह और व्यंजननामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ निबद्ध हैं। दर्शनमोहउपशामनानामक अधिकारमें पन्द्रह और दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें पाँच सूत्रगाथाएँ हैं। संयमासंयमलब्धि और चारित्रलब्धिनामक अधिकारमें एक ही गाथा है तथा चारित्रमोहउपशामनानामक अधिकारमें आठ सूत्रगाथाएँ हैं। चारित्रमोहकी क्षपणाके प्रस्थापनमें चार, संक्रमणमें चार, अपवर्तनमें तीन, कृष्टिकरणमें ग्यारह, कृष्टियोंकी क्षपणामें चार, क्षीणमोहमें एक, संग्रहणीमें एक, इसप्रकार सब मिलाकर चारित्रमोहके क्षपणानामक अधिकारमें अट्ठाईस गाथाएँ हैं।

इस तरह आठ गाथाओंसे प्रत्येक अधिकार सम्बन्धी गाथाओंका विभाजन करके आचार्य गुणधरने आगेकी चार गाथाओंमें सूत्रगाथाओं और उनकी भाष्यगाथाओंका निर्देश किया है। उनके पश्चात् दो गाथाओंसे ग्रन्थके पन्द्रह अर्थाधिकारोंका निर्देश किया है।

इसके पश्चात् छह गाथाओंमें अद्धापरिमाणका कथन है। उसमें कालके अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—दर्शनोपयोगका जघन्यकाल सबसे कम है। इससे विशेष अधिक चक्षुइन्द्रियावग्रहका जघन्यकाल है। इससे विशेष अधिक श्रोत्रावग्रहका जघन्यकाल है। इसी तरह घ्राण-अवग्रह, जिह्वा अवग्रह, मनोयोग, वचनयोग, काययोग, स्पर्शन-अवग्रह, अवायज्ञान, ईहाज्ञान, श्रुतज्ञान और श्वासोच्छ्वासका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। तद्भवस्थ केवलीके केवलज्ञान और केवलदर्शनका काल तथा सकषाय जीवके शुक्ललेश्याका काल श्वासोच्छ्वासके जघन्यकालसे विशेष अधिक है। इन तीनोंके जघन्यकालसे एकत्ववितर्क अवीचार ध्यानका जघन्यकाल विशेष अधिक है। इसी तरह पृथक्त्ववितर्कसवीचार ध्यान, उपशमश्रेणिसे गिरे हुए सूक्ष्मसाम्परायिक, उपशमश्रेणिपर चढनेवाले सूक्ष्मसाम्परायिक, क्षपकश्रेणिगत सूक्ष्मसाम्परायिक, मान, क्रोध, माया, लोभ, क्षुद्रभवग्रहण, कृष्टिकरण, संक्रमण, अपवर्तन, उपशान्तकषाय, क्षीणमोह, उपशामक,

क्षपकका जघन्यकाल उत्तरोत्तर विशेष अधिक है। इसी तरह आगे इनका उत्कृष्ट-काल कहा है।

जैनसिद्धान्तमें चर्चित उक्त विषयोंको हृदयगम करनेके लिए कालके अल्प-बहुत्वका कथन अपना विशेष महत्त्व है। इसीसे आचार्य गुणधरने ग्रन्थके प्रारम्भमें छह गाथाओंसे उसका कथन किया है। इसके पश्चात् पन्द्रह अधिकारोंसे सम्बद्ध गाथाएँ प्रारम्भ होती हैं।

सबसे प्रथम अधिकार-सम्बन्धी गाथामें यह शका की गई है कि 'किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें पेज्ज (प्रेय) होता है अथवा किस कषायमें किस नयकी अपेक्षा द्वेष होता है? कौन नय किस द्रव्यमे दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें प्रेय होता है?'

इस आशकासूत्रका अभिप्राय यह है कि क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंमेंसे किस नयकी दृष्टिमें कौन कषाय राग है और कौन द्वेषरूप है? रागद्वेषसे आविष्ट जीव किस द्रव्यको अपना अहितकारी द्वेषरूप मानता है और किस द्रव्यको रागरूप मानता है? राग-द्वेष ही ससारकी जड है। इनके नष्ट हुए बिना जीव ससारसे मुक्त नही हो सकता। अत उन्हींसे वर्ण्य विषयका प्रारम्भ होता है। आचार्य गुणधरने इस आशकासूत्रका स्वय कोई उत्तर नही दिया। यह कार्य चूर्णिसूत्रकार और उसके व्याख्याकारोंने किया है।

इससे आगेकी गाथामें कहा है—'मोहनीयकर्मकी प्रकृति-विभक्ति, स्थिति-विभक्ति, अनुभाग-विभक्ति, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टप्रदेश-विभक्ति, झीणाझीण और स्थित्यन्तिककी प्ररूपणा करना चाहिए।'

इस एक गाथाके द्वारा ही इस गाथामें आगत अधिकारोंका कथन आचार्य गुणधरने कर दिया है। वृत्तिकार और टीकाकारोंने प्रत्येक अधिकारका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है।

यहाँ प्रसगवश सक्षेपमे कर्मसिद्धान्तपर थोड़ा-सा प्रकाश डालना उचित होगा।

कर्म-सिद्धान्त—

कसायपाहुड, छक्खडागम आदि समस्त करणानुयोगविषयक साहित्य कर्म-सिद्धान्तसे सम्बद्ध है। अत उस सिद्धान्तका सामान्य परिचय यहाँ दिया जाता है।

यह तो प्राय सभी परलोकवादी दर्शनोंने माना है कि आत्मा जैसे अच्छे या बुरे कर्म करता है, तदनुसार ही उसमें अच्छा या बुरा सस्कार पड जाता है और उसे उसका अच्छा या बुरा फल भोगना पडता है। परन्तु जैनधर्म जहाँ अच्छे या बुरे सस्कार आत्मामे मानता है वहाँ सूक्ष्म कर्मपुद्गलोंका उस आत्मासे बन्ध भी

मानता है। उसकी मान्यता है कि इस लोकमें सूक्ष्म कर्मपुद्गलस्कन्ध भरे हुए है, जो इस जीवकी कायिक, वाचनिक या मानसिक प्रवृत्तिसे, जिसे जैन सिद्धान्तमे योग कहा है, आकृष्ट होकर स्वत आत्मासे बद्ध हो जाते है और आत्मामें वर्तमान कषायके अनुसार उनमे स्थिति और अनुभाग पड जाता है। जब वे कर्म अपनी स्थिति पूरी होने पर उदयमें आते है तो अच्छा या बुरा फल देते है। इस तरह जीव पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे क्रोधादि कषाय करता है और उससे नवीन कर्मका वन्ध करता है। कर्मसे कषाय और कषायसे कर्मबन्धकी यह परम्परा अनादि है। इसी बन्धनसे छूटनेका उपाय धर्म माना जाता है। कर्मबन्धके चार भेद है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। कर्मोंमे ज्ञानको घातने, सुख-दु खादि देनेका स्वभाव पडना प्रकृतिबन्ध है। कर्म बन्धनेपर जितने समय तक आत्माके साथ बद्ध रहेंगे, उस समयकी मर्यादाका नाम स्थितिबन्ध है। कर्म तीव्र या मन्द जैसा फल दे उस फलदानकी शक्तिका पडना अनुभागबन्ध है। कर्मपरमाणुओकी सख्याके परिमाणका नाम प्रदेशबन्ध है। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगसे होते है और स्थितिबन्ध एव अनुभागबन्ध कषायसे होते है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिका नाम योग है। यह योग जितना तीव्र या मन्द होता है, तदनुसार ही पौद्गलिक कर्मस्कन्ध आत्माकी ओर आकृष्ट होते है। जैसे हवा जितनी तेज, मन्द चलती है, तदनुसार ही धूल उडती है। और कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ जैसे—तीव्र या मन्द होते है, तदनुसार ही कर्मपुद्गलोमे तीव्र या मन्द स्थिति और अनुभाग पडता है। इस तरह योग और कषाय बन्धके कारण है। इनमें भी कषाय ही ससारकी जड है।

कर्मके आठ मूल भेद है—१ ज्ञानावरण—जो आत्माके ज्ञानगुणको ढाकता है, २ दर्शनावरण—जो आत्माके दर्शनगुणको ढाकता है, ३ वेदनीय—जो जीवको सुख-दु खका अनुभव कराता है, ४ मोहनीय—जो जीवको अपने स्वरूपके सबधमें विपरीत बुद्धि पैदा करता है, ५. आयु—जिसके उदयमे जीव किसी एक जन्ममें अमुक समय तक रहता है, ६ नाम—जिसके उदयसे जीवका नया शरीर वगैरह वनता है, ७ गोत्र—जिसके उदयमे जीव उच्च या नीच कहलाता है और ८ अन्तराय—जो जीवके कार्योमे बाधा डालता है।

ये आठ कर्म मूल है। इनके १४८ भेद है, जिन्हे कर्मप्रकृतियाँ कहते है। इन कर्मोंकी दस अवस्थाएँ होती है, उन्हे करण कहते है। सबसे प्रथम बन्ध करण होता है—जीव कर्मसे बधता है या कर्म जीवसे बधता है। बधनेके पश्चात् ही कर्म तत्काल फल नही देता, उस अवस्थाको सत्ता कहते है। फल देनेका नाम उदय है। फल देनेके भी दो प्रकार है—समय पर फल देनेका नाम उदय है और असमयमें

फल देनेका नाम उदीरणा है। जैसे—आम पेडपर लगा-लगा पके तो वह सामयिक पकना है और उसे कच्ची अवस्थामें तोडकर भूसे वगैरहमें दबाकर जल्दी पका लिया जाये तो वह असमयका पकना है। इसी तरह बधे हुए कर्म जीवके परिणामोका निमित्त पाकर असमयमे भी उदयमें लाकर नष्ट किये जा सकते है उसे उदीरणा कहते है। बन्धे हुए कर्ममें अपने अच्छे-बुरे परिणामोके प्रभावसे स्थिति-अनुभागको कम कर देना अपकर्पण करण है और बढा देना उत्कर्पण करण है। परिणामोसे कर्मको इस योग्य कर देना कि वह अमुक समय तक उदयमे न आसके उसे उपशम करण कहते है। परिणामोक द्वारा एक कर्मको अपने सजातीय अन्य कर्मरूप परिणमा देना सक्रम करण है। कर्मकी उस अवस्थाको निधत्ति कहते है जिसमें न तो उसे उदयमे लाया जासके और न अन्य कर्मरूप ही किया जा सके। और उस अवस्थाको निकाचना कहते है जिसमे कर्मका उदय, सक्रमण, उत्कर्पण, अपकर्पण चारो ही सभव न हो।

इन आठ कर्मोमें सबसे प्रधान मोहनीय कर्म है। उसके दो मुख्य भेद है—१ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह। दर्शनमोहके उदयमें जीवको अपने स्वरूपकी रुचि श्रद्धा, प्रतीति नही होती और जब तक वह न हो तब तक उसका समस्त धर्माचरण निरर्थक होता है, उसके होने पर ही मुक्तिका द्वार खुलता है। चारित्रमोहके भेद कषाय है। इस ग्रन्थमे केवल एक मोहनीयकर्मका ही विवेचन है, उसीके सत्त्व, बन्ध, उदय, सक्रमण, उपशम और क्षयका विवेचन है। प्रारम्भके अधिकारोमे प्रकृतिसत्त्व, स्थितिसत्त्व, अनुभागसत्त्व और प्रदेशसत्त्व आदिका कथन है। इनके साथ ही बाईसवी गाथा समाप्त होती है।

तेईसवी गाथा बन्धक अधिकारसे सम्बद्ध है। इसमें कहा है कि 'कितनी प्रकृतियोको बाधता है? कितना स्थिति-अनुभागको बाधता है? कितने प्रदेशोको बाधता है? कितनी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका सक्रमण करता है?'

बन्धका कथन तो नही किया, सक्रमका कथन आचार्य गुणधरने पैतीस गाथाओके द्वारा किया है। एक प्रकृतिका तथा उसकी स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका अन्य सजातीय प्रकृति आदिमे परिवर्तनको सक्रम कहते हैं। यह भी चार प्रकारका है—प्रकृति-सक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम। इन्हीका इसमें विवेचन है।

आगे चार गाथाओसे वेदक अधिकारका कथन है। ये चारो गाथाएँ भी प्रश्नात्मक है। यथा—कितनी प्रकृतियोका उदयावलीमें प्रवेश कराता है? और किन जीवोके कितनी प्रकृतियाँ उदयावलीमें प्रविष्ट होती है? क्षेत्र, भव, काल, और पुद्गलको निमित्त करके कितने कर्मोका स्थिति, विपाक और उदयक्षय होता है?

आशय यह है कि कर्मोके फल देनेको उदय कहते है। इसके दो रूप है—उदय

और उदीरणा। कर्मोंकी स्थिति यथाक्रम पूरी होने पर फल देना उदय है। और तप आदिके द्वारा बलपूर्वक स्थितिका अपकर्षण करके कर्मोंको उदयमें ले आना उदीरणा है। इन्हीका विवेचन इस अधिकारमें है। आगे विवेचन उत्तरकालमें वृत्तिकार और टीकाकारने किया।

इसके आगे सात गाथाओसे उपयोग अधिकारका कथन है। ये गाथाएँ भी प्रश्नात्मक है। यथा—किसी कषायमें एक जीवका उपयोग कितने काल तक होता है? किस उपयोगका काल किससे अधिक है? कौन जीव किस कषायमें निरन्तर एक सदृश उपयोगमें रहता है आदि?

आगे सोलह गाथाओमें चतुस्थान-अर्थाधिकारका कथन है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभके चार-चार प्रकारोका कथन है। इसीसे इसे चतु स्थान नाम दिया है। ये गाथाएँ प्रश्नात्मक नही है, विवरणात्मक है। केवल अन्तकी दो गाथाएँ प्रश्नात्मक है।

क्रोधादिके उत्तरोत्तर हीनताकी, अपेक्षा चार स्थान जिनागममे प्रसिद्ध है—क्रोध चार प्रकारका है—पाषाण-रेखाके समान, पृथिवी-रेखाके समान, बालू-रेखाके समान और जल-रेखाके समान। मानके भी चार भेद है—पत्थर, हड्डी, लकडी और लताके समान। मायाके भी चार प्रकार है—बांसकी जड, मेढेके सीग, गोमूत्र और अवलेखनीके समान। तथा लोभके भी चार प्रकार है—कृमिराग, अक्षमल, पांशुलेप और हल्दीसे रगे वस्त्रके समान।

आगे इनके अनुभागकी हीनाधिकताका विवेचन है।

आगे पाँच गाथाओसे व्यजन अधिकारका विवेचन है। इनमे चारो कषायोके समानार्थक नाम बतलाये है। जैसे—क्रोध, कोप, रोष आदि। मान, मद, दर्प, माया, निकृति, वचना, काम, राग, निदान, लोभ आदि।

यहाँ तक कर्मरूप कषायोका कथन करनेके पश्चात् आगेके अधिकारोमे दर्शन-मोह और चारित्रमोहके उपशमन तथा क्षपणका कथन है।

सबसे प्रथम मोक्षमार्गी जीवको उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अत सम्यक्त्व-अधिकारमे प्रथम चार गाथाओके द्वारा तो कुछ प्रश्न उपस्थित किये गये है। जैसे—दर्शनमोहके उपशामकका परिणाम कैसा होता है? किस योग, कषाय, उपयोग, लेश्या और वेदसे युक्त जीव दर्शनमोहका उपशम करता है? पन्द्रह गाथाओसे सम्यग्दर्शनसे सम्बद्ध बातोका विवेचन है। जैसे—दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम करने वाला जीव चारो गतियोमें होता है तथा वह नियमसे पचे-न्द्रिय सज्ञी और पर्याप्तक होता है। दर्शनमोहका उपशम होनेपर सासादन भी हो जाता है। किन्तु क्षय होनेपर सासादन नही होता। साकार उपयोग वाला

जीव ही दर्शनमोहके उपशमनका प्रस्थापक होता है किन्तु निष्ठापक भजितव्य है। दर्शनमोहकी उपशान्त अवस्थामे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये तीनो उपशान्त रहते है। उपशमसम्यग्दृष्टि जीवके दर्शनमोहनीयकर्म अन्तर्मुहूर्त काल तक उपशान्त रहता है। इसके पश्चात् नियमसे उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिमेंसे किसी एकका उदय होता है। सम्यक्त्वका प्रथम बार लाभ सर्वोपशमसे होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो नियमसे श्रद्धान करता है। किन्तु अज्ञानवश सद्भूत अर्थको स्वय नही जानता हुआ गुरुके नियोगमे असद्भूत अर्थका भी श्रद्धान करता है।'

इस प्रकार इस अधिकारमें सम्यक्त्वका कथन विस्तारसे किया है।

इससे आगे दर्शनमोहक्षपणा-अधिकारमें कहा है कि नियमसे कर्मभूमिमें उत्पन्न हुआ और मनुष्यगतिमे वर्तमान जीव ही दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है, किन्तु उसकी पूर्ति चारो गतिमें होती है। मिथ्यात्ववेदनीय कर्मके सम्यक्त्व प्रकृतिमे अपवर्तित होनेपर जीव दर्शनमोहकी क्षपणाका प्रस्थापक होता है। दर्शन मोहके क्षीण हो जानेपर तीन भवमें नियमसे मुक्त हो जाता है। मनुष्यगतिमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नियमसे संख्यात हजार होते है। शेष गतियोमे असख्यात होते है।

उपशमसम्यक्त्वके पश्चात् क्षायिकसम्यक्त्व होने पर ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है, क्योकि दर्शनमोहका क्षय किये बिना मुक्तिकी प्राप्ति सभव नही है।

आगे सयमासयमलब्धि नामक अधिकारमें एक गाथासे कहा है—'सयमासयमकी लब्धि तथा चारित्रकी लब्धि, परिणामोकी वृद्धि और पूर्वबद्ध कर्मोकी उपशामना इस अधिकारमें वर्णन करने योग्य है। इतना कहकर ही यह अधिकार समाप्त कर दिया गया है। आगे चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें प्रारम्भकी ५ गाथाए तो प्रश्नात्मक है। बादकी तीन गाथाओमें विषयसे सम्बद्ध बातोका विवेचन किया है। जैसे, यह प्रश्न किया गया है कि चारित्रमोहकी उपशमना करने वाले जीवका प्रतिपात कितने प्रकारका है तथा वह सर्वप्रथम किस कषायमें गिरता है? उत्तरमे कहा है प्रतिपात दो प्रकारका है—एक भवक्षयसे अर्थात् आयु समाप्त हो जानेसे और दूसरा उपशमकालके समाप्त हो जानेसे। उपशमकालके समाप्त होनेसे जो प्रतिपात होता है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें होता है अर्थात् ग्यारहवें गुणथानसे गिरकर दसवेमे आता है। किन्तु आयुक्षयसे जो प्रतिपात होता है वह स्थूल रागमें होता है। वह मरकर देव होता है।

अन्तिम अधिकार चारित्रमोहक्षपणा है। दर्शनमोहका क्षय करनेके पश्चात् जीव चारित्रमोहका या तो उपशम करता है या क्षय करता हे। यदि उपशम

करता है तो ग्यारहवे गुणस्थानमे पहुँचकर नियमसे नीचे गिरता है। जैसा ऊपर कहा है। और क्षय करनेपर नियमसे मोक्ष प्राप्त करता है। इसीसे इस अधिकार की गाथासंख्या एकसौसे भी अधिक है।

चारित्रमोहनीयकी इक्कीस कर्मप्रकृतियोका क्षय करने वाले जीवके पूर्वबद्ध कर्मकी क्या स्थिति रहती है, उनमे अनुभाग कैसा रहता है, उस समय किस कर्म-का सक्रमण होता है और किसका सक्रमण नही होता, इत्यादि प्रश्नपूर्वक उनका समाधान किया गया है। साथ ही क्षय होने वाली प्रकृतियोका क्षय किस प्रकार-से किस-किस आन्तरिक क्रियाके द्वारा होता है, यह भी विस्तारसे स्पष्ट किया है। कषायोके अनुभागको घटाकर उन्हे कृश किया जाता है, इसे कृष्टिकरण कहते है उस कृष्टिकरणविषयक जिज्ञासाका भी सूत्ररूपमे समाधान किया गया है।

इस तरह मोहनीयकर्मके अनुभागका कृष्टिकरण करनेपर कृष्टिवेदनके प्रथम समयमे वर्तमान जीवके पूर्वबद्ध ज्ञानावरणादि कर्म किन-किन स्थितियोमें और अनुभागोमे वर्तमान रहते है तथा वर्तमानमे बंधने वाले और उदयमे आने वाले कर्म किन-किन स्थितियोमे और अनुभागोमे पाये जाते है, ये जिज्ञासाए करके उनका समाधान किया गया है। यथा—मोहनीयकर्मका कृष्टिकरण कर देनेपर नाम, गोत्र और वेदनीय ये तीन कर्म असख्यात वर्षोकी स्थितिवाले होते है और शेष तीन घातिया कर्म सख्यात वर्षोकी स्थितिवाले रहते है इत्यादि। अन्तिम गाथामे कहा है—इस प्रकार मोहनीयकर्मके क्षीण होने तक सक्रमणा विधि, अपवर्तना विधि, और कृष्टिक्षपण विधि ये क्षपणा-विधिया मोहनीयकर्मकी क्रमसे जानना।

इस अन्तिम कथनके साथ कसायपाहुड समाप्त होता है।

इस तरह आचार्य गुणधरने इस ग्रन्थमें मोहनीयकर्मके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वके पृच्छासूत्रात्मक कथनके साथ बन्ध, उदय, उदीरणाका निर्देशमात्र करके सक्रमणका कुछ विस्तारसे कथन किया है। एक कर्मप्रकृतिके अन्य सजातीय प्रकृतिरूप होनेको सक्रमण कहते है। इसके पश्चात् दर्शनमोहके उपशम और क्षपणका कथन करके अन्तमे चारित्रमोहके उपशमन और क्षपणका विस्तारसे कथन किया है।

जिस तरह मोहनीयकर्मका बन्ध जीवके परिणामोसे होता है उसी तरह उनका सक्रमण, उपशम, क्षय भी जीवके ही परिणामोसे होता है। परिणामोकी विशुद्धि मोहनीयकर्मके उपशमादिमें निमित्त पडती है और उपशमादि परिणामोकी विशुद्धिमे निमित्त पडते है। विशुद्धिके तरतमाशका चित्रण कर्मसिद्धान्तके द्वारा किया जाता है। इसीसे कर्मसिद्धान्तके विश्लेषणने इतना वृहत् रूप लिया है।

द्वितीय परिच्छेद

छक्खडागम (षट्खण्डागम)

दिगम्बर परम्पराका दूसरा महनीय ग्रन्थ छक्खडागम है। इस ग्रन्थकी विषय-वस्तु केवल जैन साहित्यकी दृष्टिसे ही नही, अपितु समस्त भारतीय वाड्मयके इतिहासकी दृष्टिसे महत्वपूर्ण है। जीवकी स्वतन्त्रता और उसके कर्मसम्बन्धका सूक्ष्म विवेचन धर्म, दर्शन एव सस्कृतिकी दृष्टिसे नितान्त श्लाघनीय है। यह केवल ग्रन्थ ही नही, अपितु वाड्मय कोप है। अतएव वाड्मयके इतिहासके विवेचन-सन्दर्भमें इस ग्रन्थकी विपय-वस्तु, रचना-काल, रचयिता, रचना-स्थान आदिपर विचार करना परमावश्यक है।

छक्खडागमका रचनाकाल

इस ग्रन्थके रचनाकालके सम्बन्धमें विचार करनेके हेतु ग्रन्थावतारका इति-वृत्त अकित किया जा चुका है। बताया है कि यह ग्रन्थ उस समय रचा गया था, जब अङ्गो और पूर्वोका ज्ञान प्राय लुप्त हो चुका था और विशकलित अशज्ञानके भी लुप्त होनेका भय उपस्थित हो गया था। अतएव धरसेनाचार्यने पुष्पदन्त और भूतवलि नामक दो मुनियोको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया। गुरुद्वारा प्राप्त अपने ज्ञानके आधारपर ही उक्त दोनो आचार्योंने छक्खण्डागमकी रचना की।[1]

नन्दिसघकी पट्टावलिके[2] अनुसार आचार्य धरसेनका समय वीर-निर्वाणसे ६१४ वर्ष पश्चात् आता है। धरसेनाचार्यकृत 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत) ग्रन्थ उपलब्ध होता है। विक्रम सवत् १५५६ मे लिखी गयी 'बृहट्टिप्पणिका'[3] नामकी सूचीके आधारपर उसे वीरनिर्वापसे ६०० वर्प पश्चात्का रचा हुआ माना गया है।

---

१ लोहाइरिये सग्गलोग गदे आयारदिवायरो अत्थमिओ। एव वारासु दिणयरेसु भरह-खेत्तमि अत्थमिएसु सेसाइरिया सव्वेसिमगपुव्वाणमेगदेसभूदपेज्जदोसमहाकम्मपयडि पाहुडादीण धारया जादा। एव पमाणीभूदमहरिसिपणालेण आगतूण महाकम्मपयडि-पाहुडामियजलपवाहो धरसेणभडारय सपत्तो। तेण वि गिरिणयरचदगुहाए भूदवलि पुप्फदताण महाकम्मपयडिपाहुड मयल समापिद। तदो भूदवलिभडारएण सुदणईप-वाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठ महाकम्मपयडिपाहुडमुवसहरिऊण छक्खडाणि कयाणि।'—पट्ख०, पु० ९, पृ० १३३।

२. पटख, पु० १ की प्रस्ता० पृ०, २५-२९।

३ 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेनम्।'—जै. सा स. १, २, परिशिष्ट।

इस 'टिप्पणिका' ग्रन्थकी एक प्रति भाण्डारकर ओरियटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना-में उपलब्ध है। इस प्रतिमे ग्रन्थका नाम तो 'योनिप्राभृत' ही वताया है। पर रचयिताका[1] नाम 'पण्णसमण' मुनि लिखा है। इन महामुनिने कुपमाण्डिनी देवीसे इसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुष्पदन्त एव भूतबलिके लिए लिखा था।

इस कथनसे योनिप्राभृतके रचयिता धरसेनकी सभावना की जाती है। प्रज्ञा-श्रमणत्व एक ऋद्धि है। सम्भवत धरसेनाचार्य इस ऋद्धिके धारी रहे हो। इसी कारण उन्हे प्रज्ञाश्रमण कहा जाता रहा हो।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें गुणधरके समान धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परा अकित नही की है और न ऐसा स्रोत ही उपलब्ध है, जिसके आधारपर धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्परापर विचार किया जा सके। पर हाँ, पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो इनके शिष्य है। उनके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। पट्टावलीसे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि धरसेनका समय वीर निर्वाण सवत् ६१४-६८३ के बीच होना चाहिए। अत. छक्खडागमका रचनाकाल विक्रम सवत्की प्रथम शताब्दीका अन्तिम पाद और द्वितीय शताब्दीका प्रथम पाद होना चाहिए।

रचनास्थान

[2]धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामे निवास करते हुए पुष्पदन्त और भूतबलिको महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अध्ययन कराया था। यह नगर सौराष्ट्रमें गिरिनारके नामसे प्रसिद्ध है।

पुष्पदन्त और भूतवलिने गिरिनारसे लौटकर अकुलेश्वरमे वर्षावास किया। सम्भवत गुजरातका भडोच जिलेका अकलेश्वर ही अकुलेश्वर रहा होगा। इन्द्र-नन्दिने अपने श्रुतावतारमें वताया है कि धरसेनाचार्यने उन्हें कुरीश्वरपत्तन भेजा था, जहाँ वे नौ दिनमें पहुँचे थे। विवुध श्रीधरने भी अकुलेश्वरमे वर्षावास करनेका उल्लेख किया है। अत कुरीश्वर अंकुलेश्वरका ही भ्रष्ट रूप प्रतीत होता है।

वर्षायोग समाप्तकर पुष्पदन्ताचार्य जिनपालितको देखकर और उसे साथ ले वनवास देशको चले गये और भूतवलिने द्रमिल (द्रविड) देशको प्रस्थान किया—

---

१ 'इय पण्हसवणरइए भूयवली-पुप्फदतआलिहिए। कुसुमडीउवहट्ठे विज्जयविपम्मि अवियारे।'—अनेका०, वर्ष २, पृ० ४८७।

२. 'सोरट्ठविसयगिरिणयरपट्टणचदगुहाठिएण दक्खिणावहाइरियाण महिमाए मिलियाण लेहो पेसिदो।'—षट्खडागम, पु० १, पृ० ६७।

[1]इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे इतना ही ज्ञात होता है कि वर्षावास समाप्त होनेपर दोनो ही मुनि दक्षिणकी ओर विहार कर गये और वे करहाट पहुँचे। करहाटको कुछ विद्वानोने सितारा जिलेका करहाड या कराड और कुछने महाराष्ट्रका कोल्हा-पुर बतलाया है।[2] यह नगर प्राचीन समयमें विद्याका उत्कट स्थान रहा है। यहाँ आचार्य समतभद्र भी पहुचे थे।[3]

पुष्पदन्ताचार्यका भानजा करहाटकमें निवास करता था। अत बहुत सम्भव है कि आचार्य पुष्पदन्तका जन्म उसीके कही आस-पास रहा हो। दूसरी बात यह है कि धरसेनाचार्यने अपना पत्र महिमानगरीमे सम्मिलित दक्षिणापथके आचार्योंके पास भेजा था। और आध्रदेशकी वेणा नदीके तटसे पुष्पदन्त और भूतबलि उनके पास गये थे। वर्तमान सतारा जिलेमें वेण्णा नामकी नदी भी है और उसी जिलेमे महिमा नामक ग्राम भी है। अत यह बहुत सम्भव है कि यह महिमानगढ ही प्राचीन महिमानगरी हो। अतएव सितारा जिलेका करहाटक प्रतीत होता है।

वनवासदेश उत्तर करनाटकका प्राचीन नाम है, वहाँ कदम्बवशका राज्य था और उसकी राजधानी वनवास थी। इस देशमें ही पुष्पदन्तने 'वीसदि' सूत्रोकी रचना की और जिनपालितको उन्हे पढाकर भूतबलिके पास भेजा। भूतबलिने 'विंशति' सूत्रोको देखा और जिनपालितसे ज्ञात किया कि पुष्पदन्ताचार्यकी अल्पायु शेष है। अतएव कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेके भयसे उन्होने द्रव्यप्रमाणानु-गमको आदि लेकर ग्रन्थरचना की।

इस अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि छक्खडागम सिद्धान्तका आरम्भिक भाग तो वनवासदेशमें और अवशेष ग्रन्थ द्रविड देशमें रचा गया होगा।

ग्रन्थरचना-विभाजन और रचयिता

धवलाकार वीरसेन[4] स्वामीने लिखा है कि आचार्य पुष्पदन्तने "वीसदि" सूत्रोकी रचना की और इन सूत्रोको देखकर आचार्य भूतबलिने द्रव्यप्रमाणानुगम आदि अवशिष्ट ग्रन्थकी रचना की। छक्खडागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वारोमेंसे प्रथम अनुयोगद्वारका नाम सत्प्ररूपणा और दूसरेका नाम द्रव्य-प्रमाणानुगम है। स्पष्ट है कि प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी रचना पुष्पदन्ता-चार्यने की है। 'वीसदि' सूत्रसे अभिप्राय सत्प्ररूपणाका लेना चाहिए।

---

१ जग्मतुरथ करहाटे तयो स य पुष्पदन्तनाम मुनि। जिनपालिताभिधान दृष्ट्वाऽसौ भागिनेय स्व॥

दत्वा दीक्षा तस्मै तेन सम देशमेत्य वनवासम्। तस्थौ भूतबलिरपि मधुराया द्रविड-देशेऽस्थात्॥—श्रुतावतार श्लो० १३२ १३३

२ जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७० । ३ 'प्राप्तोह करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट।' जै० सा० इ० वि० प्र० पृ० १७४। ४ षट्खं० पु० १, पृ० ७१।

भूतवलिके पास भेजा। किन्तु सत्प्ररूपणाके सूत्रोकी सख्या १७७ है। अत उनका यह कथन भी स्खलित प्रतीत होता है। इसप्रकारकी कतिपय विप्रतिपत्तियोके रहते हुए भी धवलासे तो यही प्रमाणित होता है कि सत्प्ररूपाणके सूत्र पुष्पदन्ताचार्यने रचे थे, क्योकि उनकी उत्थानिकाओमें धवलाकारने पुष्पदन्तका ही नामोल्लेख किया है। द्रव्यप्रमाणानुगम[1] अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें भूतवलिका नाम निर्देश किया है। अत द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर भूतवलि आचार्यकी रचना आरभ होती है।

रूपरेखाका निर्माण

इस ग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतवलि और पुष्पदन्तमेंसे किमने किया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। यह तो स्पष्ट ही है कि ग्रन्थके निर्माणका आरम्भ आचार्य पुष्पदन्तने किया। उन्होने[2] चौदह जीवसमासोके गुणस्थानोके) निरूपणके लिए आठ अनुयोगद्वारोको ही जानने योग्य वताया है। वे आठ अनुयोगद्वार है—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पवहुत्वानुगम। जीवस्थाननामक प्रथम खडके ये ही आठ अधिकार हैं। इन अधिकारोके पश्चात् जीवस्थानकी चूलिका है, इस चूलिकाके अन्तर्गत अधिकारोका कोई निर्देश 'जीवट्ठाण' के उक्त आठ अनुयोगद्वारोमें नही पाया जाता। अत चूलिका अधिकारको भी जीवस्थानका ही भाग सिद्ध करनेके लिए, चूलिकाके आरम्भमें[3] ही धवलाकारको शङ्का-समाधान करना पडा है, जो इस प्रकार है—

शङ्का—आठो अनुयोगद्वारोके समाप्त हो जानेपर यह चूलिका नामक अधिकार किसलिए आया है ?

समाधान—पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोके नियम-स्थलोका विवरण करनेके लिए आया है।

शङ्का—चूलिका अधिकार आठ अनुयोगद्वारोसे प्ररूपित अर्थका ही कथन करता है अथवा अन्य अर्थका। यदि उसी अर्थका कथन करता है

---

१ सपहि चोद्दसण्ह जीवसमासाणमत्थित्तमवगदाण सिरसाण तेमि चेव परिमाणपडिवोहणट्ठ भूदवलियाइरिओ सुत्तमाह।' पट्खं, पु. ३, पृ० १।

२ एदेसिं चेव चोद्दसण्ह जीवसमासाण परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणिओगद्दाराणि णायव्वाणि भवति ॥५॥ त जहा ॥६॥ सतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो, अतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पावहुगाणुगमो चेदि ॥७॥ पट्खं पु, १, पृ १५३ १५५।

३ पट्खं पु ६, पृ १२।

तो पुनरुक्त दोष आता है। दूसरे पक्षमे वह चौदह जीवसमासोसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन करता है अथवा अप्रतिवद्ध अर्थका ? प्रथम विकल्पमें 'चौदह जीवसमासोके कथनके लिए ये आठ ही अनुयोग-द्वार जानने योग्य हैं' इस सूत्रमें आये हुए एकवार (ही) की विफलता प्राप्त होती है, क्योकि चौदह जीवसमासोसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन करने वाला चूलिका नामक नौवाँ अधिकार पाया जाता है। दूसरा पक्ष मानने पर चूलिका नामक अधिकार जीवस्थानसे पृथक्-भूत हो जाएगा, क्योकि वह जीवस्थानसे प्रतिवद्ध अर्थका कथन नही करता।

समाधान—पुनरुक्त दोप नही आता, क्योकि चूलिका नामक अधिकारमे आठ अनुयोगद्वारोसे नही कहे गये तथा कहे गये अर्थका निश्चय कराने वाले और आठ अनुयोगद्वारोसे सूचित, किंतु उनसे कथचित् भिन्न अर्थका कथन किया गया है।

इस शका-समाधानके पश्चात् धवलाकारने चूलिकाका अन्तर्भाव उक्त आठ अनुयोगद्वारोमे ही करके यह वतलाया है कि चूलिका जीवस्थानसे भिन्न नही है।

इस चर्चासे प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्त आचार्यके द्वारा सूचित आठ अनुयोगद्वारोमें जो बाते कथन करनेसे छूट गयी, उनका या सम्वद्ध अन्य बातोका कथन चूलिका नामक अधिकारमे किया गया। अत चूलिका अधिकार भूतवलिकी उपज जान पडता है और उसपरसे यही व्यक्त होता है कि पुष्पदन्तने केवल जीवस्थाननामक खण्डकी ही रूपरेखा निर्धारित की थी।

धवला-टीकाके आरम्भमें[1] भी वीरसेनस्वामीने जीवस्थानके ही अवतारका कथन किया है, छक्खडागमसिद्धातका नही। जीवस्थानके अवतारका कथन करते हुए उन्होने वतलाया है कि—दूसरे[2] अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत चौदह वस्तु-अधिकारोमें एक चयनलब्धि नामक पाचवाँ वस्तु-अधिकार है। उसमें वीस प्राभृत है। उनमेसे चतुर्थप्राभृत कर्मप्रकृति है। उस कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अर्थाधिकार है। उनमे एक बन्धन नामक अर्थाधिकार है। उस बन्धन नामक अर्थाधिकारमें भी चार अधिकार है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। इनमेंसे बन्धक अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार है। उनमे पाचवाँ अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणानुगम है। जीवस्थाननामक खण्डमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकार है वह इस बन्धकनामक अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला है।

---

१ 'एपहि जीवट्ठाणस्स अवयारो उच्चदे।'—षट्ख पु १, पृ ७२।

२ षट्खडा०, पु. १, पृ १२३ १३।

बन्धविधानके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, प्रदेश-बन्ध। इन चार बन्धोमेंसे प्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। उत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अव्वो-गाढउत्तरप्रकृतिबन्ध। एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे जो समुत्कीर्तन नामक अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थान-समुत्कीर्तन तथा तीन महादण्डक निकले है। और तेईसवें भावानुगमसे भावानु-गम निकला हैं। अव्वोगाढउत्तरप्रकृतिबन्धके दो भेद है—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। प्रकृतिस्थानबन्धके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। इन आठ अनुयोगद्वारोमेंसे छै अनुयोगद्वार निकले हैं—सत्प्ररू-पणा, क्षेत्रप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्व-प्ररूपणा। ये छै और बन्धक अधिकारके ग्यारह अधिकारोमेंसे द्रव्यप्रमाणानुगम नामक अधिकारसे निकला द्रव्यप्रमाणानुगम, तथा एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अधिकारोमेंसे तेईसवें भावानुगम अधिकारसे निकला भावानुगम, ये सब मिलकर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार होते हैं।

स्थितिबन्धके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थिति-बन्ध। उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार है। उनमेंसे अर्धच्छेद दो प्रकारका है—जघन्यस्थिति अर्धच्छेद और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेद। इनमें जघ-न्यस्थिति अर्धच्छेदसे जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति अर्धच्छेदसे उत्कृष्ट स्थिति निकली हैं। सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामक अधिकार निकला है। पहले जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध अधिकारके समुत्कीर्तना नामक प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमु-त्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डकोके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं उन पाँचोमें अभी कहे गये जघन्यस्थिति अर्द्धच्छेद, उत्कृष्टस्थिति अर्द्ध-च्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोको मिला देने पर चूलिकाके नौ अधिकार होते हैं। इस सब कथनको मनमें अवधारण करके आचार्य पुष्पदन्तने 'एत्तो' इत्यादि सूत्र कहा है।' इस कथनसे केवल जीव-स्थानकी ही नही, उसकी चूलिकाकी भी रूपरेखा पुष्पदन्ताचार्यकृत थी, ऐसा वीरसेनस्वामीका मत हैं। किन्तु समस्त छक्खडागमकी रूपरेखा उनकी निर्धारित की हुई ज्ञात नही होती।

अतः समग्र सिद्धान्तग्रन्थकी रूपरेखाका निर्माण भूतवलिने ही किया जान पडता है क्योकि कृति [1]अनुयोगद्वारके आदिमें ग्रन्थावतारका वर्णन करते हुए

१ 'तदो भूदवलिभडारएण सुदणईपवाहवोच्छेदभीएण भवियलोगाणुग्गहट्ठ महाकम्मपयडि-पाहुडमुवसहरिऊण छक्खडाणि कयाणि।'—षटख, पु० ९, पृ० १३३।

वीरसेन स्वामीने स्पष्ट लिखा है कि 'धरसेनाचार्यने गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें पुष्पदन्त और भूतबलिको समस्त महाकर्मप्रकृतिप्राभृत समर्पित कर दिया। तत्पश्चात् भूतबलि भट्टारकने श्रुतनदीके प्रवाहके विच्छेदके भयसे भव्य जीवोंके उपकारके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके छह खण्ड किये।'

इन्द्रनन्दिने लिखा[1] है कि पुष्पदन्त मुनिने अपने भानजे जिनपालितको पढ़ानेके लिये कर्मप्रकृतिप्राभृतका छ खण्डोंमें उपसंहार किया और जीवस्थानके प्रथम अधिकारकी रचना की और उसे जिनपालितको पढ़ाकर भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये उनके पास भेजा। उससे सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको सुनकर, भूतबलिने पुष्पदन्त गुरुकी षट्खण्डागम रचनाका अभिप्राय जाना।

इन्द्रनन्दिने यह भी लिखा है कि भूतबलि आचार्यने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकोंमें लिखाया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको उसकी पूजा की। इसीसे यह पञ्चमी श्रुतपञ्चमीके नामसे ख्यात हुई। तत्पश्चात् भूतबलिने उस छक्खडागमसूत्रके साथ जिनपालितको पुष्पदन्त गुरुके पास भेजा। जिनपालितके हाथमें छक्खडागम पुस्तकको देखकर 'मेरे द्वारा चिन्तित कार्य सम्पन्न हुआ' यह जान पुष्पदन्त गुरुने भी श्रुतभक्तिके अनुरागसे पुलकित होकर श्रुतपञ्चमीके दिन ग्रन्थकी पूजा की।

इस सब कथनसे तो यही प्रमाणित होता है कि पुष्पदन्ताचार्यने छक्खडागमकी रूपरेखा निर्धारित करके सत्प्ररूपणाके सूत्रोंकी रचना की थी।

किन्तु धवलासे इसका समर्थन नही होता, उसमे यह भी नही लिखा कि भूतबलिने छक्खडागमके सूत्रोंकी रचना करके उन्हे पुष्पदन्ताचार्यके पास भेजे थे। धवलाके अनुसार तो पुष्पदन्ताचार्यके द्वारा सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भूतबलिके पास भेजनेका कारण पुष्पदन्ताचार्यका अल्पायु होना था। अत. यह सभव प्रतीत होता है कि छक्खडागमकी रचना पूर्ण होने पर पुष्पदन्त स्वर्गवासी हो चुके हो। किन्तु श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्ताचार्यने भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिए उनके पास सत्प्ररूपणाके सूत्रोंको भेजा था और भूतबलिने उन्हें सुनकर जाना कि पुष्पदन्ताचार्यका अभिप्राय छक्खडागमकी रचना करनेका है। उन्होने छक्खडागमकी रचना की।

इन दोनो कथनोमें हमें धवलाकारका कथन विशेष समुचित प्रतीत होता है, क्योकि पुष्पदन्ताचार्य अकलेश्वरसे लौटते हुए ही अपने भानजे जिनपालितको अपने साथ लेते गये थे और उन्हें जिन-दीक्षा भी दे दी थी। ऐसा उन्होने महा-

---

१. 'अथ पुष्पदन्तमुनिरप्यध्यापयितु स्वभागिनेय तम्।
कर्मप्रकृतिप्राभृतमुपसहार्येव षड्भिरिह खण्डै ॥—श्रुता० १३४

कर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसंहार करके उसे जिनपालितको पढाकर उसकी परम्परा चलानेके अभिप्रायसे किया था। किन्तु उन्हे ज्ञात हुआ कि मेरी आयु थोडी शेष है अत. उन्होने अपनी रचनाको जिनपालितके साथ भूतवलिके पास भेज दिया। यदि उन्होने केवल भूतबलिका अभिप्राय जाननेके लिये जिनपालितको उनके पास भेजा होता तो भूतबलि अपने अभिप्रायके साथ जिनपालितको पुष्पदन्ताचार्यके पास लौटा देते, स्वय रचना करनेमें न लग जाते। अस्तु,

फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितके हाथ केवल 'विसदिसुत्त' ही भेजे थे या पट्खण्डोकी कोई रूपरेखा भी भेजी थी।

पट्खण्डोके क्रम तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोसे उनके उद्धारका जो वर्णन मिलता है, उसे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि पट्खण्डोकी रूपरेखा किसी एक व्यक्तिकी निर्धारित की हुई नही है, बल्कि दो व्यक्तियोकी और ऐसे दो व्यक्तियोकी—जो आपसमें नही मिल सके, निर्धारित की हुई है। हमारे इस अनुमानकी सत्यताके लिये महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अनुयोगद्वारोके साथ छ-खण्डोका मिलान करके देखे।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे प्रथम दो अनुयोगद्वारोसे वेदनाखण्डका उद्धार हुआ, जो चौथा खण्ड है। तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अनुयोगद्वारके बध और बन्धनीय भेदोको लेकर पाँचवाँ वर्गणा खण्ड बना। इसी छठे अनुयोगद्वारके एक भेद बन्धकसे दूसरा खण्ड खुद्दाबन्ध बना, और दूसरे भेद बन्धविधानसे छठा खण्ड महाबन्ध बना। शेप दो खण्ड—पहला और तीसरा भी इसी बन्धविधानके अवान्तर अनुयोगद्वारोसे निष्पन्न हुए।

ग्रन्थनाम—मूलसूत्रोमें ग्रन्थका नाम नही दिया। अत नही कह सकते कि इसके रचयिता पुष्पदन्त और भूतबलिने इसे किस नामसे अभिहित किया था। धवलाटीकाके[1] प्रारम्भमें इसे 'खण्डसिद्धान्त' कहा है और धवलाकारने कृति अनुयोगद्वारमें[2] लिखा है कि भूतबलि भट्टारकने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसहार करके छ खण्ड किये। इन छ खण्डोके आधार पर ही इसका नाम उत्तरकालमें छक्खडागम प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधरने

---

१ 'तदो एयं खंडसिद्धंत पडुच्च' भूतबलि-पुप्फयताइरिया वि कत्तारो उच्चति'–पट्ख०, पु० १, पृ० ७१। इद पुण जीवट्ठाण खडसिद्धत पडुच्च पुव्वाणुपुव्वीए ट्ठिद छण्ह खडाण पढमखड जीवट्ठाणमिदि—वही, पृ० ७४।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खडाणि कयाणि।'—पट्ख, पु० ९, पृ० १३३। पट्खडागमरचनाभिप्राय पुष्पदन्तगुरु ॥ १३७ ॥ 'एव पट्खडागमरचना प्रविधाय'— ॥ १४२ ॥ श्रुता०

अपने-अपने श्रुतावतारमें इसी नामसे ग्रन्थका उल्लेख किया है। किन्तु धवला-कारने कहीं भी 'छक्खण्डागम' नामसे इस ग्रन्थका निर्देश नहीं किया। धवला और जयधवलामें छ खण्डोंके नामोंसे या उनके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोंके नामोंसे ही उनका निर्देश मिलता है।

यथा—'जुत्त खुद्दाबंधम्हि आगल्लादो पुधत्तस्स अवणयण, एत्थ पुण जीव-ट्ठाणम्हि ।'—षट्ख., पु० ३, पृ० २५०।

'एत्थ णेरइयमिच्छाइट्ठीण जीवट्ठाणे परूविदा ' एदेण खुद्दाबंधेण सह विरोहादो।—पु० ७, पृ० २८६।

'वग्गणासुत्ते भणिद'- पु० १४, पृ० २८५।

'अथवा जहा वेयणाए परूवणा कदा तहा वि कायव्वा,' पु० १४, पृ० ३५१।

'त कथ णव्वदे ? 'पंचिंदिएसु उवसामेंतो गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेदि णो सम्मुच्छिएसु' त्ति चूलियासुत्तादो।—पु० ५, पृ० ११९।

जीवस्थान, खुद्दाबन्ध, वेदना, वर्गणा ये सब षट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोंके नाम हैं। तथा 'चूलिया' जीवट्ठाणका अन्तिम भाग है। उसका निर्देश भी 'जीव-ट्ठाण' के नामसे न करके 'चूलिका' के नामसे किया है। एक ही ग्रन्थमें उसके अन्तर्गत खण्डोका उल्लेख खण्डके नामसे न करके मूलग्रन्थके नामसे करनेमें पाठकको कुछ भ्रम न हो, इसलिये ऐसा किया गया है, यह कहा जा सकता है, किन्तु जयधवलामें भी उनका उल्लेख खण्डोंके नामोंसे ही पाया जाता है। यथा—

'खुद्दाबधे जो आलावो सो कायव्वो'।—क० पा०, भा० २, पृ० ३२।

ण च जीवट्ठाणेण सह विरोहो'।— ,, ,, पृ० ३६१।

'खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखडे परूविदो तहा एत्थ वि परूविदव्वो।' क० पा०, भा० १, पृ० १४।

षट्खण्डागमके अन्तर्गत खण्डोका उल्लेख ग्रन्थान्तरोमें क्वचित् ही मिलता है, मगर वहाँ भी खण्डोके नामोसे ही मिलता है। यथा—अकलकदेवने अपने[1] तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' का निर्देश किया है। और एक जगह[2] 'आर्ष' करके खुद्दाबन्धका उल्लेख किया है। और एक जगह[3] वर्गणाखण्डका उल्लेख किया है किन्तु षट्खण्डागम करके निर्देश नही किया।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि वैसे प्रत्येक खण्ड अपने-अपने स्वतन्त्र

---

१ 'आह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणाया'—पृ० १५३।

२ 'एव ह्यार्षे उक्तमन्तरविधाने'—पृ० २४४।

३. 'एव ह्युक्तमार्षे वर्गणाया बन्धविधाने ।'—त० वा० ५।३७।

नामोंसे ही अभिहित किया जाता था। किन्तु सामूहिक रूपसे उन्हें छःखण्ड या पट्खण्ड कहा जाता था, क्योंकि जयधवलाकी[1] प्रशस्तिमें वीरसेनस्वामीका गुणगान करते हुए कहा गया है कि चक्रवर्ती भरतकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती पट्-खण्डमें स्खलित नहीं हुई। नेमिचन्द सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी अपने कर्मकाण्डमें 'छक्खण्ड' नामसे ही उसका उल्लेख किया है। अतः छहों खण्डोंको उनके रचयिता भूतबलिने कोई नाम नहीं दिया था। इसीसे बादको पट्खण्ड नामसे वे अभि-हित किये जाने लगे।

वीरसेनस्वामीने 'खण्ड' के साथ सिद्धान्तशब्दका प्रयोग करके उन्हें 'खण्ड-सिद्धान्त' कहा है। जयधवलाकी प्रशस्तिमें इस सिद्धान्तशब्दकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है[2]—जिसके अन्तमें सिद्धोंका कथन हो उसे सिद्धान्त कहते हैं। अतः वीरसेनस्वामीके अनुसार इसका नाम पट्खण्डसिद्धान्त था। किन्तु इन्द्रनन्दिने आगमशब्दका प्रयोग करके उन्हें छक्खंडागम कहा है। यद्यपि सिद्धान्त[3] और आगमशब्द एकार्थवाची हैं, फिर भी दोनों शब्दोंका यौगिक अर्थ भिन्न है और दोनों अपना-अपना इतिहास रखते हैं।

सतकम्मपाहुड (सत्कर्मप्राभृत)

धवलाटीका और जयधवलाटीकामें भी 'सत्कर्मप्राभृत' का उल्लेख मिलता है। धवलाके[4] आरम्भमें ही लिखा है कि यह सतकम्मपाहुडका उपदेश है। और कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोंका क्षपण होने पर पीछे अन्तर्मुहूर्तके पश्चात् सोलह कर्मप्रकृतियोंका क्षय होता है। इस पर आशंका की गई कि इन दोनों वचनोंमें विरोध क्यों है, तो कहा गया कि ये दोनों आचार्यवचन हैं, 'जिनेन्द्रवचन नहीं हैं' अतः उनमें विरोध होना सम्भव है।

इसी तरह जयधवलाटीकामें[5] भी सतकम्मपाहुडका उल्लेख मिलता है। ऊपर धवलामें कसायपाहुडके प्रतियोगीरूपमें सतकम्मपाहुडका जिस प्रकार निर्देश किया गया है उससे बराबर यह व्यक्त होता है कि सतकम्मपाहुड कसायपाहुडका समकक्ष आगमग्रन्थ होना चाहिये। उसके नामके साथ भी पाहुडशब्द जुड़ा हुआ है,

---

१ 'भारती भारतीवाज्ञा पट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥ २० ॥'—ज० प्र०।

२ 'सिद्धानां कीर्तनादन्ते य सिद्धान्तप्रसिद्धवाक् ॥ १ ॥'—ज० प्र०।

३ 'आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो'—पट्ख०, पु० १, पृ० २०।

४ 'एसो सतकम्मपाहुडउवएसो। कसायपाहुडउवएसो पुण । पट्ख०, पु० १, पृ० २१७-२२१।

५ 'एसो अत्थविसेसो सतकम्मपाहुडे वित्थारेण भणिदो। एत्थ पुण गथगउरवभएण ण भणिदो।'—ज०ध० प्रे० का०, पृ० ७४४१।

जो उसे पूर्वोका ही अंश बतलाता है।

प्रो० हीरालालजीने इसके सम्बन्धमें लिखा था 'यहाँ स्पष्टतः कसाय-पाहुडके साथ सत्कर्मपाहुडसे प्रस्तुत समस्त षट्खण्डागमसे ही प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है क्योंकि पूर्वोकी रचनामें उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंका नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है। महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म संज्ञाएँ एक ही अर्थकी द्योतक हैं, अतः सिद्ध होता है कि इस समस्त खण्डागमका नाम सत्कर्म-प्राभृत है। और चूँकि इसका बहुभाग धवलाटीकामें ग्रथित है, अतः समस्त धवलाको भी सत्कर्मप्राभृत कहना अनुचित नहीं। इसी प्रकार महाबन्ध या निबन्धनादि अठारह अधिकार भी इसीके खण्ड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं।' (षट्ख० पु० १, प्रस्ता० पृ० ६९–७०)।

किन्तु वेदनाखण्डके [1]क्षेत्रविधानमें स्वामित्वका कथन करते हुए सूत्रकार भूतबलिने क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट ज्ञानावरणीयवेदना किसके होती है, इस प्रश्न-का समाधान करते हुए लिखा है—'जो मत्स्य एक हजार योजनकी अवगाहनावाला स्वयम्भुरमण समुद्रके बाह्य तटपर स्थित है, और वेदनासमुद्घातको प्राप्त हुआ है, तनुवातवलयसे स्पृष्ट है, फिर भी जो तीन विग्रह लेकर मारणान्तिकसमुद्घात-से समुद्घातको प्राप्त हुआ है और अनन्तर समयमें सातवी पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होगा, उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है।'

धवलामे इस पर यह शंका की गई है कि उस महामत्स्यको सातवी पृथिवीको छोडकर नीचे सात राजु मात्र जाकर निगोदिया जीवोमे क्यो उत्पन्न नही कराया ? इसका समाधान करनेके पश्चात् धवलाकारने लिखा है कि—संतकम्मपाहुडमे उसे निगोदमे उत्पन्न कराया है क्योकि नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके समान सूक्ष्म निगोदजीवोमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी विवक्षित शरीरकी अपेक्षा तिगुने बाहुल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नही है, क्योकि अत्यधिक असाताका अनुभवकर्ता सातवी पृथ्वीमे उत्पन्न होने वाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्मनिगोदजीवोमे उत्पन्न होने-वाले महामत्स्यकी वेदना सदृश नही हो सकती।'

इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षट्खण्डागमसे सतकम्मपाहुड भिन्न है क्योकि दोनोके कथनोमे अन्तर है।

इसी तरह सत्प्ररूपणाकी[2] टीका धवलामें जहाँ संतकम्मपाहुड और कसाय-

---

१ से काले अधो सत्तमाए पुढवीए णेरइएसु उप्पज्जिहिदि त्ति तस्स णाणावरणीयवेदणा खेत्तदो उक्कस्सा ॥ १२ ॥ ' सतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो ण च एद जुज्जदे। —षट्ख०, पु० ११, पृ० २१-२२।

२. षट्ख०, पु० १, पृ० २१७।

पाहुडके उपदेशोंमें भेद बतलाया है। वहाँ लिखा है कि अनिवृत्तिकरणके कालमें संख्यातभाग शेष रहने पर स्त्यानगृद्धि आदि सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है, फिर अन्तर्मुहूर्त बिताकर आठ कषायोंका क्षय करता है, यह सतकम्मपाहुडका उपदेश है। किन्तु कषायप्राभृतका उपदेश है कि पहले आठ कषायोंका क्षय हो जाने पर पीछे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह प्रकृतियोंका क्षय करता है।'

यहाँ जो सतकम्मपाहुडके नामसे कथन है वह षट्खण्डागममें नहीं मिलता। अतः षट्खण्डागमसे सतकम्मपाहुड भिन्न होना चाहिए।

सम्पूर्ण धवलाटीकामें सतकम्मपाहुडका उल्लेख तीन बार आया है। उसमें-से उपयोगी दो उल्लेखोंकी चर्चा यहाँ की गई है। अब देखना यह है कि क्या महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका नाम सतकम्मपाहुड है?

महाकम्मपयडिपाहुडका उल्लेख धवलाटीकामें छै सात बार आया है। तीन बार तो उसका उल्लेख भगवान् भूतबलिके निमित्तसे आया है। एक[1] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान्ने महाकम्मपयडिपाहुडका उपसंहार करके छै खण्डोंकी रचना की। दूसरी[2] जगह लिखा है कि भूतबलि भट्टारक असम्बद्ध बात नहीं कह सकते, क्योंकि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतरूपी अमृतके पीनेसे उनका समस्त राग-द्वेष-मोह दूर हो गया था। तीसरी[3] जगह लिखा है कि भूतबलि भगवान् चौबीस अनुयोगद्वारस्वरूप महाकम्मपयडिपाहुडके पारगामी थे। इस तरह तीन उल्लेख तो भूतबलिके सम्बन्धमें आये हैं। शेष तीन उल्लेख चर्चाके प्रकरणसे आये हैं।

एक[4] जगह लिखा है कि दस प्रकृतियोंकी उदयव्युच्छित्ति मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है, यह महाकम्मपयडिपाहुडका उपदेश है।

वर्गणाखण्डके[5] स्पर्श अनुयोगद्वारमें लिखा है कि अध्यात्मविषयक इस खण्डग्रन्थमें कर्मस्पर्शप्रकरण प्राप्त है। महाकम्मप्रकृतिप्राभृतमें तो द्रव्यस्पर्श, सर्वस्पर्श और कर्मस्पर्श तीनोंका प्रकरण है।

---

१. 'महाकम्मपयडिपाहुडमुवसंहरिऊण छक्खंडाणि कयाणि।—षट्खं०, पु० ९, पृ० १३३।

२. 'ण चासंबद्धं भूदबलिभडारओ परूवेदि महाकम्मपयडिपाहुडअमियवाणेण ओसारिदासेसरागदोसमोहत्तादो'—पु० १०, पृ० २७४-७५।

३ 'चउवीसअणियोगद्दारसरूवमहाकम्मपयडिपाहुडपारयस्स भूदबलिभयवंतस्स'। पु० १४, पृ० १३४।

४ 'दसण्हं पयडीणं मिच्छाइट्ठिस्स चरिमसमयम्मि उदयवोच्छेदो।' एसो महाकम्मपयडिपाहुडउवएसो'—पु० ८, पृ० ९।

५ 'एदं खंडगंथमज्झप्पविसयं पडुच्च कम्मफासे पयदमिदि भणिदं। महाकम्मपयडिपाहुडे पुण दव्वफासेण सव्वफासेण कम्मफासेण पयदं,'—पु० १३, पृ० ३६।

इसी खण्ड[1] में आगे एक जगह यह शका की गई है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमे शेप चौदह अनुयोगोके द्वारा कथन किसलिये किया है ?

इस तरह छै वार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उल्लेख हमें धवलाटीकामें मिला है। सतकम्मपाहुड और महाकम्मपयडिपाहुडके उक्त उल्लेखोमे कोई ऐसी वात लक्षित नही होती, जिससे हम दोनोको एक मान सकें। सत्कर्म और महाकर्मप्रकृति सज्ञाएँ भी एक अर्थकी द्योतक नही है। धवलाकारके कथनसे ही यह वात स्पष्ट हो जाती है और उसीसे यह भी प्रकट हो जाता है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और सत्कर्मप्राभृत एक नही है।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौवीस अनुयोगद्वारोमेंसे केवल छै अनुयोगद्वारोके ऊपर ही भूतवलिस्वामीने षट्खण्डागमके सूत्रोकी रचना की थी। उन छै खण्डोमेंसे पाँच खण्डो पर धवलाटीका रचनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीने शेप अट्ठारह अनुयोगद्वारोका भी कथन किया है। उन अनुयोगद्वारोमेंसे एक अनुयोगद्वारका नाम प्रक्रम है और एकका उपक्रम। यहाँ शका की गई है कि प्रक्रम और उपक्रममें क्या अन्तर है ?

इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है[2]'—प्रक्रम-अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभागमे आने वाले प्रदेशाग्रका कथन करता है और उपक्रम-अनुयोगद्वार बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोके व्यापारका कथन करता है। अत दोनोमें अन्तर है।

इसके पश्चात् वीरसेनस्वामीने बन्धन-उपक्रमके चार भेद किये है—प्रकृति-बन्धन-उपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागवन्धन-उपक्रम और प्रदेशवन्धन-उपक्रम। इन चारोका स्वरूप बतलाकर लिखा है कि 'इन चार उपक्रमोका कथन जैसे 'सतकम्मपाहुड' मे किया गया है वैसे ही करना चाहिए।'

इसपर यह शका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन इन चारोका यहाँ क्यो नही किया जाता, तो उसका समाधान करते हुए कहा गया है कि महाबधका व्यापार प्रथम समय सम्वन्धी वधमें ही है, अत यहाँ उसका कथन करना योग्य नही है।

---

१ 'महाकम्मपयडिपाहुटे किमट्ठ तेहि अणिओगद्दारेहि तस्स परूवणा कदा।' षट्०, पु० १३, पृ० १९६।

२. 'पक्कम-उवक्कमाण को भेदो ? पयटिट्ठिदिअणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवण पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण वधविदियसमयप्पहुडिसतसरूवेणट्ठिदकम्मपोग्गलाण वावार परूवेदि। —'एत्थ एदेसिं' चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयटिपाहुडे परूविद तहा परूवेयव्व। जहा महावधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयवधम्मि चेव वावारादो।'—षट्०, पु० १५, पृ० ४२–४३।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संतकम्मपाहुडमें बन्धके पश्चात् सत्तारूपमें स्थित प्रकृतियोका ही कथन किया गया है, अत. महाबधसे वह भिन्न है।

अतएव 'सतकम्मपाहुड' किसका नाम है ? इस प्रश्नका समाधान सत्कर्मपजिकासे होता है। वीरसेनस्वामीने जो शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोको लेकर धवलाटीका रची है, उसके प्रारम्भिक चार अनुयोगोपर एक पजिका उपलब्ध हुई है, उसका नाम सत्कर्मपजिका है। उसमें धवलाके उक्त अशका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'संतकम्मपाहुड[1] क्या है ? महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमें दूसरा अधिकार वेदना नामक है। उसके सोलह अनुयोगद्वारोमेंसे चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वारोका नाम द्रव्यविधान, कालविधान और भावविधान है,' तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका पाँचवाँ प्रकृतिनामा अधिकार है उसमें चार अनुयोगद्वार है। आठो कर्मोके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वका कथन करके उत्तरप्रकृतियोके प्रकृतिसत्व, स्थितिसत्व, अनुभागसत्व और प्रदेशसत्वको सूचित करनेके कारण उन्हें सतकम्मपाहुड कहते है।'

सत्कर्मपंजिकाके इस कथनके अनुसार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके जिन अनुयोगद्वारोंमें सत्तारूपसे स्थित कर्मका कथन है उन्हें सतकम्मपाहुड कहते है। वे अनुयोगद्वार है—वेदना नामक अधिकारके चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार तथा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका प्रकृतिनामक पाँचवाँ अधिकार।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके स्पर्श, कर्म और प्रकृतिनामक तीन अनुयोगद्वारोको लेकर वर्गणानामक पाँचवाँ खण्ड रचा गया है। उसके प्रकृतिनामक अनुयोगमें केवल आठो कर्मोकी प्रकृतियाँ मात्र बतलाई गई हैं। शेष कथनके लिए लिख दिया है कि वेदनाकी[2] तरह जानना। पजिकाकारका अभिप्राय उसीसे जान पडता है। अत उनके कथनानुसार उक्त अनुयोगद्वारोको सतकम्मपाहुड कहा जाता था। अत संतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके अन्तर्गत ही जानना चाहिए।

---

१ 'सतकम्मपाहुडं णाम त कथ (द) म ? महाकम्मपयटिपाहुटस्स चउवीसअणिओगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम ? तस्स सोलसअणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम—सत्तमाणियोगद्दाराणि दव्वकालभावविहाणणामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्मपयडिपाहुडस्स पचमो पयडीणामहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठकम्माण पयटिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्ताणि परूविय सूचिदुत्तरपयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेससत्तादो एदाणि सत्त (सत) कम्मपाहुड णाम। मोहणीय पडुच्च कसायपाहुडं पि होदि।'—पट्ख, पु० १५, परि०, पृ० १८।

२, 'सेस वेदणाए भंगो।'—पट्ख०, पु० १४, पृ० ३९२।

किन्तु जयधवलामें लिखा है[1] कि कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में प्रतिबद्ध सतकम्ममहाधिकारमें एक उदय नामक अधिकार है, जो प्रकृतियों के स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य उदयका कथन करता है। उसमें उत्कृष्ट प्रदेशोदयका स्वामित्व सिद्ध करनेके लिए 'सम्मुत्तुप्पत्ति' आदि ग्यारह गुणश्रेणियोंका कथन करके लिखा है कि जो गुणश्रेणियाँ संक्लेशके साथ भवान्तरमें संक्रान्त होती हैं उन्हें कहेंगे।

इस प्रसंगमें जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं वे वाक्य षट्खण्डागमके उक्त सत्कर्म नामक अधिकारमें, जिसपर पंजिका है, वर्तमान हैं। अतः वीरसेनस्वामीके द्वारा महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके शेष अट्ठारह अनुयोगद्वारोंको लेकर जो धवला रची गयी है वही सतकम्ममहाधिकार है, यह प्रमाणित होता है। किन्तु जयधवलामें सतकम्ममहाधिकारको अट्ठारह अनुयोगद्वारोंसे प्रतिबद्ध न बतलाकर चौबीस अनुयोगद्वारोंसे प्रतिबद्ध बतलाया है। उसके साथ जब हम सत्कर्मपंजिकाके कथनको मिलाते हैं और वीरसेनस्वामीके इस कथनको सामने रखते हैं कि बन्धके दूसरे समयसे लेकर सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंके व्यापारके कथनको उपक्रम कहते हैं, तो उससे वस्तुस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे जिन-जिनमें उक्त सत्तारूपसे स्थित कर्मपुद्गलोंका कथन है वे सब सतकम्ममहाधिकार या सतकम्मपाहुडमें गर्भित समझे जाने चाहिये। और सम्पूर्ण चौबीसों अनुयोगद्वार महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कहे जाते हैं। उसमें महाबन्ध भी गर्भित है। किन्तु संतकम्मपाहुडमें महाबन्ध गर्भित नहीं है। अतः सतकम्मपाहुड महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका नामान्तर नहीं है, बल्कि उसके अन्तर्गत ही है।

जैसा कि षट्खण्ड नामसे स्पष्ट है। यह ग्रन्थराज छै खण्डोंमें विभक्त है। पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण (जीवस्थान) है। दूसरे खण्डका नाम खुद्दाबंध (क्षुल्लक बन्ध) है। तीसरे खण्डका नाम बंधस्वामित्वविचय है। चौथे खण्डका नाम वेदना है, पाँचवें खण्डका नाम वर्गणा है और छठे खण्डका नाम महाबन्ध है।

---

१ 'सतकम्ममहाहियारे कदिवेदणादिचउवीसअणिओगद्दारेसु पडिबद्धे उदओ णाम अत्थाहियारो 'जाओ गुणसेढीओ संकिलेसेण सह भवंतरं संकामेंति ताओ वत्तइस्सामो। तं जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेढी संजदासंजदगुणसेढी अधापवत्तसंजदगुणसेढि त्ति एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ अप्पसत्थमरणेण वि सदस्स परभवे दीसंति। सेसासु गुणसेढीसु खीणासु अप्पसत्थमरणं भवे' इदि वुत्तं।—ज०ध० प्रे०का० पृ० ३१९७-९८।
'जाओ गुणसेढीओ अण्णभवं संकामेंति ताओ वत्तइस्सामो। तं जहा—उवसमसम्मत्तगुणसेढी संजदासंजदगुणसेढी अधापमत्तगुणसेढी एदाओ तिण्णि गुणसेढीओ 'अप्पसत्थमरणेण वि सदस्स परभवे दिसंति। सेसासु गुणसेढीसु खीणासु अप्पसत्थमरणं भवे।'
—षट्खं०, पु० १५, पृ० २९७।

प्रस्तुत पट्खण्डागममें शुरूके पांच खण्ड ही हैं। छठा महावध नामक खण्ड स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें पृथक् माना जाता है।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमे लिखा है कि भूतवलिने पुष्पदन्तविरचित सूत्रोको मिलाकर पाँच खण्डोके छह हजार सूत्र रचे और तत्पश्चात् महावन्ध नामक छठे खण्डकी तीस हजार सूत्रग्रन्थरूप रचना की।[1]

पट्खण्डागमके सूत्रोके अवलोकनसे प्रकट होता है कि प्रथम खण्ड जीवट्ठाण-के आदिमे सत्प्ररूपणासूत्रोके रचयिता पुष्पदन्ताचार्यने मगलाचरण किया है। और तदनुसार धवलाकारने भी कर्ता, श्रुतावतार आदिका, जो कि ग्रन्थके प्रास्ता-विक कथन माने गये हैं, कथन किया है। पट्खण्डागमके कर्ता भूतवलिने चौथे खण्ड वेदनाके आदिमे पुन मगल किया है और तदनुसार धवलाकारने भी जीवट्ठाणके आदिकी तरह कर्ता, निमित्त, श्रुतावतार आदिकी पुन. चर्चा की है। इससे यह पट्-खण्डागम ग्रन्थ दो भागोमे विभक्त प्रतीत होता है। पहले भागमें आदिके तीन खण्ड है और दूसरे भागमे अन्तके तीन खण्ड हैं। इस दूसरे भागमे ही यथार्थत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौवीस अधिकारोका वर्णन किया गया है। अत. प्रो० हीरालालजीने उसकी विशेप सज्ञा सत्कर्मप्राभृत वतलाई है।

उन्होने लिखा है—'इस समस्त विभागमे प्रधानतासे कर्मोकी समस्त दशाओं-का विवरण होनेसे उसकी विशेप सज्ञा सत्कर्मप्राभृत है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका अपर नाम सत्कर्मप्राभृत समझकर ही प्रोफेसर साहवने ऐसा लिखा प्रतीत होता है, किन्तु इन दोनोके अन्तरकी चर्चा हम पीछे कर आये हैं। अत उन सवको सत्कर्म-प्राभृत नही कहा जा सकता।

खण्डोके नाम—

पट्खण्डागमके मूलसूत्रोमें जैसे ग्रन्थका कोई नाम नही पाया जाता, वैसे ही खण्डोका नाम भी प्राय नही पाया जाता।

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण मूलसूत्रोमें नही पाया जाता। इस खण्डमे जीव-के भेद-प्रभेदोको मुख्यतासे वर्णन होनेके कारण ही इसे यह नाम दिया गया है। दूसरे खण्डका प्रथम सूत्र है—'जे ते बधगा 'णाम तेसिमिमो णिद्देसो', इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस खण्डमें बन्धकोका कथन है। अत उस परसे इसे वन्ध-सज्ञा दी गई है और सम्भवतया 'महावन्ध' को दृष्टिमें रखकर बन्धके पहले 'खुद्दा' विशेपण लगाकर खुद्दाबन्ध नामसे इसे अभिहित किया गया है।

किन्तु इस खण्डकी धवलटीकाके प्रारम्भमे टीकाकारने इसके नामके सम्ब-

१ 'सूत्राणि पट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महावन्धाह्वये तत पष्ठक खण्डम् ॥१३९॥' त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रुता०।

न्धमें कुछ नही कहा। हाँ, इसका उद्गम स्थान अवश्य बतलाया है।

तीसरे खण्ड 'बधसामित्तविचअ'के पहले सूत्रमें उसका नाम आया है। यथा—'जो सो बंधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण य आदेसेण य।

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेंसे प्रथम दोका नाम कृति और वेदना है। इन्ही दो अनुयोगद्वारोका कथन वेदना नामक चौथे खण्डमें है। पहले कृतिका कथन है और फिर वेदनाका। वेदना अधिकारके पहले सूत्रमें—'वेदणा त्ति तत्थ इमाणि वेयणाए सोलस अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवति' ऐसा उल्लेख है। इस परसे कहा जा सकता है कि सूत्रकारने इस खण्डका नाम सूचित कर दिया है।

उक्त दो अनुयोगद्वारोके पश्चात् स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बन्धन अनुयोगद्वारका कथन ५वें वर्गणाखण्डमें है। बन्धन-अनुयोगद्वारमें वर्गणाका बहुत विस्तारसे वर्णन है। इसीसे सम्भवतया इस खण्डको वर्गणा नाम दिया गया है।

वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके बीचमे सूत्रकारने कोई ऐसी भेदरेखा सूचित नही की, जिससे इन दोनोके भेदका स्पष्ट सूचन हो सके। फिर भी वेदनाखण्डमें सोलह अनुयोगद्वार उन्होने बतलाये है, अत उनकी समाप्तिके साथ ही वेदनाखण्डकी समाप्ति समझ लेनी चाहिये। जैसे वेदनाखण्डमें पहले कृतिका कथन है, फिर अन्तमें वेदनाका कथन है और वही उस खण्डका प्रधान तथा अन्तिम विपय है, वैसे ही वर्गणामे पहले स्पर्श, कर्म और प्रकृतिका कथन है फिर बन्धनके निमित्तसे वर्गणाका कथन है। वर्गणाका कथन ही इस खण्डका प्रधान और अन्तिम प्रतिपाद्य विषय है। अत वेदनाके पश्चात्से वर्गणा पर्यन्त ही वर्गणाखण्ड होना चाहिये।

खण्डोकी ये सज्ञाएँ वीरसेनस्वामीसे प्राचीन है, क्योकि वीरसेनस्वामीके पूर्वज अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें 'जीवस्थान' और 'वर्गणा' खण्डोका उल्लेख किया है, यह हम पहले लिख आये है।

वर्गणाखण्डका अन्तिम सूत्र है—

'ज त बधविहाण त चउव्विह—पयडिबधो, ट्ठिदिबधो, अणुभागबधो, पदेसबधो चेदि।'

इसके पश्चात् महाबन्ध नामक छठा खण्ड प्रारम्भ होता है।

इसका महाबन्ध नाम मूल-सूत्रोमें उपलब्ध नही होता। ग्रन्थका प्रथम ताडपत्र अनुपलब्ध होनेसे यह भी नही कहा जा सकता कि इस खण्डकी रचनाके आरम्भमें भूतबलिने उसका नाम दिया था, या नही। किन्तु इसमें बन्धके चारो भेदोका वर्णन विस्तारसे है, अत. इसे महाबन्धसंज्ञा दी गई है।

सत्कर्मपंजिकाके[1] प्रारम्भिक कथनसे भी इसी बातका समर्थन होता है। उसमें लिखा है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे कृति और वेदनाका वेदनाखण्डमे, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और वन्धनके चार अनुयोगोंमेंसे वन्ध और वन्धनीयका वर्गणाखण्डमे, वन्धनविधान नामक अनियोगद्वारका महावन्धमे और वन्धक अनियोगद्वारका खुद्दावन्धमें विस्तारसे कथन किया है। शेष अठारह अनुयोगद्वार सतकम्ममें कहे गये हैं।

तीर्थंकर महावीरकी वाणीसे इसका सम्बन्ध और स्रोत

भगवान महावीर स्वामीकी धर्मोपदेशनाको श्रवण करके उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने उसे वारह अगोमें निवद्ध किया था। वारहवा अंग दृष्टिवाद शेष सब अगोंसे महत्वपूर्ण और विशाल था। उसके महत्व और विशालताका कारण था उसके अन्तर्गत चौदह पूर्व। उनमेंसे द्वितीय आग्रायणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकार चयनलब्धिमें वीस प्राभृताधिकार थे। उन प्राभृत नामके अधिकारोमें चौथे प्राभृतका नाम महाकर्मप्रकृति था। उस महाकर्मप्रकृतिके चौवीस अनुयोगद्वार नामक अधिकार थे। उनको उपसहृत करके इस पट्खण्डागम ग्रन्थकी रचना की गई है। इस वातका निर्देश चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमे कृति अनुयोगद्वारका अवतरण करते हुए स्वय सूत्रकार भूतवलिने किया है—

'अग्गेणियस्स पुव्वस्स पचमस्स वत्थुस्स चउत्थो पाहुडो कम्मपयडी णाम। तत्थ इमाणि चउवीस अणिओगद्दाराणि णादव्वाणि भवति—कदि वेदणाए पस्से कम्मे पयडीसु बंधणे णिवंधणे पक्कमे उवक्कमे उदए मोक्खे पुण सकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे तत्थेव सादमसादे दीहेरहस्से भवधारणीए तत्थ पोग्गलत्ता णिधत्तमणिधत्त णिकाचिदमणिकाचिदं कम्मट्ठिदि पच्छिमक्खंधे अप्पावहुग च सव्वत्थ' ॥४५॥

अर्थात् आग्रेयणीय पूर्वके पचम वस्तु अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम कर्मप्रकृति है। उसके विपयमें ये चौवीस अनुयोगद्वार जानने योग्य है—१. कृति, २. वेदना, ३ स्पर्श, ४ कर्म, ५. प्रकृति, ६. वन्धन, ७ निवन्धन, ८ प्रक्रम, ९ उपक्रम, १० उदय, ११. मोक्ष, १२ सक्रम, १३ लेश्या, १४ लेश्याकर्म,

---

१ महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्दारेसु तत्थ कदिवेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेयणाखण्डास्सि पुणो प (पस्स-कम्म-पयडि-वधण त्ति) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ वध वधणिज्जणामाणियोगेहिं सह वग्गणा खडम्मि, पुणो वधविधाण णामाणियोगद्दारो महावधम्मि पुणो वधगाणियोगो खुद्दावधम्मि च सप्पवञ्चेण परूविदाण। पुणो तेहिंतो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत कम्मे सव्वाणि परूविदाणि।'—पट्खं, पु० १५, परि० पृ० १।

१५. लेश्यापरिणाम, १६ सातासात, १७ दीर्घह्रस्व, १८ भवधारणीय, १९ पुद्गलत्व, २० निधत्त-अनिधत्त, २१ निकाचित-अनिकाचित, २२ कर्मस्थिति २३ पश्चिमस्कन्ध, २४ अल्पबहुत्व।

इन्ही चौवीस अनुयोगद्वारोको छै खण्डोमें उपसहृत किया गया है। पहले कृति और दूसरे वेदना अनुयोगद्वारका उपसंहार करके चौथा वेदनाखण्ड निष्पन्न हुआ है। तीसरे स्पर्श, चौथे कर्म और पाँचवें प्रकृति और छठे वन्धन अनुयोगद्वारसे पाँचवाँ वर्गणाखण्ड निष्पन्न हुआ है। और छठे बन्धन अनुयोगके भेद प्रभेदोसे शेप चार खण्ड उपसंहृत हुए है।

प्रथम खण्ड [1]जीवस्थानका अवतार बतलाते हुए वीरसेनस्वामीने सत्प्ररूपणाके द्वितीय सूत्रकी धवलाटीकामें विस्तारसे यह बतलाया है कि जीवस्थानका अवतार चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतके किस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत किन-किन भेदो-प्रभेदोसे हुआ। यह हम पीछे लिख आये है।

दूसरे खण्ड खुद्दाबन्धके प्रथमसूत्रकी[2] धवलामें वीरसेनस्वामीने लिखा है—'महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वारोंमें छट्ठे बन्धन अनुयोगद्वारके अन्तर्गत चार अधिकार हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बधविधान। उनमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है वही यहाँ सूत्रके द्वारा सूचित किया गया है। तात्पर्य यह है कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतमे जो बन्धक कहे गये है उन्हीका यहाँ निर्देश है।'

इससे स्पष्ट है कि दूसरे खण्डका उद्धार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारके अवान्तर अधिकारोसे किया गया है।

तीसरे खण्ड बन्धस्वामित्वविचयके प्रथमसूत्रकी धवलाटीकामें[3] वीरसेनस्वामीने लिखा है—'कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वारोमे बन्धन नामक छठा अनुयोगद्वार है। उसके चार भेद है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। बन्धविधानके चार भेद है प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। प्रकृतिबन्धके दो भेद है—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्ध।

---

१ षट्खं०, पु० १, पृ० १२३-१३०।

२ 'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥' टी०—'जे ते बधगा णाम' इति वयण बधगाण पुव्वपसिद्धत्त सूचेदि। पुव्व कम्हि पसिद्धे बधगे सूचेदि? महाकम्मपयडिपाहुडम्मि। त जहा—महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदिवेदणादिगेसु चदुवीसअणिओगद्दारेसु छट्ठस्स बधणेत्ति अणियोगद्दारस्स बधो बधगो बधणिज्ज बधविहाणमिदि चत्तारि अहियारा। तेसु बधगेत्ति विदियो अहियारो एदेण वयणेण सूचिदो।—षट्खं०, पु० ७, पृ० १–२।

३ षट्खं०, पु० ८, पृ० २।

मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्ध। अव्यागाढमूलप्रकृतिबन्धके दो भेद हैं—भुजाकारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। इनमें उत्तरप्रकृतिबन्धके चौबीस अनुयोगद्वार है। उन चौबीस अनुयोगद्वारोमें एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है। उसीका नाम बंधस्वामित्वविचय है।

इस तरह बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरा खण्ड भी कर्मप्रकृतिप्राभृतके छठे अनुयोगद्वारसे उपजा है।

चतुर्थ खण्ड वेदनाके अन्तर्गत कृति अनुयोगद्वारके आदिमें तो सूत्रकारने स्वय ४४ सूत्रोसे मगलरूप नमस्कार किया है और पैतालीसवें सूत्रमे ग्रन्थकी उत्थानिकाके रूपमे आग्रायणीय पूर्वके पचम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोका निर्देश किया है। जिससे स्पष्ट है कि चतुर्थादि खण्ड कर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति आदि अनुयोगद्वारोको ही सक्षिप्त करके लिखे गये हैं। सभवत इसीसे ही वीरसेनस्वामीने शुरूके तीन खण्डोकी तरह उत्तरके तीनो खण्डोके सम्बन्धमें यह कथन नहीं किया कि वे अमुक अनुयोगद्वारसे निकले है।

किन्तु कृति अनुयोगद्वारके प्रारम्भिक मागलिक सूत्रोको लेकर वीरसेनस्वामीने जो लम्बी चर्चा की है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते है, क्योकि इन तीन खण्डोका द्वादशाग वाणीसे सीधा सम्बन्ध होनेके सम्बन्धमें उससे पर्याप्त प्रकाश पडता है।

शका—निबद्ध[1] और अनिबद्धके भेदसे मगलके दो प्रकार है। उनमेंसे यह मगल निबद्ध मगल है अथवा अनिबद्ध ?

समाधान[2]—यह मगल निबद्ध नही है क्योकि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारवाले महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आदिमें गौतमस्वामीने यह मंगल किया है। और भूतबलि भट्टारकने इसे वहाँसे उठाकर वेदनाखण्डके आदिमें ला रखा है। अत इसे निबद्ध मगल नही मान सकते, क्योकि न तो वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है, अवयवको अवयवी नही माना जा सकता, और न भूतबलि गौतम गणधर है, क्योकि धरसेनाचार्यके शिष्य और विकलश्रुतके धारक भूतबलि वर्धमानस्वामीके शिष्य और सकल श्रुतके धारक गौतम नही हो सकते। यदि ऐसा हो सकता, तो इस मगलको निबद्ध मगल कह सकते थे। अत यह अनिबद्ध मगल है। अथवा इसे निबद्ध मगल भी कह सकते हैं।

---

१. सूत्रके आदिमे सूत्रकारके द्वारा जो देवताको नमस्कार किया जाता है उसे निबद्धमगल कहते हैं। और जो सूत्रके आदिमे सूत्रकारके द्वारा निबद्ध देवतानमस्कार हैं उसे अनिबद्धमगल कहते हैं।

२, छक्ख०, पु० ९, पृ० १०३–१०४।

शका—इसे निवद्ध मंगल तो तभी कहा जा सकता है जब वेदना आदि खण्ड और महाकर्मप्रकृतिप्राभृत एक हो, किन्तु खण्डग्रन्थको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—महाकर्मप्रकृतिप्राभृत चौबीस अनुयोगद्वारोंसे सर्वथा पृथक्भूत नही है। अर्थात् चौबीस अनुयोगद्वारोका ही नाम महाकर्मप्रकृतिप्राभृत है और उन्ही अनुयोगद्वारोसे वेदना आदि खण्ड निष्पन्न हुए है, अत उन्हें महाकर्मप्रकृतिप्राभृतपना प्राप्त है।

शंका—अनुयोगद्वारोको कर्मप्रकृतिप्राभृत मानने पर वहुतसे कर्मप्रकृतिप्राभृत हो जायेंगे ?

समाधान—इसमें कोई दोप नही है, कथचित् ऐसा इष्ट ही है।

शका—महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका वेदना-अनुयोगद्वार तो महापरिमाणवाला है—वडा विशाल है उसके उपसंहाररूप इस वेदनाखण्डको वेदनापना कैसे सभव है ?

समाधान—अवयवी अपने अवयवोंसे सर्वथा पृथक् नही पाया जाता।

शंका—भूतवलिका गौतम होना कैसे संभव है ?

समाधान—उनके गौतम होनेसे क्या प्रयोजन है ?

शंका—क्योकि भूतवलिको गौतम माने विना यह मगल निवद्ध नही हो सकता।

समाधान—इस खण्डग्रन्थके कर्ता भूतवलि नही है क्योकि दूसरेके द्वारा रचित ग्रन्थके अधिकारोके एकदेशरूप पूर्वोक्त शब्दार्थ-सन्दर्भका कथन करनेवाला कर्ता नही हो सकता। ऐसा माननेसे अतिप्रसंग दोप आता है।

उक्त चर्चासे दो बातें स्पष्ट होती है। एक तो वेदनाखण्डके आदिमें जो ४४ सूत्र मंगलात्मक है वे भूतवलिकृत नही है, वल्कि महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मंगलसूत्र है और वहीसे ज्यो-का-त्यो उठाकर भूतवलिने उन्हें वेदनाखण्डके आदि में रख दिया है। दूसरे, प्रकृत षट्खण्डागमके सूत्रोमें वर्णित अर्थ ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका ऋणी नही है किन्तु शब्द भी उसीके है। भूतवलि तो उसके प्ररूपकमात्र है, कर्ता नही है।

इन दोनो बातोसे प्रकृत षट्खण्डागमका द्वादशाग वाणीके एक अगरूप पूर्वोंसे साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध होता है।

आगे षट्खण्डोका उद्गम आग्रायणीय पूर्वके किस भेद-प्रभेदसे हुआ, इसके स्पष्टीकरणके लिए उनका यहाँ वृत्त दिया जाता है।

बारहवें अग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका दूसरा भेद—

वंधकके ग्यारह अनुयोगद्वारोमें पाँचवें द्रव्यप्रमाणानुगमसे जीवट्ठाणकी संख्या

रचना-शैली

प्रस्तुत छक्खडागमके अन्तर्गत पाँचो खण्ड प्राकृत-भापाके प्रसादगुणयुक्त सूत्रोमें रचे गये है। पाँचो खण्डोके सूत्रोकी सख्या साढे छै हजारसे अधिक है। चौथे और पाँचवें खण्डमें कुछ गाथासूत्र भी है।

सूत्र अपने आपमें पूर्ण और बहुत स्पष्ट है। प्राकृत-भापाका साधारण जानकार भी सूत्रोको पढते ही उनका शब्दार्थ समझ सकता है। किन्तु चूँकि उनमें प्रतिपादित विपय जैन सिद्धान्तके गूढ और गम्भीर तत्त्वोंसे सम्बद्ध है, अत पारिभापिक शब्दोके बाहुल्यके कारण उनका भाव समझ सकना सरल नही है। जो जैन कर्म-सिद्धान्तकी मोटी-मोटी बातोमे परिचित है वे उनके सूत्रोके आशयको भी सरलता-से हृदयगम कर सकते है, पर सभी खण्डोके विपयमें ऐसा नही कहा जा सकता।

सभी सूत्र अल्पाक्षर हैं, असन्दिग्ध हैं और सारवान् हैं। अल्पाक्षरका यह अभिप्राय नही है कि सभी सूत्र छोटे है। प्रतिपाद्य विपयके अनुसार उनकी रचना है। उदाहरणके लिये 'सव्वद्धा' जैसे छोटे सूत्र भी है और ऐसे भी है जो कई पंक्तियोमे समाप्त होते है।

संक्षेपमे इस ग्रथकी शैली आगामिक सूत्रशैली है।

इस शैलीकी निम्नलिखित विशेपताएँ पायी जाती हैं—

१ विपयानुसार सूत्रोके शब्दोकी योजना।

२ निरर्थक शब्दोका अभाव।

३ प्रसादयुक्तता।

४ पारिभापिक शब्दोका प्रयोग।

५ अर्थगाम्भीर्य।

विषय-परिचय—

जीवट्ठाण[1]

पहले खण्डका नाम जीवट्ठाण या जीवस्थान है। इसके आठ अनुयोगद्वार हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्प-बहुत्व। इनमेंसे प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त है और शेपके कर्ता आचार्य भूतवलि है।

सत्प्ररूपणा—इसके सूत्रोकी सख्या १७७ है। ईसका प्रारम्भ जैनोके प्रसिद्ध महामत्रसे होता है। वही इसका प्रथम सूत्र है, जो इस प्रकार है—

णमो अरिहताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण।
णमो उवज्झायाणा णामो लोए सव्व-साहूण ॥१॥

इसका व्याख्यान[2] करते हुए वीरसेनस्वामीने मगलके दो भेद निबद्ध और अनिवद्ध किये है। सूत्रोके आदिमे सूत्रकारके द्वारा निवद्ध किये गये देवता-नमस्कारको निवद्ध मगल और सूत्रके आदिमें सूत्रकारके द्वारा किये गये देवता-नमस्कारको अनिवद्ध मगल बतलाकर उन्होने इसे निवद्ध-मगल कहा है। इससे यह प्रकट होता है कि यह मगल पुष्पदन्तके द्वारा रचित है क्योकि निवद्धसे उनका

१ यह पहला खण्ड प्रथम वार श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द, जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, भेलसासे ५ जिल्दोंमें प्रकाशित हुआ है।

२ 'तत्थ णिबद्ध णाम जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध-देवदा-णमोक्कारो त णिबद्ध-मगल। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कय-देवदा-णमोक्कारो तमणिवद्धमगल। इद पुण जीवट्ठाण णिवद्धमगल। यत्तो 'इमेसिं चोद्दसण्ह जीवसमासाण' इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिवद्ध 'णमो अरिहंताण' इच्चादिदेवदा णमोक्कार-दसणादो।'

—षट्खं०, पु० १, पृ० ४१।

अभिप्राय स्वरचितसे है और किसे गये (कृत) से अभिप्राय है दूसरेके द्वारा रचे गये मंगलको ग्रन्थके आदिमें स्थापित कर देना। वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वार[1]-के आदिमें भूतवलिने जो मंगलरूपसे ४४ सूत्र स्थापित किये हैं उन्हें वीरसेन-स्वामीने अनिबद्ध मंगल कहा है, क्योंकि वे सूत्र महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मंगलसूत्र हैं और वहींसे लेकर उन्हें स्थापित किया गया है। अतः उक्त मंगलका पुष्पदन्त-रचित होना स्पष्ट है। किन्तु इसमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं—श्वेताम्बर सम्प्रदाय-में भी यह मंत्र इसी रूपमें मान्य है। भगवतीसूत्रका प्रारम्भ इसी मंगलसूत्रसे हुआ है। आवश्यकसूत्रके मध्यमें भी यह मंत्र पाया जाता है।

इसके सिवाय खारवेलके प्रसिद्ध शिलालेखका आरम्भ भी 'णमो अरहंताण णमो सिद्धाणं, इन पदोंसे होता है।' अतः यह कथन[2] विवादग्रस्त है। अस्तु। सूत्र दोसे ग्रन्थमें प्रतिपादित विषयका आरम्भ होता है—

'एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाण मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दस चेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति' ॥२॥

'इन चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) के अन्वेषणके लिये ये चौदह मार्गणा-स्थान जानने योग्य हैं।'

सूत्र ४ में चौदह मार्गणाओंके नाम गिनाये हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी, आहारक।

सूत्र ५ में लिखा है कि—इन चौदह गुणस्थानोंके कथनके लिये ये आठ अनु-योगद्वार जानने योग्य हैं।

सूत्र ७ में उन अनुयोगद्वारोंके नाम गिनाये हैं—

'संतपरूवणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो, फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो, भावाणुगमो, अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥'

इन्हीं आठ अनुयोगद्वारोंमें जीवट्ठाण-खण्ड विभक्त है। सूत्र ८ से प्रथम अनु-योगद्वार 'संतपरूवणा'का कथन प्रारम्भ होता है।

'संतपरूवणाए दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥८॥'

'जीवसमासो (गुणस्थानों)के सत्वकी प्ररूपणामें दो प्रकारका निर्देश है—ओघ अर्थात् सामान्यसे और आदेस अर्थात् विशेषसे।'

सतका मतलब[3] है सत्ता। और प्ररूपणाका मतलब है—निरूपण या प्रज्ञापन या कथन। गुणस्थानके लिये यहाँ जीवसमासशब्दका प्रयोग किया है। जीवसमास

---

१ षट्खं०, पु० ९, पृ० १०३।

२ इसके विशेष विचारके लिये पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखित 'नमस्कारमंत्र' नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

३. 'सत्सत्त्वमित्यर्थः, "प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्'—षट्खं०, पु० १, पृ० १५९।

का अर्थ है जिनमें जीव भले प्रकार रहते है अथवा पाये जाते है उन्हें जीवसमास[1] कहते है। जैन सिद्धान्तमें गुणोके अनुसार संसारके सब जीवोका वर्गीकरण चौदह विभागोमे किया गया है। उन चौदह विभागोको ही गुणस्थान कहते है। ये गुणस्थान ससारके जीवोके क्रमिक विकासके सूचक स्थान है। इन पर अवरोह मोक्षकी ओर और अवतरण ससारकी ओर ले जाता है। उनके अस्तित्वके कथनके दो प्रकार है—सामान्य कथन और विशेष कथन। प्रथम सामान्य कथन किया है फिर विशेष कथन किया है। इन दोनो प्रकारके कथनके लिये जैन सिद्धान्तमें ओघ और आदेश शब्द रूढ है।

सूत्रकारने चौदह सूत्रोके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नामोका निर्देश किया है। उनका स्वरूप जाने विना प्रकृत सिद्धान्तग्रन्थके रहस्यको समझना शक्य नही है। अत सक्षेपमे उनका स्वरूप बतला देना अनुचित न होगा—

१. 'ओघेण अत्थि मिच्छाइट्ठी'[2] ॥९॥

ओघसे मिथ्यादृष्टि जीव है। यहाँ मिथ्याशब्दका अर्थ असत्य है। और दृष्टिशब्दका अर्थ दर्शन अथवा श्रद्धान है। जिन जीवोकी दृष्टि मिथ्या होती है उन्हे मिथ्यादृष्टि कहते है। दृष्टिके मिथ्या होनेका कारण मिथ्यात्वमोहनामक कर्मका उदय है। जिन जीवोके मिथ्यात्वका उदय होता है उनका श्रद्धान विपरीत होता है और जैसे पित्तज्वरके रोगीको मीठा दूध भी कडुवा लगता है वैसे ही उन्हें यथार्थ धर्म भी अच्छा नही लगता। यह पहला गुणस्थान है।

२. 'सासणसम्माइट्ठी[3] ॥१०॥'

दूसरे गुणस्थानका नाम सासादनसम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शनकी विराधनाको आसादन कहते है। जो आसादन सहित हो उसे सासादन कहते है। जो जीव सम्यग्दृष्टी होकर अपने सम्यग्दर्शनको विनष्ट कर लेता है और इस तरह सम्यक्त्वसे मिथ्यात्वकी ओर अभिमुख होता है उसे सासादनसम्यग्दृष्टी कहते है। कहा है—'सम्यग्दर्शनरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमि (पहला गुणस्थान) के अभिमुख होता है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शनरूपी रत्न तो नष्ट हो चुका है किन्तु जो मिथ्यात्वको प्राप्त नही हुआ है, पतनकी इस मध्य अवस्था वाले जीवको सासादनसम्यग्दृष्टि कहते है।

३ 'सम्मामिच्छाइट्ठी[4] ॥११॥'

---

१. 'जीवसमास इति किम् ? जीवा सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमास । क्वासते ? गुणेपु।
पट्खं, पु १, पृ० १६०।

२ पट्खं०, पु० १, पृ० १६१।

३ वही, पृ० १६३।

४. वही, पृ० १६६।

तीसरे गुणस्थानका नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा या रुचि सच्ची और विपरीत दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते है। कहा है—जैसे दही और गुडको मिला देने पर उन्हे अलग-अलग नही किया जा सकता। उसी प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए भाव वाले जीवको सम्यग्मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये।

४. 'असजदसम्माइट्ठी[1] ॥१२॥'

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा सम्यक्—सच्ची होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते है। और सयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते है। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारसे होते है—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिक-सम्यग्दृष्टि।

मिथ्यात्व, सम्यक्‌मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमोहनीय, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये मोहनीयकर्मकी सात प्रकृतियाँ जीवकी श्रद्धाको दूषित करती है। अत इन सातो कर्मप्रकृतियोका सर्वथा विनाश हो जाने पर जीवमें जो सम्यग्दर्शन गुण प्रकट होता है उसे क्षायिकसम्यग्दर्शन कहते है और उस जीवको क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहते है। उक्त सात प्रकृतियोके उपशम (दब जाने)से जिसके सम्य-ग्दर्शन प्रकट होता है उसे औपशमिकसम्यग्दृष्टि कहते। उक्त सात कर्मप्रकृतियो-मेसे सम्यक्त्वमोहनीयकर्मका उदय रहते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसके धारी जीवको वेदकसम्यग्दृष्टि कहते है।

इन तीनोमेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वमे नही जाता, किन्तु औपशमिकसम्यग्दृष्टि उपशमसम्यक्त्वके छूट जाने पर मिथ्यात्वनामक पहले गुणस्थानवाला हो जाता है। या सासादनगुणस्थानवाला होकर फिर मिथ्यात्व-गुणस्थानमे जाता है। कभी तीसरे गुणस्थानवाला भी हो जाता है। कहा है—जो न तो इन्द्रियोके विषयोसे विरक्त है और न त्रस और स्थावर जीवोकी हिंसासे विरत है, किन्तु जिनेन्द्रदेवके द्वारा कहे हुए तत्त्वोपर श्रद्धा रखता है उसे अस-यतसम्यग्दृष्टि कहते है। आगेके सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टिके ही होते है।

५. 'सजदासजदा[2] ॥१३॥'

जो सयत होते हुए भी असयत होते है उन्हे संयतासयत कहते है। कहा है— जो जिनेन्द्रदेवमे ही श्रद्धा रखते हुए त्रसजीवोकी हिंसासे विरत और स्था-वर जीवोकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या सयतासयत कहते है।

---

१. पटख, पु १, पृ० १७१।
२. वही, पु० १, पृ० १७३।

६ 'पमत्तसजदा[1] ॥१४॥

प्रमादसे युक्त जीवको प्रमत्त कहते हैं और हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे विरतको सयत कहते हैं। प्रमादी सयमीको प्रमत्तसयत कहते हैं। कहा भी है—'जो व्यक्त या अव्यक्त प्रमादमें निवास करता है किन्तु सकल गुणो और शीलोसे युक्त महाव्रती होता है उसे प्रमत्तसयत कहते हैं। उसका आचरण प्रमादके कारण सदोष होता है।

७ 'अप्पमत्तसजदा[2] ॥१५॥'

जो प्रमत्तसयत नही हैं उन्हे अप्रमत्तसयत कहते हैं। अर्थात् प्रमादरहित सयमी जीवोको अप्रमत्तसयत कहते हैं।

आगेके सब गुणस्थान सयमी मनुष्योके ही होते हैं। सातवें गुणस्थानके बाद आठवे गुणस्थानसे दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं। एक उपशमश्रेणि और एक क्षपक श्रेणि। उपशमश्रेणिमे चढने वाला जीव मोहनीयकर्मको नष्ट न करके दबाता जाता है। इसीसे ग्यारहवें गुणस्थानमें पहुँचकर वह नीचे गिर जाता है। और क्षपकश्रेणिपर आरोहण करने वाला मोहनीयकर्मको नष्ट करता हुआ आगे बढता है। अत उसका पतन नही होता। ये दोनो श्रेणियाँ ध्यानमग्न साधुओके ही होती हैं।

८ 'अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा[3] ॥१६॥'

आठवे गुणस्थानका नाम अपूर्वकरणसयत है। 'करण' शब्दका अर्थ है परिणाम—जीवके भाव या विचार। अपूर्व अर्थात् जो इससे पहले नही हुए, ऐसे सत्परिणाम वाले सयमी अपूर्वकरणसयत कहे जाते हैं। इन अपूर्वकरणसयतोमे उपशमश्रेणिवाले भी होते है और क्षपकश्रेणिवाले भी होते हैं।

९ 'अणियट्टिबादरसापराइयपविट्ठसुद्धिसजदेसु अत्थि उवसमा खवा[4] ॥१७॥'

नौवें गुणस्थानका नाम अनिवृत्तिबादरसाम्परायसयत है। इस गुणस्थानमे एक समयमे एक ही परिणाम निश्चित है। अत इसमें समानसमयवर्ती जीवोके परिणाम सदृश ही होते हैं। इसीको अनिवृत्तिशब्दसे कहा है। साम्परायशब्दका अर्थ है कषाय और बादरका अर्थ है स्थूल। अत स्थूल कषायको बादरसाम्पराय कहते हैं और अनिवृत्तिबादरसाम्परायरूप परिणामवाले सयमियोको अनिवृत्तिबादरसाम्परायसयत कहते है। वे सयत उपशमक भी होते है और क्षपक भी होते हैं।

---

१. षट्खं० १, १४, पृ० १७५।
२ वही, पृ० १७८।
३ वही, पृ० १७९।
४. वही, पृ० १८३।

यहाँ जो 'बादर' शब्द है वह इस बातका सूचक है कि पूर्वके सब गुणस्थानोमे स्थूल कषाय रहती है।

१० 'सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा'[1] ॥ १८ ॥

दसवें गुणस्थानका नाम सूक्ष्मसाम्परायसंयत है। जिन संयमियोके सूक्ष्म कषाय रहती है उन्हे सूक्ष्मसाम्परायसंयत कहते है। वे उपशमक भी होते है और क्षपक भी।

११. 'उवसंतकसायवीयरायछदुमत्था'[2] ॥ १९ ॥'

जिनकी कषाय उपशान्त है उन्हे उपशान्तकषाय कहते है। और जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हे वीतराग कहते है। तथा अल्पज्ञानियोको छद्मस्थ कहते है। उपशान्तकषाय वीतरागी छद्मस्थोको उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थ कहते है। यह ग्यारहवाँ गुणस्थान है। कहा भी है—

'निर्मलीसे युक्त जलकी तरह अथवा शरदऋतुमे होने वाले सरोवरके निर्मल जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे होनेवाले निर्मल परिणामवाले जीवको उपशान्तकषाय कहते है।'

१२ 'खीणकसायवीयरायछदुमत्था[3] ॥ २० ॥'

जिनकी कषाय क्षीण हो गई है उन्हे क्षीण कषाय कहते है। जो क्षीण कषाय होते हुए वीतराग होते है किन्तु छद्मस्थ होते है उन्हे क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ कहते है। यहाँ जो 'छद्मस्थ' शब्द है वह पूर्वके सब गुणस्थानवर्ती जीवोको छद्मस्थ सूचन करता है। यह बारहवा गुणस्थान है। कहा भी है—

'जिसने सम्पूर्ण मोहनीय कर्मको नष्ट कर दिया है अतएव जिनका चित्त स्फटिक मणिके निर्मल पात्रमे रखे हुए जलके समान निर्मल है ऐसे निर्ग्रन्थ साधुको क्षीणकषायगुणस्थानवाला कहा है।'

१३ 'सजोगकेवली[4] ॥ २१ ॥'

मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते है। और योगसहितको सयोग कहते है। तथा इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदिकी सहायताके विना होने वाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते है और जिसके केवलज्ञान होता है उसे केवली कहते है। तथा योगसहित केवलीको सयोगकेवली कहते है। यह तेरहवा गुणस्थान है। उसके चारो घातियाकर्म नष्ट हो जाते है। और शेष चार कर्म भी शक्तिहीन हो जाते है। कहा भी है—

---

१. षट्ख० पु० १, पृ० १८७।
२. वही, पृ० १८८।
३. वही, पृ० १८९।
४. वही, पृ० १९०।

'जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है और नौ केवललब्धियोके प्रकट हो जानेसे जो 'परमात्मा' कहा जाता है उसको ज्ञान और दर्शन परकी सहायतासे नही होता, इसलिये उसे केवली कहते है और योगसे युक्त होनेके कारण सयोग कहते हैं।'

इस तरह तेरहवें गुणस्थानका नाम सयोगकेवली है।

१४ 'अजोगकेवली[1] ॥ २२ ॥'

जिसके योग नही होता उसे अयोग कहते है। और योगरहित केवलज्ञानीको अयोगकेवली कहते है। कहा है—

'जिन्होने शीलके अट्ठारह हजार भेदोके स्वामित्वको प्राप्त कर लिया है। समस्त कर्मोके आस्रवको रोक दिया है, और कर्मबन्धनसे मुक्त है तथा योगसे रहित केवली है उन्हें अयोगकेवली कहते है। यह चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमे आनेके पश्चात् ही जीव ससारके बन्धनोसे मुक्त हो जाता है।'

इस तरह ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिये सोपानके तुल्य है।

इस तरह ओघसे चौदह गुणस्थानोका कथन करके सूत्रकारने आदेशसे (विस्तारसे) गुणस्थानोका कथन किया है।

जिस तरह चौदह गुणस्थान होते है उसी तरह चौदह मार्गणास्थान होते है। जिनमें या जिनके द्वारा जीवोको खोजा जाता है उन्हे मार्गणा कहते है। इन मार्गणाओके द्वारा गुणस्थानोका कथन करनेको आदेश कथन कहा जाता है। जैसे—
१ गति चार है—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति। नरकगतिमें प्रारम्भके चार गुणस्थान वाले ही जीव होते है। तिर्यञ्चगतिमे आदिके पाँच गुणस्थानवाले ही जीव होते है। मनुष्यगतिमे चौदहो गुणस्थानवाले जीव होते है। देवगतिमें नरकगतिकी तरह चार ही गुणस्थानवाले जीव होते है।

२ इन्द्रिय पाच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। जिसके एक स्पर्शन ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते है जैसे वनस्पति। जिसके स्पर्शन, रसना दो इन्द्रियाँ होती है उन्हे दो इन्द्रिय कहते है, जैसे लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती है उन्हें त्रि-इन्द्रिय कहते है, जैसे चिउटी। जिसके शुरूकी चार इन्द्रियाँ होती है उन्हें चौइन्द्रिय जीव कहते है, जैसे भौंरा। और जिनके पाचो इन्द्रियाँ होती है उन्हे पञ्चेन्द्रिय कहते है, जैसे गाय, भैस, मनुष्य। इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय जीवके तो चौदह गुणस्थान हो सकते है किन्तु शेष एकेन्द्रिय आदिके पहला ही गुणस्थान होता है।

३ कायकी अपेक्षा जीवोके छै भेद है—पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्नि-

१. षट्ख, पु० १, पृ० १९२।

कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। शुरूके पांच कायिक जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। अत. उनके पहला गुणस्थान ही होता है। शेष दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीव त्रस कहे जाते है। अत त्रसोके चौदह गुणस्थान होते है क्योकि पञ्चेन्द्रिय भी त्रस है।

४ योगके तीन भेद है—काययोग, वचनयोग और मनोयोग। इन तीनो योगोके अनेक भेद है। ये तीनो योग तेरहवे गुणस्थान तक होते है।

५ वेद भी तीन है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। ये तीनो वेद नौवे गुणस्थान तक होते है।

६ कषाय चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। शुरूकी तीन कषाय नौवे गुणस्थान तक और अन्तकी लोभ कषाय दसवे गुणस्थान तक रहती है। आगेके गुणस्थानोमे कषाय नही होती।

७ ज्ञान पाच है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इनमेसे प्रारम्भके तीन ज्ञान मिथ्या भी होते है। ये तीनो मिथ्याज्ञान पहले और दूसरे गुणस्थानमे रहते है। तीसरे मिश्रगुणस्थानमे आदिके तीन मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान मिले-जुले होते है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान चौथे गुणस्थानसे लेकर बारहवे गुणस्थान तक होते है। मन पर्ययज्ञान छठे प्रमत्तसयतगुणस्थानसे लेकर बारहवें गुणस्थान तक होता है। केवलज्ञान सयोगकेवली, अयोगकेवली गुणस्थानोमे तथा सिद्धजीवोमे रहता है।

८ सयममार्गणाके[1] सात भेद है—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय, यथाख्यात ये पाँच सयम, एक सयमासयम और एक असयम।

छठे गुणस्थानसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तकके जीव सयमके धारी होते है। उनमेंसे सामायिकसयम और छेदोपस्थापनासयम छठेसे नौवे गुणस्थान तक होते है। परिहारविशुद्धिसयम प्रमत्तसयत और अप्रमत्तसयत गुणस्थानवाले जीवोके होता है। सूक्ष्मसाम्परायसयम एक सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवे गुणस्थानवाले जीवोके ही होता है। यथाख्यातसयम अन्तके चार गुणस्थानोमें होता है। सयमासयम एक सयतासयत गुणस्थानमे ही होता है। प्रथम चार गुणस्थान वाले जीव असयत होते है—उनमे सयम नही होता।

९ दर्शनमार्गणाके[2] चार भेद है—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन वाले जीव बारहवें गुणस्थान तक होते है। अवधिदर्शन चौथेसे बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। केवलदर्शन सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्धोके होता है।

---

१ षट्ख., पु० १, पृ० ३६८–३७८।

२ वही, पृ० ३७८–३८५।

१० लेश्याके[1] छै भेद हैं—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । कृष्ण-लेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या चौथे गुणस्थान तक होती है । तेजोलेश्या और पद्मलेश्या सातवे गुणस्थान तक और शुक्ललेश्या तेरहवे गुणस्थान तक होती है । उसके वाद लेश्या नही होती, क्योकि योग और कपायके मेलका नाम लेश्या है और तेरहवें गुणस्थानके वाद योग और कपाय दोनो नही रहते ।

११ भव्यत्वमार्गणाके[2] दो भेद है—भव्य और अभव्य । जो जीव आगे मुक्ति-लाभ करेंगे उन्हें भव्य कहते है । और जिन जीवोमे मुक्ति प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नही है उन्हें अभव्य कहते है । अभव्य जीवोके पहला ही गुणस्थान होता है और भव्योके चौदह गुणस्थान होते हैं ।

१२ सम्यक्त्वमार्गणाके[3] छै भेद है—क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि ।

क्षायिकसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर चौदहवें गुणस्थान तक होते है । वेदकसम्य-ग्दृष्टि चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तक होते है । उपशमसम्यग्दृष्टि चौथेसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होते है । सासादनसम्यग्दृष्टि एक सासादन गुण-स्थानमे ही होते है । सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि एक सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे होते है और मिथ्यादृष्टि जीव पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमे होते हैं ।

१३ सज्ञीमार्गणाके[4] दो भेद है—सज्ञी और असज्ञी । सज्ञीके पहले मिथ्या-दृष्टि गुणस्थानसे लेकर बारहवें क्षीणकपाय गुणस्थान तक होते है । असज्ञी पहले ही गुणस्थानमें होते है ।

१४ आहारमार्गणाके[5] दो भेद है—आहारक और अनाहारक । आहारक तेरहवे गुणस्थान तक होते है और अनाहारक विग्रहगति अवस्थामे पहले-दूसरे और चौथे गुणस्थानमें, समुद्घात करने वाले सयोगकेवली, अयोगकेवली और सिद्ध अवस्थामें होते है ।

अन्तिम आहारमार्गणाके कथनकी समाप्तिके साथ ही सत्प्ररूपणा समाप्त हो जाती है । पुष्पदन्ताचार्यकी रचनाका अन्त भी उसीके साथ हो जाता है ।

सामान्य सत्प्ररूपणामें चौदह गुणस्थानोकी अपेक्षा जीवके अस्तित्वका प्रति-पादन किया गया है और विशेषमें चौदह मार्गणाओकी अपेक्षा गुणस्थानोमें जीवो-

---

१. षट्ख० पु० १, पृ० ३८६–३९२ ।
२ वही, पृ० ३९२–३९४ ।
३ वही, पृ० ३९५–४०८ ।
४ वही, पु० १, पृ० ४०८–४०९ ।
५ वही, पृ० ४०९–४१० ।

के अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। इसीसे इसका नाम सत्प्ररूपणा है। यही कथन आगेके कथनका प्रवेशद्वार है। उसमें प्रवेश हुए बिना आगेके खण्डोमें गति होना कठिन है। अत पहले खण्ड 'जीवट्ठाण' के आदिमें ही उसे स्थान दिया है।

गुणस्थानो और मार्गणास्थानोके द्वारा इस प्रकारसे जीवकी सत्ताका विवेचन जैन परम्पराके सिवाय न बौद्ध परम्परामे पाया जाता है और न वैदिक परम्परामें। उपनिषदोमें आत्मतत्वका प्रतिपादन अवश्य है किन्तु मोक्षके सोपानभूत ऐसी किन्ही भूमिकाओका वर्णन उनमें नही है, जिनकी तुलना गुणस्थानोसे की जा सके। और न जीवकी विविध दशाओ और गुणोकी परिणतियोको लेकर ऐसा ही कोई विचार उनमें मिलता है जिसकी तुलना जैन सिद्धान्तके मार्गणास्थानोसे की जा सके।

हाँ, योगवाशिष्ठ और पातञ्जल योगदर्शनमे आत्माकी भूमिकाओका विचार अवश्य मिलता है। योगवाशिष्ठमे[1] सात भूमिकाए ज्ञानकी और सात भूमिकाएँ अज्ञानकी इस तरह चौदह भूमिकाएँ बतलाई है, जो जैन परम्पराके उक्त १४ गुणस्थानोका स्मरण कराती है। उनमें जो सात ज्ञानभूमिकाएँ है वे इस दृष्टिसे द्रष्टव्य है—पहली भूमिकाका नाम शुभेच्छा है। वैराग्यपूर्व इच्छाको शुभेच्छा[2] कहते है। शास्त्र और सज्जनोके सम्पर्कसे तथा वैराग्यके अभ्यासपूर्वक जो सदाचार प्रवृति होती है उसे दूसरी विचारणा[3] भूमिका कहते है। विचारणा और शुभेच्छासे जो इन्द्रियोके विषयोमें अनासक्ति होती है उसे तीसरी तनुमानसा[4] भूमिका कहते है। तीसरी भूमिकाके अभ्याससे शुद्ध आत्मामें चित्तको स्थितिको चौथी सत्वापत्ति[5] भूमिका कहते है।

सात ज्ञानभूमिकाओका उक्त वर्णन चतुर्थ आदि गुणस्थानोमे स्थित आत्माके लिए लागू होता है। योगवाशिष्ठके कुछ अन्य वर्णनोमे भी जैन विचारोकी

---

१ 'अज्ञानभू सप्तपदा ज्ञभू सप्तपदैव हि। पदान्तराण्यसख्यानि भवन्त्यन्यान्यथैतयो ॥२॥'
—उत्प० प्र०, स० ११७।

२ 'स्थित किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेोऽह शास्त्रसज्जनैं,।
वैराग्यपूर्वामिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यतै बुधै ॥ ८ ॥

३ 'शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥

४ 'विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यत्र सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥

५ 'भूमिकात्रितयाभ्यासात् चित्तेर्थे विरतेर्वशात्।
सत्यात्मनि स्थिति शुद्धे सत्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥ उ० प्र० स० ११८।

झलक मिलती है। और जब श्री रामचन्द्र[1] कहते हे कि मेरे कोई चाह नही है और न मेरा मन विपयोमे लगता हूं। मैं तो 'जिन' की तरह अपनी आत्मामे शान्ति प्राप्त करना चाहता हूँ, तव तो विचारोकी भूमिकाकी उक्त झलकका रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

योगकी परम्परा वहुत प्राचीन परम्परा है 'मोहेंजोदडो' से प्राप्त योगीकी मूर्ति उसका प्रमाण है। योगका लक्ष्य आध्यात्मिक विकास था, उसीको भूमिका अथवा गुणस्थानोके द्वारा चित्रित करनेका प्रयास किया गया है।

जैन परम्परामें गुणस्थानो और मार्गणाओके द्वारा जीवके कथनकी परम्परा वहुत प्राचीन है क्योकि भगवान महावीरके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोमें उनका सागोपाग कथन था और जैन परम्पराके विभिन्न सम्प्रदायगत साहित्यमें भी उस कथनमें एकरूपता है। अत इसे भगवान महावीरकी देन कहना अनुचित न होगा।

मार्गणाओमें लेश्यामार्गणा अपना वैशिष्टच रखती है। उनके छै भेद किये गये है और ससारके जीवोको उनके भावोके अनुसार छै लेश्याओमें विभाजित किया है।

दीघनिकायकी टीकामे बुद्धघोपने लिखा है—गोशालकने शिकारी वगैरहको कृष्णमें, वौद्ध भिक्षुओको नीलमें, निर्ग्रन्थोको लालमें, अचेलकोके अनुयायियोको पीतमें और आजीविकोको शुक्लमें विभाजित किया था। अगुत्तरनिकायमें इसे पूरणकाश्यपका मत कहा है। इस परसे डॉ० हार्नलेका[2] अनुमान था कि छै रगोमे मनुष्योको विभाजित करनेका विचार बुद्धके छहो विरोधी तीर्थङ्करोमें साधारण रूपसे प्रचलित था। डॉ० हार्नलेका उक्त अनुमान ठीक हो सकता है, किन्तु इस विचारका उद्गम जैन विचार-क्षेत्रमे होना अधिक सभाव्य जान पडता है क्योकि रगोके इस विचारके मूल उपादान योग और कपायके साथ लेश्याओका वर्णन जैन शास्त्रोमें मिलता है।

२ द्रव्यप्रमाणानुगम—जीवट्ठाणके इस दूसरे अनुयोगद्वारसे भूतवलिकी रचना का प्रारम्भ होता है। इस भागमें वतलाया है कि विभिन्न गुणस्थानोमें सामान्यसे तथा विभिन्न मार्गणाओकी अपेक्षा जीवोकी सख्या कितनी है।

आजका पाठक इस वातको बडे कौतूहलके साथ पढेगा कि जैन सिद्धान्तमें ससारके जीवोकी सख्या तकका विवेचन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आधारसे किया है। सबसे प्रथम तो यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इस विवेचनका आधार क्या

१. 'नाह रामो न मे वान्छा विपयेपु न मे मन ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ॥'

२. इ० इ० रि०, जि० १, पृ० २६२ ।

है ? प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाकी धवला-टीकाके प्रारम्भमें[1] वीरसेनस्वामीने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ कर्मप्रकृतिप्राभृतके अन्तर्गत चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे बन्धननामक छठा अनुयोगद्वार है। इसके चार अर्थाधिकार हैं। उनमेंसे बन्धक नामक दूसरे अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वारोंमेंसे पांचवां अनुयोगद्वार द्रव्यप्रमाणनामक है। उसीसे प्रकृत द्रव्यप्रमाणानुगम लिया गया है।

पुनः यह जिज्ञासा हो सकती है कि कर्मप्रकृतिप्राभृतसे इन सब बातोंका कथन किसने किस आधारपर किया ? यह पहले लिख आये हैं कि द्वादशांगकी रचना गौतम गणधरने भगवान महावीरकी वाणीके आधारपर की। गौतम गणधर भगवानसे प्रश्न करते थे और भगवान उसका उत्तर देते थे। षट्खण्डागमके बहुत-से सूत्र प्रश्नोत्तररूपमें ही निबद्ध हैं जो इस बातके सूचक हैं कि गौतम और भगवान महावीरके बीचमें प्रश्नोत्तर होते थे और गौतम गणधरने प्रामाणिकता-की सुरक्षाके लिए उन्हें उसी रूपमें निबद्ध किया था और वहांसे लेकर संग्रह करने वाले भूतबलि आचार्यने भी उन्हें उसी रूपमें रखा। यथा—

'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया ? अणंता ॥ २ ॥'

ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं ? अनन्त हैं ॥ २ ॥

इसकी धवला-टीकामें[2] यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रश्नोत्तररूप दिये बिना 'ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण अणंता' (ओघसे मिथ्यादृष्टि द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा अनन्त हैं) ऐसा क्यों नहीं कहा ? इसका समाधान करते हुए धवलाकारने कहा है कि—'इस प्रकारकी सूत्ररचनाका फल है—अपने कर्तव्यको हटाकर आप्तके कर्तृत्वका प्रतिपादन करना। अर्थात् भूतबलिने इस प्रकारकी सूत्ररचनासे यह बतलाया है कि इसके कर्ता स्वयं वह नहीं हैं। किन्तु यह आप्तपुरुष भगवान महा-वीरका कथन है। तब पुनः यह प्रश्न किया गया कि—'तब भूतबलिने क्या किया ?' तो उत्तर दिया गया कि भूतबलि तो आप्तवचनोंके व्याख्याता मात्र हैं। अतः षट्खण्डागममें जो कुछ कहा गया है उसका उद्गम-स्थान भगवान् महावीर-की वाणी है।

भगवान महावीरको जैनागमोंमें सर्वज्ञ सर्वदर्शी बतलाया है। और बौद्ध त्रिपिटिकोंसे भी पता चलता है कि भगवान महावीरके सर्वज्ञ सर्वदर्शी होनेकी चर्चा थी। सर्वज्ञ सर्वदर्शीका मतलब है—सबको जानने-देखने वाला,

---

१. षट्खं०, पु० १, पृ० १२६।

२ वही, पु० ३, पृ० १०-११।

कोई बात जिसके ज्ञानसे बाहर न हो। भगवान महावीरकी इस सर्वज्ञताका उपहास करते हुए भी सातवी शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए प्रसिद्ध बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने कहा था—'सर्वज्ञ सबको देखे या न देखे, किन्तु उसे इष्ट तत्त्वोको अवश्य जानना चाहिये। कीट-पतंगोकी सख्याका उसका ज्ञान हमारे लिए क्या उपयोगी है?'

यह 'कीट-संख्याज्ञान' द्रव्यप्रमाणानुगम जैसे जैन ग्रन्थोमें वर्णित जीवोकी सख्याकी ओर ही सकेत करता है। अस्तु,

गुणस्थानोकी अपेक्षा जीवराशिका प्रमाण बतलाते हुए कहा है कि सर्वजीवराशि अनतानत है। उसका बहुभाग मिथ्यादृष्टिगुणस्थानवर्ती है और शेप बाकीके तेरह गुणस्थानोमें और सिद्धोमें विभाजित है। मिथ्यादृष्टियोका प्रमाण अनन्तानन्त बतलाते हुए लिखा है कि अनन्तानन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोके बीत जानेपर भी उनकी सख्याका कभी अन्त नही आता।

चौदह गुणस्थानोकी जीवराशियोका कथन करनेके पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणओमें और उनके भेद-प्रभेदोमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है।

इस भागके सूत्रोकी संख्या १९२ हैं, जिनमेंसे प्रारम्भके चौदह सूत्रोमें गुणस्थानोमें जीवराशिका प्रमाण बतलाया है और सूत्र १५ से मार्गणास्थानोमें प्रमाणका निर्देश है।

जहाँ तक हम जानते है ससारकी जीवराशिकी सख्याका इस तरह निर्देश जैन आगमोके सिवाय अन्यत्र नही पाया जाता।

पहले जीवट्ठाण नामक खण्डमें आठ अनुयोगद्वार है। उनमेसे दो अनुयोगद्वारोका विवेचन यहाँ करके स्थगित करते है क्योकि षट्खण्डागमकी टीका धवलाके प्रसगमें षट्खण्डागमके विषयका विस्तृत विवेचन करनेमें लाघव और सुगमता होगी। यहाँ केवल शेप खण्डोका सामान्य परिचय दिया जाता है।

३ क्षेत्रानुगम—मे[1] जीवोके निवास व विहारादि सम्बन्धी क्षेत्रका परिमाण बतलाया है।

प्रथम सूत्र है—'खेत्ताणुगमेण दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य'। क्षेत्रानुगमकी अपेक्षा निर्देश दो प्रकारका है—ओघसे और आदेशसे। दूसरे सूत्रमे उसी प्रश्नोत्तररूप शैलीमें कहा है—'ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव कितने क्षेत्रमें रहते है? सर्वलोकमे रहते है।'

तीसरे सूत्रमें कहा है—'सासादनसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगकेवली गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थानवाले जीव कितने क्षेत्रमे रहते है? लोकके असख्यातवें भागमें रहते है।'

---

१. षट्ख० पु० ३ में क्षेत्र, स्पर्शन और कालानुम मुद्रित हैं।

है। यही उक्त अपेक्षाओसे सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवालोका स्पर्शनक्षेत्र है।

इस प्रकार इस स्पर्शनानुगममें चौदह गुणस्थानो और चौदह मार्गणाओमें जीवोके स्पर्शनविषयक क्षेत्रका कथन है। इसमें १८५ सूत्र है।

५ कालानुगम—इसमें ओघ और आदेशकी अपेक्षा कालका कथन है अर्थात् यह बतलाया है कि नाना जीव और एक जीव किस गुणस्थान अथवा मार्गणा-स्थानमें कम-से-कम और अधिक-से-अधिक कितने काल तक रहते है।

जैसे, सूत्र २ में यह प्रश्न किया गया है कि ओघसे मिथ्यादृष्टी जीव कितने काल तक होते है ? इसके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोकी अपेक्षा सर्वकाल होते है (क्योकि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वदा पाये जाते है, उनका कभी अभाव नही होता। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा अनादि अनन्त, अनादि सान्त और सादिसान्त काल है। अभव्यजीव कभी मिथ्यात्वको नही छोडता, अत उसकी अपेक्षा अनादि अनन्तकाल है। जो भव्यजीव अनादिकालसे मिथ्यादृष्टि है किन्तु मिथ्यात्व-को छोडकर सम्यग्दृष्टि हो जाते उनके मिथ्यात्वका काल अनादि सान्त है। और जो भव्यजीव सम्यक्त्वको छोडकर मिथ्यादृष्टि हो जाते है उनका काल सादि और सान्त है। ऐसे जीवोके मिथ्यात्वमें रहनेका काल कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त होता है, अन्तर्मुहूर्त तक मिथ्यत्वमें रहकर वे पुन उससे निकलकर सम्यग्दृष्टी आदि हो जाते है। और उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गलपरावर्तन है। चौदहमेंसे छै गुण-स्थानोमें जीवोका कभी अभाव नही होता। वे छै गुणस्थान है—पहला, चौथा, पाँचवा, छठाँ, सातवाँ और तेरहवाँ।

इसी प्रकार सब गुणस्थानोमें और सब मार्गणास्थानोमें कालका कथन किया गया है। इस कालानुगमके सूत्रोकी सख्या ३४२ है।

६ अन्तर[1]—किसी विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीवके उस गुणस्थानसे दूसरे गुणस्थानमें चले जानेसे पुन उसी गुणस्थानमें आनेके कालको अन्तर कहते है। इस अन्तरानुगममें ओघ और आदेशकी अपेक्षा इसी अन्तरका कथन किया गया है।

जैसे—ओघकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टी जीवोका अन्तर काल कितना है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तर नही है, मिथ्यादृष्टि जीव सदा पाये जाते है। किन्तु एक जीवकी अपेक्षा जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम एक सौ बत्तीस सागरोपम काल है।

धवलाटीकामें इस अन्तरकालकी सगति विस्तारसे सिद्ध की है। चौदह गुण-स्थानोमेंसे जिन छै गुणस्थानोमें सर्वदा जीव पाये जाते है, नाना जीवोकी अपेक्षा

१ षट्ख०, पु० ५ में अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वार मुद्रित हैं।

उन गुणस्थानोंका अन्तरकाल नहीं होता, शेष आठ गुणस्थानोंका होता है। अर्थात् उन आठ गुणस्थानोंमें कुछ समय तक कोई जीव नहीं पाया जाता। जैसे उपशम श्रेणीके चार गुणस्थानोंमें और सासादन गुणस्थानमें अधिक-से-अधिक कुछ समय तक कोई जीव नहीं पाया जाता।

इसमें कुल ३९७ सूत्र हैं।

७ भावानुगम—कर्मोंके उदय, क्षय आदिके निमित्तसे जीवके जो परिणाम विशेष होते हैं उन्हें भाव कहते हैं। वे भाव पाँच प्रकारके हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले भावको औदयिक भाव कहते हैं। कर्मोंके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले भावको औपशमिक भाव कहते हैं। कर्मोंके क्षयसे प्रकट होनेवाले भावको क्षायिकभाव कहते हैं। कर्मोंका उदय रहते हुए भी जो जीवगुणका अंश प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। जो पूर्वोक्त चारों भावोंसे भिन्न जीव और अजीवगत भाव होता है वह पारिणामिक भाव है।

इस अनुयोगद्वारमें ओघ और आदेशसे उक्त भावोंका कथन किया है। ओघसे कथन करते हुए कहा है[2]—'मिथ्यादृष्टि यह कौन-सा भाव है? औदयिक भाव है ॥ २ ॥ 'सासादनसम्यग्दृष्टि यह कौन-सा भाव है? पारिणामिक भाव है ॥३॥ सम्यग्मिथ्यादृष्टि यह कौन-सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है ॥ ४ ॥ असंयत-सम्यग्दृष्टि यह कौन-सा भाव है? औपशमिक भाव भी है, क्षायिक भाव भी है और क्षायोपशमिक भाव भी है ॥ ५ ॥ संयतासंयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत यह कौन-सा भाव है? क्षायोपशमिक भाव है ॥ ७ ॥ इसी प्रकार चौदह गुणस्थानोंमें भावकी प्ररूपणा करके पुनः मार्गणास्थानोंमें भावोंका कथन किया है। धवलाटीकामें प्रत्येकका उपपादन किया है कि क्यों अमुक भाव है। इसमें ९३ सूत्र हैं।

८ अल्पबहुत्वानुगम—द्रव्यप्रमाणानुगममें बतलाई गई जीवसंख्याके आधार पर गुणस्थानों और मार्गणास्थानोंमें संख्याकृत हीनता और अधिकताका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। अन्य अनुगमोंकी तरह इसका आरम्भ भी 'दुविहो णिद्देसो

---

१ 'चदुण्हमुवसामगाणं अजोगकेवलीणमंतरं केवचिरं कालादो होदि? णाणा जीवं पडुच्च जहण्णेण एगसमयं' ॥ १६ ॥ 'उक्कस्सेण छम्मासं ॥ १७ ॥'—षट्खं०, पु० ५, पृ० २०-२१।

२ 'ओघेण मिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, ओदइओ भावो ॥ २ ॥ सासणसम्मादिट्ठि त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ॥ ३ ॥ सम्मामिच्छादिट्ठि त्ति को भावो, खओवसमिओ भावो ॥ ४ ॥ असंजदसम्मादिट्ठि त्ति को भावो, उवसमिओ वा खइओ वा खओवसमिओ वा भावो' ॥ ५ ॥' षट्खं०, पु० ५, पृ० १९४ आदि।

ओघेण ओदेसेण य' सूत्रसे होता है। पहलेके सब अनुयोगद्वारोमे ओघकथन पहले गुणस्थानसे आरम्भ होता है किन्तु यहाँ वह बात नही है। यहाँ सख्याके अल्पत्वके और बहुत्वके आधारपर कथन है। जिन गुणस्थानोमे जीवोकी सख्या सबसे कम है उसका निर्देश प्रथम है और आगे जिन-जिन गुणस्थानोमे जीवोकी सख्या क्रमश बढती जाती है उनका कथन है। यथा—'ओघसे[1] अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानोमें उपशामक जीव प्रवेशकी अपेक्षा परस्पर तुल्य है किन्तु अन्य सब गुणस्थानोमे अल्प है ॥ २ ॥ उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानवाले जीव भी पूर्वोक्त प्रमाण ही है ॥ ३ ॥ उससे क्षपक असख्यातगुणे है ॥ ४ ॥

इस तरह आठवे गुणस्थानसे प्रारम्भ करके ऊपरकी ओर ले गये है क्योकि अन्य सब गुणस्थानोमे उपशमश्रेणीके इन गुणस्थानोमे जीवोकी सख्या सबसे कम होती है। गुणस्थानोकी अपेक्षा अल्पबहुत्वका कथन करके फिर मार्गणाओमे अल्पबहुत्वका कथन है। यथा—'आदेशसे[2] गतिमार्गणाके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोमे सासादनसम्यग्दृष्टी जीव सबसे कम है ॥ २७ ॥ सम्यक्मिथ्यादृष्टि जीव सख्यातगुणे है ॥ २८ ॥ इत्यादि। इसमें ३८२ सूत्र है। इस अल्पबहुत्वानुगमके साथ जीवट्ठाण नामक प्रथम खडके आठो अनुयोगद्वार समाप्त हो जाते है। और इस तरहसे पहला खड समाप्त हो जाता है। किन्तु इनके पश्चात् भी जीवस्थानकी चूलिकाके नामसे एक अधिकार और भी है।

जीवस्थान चूलिका—इसकी धवलाटीकाके प्रारम्भमें[3] ही यह शका की गई है कि जीवस्थानके आठो अनुयोगद्वारोके समाप्त हो जानेपर चूलिका किसलिये आई है? इसका समाधान करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा है—पूर्वोक्त आठो अनुयोगद्वारोके विषम स्थलोके विवरणके लिये आई है। पुन यह शका की गई है कि सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमे कहा गया है कि 'चौदह गुणस्थानोके कथनके लिये ये आठ ही अनुयोगद्वार जानने योग्य है,' यदि चूलिका उन्हीसे प्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो 'आठ ही' कहना व्यर्थ हो जाता है क्योकि चूलिका नामक नौवा अधिकार भी हो जाता है। यदि चूलिका चौदह गुणस्थानोसे अप्रतिबद्ध अर्थका कथन करती है तो उसे 'जीवट्ठाण' सज्ञा नही दी जा सकती?

---

१ 'ओघेण तिसु अद्धासु उवसमा पवेसणेण तुल्ला थोवा ॥ २ ॥ उवसतकसायवीदरागछदुमत्था तत्तिया चेव ॥ ३ ॥ खवा सखेज्जगुणा ॥ ४ ॥ षट्ख०, पु० ५, पृ० २४३ आदि।

२ 'आदेसेण गदियाणुवादेण णिरयगदीए णेरइएसु सव्वत्थोवा सासणसम्मादिट्ठी ॥ २७ ॥ —षट्ख०, पु० ५, पृ० २६१।

३ 'सम्मत्तेसु अट्ठसु अणियोगद्दारेसु चूलिया किमट्ठमागदा? पुव्वुत्ताणमट्ठण्णमणिओगद्दाराण विसमपएसविवरणट्ठमागदा।' षट्ख०, पु० ६, पृ० २।

इसका समाधान करते हुए धवलाकारने लिखा है कि चूलिकामें ऐसे अर्थोंका कथन है जो आठों अनुयोगद्वारोंमें नहीं कहे गये हैं किन्तु उनसे सूचित होते हैं। अत चूलिका उक्त आठों अनुयोगद्वारोंमें ही अन्तर्भूत है, उनसे बाहर नहीं है।

इस चूलिकाके अन्तर्गत नौ अधिकार हैं। प्रकृतिसमुत्कीर्तन, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रथममहादण्डक, द्वितीयमहादण्डक, तृतीयमहादण्डक, उत्कृष्टस्थिति, जघन्य-स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति, और गति-आगति चूलिका। चूलिकाके उन नौ अधिकारोंका अन्तर्भाव उक्त आठ अनियोगद्वारोंमें करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] है—क्षेत्र काल और अन्तर अनियोगद्वारोंसे गति-आगति चूलिका सूचित की गई है, वह गति-आगति चूलिका भी प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तनको सूचित करती है क्योंकि कर्मबन्धके बिना गतियोंमें गमनागमन नहीं बनता। प्रकृतिसमुत्कीर्तन और स्थानसमुत्कीर्तनके द्वारा कर्मोंकी जघन्यस्थिति और उत्कृष्टस्थिति सूचित की गई है, क्योंकि सकषाय जीवके स्थितिबन्धके बिना प्रकृतिबन्ध नहीं होता। कालानुयोगद्वारमें जो सादिसान्त मिथ्यादृष्टिका उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन बतलाया है उससे प्रथमसम्यक्त्वका ग्रहण किया गया है क्योंकि उसके बिना मिथ्यादृष्टिका उक्त उत्कृष्टकाल नहीं बनता। प्रथम सम्यक्त्वसे तीन महा-दण्डक सूचित होते हैं। इस तरह वीरसेनस्वामीने चूलिकाके नौ अधिकारोंको पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारोंमें ही अन्तर्भूत बतलानेका सत्प्रयत्न किया है। उनका आशय यह है कि गुणस्थान और मार्गणाओंके द्वारा जीवके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्वका कथन करनेके पश्चात् यह कथन करना शेष रह जाता है कि जीव मरकर किस गतिसे किस गतिमें जाता है। अत उस कथनके लिये गति-आगति चूलिका अधिकार है और शेष अधिकार प्राय उसीके सम्बन्धसे अवतरित हुए हैं। इनमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तन आदि कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो दूसरे खण्ड 'बन्धक' के लिये उपयोगी हैं। अत इस चूलिकाके द्वारा सूत्रकार भूतबलिने जीवस्थानके साथ आगेके खंडोको सम्बद्ध करनेका प्रयत्न किया हो, यह भी हमें सम्भव प्रतीत होता है। अस्तु,

चूलिकाके प्रथमसूत्रके[2] द्वारा सूत्रकारने नीचे लिखे प्रश्न किये हैं—१ (सम्य-क्त्वको उत्पन्न करनेवाला मिथ्यादृष्टि जीव) कितनी और किन प्रकृतियोंको

---

१ षट्खं०, पु० ६, पृ० ३।

२ 'कदिकाओ पयडीओ बधदि, केवडिकालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्त लभेदि वा ण लब्भदि वा, केवचिरेण वा कालेण वा कदि भाए वा करेदि मिच्छत्त, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडिय वा दसणमोहणीय कम्म खवेंतस्स चारित्त वा सपुण्ण-पडिवज्जतस्स ॥ १ ॥—षट्खं०, पु० ६, पृ० १।

बाँधता है? २. कितने काल स्थितिवाले कर्मोंके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नहीं प्राप्त करता है? ३. कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वको कितने भागरूप करता है और किन किन क्षेत्रोंमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोहनीय कर्मोंका क्षपण करनेवाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होनेवाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है?

इन्हीं प्रश्नोंके समाधानके रूपमें चूलिकाके नौ अधिकारोंकी रचना भूतबलिने की है।

१. इनमेंसे 'कितनी प्रकृतियोंको बाँधता है' इस पदकी विभाषा—व्याख्यानके रूपमें प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक पहली चूलिका है।

१. प्रकृतिसमुत्कीर्तन—प्रकृतियोंके समुत्कीर्तन अर्थात् स्वरूपनिरूपणको प्रकृतिसमुत्कीर्तन कहते हैं।

प्रकृतिसमुत्कीर्तनके दो भेद हैं—मूलप्रकृतिसमुत्कीर्तन और उत्तरप्रकृतिसमुत्कीर्तन।

मूलकर्मप्रकृतियाँ आठ हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

ज्ञानका आवरण करने वाले कर्मको ज्ञानावरण कहते हैं। दर्शनका आवरण करने वाले कर्मको दर्शनावरण कहते हैं। जीवके सुख-दुःखके अनुभवनमें कारण पुद्गलस्कन्धको वेदनीयकर्म कहते हैं। जिससे राग और मोहित हो उस कर्मको मोहनीयकर्म कहते हैं। जो कर्म जीवको नरकादि भवोंमें अमुक समय तक रोके रखता है उसे आयुकर्म कहते हैं। शरीर आदिकी रचनामें कारणभूत कर्मको नामकर्म कहते हैं। उच्च और नीच कुलमें उत्पन्न कराने वाले कर्मको गोत्रकर्म कहते हैं। दान लाभ भोग उपभोग आदिमें विघ्न करने वाले कर्मको अन्तरायकर्म कहते हैं। इस तरह मूल कर्म आठ हैं।

जैन सिद्धान्तमें कर्मके दो भेद हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। जीवके राग-द्वेषरूप भावोंको भावकर्म कहते हैं। और जीवके रागादि परिणामोंके निमित्त से जो पुद्गलस्कन्ध कर्मरूप परिणत होते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। इष्ट और अनिष्ट विषयोंको पाकर जीवके जैसे भाव होते हैं तदनुसार ही उसके कर्मबन्ध होता है। अतः योग और कषायके निमित्तसे जीवके साथ सम्बद्ध हुए जो पुद्गल

---

१ 'कदि काओ पयडीओ बंधदि त्ति जं पदं तस्स विहासा ॥१॥ इदाणिं पयडिसमुक्कित्तणं कस्सामो ॥३॥ षट्खं०, पु० ६, पृ० ४७।

२ 'णाणावरणीयं ॥५॥ दंसणावरणीयं ॥६॥ वेदणीयं ॥७॥ मोहणीयं ॥८॥ आउअं ॥९॥ णामं ॥१०॥ गोदं ॥११॥ अंतरायं चेदि ॥१२॥ वही, पु० ६, पृ० ६–१३।

ज्ञानका ढांकना, दर्शनका ढांकना, सुख-दुःखका अनुभवन कराना, मोहित करना, आदि कार्य करनेमें समर्थ होते हैं उन्हें कर्म कहते हैं। इन आठों कर्मोंके कारण ही जीव संसारमें भ्रमण करता है।

इन आठ कर्मोमेंसे भी ज्ञानावरणीय[1] कर्मकी पांच उत्तरप्रकृतियां हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। मति आदि पांच ज्ञान हैं, अतः ज्ञानको आवरण करने वाले ज्ञानावरणके भी पांच प्रकार हैं। इसी तरह दर्शनको ढांकने वाले दर्शनावरणीय कर्मकी नौ प्रकृतियां हैं।[2] वेदनीयकर्मकी[3] दो प्रकृतियां हैं। मोहनीयकर्मके[4] दो भेद हैं—दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय। आप्त, आगम और पदार्थोंमें रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते हैं। उस दर्शनको जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है उसे दर्शनमोहनीयकर्म कहते हैं। इस कर्मके उदयसे जो आप्त नहीं है उसमें आप्तबुद्धि और झूठे पदार्थोंमें सच्चे पदार्थकी बुद्धि होती है।

उसकी तीन प्रकृतियां हैं- सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व।

पापकार्योंसे निवृत्त होनेको चारित्र कहते हैं। उस चारित्रको आच्छादित करने वाले कर्मको चारित्रमोहनीय कहते हैं। चारित्रमोहनीयके दो भेद होते हैं—कषाय वेदनीय और नोकषायवेदनीय। कषायवेदनीयके १६ भेद हैं और नोकषायवेदनीयके नौ भेद हैं। इस तरह मोहनीयकर्मकी २८ प्रकृतियां हैं।

आयुकर्मकी[5] चार प्रकृतियां हैं—नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु नामकर्मकी[6] ९३ प्रकृतियां हैं। गोत्रकर्मकी[7] दो प्रकृतियां हैं—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। अन्तरायकर्मकी[8] पांच प्रकृतियां हैं। इस तरह आठ कर्मोंकी ५+९ +२+२८+४+९३+२+५=१४८ प्रकृतियां होती हैं।

कर्मप्रकृतियोंके इस निरूपणके साथ प्रकृतिसमुत्कीर्तन चूलिका समाप्त हो जाती है। इस चूलिकामें ४६ सूत्र हैं। उसके पश्चात् स्थानसमुत्कीर्तन नामकी चूलिका आरम्भ होती है।

---

१ षट्खं०, पु० ६, पृ० १४।
२. वही, पृ० ३१।
३. वही, पृ० ३४।
४. वही, पृ० ३७।
५. वही, पु० ६, पृ० ४८।
६ वही, पृ० ४९।
७. वही, पृ० ७७।
८ वही, पृ० ७८।
९ 'एत्तो ट्ठाणसमुक्कित्तणं वण्णइस्सामो ॥१॥ वही, पृ० ७९।

२ स्थानसमुत्कीर्तन—पहली चूलिकामें जिन प्रकृतियोंका कथन किया है, उनका बंध क्रमसे होता है या अक्रमसे होता है, इस प्रश्नका उत्तर इस दूसरी चूलिकाके द्वारा दिया गया है। बन्धक छै हैं—मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत। अन्तके संयतसे ६ से लेकर तेरह तकके गुणस्थानवाले जीव विवक्षित हैं क्योंकि वे सभी संयत होते हैं। यद्यपि चौदहवें अयोगकेवली गुणस्थान वाले भी संयमी होते हैं किन्तु उनके एक भी कर्मका बन्ध नहीं होता।

१. ज्ञानावरणीयकर्मकी[1] पाँचों प्रकृतियां एक साथ बंधती हैं और उक्त सभी बंधकोंके बंधती हैं। (किन्तु दसवें गुणस्थान तक ही बंधती हैं, आगे नहीं बंधती)

२ दर्शनावरणीयकर्मके[2] तीन बन्ध स्थान हैं—नौप्रकृतिक, छहप्रकृतिक और चारप्रकृतिक। पहले और दूसरे गुणस्थानमें एक साथ नौप्रकृतियां बंधती हैं। तीसरे गुणस्थानसे लेकर आठवें गुणस्थानके प्रथम भाग पर्यन्त जीवोंके नौमेंसे एक साथ छै ही प्रकृतियां बंधती हैं, तीन नहीं बंधती। आगे आठवेंसे दसवें गुणस्थान पर्यन्त छहमेंसे भी चारका ही बन्ध एक साथ होता है। इस तरह दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियोंमेंसे तीन बन्धस्थान हैं।

३ वेदनीय कर्मकी दो ही प्रकृतियां हैं—साता और असाता। उन दोनोंमेंसे एक समयमें एक ही बंधती है।

४ मोहनीयकर्मके[3] दस बन्धस्थान हैं—बाईस, इक्कीस, सतरह, तेरह, नौ, पांच, चार, तीन, दो और एक प्रकृतिक। बाईससे अधिक प्रकृतियां किसी भी जीवके नहीं बंधती। मिथ्यात्व, सोलहकषाय, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंमेंसे एक, हास्य-रति और अरति-शोक इन दो युगलोंमेंसे एक युगल, भय और जुगुप्सा इन बाईस प्रकृतियोंका एक साथ बन्ध मिथ्यादृष्टी जीवके होता है। इनमेंसे मिथ्यात्वके सिवाय शेष इक्कीस प्रकृतियोंका बन्ध (जिनमें नपुंसकवेद नहीं लेना चाहिये) सासादनसम्यग्दृष्टीके होता है। उनमेंसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष सतरह प्रकृतियोंका (जिनमें स्त्रीवेद नहीं लेना चाहिये) एक साथ बन्ध तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन सतरहमेंसे अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभके सिवाय शेष तेरह प्रकृतियोंका बन्ध पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके होता है। उन तेरहमेंसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभको छोडकर शेष नौ प्रकृतियोंका बन्ध छठेसे आठवें गुणस्थानपर्यन्त

---

१. षट्खं०, पु० ८०।
२. वही, पु० ८२।
३. वही, पु ६, पृ ८८।

जीवोके ही होता है। सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ और पुरुषवेद इन पांच प्रकृतियोका बन्ध एक साथ होता है। इनमेसे पुरुषवेदके सिवाय शेष चारका, क्रोध-सज्वलनको छोडकर शेप तीनका, संज्वलन मानको छोडकर शेप दोका और सज्व-लन मायाको छोडकर शेप एक प्रकृतिका बन्ध भी सयमीके ही होता है।

५ आयुकर्मके[1] चार भेद है। उनमेंसे नरकायुका बन्ध पहले, गुणस्थानमे, तिर्यञ्चायुका बन्ध पहले और दूसरेमें, मनुष्यायुका बन्ध पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमे और देवायुका बन्ध ऊपर कहे छहो बन्धकोके होता है।

६ नामकर्मके[2] आठ बन्धस्थान है—इकतीस, तीस, उनतीस, अट्ठाईस, छब्बीस, पच्चीस, तेईस और एक प्रकृतिक स्थान। इन स्थानोके बन्धकोका वर्णन बहुत विस्तृत है।

७ गोत्रकर्मकी[3] दो प्रकृतियोमेसे एक समयमे एक जीवके एकका ही बन्ध होता है। नीचगोत्रका बन्ध केवल पहले और दूसरे गुणस्थानमे होता है और उच्चगोत्रका बन्ध उक्त छहो बन्धकोके होता है।

८. अन्तरायकर्मकी[4] पांचो प्रकृतियां एक साथ बधती है और सामान्यतया उक्त छहो बन्धक उनका बन्ध करते है

इस तरह दूसरी चूलिकामें आठो कर्मोके बन्धस्थानोका कथन है। इसीसे उसका नाम स्थानसमुत्कीर्तन है। इसमें ११७ सूत्र है।

३ तीसरी चूलिकाका नाम प्रथम महादण्डक है। इसके प्रथमसूत्रके[5] द्वारा सूत्रकारने कहा है—अब प्रथमोपशमसम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख जीव जिन प्रकृतियोको बांधता है उन प्रकृतियोको कहेंगे। अर्थात् जब कोई मिथ्यादृष्टी जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होता है तो वह किन-किन कर्म-प्रकृतियोका बन्ध करता है? प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख सज्ञी पञ्चेन्द्रिय-तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और नारकी हो सकते है। प्रथम महादण्डकमे एकसूत्रके द्वारा प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख सज्ञी तिर्यञ्च और मनुष्यके बंधनेवाली प्रकृ-तियाँ बतलाई है। इसमें केवल दो सूत्र है।

४ दूसरे महादण्डकमें[6] प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख देव और सातवें नरक-

---

१. षट्ख०, पु० ६, पृ० ९९।
२ वही, पृ० १०१।
३ वही, पृ० १३१।
४ वही, पृ० १३२।
५ 'इदाणिं पढमसम्मत्ताभिमुहो जाओ पयडीओ बधदि ताओ पडणीओ कित्तइस्सामो ॥१॥
—वही, पृ० १३३।
६ 'तत्थ इमो विदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—वही, पृ १४०॥

के नारकियोको छोडकर शेप नारकियोके बधनेवाली प्रकृतियाँ बतलाई है। इसमें भी दो ही सूत्र है।

५ तीसरे महादण्डकमें[1] सातवी पृथिवीके नारकीके प्रथमोपशमसम्यक्त्वके अभिमुख होनेपर बधनेवाली प्रकृतियाँ गिनाई है। इसमें भी केवल दो सूत्र है। इस तरह इन तीन महादण्डकोके रूपमें तीन चूलिकायें समाप्त होती है। सूत्रकारने क्यो एक-एक सूत्रका एक-एक महादण्डक बनाया है और क्यो उसकी महादण्डक सज्ञा रखी है, यह जिज्ञासा होना सहज है। जैन परम्परामें सिद्धान्तग्रन्थोके[2] अशविशेषके लिये दण्डक या महादण्डक शब्दका भी व्यवहार होता था। सभव है जिस स्थानसे ये दण्डक लिये गये है वह महादण्डक नामसे अभिहित हो और वही नाम इन एक-एक सूत्र वाले दण्डकोको दे दिया हो।

६ उत्कृष्टस्थिति चूलिका—इसमें कर्मोकी उत्कृष्ट स्थितिका कथन है। इस चूलिकाके प्रथमसूत्रमें[3] कहा है कि आरम्भिक सूत्रमें जो प्रश्न किये गये थे उनमें एक प्रश्न था 'कितनी स्थितिवाले कर्मोके होनेपर सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नही प्राप्त करता है।' इसमेंसे 'नही प्राप्त करता है' इस पदकी विभाषा करते है। उसी विभाषाके लिए कर्मोकी उत्कृष्ट स्थितिका विवेचन किया गया है। उसमें बतलाया है कि किन-किन कर्मोका उत्कृष्ट बन्धकाल कितना होता है। और उनमें कितना आबाधाकाल होता है। बन्धके पश्चात् जब तक कर्म अपना फल नही देता, उतने कालको आबाधाकाल कहते है। आबाधाकाल बीतनेपर कर्म-का उदय प्रारम्भ होता है और स्थितिकालके पूरा होने तक उदय होता रहता है। इस चूलिकामें ४४ सूत्र है।

७ जघन्यस्थिति चूलिका—इस चूलिकामे कर्मोकी जघन्य स्थिति और उसका आबाधाकाल बतलाया है। इसमें ४३ सूत्र है।

८ सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिका—इस चूलिकामें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका विवे-चन करते हुए कहा है कि सब कर्मोकी जब अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति-को बाँधता है तब यह जीव प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ प्रथमो-पशमसम्यक्त्वको प्राप्त करनेवाला जीव पञ्चेन्द्रिय सञ्ज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है ॥ ४ ॥ जब इन सब कर्मोकी अन्त कोडाकोडी सागर-प्रमाण स्थितिको सख्यात हजार सागर काल हीन कर देता है। तब प्रथमोपशम

---

१ 'तत्थ इमो तदिओ महादण्डओ कादव्वो भवदि ॥ १ ॥'—पृ० १४२।

२ 'एवं हि व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपूक्तम्'—त वा ४-२६-५।

३ 'केवडि कालट्ठिदीएहि कम्मेहि सम्मत्त लब्भदि वा ण लब्भदि वा, ण लब्भदि त्ति विभासा ॥१॥ एतो उक्कस्सयट्ठिदिं वण्णइस्सामो।'—पु० ६, पृ० १४५।

है । कितने ही जीव मिथ्यात्वसहित जाकर सासादनसम्यक्त्वसहित निकलते हैं । कितने ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मिथ्यात्वसहित निकलते है। कितन ही जीव सासादनसम्यक्त्वसहित जाकर मासादनसम्यक्त्वमहित निकलते है, इत्यादि ।

सूत्र ७६ से २०२ तक यह बतलाया है कि किस गतिसे किस गुणस्थानके माथ निकलकर जीव किन-किन गतियोमे जन्म ले सकता है । जैमे मिथ्यादृष्टि और सासादनमम्यग्दृष्टि जीव नरकसे निकल कर तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिमे जन्म लेते है । और सम्यग्दृष्टि नारकी नरकमे निकल कर मनुष्यगतिमें ही जन्म लेता है, इत्यादि ।

सूत्र २०३ से २४३ तक बतलाया है कि किस गतिमे निकल कर जीव किस गतिमें जन्म लेता है और वहाँ कहाँ तक उन्नति कर मकता है । जैसे, मातवे नरकसे निकल कर नारकी जीव तिर्यञ्चगतिमे ही जन्म लेता है और वहाँ किसी तरहकी उन्नति नही कर सकता । मिथ्यादृष्टिका मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है । इम तरह प्रत्येक नरकसे तथा प्रत्येक गतिसे निकले हुए जीवोके सम्वन्धमे विस्तार-से कथन किया गया है । चूलिकामें २४३ सूत्र है और पूरी जीवस्थान चूलिका-मे सूत्रोकी सख्या ४६ + ११७ + २ + २ + २ + ४४ + ४३ + १६ + २४३ = ५१७ हैं ।

चूलिकाके माथ ही जीवट्ठाण नामक प्रथम खण्ड समाप्त हो जाता है । इस खण्डमें जीवके स्थानोका जो वर्णन जिस ढगसे किया गया है, उसका आभास अन्यत्र नही मिलता । प्रथम तो जिन आठ अनुयोगोके द्वारा जीवका विवेचन किया गया है, उन अनुयोगोके नाम सत्, सख्या आदि भले ही अन्यत्र व्यवहृत होते हो, किन्तु उनके द्वारा वस्तु विवेचनकी परम्परा सम्भवतया महावीर भगवानकी मौलिक देन है । जीव और कर्मके सम्बन्धमे जितना विचार उन्होने किया था, शायद अन्य किसी धर्मप्रवर्तकने नही किया था । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'जीव-ट्ठाण' है ।

उक्त आठ अनुयोगोका निर्देश अनुयोगद्वार[1] मूत्रमे मिलता है । अत अनु-योगोके द्वारा वस्तुविवेचनाकी परम्परा अखण्ड जैन परम्पराको सम्मत रही है । किन्तु जिस तरह आठ अनुयोगोके द्वारा ओघ और आदेशसे जीवका कथन जीव-ट्ठाणमे किया गया है, श्वेताम्बर साहित्यमे नही किया गया । हाँ, चतुर्थ कर्म-

१ 'से किं त अणुगमे ? नवविहे पण्णत्ते, त जहा—सतपयपरूवणया १ दव्वपमाण २ च, खित्त ३ फुसणा ४ य, कालो य ५, अंतर ६, भाग ७, भाव ८, अप्पावहु चेव—अनु०, सू० ८० ।

ग्रन्थमें[1] जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग, लेश्या, बन्ध, अल्पबहुत्व, भाव और संख्याका संक्षिप्त कथन मिलता है। इसमें गाथा ९ से १३ तक मार्गणास्थानके भेद तथा गाथा १९ से २८ तक मार्गणाओंमें गुणस्थान बतलाये हैं। मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका वर्णन करते हुए मतिअज्ञान और श्रुताज्ञानमें दो अथवा तीन गुणस्थान[2] बतलाये हैं। दिगम्बर परम्परामें[3] दो ही गुणस्थान माने गये हैं। गाथा ३७ से ४८ तक मार्गणाओंमें अल्पबहुत्वका विचार किया गया है। यह प्रज्ञापनाके अल्पबहुत्वनामक तीसरे पदसे लिया गया है। प्रज्ञापनाके तीसरे पदमें अल्पबहुत्वका विचार विस्तारसे किया गया है।

अनुयोगद्वारसूत्रमें केवल मनुष्यादिकी संख्याका थोड़ा-सा वर्णन मिलता है। किन्तु द्रव्यप्रमाणानुगमके[4] साथ उसका मेल नहीं खाता। इसका कारण यह है कि दोनोंमें विभिन्न अपेक्षाओंसे मनुष्योंकी संख्याका कथन किया है। इस तरह जीवट्ठाणमें प्रतिपादित विषयकी कुछ फुटकर बातोंका थोड़ा-सा कथन श्वेताम्बर साहित्यमें मिलता है।

२ खुद्दाबन्ध[5]

इस खण्डका विषय उसके नामसे ही प्रकट है। इसमें खुद्दा अर्थात् क्षुद्ररूपसे कर्मबन्धका विवेचन है। छठवें खण्ड महाबन्धसे इसका भेद करनेके लिए ही अथवा उसकी अपेक्षा इसकी लघुता सूचित करनेके लिए ही सूत्रकारने इसको खुद्दाबन्ध संज्ञा दी है, ऐसा प्रतीत होता है। इसका प्रथम सूत्र है—'जे ते बंधगा णाम तेसिमिमो णिद्देसो ॥१॥'—जो ये बंधक जीव हैं उनका यहाँ निर्देश किया जाता है।

इसकी धवलाटीकामें लिखा है कि 'जे ते बंधगा णाम' ये शब्द बन्धकोंकी पूर्व प्रसिद्धिको सूचित करते हैं। सो महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें छठवें अनुयोगद्वार बन्धनके बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान ये चार अधिकार हैं। उसमेंसे जो बन्धक नामका दूसरा अधिकार है उसमें निर्दिष्ट बन्धकोंका ही यहाँ निर्देश किया गया है। अस्तु, दूसरे सूत्रमें चौदह मार्गणाओंके नाम गिनाकर तीसरे सूत्रमें मार्गणाओंके अनुसार बन्धकोंका कथन प्रारम्भ होता है। यथा—नारकी जीव बन्धक हैं। तिर्यञ्च बन्धक हैं। देव बन्धक हैं। किन्तु

---

१ नमिय जिण जिअमग्गण गुणट्ठाणुवओग जोगलेस्साओ।
बंधप्पबहूभावे संखिज्जाइं किमवि वुच्छं ॥१॥

२ गा० २०।

३ षट्ख०, पु० १, पृ० ३६१।

४ षट्ख०, पु० ३, सूत्र ४५, तथा अनुयोग०, पृ० २८५।

५ षट्खण्डागमकी ७वीं पुस्तकमें खुद्दाबन्ध खण्ड मुद्रित है।

मनुष्य बन्धक भी है और अबन्धक भी है। इस तरह तेतालीस सूत्र तक बन्धकोके सत्वका कथन है।

आगे कहा है कि इन बन्धकोके प्ररूपणार्थ ग्यारह अनुयोगद्वार जानने योग्य है—वे ग्यारह अनुयोगद्वार है—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षा काल, एक जीवकी अपेक्षा अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, द्रव्य-प्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवोकी अपेक्षा काल, नाना जीवो-की अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्व ॥ सब अनुयोगद्वारोका विवेचन प्रश्नोत्तरशैलीमे किया गया है।

१ स्वामित्व—नरक गतिमे नारकी जीव कैसे होता है? नरकगतिनाम-कर्मके उदयसे। तिर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च जीव कैसे होता है? तिर्यञ्चगतिनाम-कर्मके उदयसे। जीव एकेन्द्रिय आदि कैसे होता है? क्षायोपशमिकलब्धिसे। जीव मतिज्ञानी कैसे होता है? क्षायोपशमिकलब्धिसे। इस तरह जिस मार्गणा-वाला जीव जिस कर्मके उदय या क्षयोपशम आदिमे होता है उसका वैसा कथन किया गया है (इस अनुयोगद्वारमें ९१ सूत्र है)।

२ एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम—नरकगतिमें नारकी जीव कितने काल तक रहता है? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक तेतीस सागरकाल तक। भवनवासी देवोमें एक जीव कितने काल तक रहता है? कम-से-कम दस हजार वर्ष तक और अधिक-से-अधिक कुछ अधिक एक सागरोपम काल तक। जीव काययोगी कितने काल तक रहता रहता है? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्तकाल तक और अधिक-से-अधिक अनन्तकाल तक। इस प्रकार २१६ सूत्रोके द्वारा कालका विवेचन किया गया है। जीवट्ठाणमे जो कालका कथन किया गया है वह गुणस्थानोकी अपेक्षासे है और यहाँ मार्गणास्थानोकी अपेक्षासे है। यही दोनोमें अन्तर है।

३ एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम—नरकगतिमें नारकी जीवका अन्तर काल कितना है? कम-से-कम अन्तर्मुहूर्त और अधिक-से-अधिक असख्यात पुद्गल-परिवर्तन प्रमाणकाल। क्योकि कोई जीव नरकसे निकलकर मनुष्य या तिर्यञ्च-पर्यायमें उत्पन्न हो और तत्काल मरण करके पुन नरकमें जन्म ले लेता है। इस-तरह उसकी नारकी पर्याय छूट कर पुन नारकी पर्याय प्राप्त करनेके बीचमें केवल अन्तर्मुहूर्त कालका अन्तर रहता है। और कोई अधिक-से-अधिक उक्त काल तक नरकसे बाहर रहकर पुन. नरकमें चला जाता है। इसतरह मार्गणाओ-की अपेक्षा १४१ सूत्रोके द्वारा अन्तर कालका कथन किया गया है।

४. नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचयानुगम—भगका अर्थ है—भेद और विचयका अर्थ है विचारणा। इस अनुयोगद्वारमे यह विचार किया गया है कि मार्गणाओमे जीव नियमसे रहते है अथवा कभी रहते है और कभी नही रहते। उक्त चौदहो मार्गणाओमे जीव नियमसे रहते है—उनमे कभी भी जीवोका अभाव नही होता। उनके सिवाय आठ मार्गणाए ऐसी है जिनमे सदा जीव नही रहते। इसीसे उन्हे सान्तर मार्गणा कहते है। उक्त चौदह मार्गणाएँ निरन्तर मार्गणा है। यह कथन नाना जीवोकी अपेक्षा किया गया है। इसमे २३ सूत्र है।

५ द्रव्यप्रमाणानुगम—इसमे चौदह मार्गणाओमे पाये जाने वाले जीवोकी सख्याका पृथक्-पृथक् कथन किया है। जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुगममे गुणस्थानो-की अपेक्षासे जीवोकी सख्याका कथन है। यही दोनोमे अन्तर है। इसमे १७१ सूत्र है।

६ क्षेत्रानुगम—इसमे मार्गणास्थानोकी अपेक्षासे पूर्ववत् जीवोके क्षेत्रका कथन है। सूत्रसख्या १२४ है।

७ स्पर्शनानुगम—इसमे भी गुणस्थानोकी अपेक्षा न करके मार्गणास्थानोमे जीवोके वर्तमान व अतीत काल सम्बन्धी क्षेत्रका कथन पूर्ववत् है। इसमें २७९ सूत्र है।

८ नाना जीवोकी अपेक्षा कालानुगम—इसमे नाना जीवोकी अपेक्षा मार्ग-णाओमे जीवोके कालका कथन है। तदनुसार उक्त चौदह मार्गणाओमे जीव सर्वदा पाये जाते है। इसमे ५५ सूत्र है।

९ नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरानुगम—इसमे उक्त चौदह मार्गणाओमें नाना जीव सर्वदा पाये जानेके कारण अन्तरकालका निषेध करते हुए शेष आठ सान्तरमार्गणाओके अन्तरकालका कथन किया है। इसमे ६८ सूत्र है।

१० भागाभागानुगम नरकगतिमें नारकी सब जीवोके कितनेवे भाग है? अनन्तवें भाग है। तीर्यञ्चगतिमें तिर्यञ्च सव जीवोके कितनेवे भाग है? अनन्त बहुभाग है। इस प्रकार चौदह मार्गणाओमे सब जीवोके भागाभागका कथन है। इसमें ८८ सूत्र है।

११ अल्पबहुत्वानुगम—मनुष्य सबसे थोडे है। उनमे नारकी असख्यातगुणे है। नारकियोसे देव असख्यातगुणे है। देवोसे सिद्ध अनन्तगुणे है। सिद्धोसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे है। इस प्रकार चौदह मार्गणाओके आश्रयसे जीवोके अल्पबहुत्वका कथन इस अनुयोगद्वारमे है। इसमें २०५ सूत्र है।

अन्तमे महादण्डक नामक अधिकार है। इसके प्रथम[1] सूत्रमे कहा है—

'इससे आगे सर्वजीवोमें महादण्डक करना योग्य है।'

इस प्रथम सूत्रकी धवला-टीकामे इस महादण्डक अधिकारको लेकर जो शका-समाधान किया गया है उसे यहाँ दे देना उचित होगा। उसमे चूलिका और महादण्डकका भेद स्पष्ट होता है।

शका—ग्यारह अनुयोगद्वारोके समाप्त होनेपर यह महादण्डक किसलिये कहा है?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोमे निवद्ध खुद्दावन्धकी चूलिका रूपसे महादण्डकको कहते है।

शका—चूलिका किसे कहते है?

समाधान—ग्यारह अनुयोगद्वारोमे सूचित अर्थका विशेष रूपसे कथन करनेको चूलिका कहते है।

शका—यदि ऐसा है तो यह महादण्डक चूलिका नही कहा जा सकता। क्योकि यह अल्पवहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थको ही कहता है, अन्य अनुयोगद्वारोमें कहे गये अर्थको नही कहता?

समाधान—ऐसा कोई नियम नही है कि सब अनुयोगोके द्वारा सूचित अर्थोका विशेषरूप कथन करनेवाली ही चूलिका होती है। किन्तु एक, दो अथवा सब अनुयोगद्वारोसे सूचित अर्थोकी विशेष प्ररूपणाको चूलिका कहते है। अत यह महादण्डक चूलिका ही है क्योकि यह अल्पवहुत्वानुगम अनुयोगद्वारसे सूचित अर्थका विशेषरूपसे कथन करता है।

इस प्रकार इस दूसरे खण्डके सूत्रोकी कुल सख्या अनुयोगद्वारोके क्रमसे ४३ + ९१ + २१६ + १५१ + २३ + १७१ + १२४ + २७९ + ५५ + ६८ + ८८ + २०५ + ७९ =

३ बन्धस्वामित्वविचय[2]

षट्खण्डागमके तीसरे खण्डका नाम बन्धस्वामित्वविचय है। इसका प्रथम सूत्र है—

'जो सो बधसामित्तविचओ णाम तस्स इमो दुविहो णिद्देसो ओघेण आदेसेण य ॥१॥' वह जो बन्धस्वामित्वविचय नामक (खण्ड) है उसका यह निर्देश दो प्रकार है—ओघसे और आदेशसे।

---

१ 'एत्तो सव्वजीवेसु महादण्डओ कादव्वो भवदि' ॥१॥—षट्ख०, पु० ७, पृ० ५७५।

२ षट्ख०, पु० ८।

इस सूत्रकी धवला-टीकामें इसका उद्गम बतलाते हुए लिखा है कि—कृति, वेदना आदि चौबीस अनुयोगद्वारोंमें बन्धन नामक जो छठा अनुयोगद्वार है वह चार प्रकार है—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्ध-विधान। उनमें बन्ध नामक अधिकारनय की अपेक्षा जीव और कर्मोंके सम्बन्धका कथन करता है। बन्धक अधिकार ग्यारह अनुयोगद्वारोंसे बन्धकोंका कथन करता है। बन्धनीय नामक अधिकार तेईस वर्गणाओंमें बन्ध योग्य और अबन्ध योग्य पुद्गल द्रव्यका कथन करता है। बन्धविधानके चार भेद है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। उनमे प्रकृतिबन्धके दो भेद है—मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तर-प्रकृतिबन्ध। मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद है—एकैकमूलप्रकृतिबन्ध और अव्वोगाढ मूलप्रकृतिबन्ध। अव्वोगाढ मूलप्रकृतिबन्धके दो भेद है—भुजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध। उनमे उत्तरप्रकृतिबन्धका समुत्कीर्तन करनेवाले चौबीस अनु-योगद्वार है। उनमेंसे एक बन्धस्वामित्व नामक अनुयोगद्वार है। उसीका नाम बन्धस्वामित्वविचय है।'

मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगोके द्वारा जो जीव और कर्मोका सम्बन्ध-विशेष होता है उसे बन्ध कहते है। और बन्धके स्वामित्वको बन्धस्वामित्व कहते है। और बन्धस्वामित्वके विचारको बन्धस्वामित्वविचय कहते है। विचय, विचा-रणा, मीमासा, परीक्षा ये सब शब्द समानार्थक है। अत. यहाँ यह विचार किया गया है कि किस-किस गुणस्थान और मार्गणास्थानमें किस-किस कर्मका बन्ध होता है। तदनुसार दूसरे सूत्रमें कहा है कि ओघकी अपेक्षा बन्धस्वामित्वविचयके विषयमें चौदह जीव समास (गुणस्थान) जानने योग्य है। और तीसरे सूत्रके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नाम बतलाये है।

चौदह गुणस्थानोके नाम जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके प्रारम्भमें आ चुके है। अत धवला टीकामें यह शका की गई है कि जीवसमास तो पहले ही हमने जान लिये है फिर यहाँ उनका कथन क्यो किया है? इसका समाधान करते हुए धवला-कारने कहा है—विस्मरणशील शिष्योके स्मरण करानेके लिये पुन कथन किया है। किन्तु सूत्रकारने प्रत्येक खण्डको यथासभव स्वतत्र ग्रन्थके रूपमे निबद्ध किया है, ऐसा प्रतीत होता है। तथा उनका यह भी आशय रहा है कि जहाँ तक सम्भव हो कोई बात अस्पष्ट न रहे। इससे भी उन्होने पुनरुक्तिका दोष नही माना है।

चौथे सूत्रमें कहा है कि इन चौदह जीवसमासोके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका कथन करना चाहिये।

किसी कर्मप्रकृतिके बन्धके रुकनेको प्रकृतिबन्धव्युच्छेद कहते है। सूत्रका

अभिप्राय यह है कि किस-किस गुणस्थानमें कौन-कौन कर्म बन्धते है और आगे नही बँधते, यह कथन करते है ।

इसपर सूत्र ४ की धवलाटीकामें यह शका उठाई है कि यदि इसमें जीवसमासोके प्रकृतिबन्धव्युच्छेदका ही कथन करना है, तो इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम कैसे घटित होगा। समाधानमे कहा गया है कि 'इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोके बन्धका विच्छेद होता है' ऐसा कहनेपर यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है कि उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोके बन्धके स्वामी है । अत इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम सार्थक है ।

सूत्र ५मे कहा है—'पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यश कीर्ति, उच्चगोत्र और पाच अन्तराय, इन कर्मोका कौन बन्धक है, कौन अबन्धक है ।' सूत्र ६ में उत्तर दिया गया है—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसाम्परायिकसयत तक उक्त प्रकृतियोके बन्धक है । अत दसवें गुणस्थान तकके जीव उक्त कर्मोके बन्धक है, शेष अबन्धक है । इस तरह कर्मप्रकृतियोका निर्देश करते हुए पहले प्रश्न किया गया है और आगे उसका उत्तर दिया गया है कि अमुक कर्मोके बन्धक अमुक गुणस्थान वाले जीव है ।

इसप्रकार प्रारम्भके ४२ सूत्रोमें तो गुणस्थानोके अनुसार बन्ध और अबन्धका कथन है । तत्पश्चात् मार्गणाओके अनुसार कथन है ।

सूत्र ३९में यह प्रश्न किया गया है कि कितने कारणोसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मको बाँधते है ? सूत्र ४०में उत्तर दिया गया है कि इन सोलह कारणोसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मको बाँधते है । और सूत्र ४१में उन १६ कारणोके नाम बतलाये है जो इसप्रकार है—

१ दर्शनविशुद्धता[1], २ विनयसम्पन्नता, ३. शीलव्रतोमें निरतिचारता, ४ छह आवश्यकोमें अपरिहीनता, ५ क्षणलवप्रतिबोधनता, ६ लब्धिसवेगसम्पन्नता, ७ यथाशक्ति तप, ८ साधुओकी प्रासुकपरित्यागता, ९ साधुओकी समाधिसधारणा, १० साधुओकी वैयावृत्ययोगयुक्तता, ११ अरहतभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति, १४ प्रवचनवत्सलता, १५ प्रवचनप्रभावना,

१. 'दसणविसुज्झदाए विणयसपण्णदाए सीलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलवपडिबुज्झणदाए लद्धिसवेगसपण्णदाए जधाथामे तधा तवे साहूण पासुअपरिचागदाए साहूण समाहिसधारणाए साहूण वेज्जावच्चजोगजुत्तदाए अरहतभत्तीए बहुसुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिक्खण अभिक्खण णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोद कम्म बधति ॥ ४१ ॥—षट्ख०, पु० ८, पृ० ७९ ।

१६. अभीक्ष्णअभीक्ष्णज्ञानोपयोगयुक्तता। इन सोलह कारणोसे जीव तीर्थंकरनामगोत्रकर्मको बाँधते है।

तत्वार्थसूत्रमें[1] जो तीर्थकरनामकर्मके बन्धके सोलह कारण बतलाये है, उनमें इनसे कुछ अन्तर है। यहाँ 'साधुओकी प्रासुक परित्यागता है, तत्त्वार्थसूत्रमें 'शक्ति अनुसार त्याग' है। इन दोनोका आशय मिलता हुआ है। किन्तु यहाँ 'लब्धिसवेगसम्पन्नता' है, त० सू० में आचार्यभक्ति है। शेष चौदह कारण समान है। इन दोनोमें कोई मेल नही है।

किन्तु श्वेताम्बरीय ज्ञाता[2] धर्मकथा नामक आठवे अगमें २० कारण बतलाये है—१ अरहत, २ सिद्ध, ३ प्रवचन, ४ गुरु, ५ स्थविर, ६ बहुश्रुत और ७ तपस्वियोमें वत्सलता, ८ अभीक्ष्णज्ञानोपयोग, ९. दर्शन, १० विनय, ११. आवश्यक, १२. निरतिचार शीलव्रत, १३ क्षणलव, १४ तप, १५ त्याग, १६ वैयावृत्य, १७ समाधि, १८ अपूर्व ज्ञानग्रहण, १९ श्रुतभक्ति, २० प्रवचनप्रभावना।

इस अन्तरके सम्बन्धमें विशेष चर्चा तत्त्वार्थसूत्र सम्बन्धी प्रकरणमें की जायेगी।

बन्धस्वामित्वविचयकी सूत्रसख्या ३२४ है।

श्वेताम्बर परम्पराके तीसरे कर्मग्रन्थका नाम बन्धस्वामित्व है। कर्मग्रन्थ प्राचीन और नवीनके भेदसे दो प्रकारके है। दोनोका विषय प्राय समान है। प्राचीनमे विषय-वर्णन थोडा विस्तृत है। तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थकी गाथासख्या ५४ है जबकि नवीनकी गाथासख्या २५ है। प्राचीनमे गति आदि मार्गणाओमे गुणस्थानोकी सख्याका निर्देश अलगसे करके तब बन्धस्वामित्वका कथन है किन्तु नवीनमें ऐसा नही किया है। उसमें जो मार्गणाओके आश्रयसे गुणस्थानोमें बन्धस्वामित्वका कथन दिखाया, उससे मार्गणाओमें गुणस्थानोकी सख्याका बोध हो जाता है।

---

१ 'दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकरत्वस्य ॥'—त० सू०, ६।२४।

२ 'अरहतसिद्धपवयणगुरुथेरबहुस्सुएसु वच्छलयाय तवस्सी तेसिं अभिक्खणाणोयओगे य ॥
दसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयार। खणलव तव च्चियाए वेयावच्चे समाही य ॥
अपुव्वणाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पभावणया। एएहि कारणेहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥
—ज्ञा० ध०, अ० ८, सू० ६४

पट्खण्डागममें गतिके आश्रयमे प्रकृतियोका निर्देश करके यह बतलाया है कि इन प्रकृतियोका बध अमुक गुणस्थानवाले करते है। जैसे—आदेशसे[1] गतिके अनुवादसे नरकगतिमें नारकियोमे अमुक प्रकृतियोका (७० प्रकृतियोके नाम गिनाये है। कौन वन्धक हैं और कौन अवन्धक है? मिथ्यादृष्टिमे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि तक बन्धक हैं। निद्रानिद्रा आदि (२५ प्रकृतियोके नाम गिनाये हैं) का कौन वधक है, कौन अवधक है? मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि बन्धक है, शेप अवन्धक है। मिथ्यात्व आदि ४ का कौन वधक हैं और कौन अवधक है? मिथ्यादृष्टि बन्धक है, शेष अवन्धक है। मनुष्यायुका कौन वन्धक है और कौन अवन्धक है? मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि वन्धक है, शेष अवन्धक हैं। तीर्थंकरनामकर्मका कौन वन्धक है और कौन अवन्धक है? असयतसम्यग्दृष्टि वन्धक है, शेष अवन्धक है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामान्यसे नरकगतिमें वन्धयोग्य प्रकृतियाँ ७० + २५ + ४ + १ + १ = १०१ है। उनमेंसे मिथ्यात्वगुणस्थानमें १०० ही बन्धयोग्य हैं, तीर्थंकर वन्धयोग्य नही है। तथा १००मेंसे सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें ९६ ही वन्धयोग्य है, मिथ्यात्वादि चारका वन्ध केवल मिथ्यादृष्टिके ही होता है। तथा नरकगतिमे चार ही गुणस्थान होते है। इन सब फलितार्थोके अनुसार कर्मग्रन्थमे[2] कथन किया है कि नारकी सामान्यसे १०१ कर्मप्रकृतियोको बाँधते है। किन्तु पहले गुणस्थानमें वर्तमान नारकी १०१ मेंसे तीर्थंकरके बिना १०० कर्मप्रकृतियोको बाँधता है और सासादनगुणस्थानमें वर्तमान नारकी उनमेंसे ४ प्रकृतियोको छोडकर ९६ को ही बाँधता है

इसी तरह इस तीसरे खण्डके प्रारम्भमें सामान्यसे प्रकृतियोका नाम निर्देश करके उनके वन्धक और अवन्धक गुणस्थानोका निर्देश किया है। उससे यह फलित होता है कि अमुक गुणस्थानमें इतनी कर्मप्रकृतियाँ वन्धयोग्य है। तदनुसार दूसरे कर्मग्रन्थमें गुणस्थानोमें वन्धयोग्य प्रकृतियोका निर्देश किया है।

अतः गुणस्थान और मार्गणास्थानोमें जो कर्मप्रकृतियोके वन्धस्वामित्वका कथन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामे पाया जाता है उसका मूल बन्धस्वामित्वविचयनामक तीसरा यह खण्ड ही प्रतीत होता है क्योकि श्वेताम्बर परम्परामें भी इस विषयका निरूपक कोई अन्य आकर ग्रन्थ उपलब्ध नही है।

---

१. पट्ख० पु० ८, सूत्र ४३—४२।

२ 'सुरइगुणवीसवज्ज इगसउ ओहेण वधहि निरया। तित्थ विणा मिच्छिसय सासणि नपु चउ विणा छनुई॥ ४॥'—कर्म० ३।

४ वेदनाखण्ड

एक तरहसे चतुर्थ वेदनाखण्डसे षट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है क्योकि इसके प्रारम्भमे भूतवलीने ४४ सूत्रोसे मगलाचरण किया है। और धवलाकारने उस मंगलको शेप तीनो खण्डोका मंगलाचरण कहा है। क्योकि पाँचवें और छठे खण्डके प्रारम्भमे कोई मगल नही पाया जाता। इसी तरह—जीवट्ठाणके प्रथम अनुयोगद्वार सत्प्ररूपणाके आदिमें पुष्पदन्तने मंगलाचरण किया था। वही मगलाचरण दूसरे और तीसरे खण्डका भी मान लिया गया, क्योकि इन दोनो खण्डोके प्रारम्भमें कोई मगलाचरण नही पाया जाता। अत दोनो मगलोंको पूर्वार्ध और उत्तरार्धका मगलाचरण कहना उचित होगा।

दूसरे, जिस महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपसहार करके ये छै खण्ड रचे गये है, उसके चौवीस अनुयोगद्वारोमेंसे क्रमानुसार ही चौथे आदि खण्डोका निर्माण हुआ है और उसीके मगलसूत्रोको वेदनाखण्डके आदिमें मगलरूपसे स्थान दिया गया है। अत चतुर्थ वेदनाखण्डसे पट्खण्डागमका उत्तर भाग प्रारम्भ होता है, यह कहना उचित ही है।

इस चतुर्थ खण्डमे महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके चौवीस अनुयोगद्वारोमेंसे आदिके दो अनुयोगद्वार सक्षिप्त किये गये है। एक कृति अनुयोगद्वार और दूसरा वेदना अनुयोगद्वार इन दोनोमेंसे वेदनाका प्राधान्य होनेसे खण्डको वेदना नाम दिया गया है।

१ कृतिअनुयोगद्वार[1]—इसके प्रारम्भमें सूत्रकार भूतवलीने 'णमो जिणाण' इत्यादि ४४ सूत्रोसे मगल किया है। ठीक यही मगल 'योनिप्राभृत' ग्रन्थमें गणवरवलयमत्रके रूपमें पाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि योनिप्राभृतके कर्ता [2]आचार्य धरसेन थे और उन्होने अपने शिष्य भूतवली[3] पुष्पदन्तके लिये उसकी रचना की थी। इन मगलसूत्रोमे अन्तिम सूत्र 'णमोवड्ढमाणवुद्धरिसिस्स ॥४४॥' है। इसकी धवलाटीकामे वीरसेन स्वामीने इसे गौतमस्वामी रचित कहा है।

इसके ४५वें सूत्रमे वतलाया है कि अग्रायणीय पूर्वकी पचमवस्तुके चतुर्थप्राभृतका नाम कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) है। उसके चौवीस अनुयोगद्वार कृति आदि है।

---

१. षट्खण्डागम, पुस्तक ९ मे मुद्रित है।

२ 'योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेन।' वृहट्टिपणि०—

३ 'इय पण्हसवणरइए भूयवली-पुप्फयतआलिहिए। कुसुमडी उवहट्टे विज्जयवियम्मि अवियारे।''—अनेकान्त, वर्ष २, पृ० ४८७ से।

कृतिका वर्णन करते हुए सूत्र ४६में कृतिके सात भेद बतलाये है—नामकृति[1], स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति ।

सूत्र ४७में प्रश्न किया गया है कि कौन नय किन कृतियोकी इच्छा करता है ? सूत्र ४८, ४९, ५०से उत्तर देते हुए कहा है कि नैगम, सग्रह, व्यवहार सब कृतियोको स्वीकार करते है । ऋजुसूत्रनय स्थापना कृतिको स्वीकार नही करता और शब्द आदि नय नामकृति और भावकृतिको स्वीकार करते है ।

सूत्र ५१से कृतिके उक्त सात भेदोका स्वरूप बतलाया है, जो इसप्रकार है—जिस जीव या अजीव किसीका 'कृति' नाम रखा जाता है वह नामकृति है ।

काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्म (वस्त्रसे निर्मित प्रतिमा), लेप्यकर्म, लपनकर्म (पर्वतको काटकर बनाई गई प्रतिमा), शैलकर्म, गृहकर्म (जिनालयोमें बनाई गई प्रतिमा), भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेड (?) कर्ममे अथवा अक्ष (पासे–शतरञ्जके मोहरे) और वराटक (कौडी) में यह कृति है' ऐसा आरोप करनेको स्थापनाकृति कहते हैं ।

द्रव्यकृतिके दो भेद है—आगमद्रव्यकृति और नोआगमद्रव्यकृति । आगमद्रव्यकृतिके नौ अर्थाधिकार है—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रन्थसम, नामसम और घोषसम । धवलाटीकामें इन सबका स्वरूप बतलाया है । जिनमेंसे कुछ इसप्रकार है—

तीर्थङ्करके मुखसे निकले बीजपदोको सूत्र कहते है । उस सूत्रसे उत्पन्न होनेके कारण गणधरदेवका श्रुतज्ञान सूत्रसम है । श्रुतज्ञानी आचार्योकी सहायताके विना ही स्वयबुद्धोको जो श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे द्वादशागका ज्ञान हो जाता है उसे अर्थसम कहते है । गणधरदेवके द्वारा रचित द्रव्यश्रुतको ग्रन्थ कहते है । उनके द्वारा बोधितबुद्धोको जो द्वादशागका ज्ञान होता है उसे ग्रन्थसम कहते हैं । द्वादशागके अनुयोगोके मध्यमें स्थित द्रव्यश्रुतज्ञानके भेदोको नाम कहते है, उससे उत्पन्न होनेके कारण शेष आचार्योमें स्थित श्रुतज्ञान नामसम है ।

इस आगमके नौ अर्थाधिकारोमें जो उपयोग है उसके भेद सूत्र ५५में बतलाये है । वे है—वाचना, पृच्छना, पृतीच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षणा, स्तव, स्तुति, धर्मकथा वगैरह ।

सूत्र ६६में गणनाकृतिके अनेक भेद बतलाये है—एक सख्या नोकृति है, दो सख्या न कृति है और न नोकृति । तीनसे लेकर सख्यात, असख्यात, अनन्त, राशियाँ कृति है ।

१ 'कदि त्ति सत्तविहा कदी–णामकदी, ठवणकदी, दव्वकदी गणणकदी गथकदी करणकदी भावकदी चेदि ॥४६॥

धवलाटीकामें इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि जिस राशिके वर्गमें उसकी मूल राशिको घटा देने पर जो शेष रहे उसका वर्ग करने पर वृद्धिको प्राप्त हो उसे कृति कहते हैं। जैसे तीनके वर्ग नौमेंसे तीनको घटा देने पर छै शेष रहते हैं उसका वर्ग ३६ होता है अत तीन राशि कृति है। एक राशिका वर्ग करने पर भी एक ही लब्ध आता है, राशि बढ़ती नही और उसमेंसे मूलराशि एकको घटा देने पर कुछ भी शेष नही रहता। अतः एक राशि नोकृति है। दो का वर्ग करने पर राशि बढ जाती है, इसलिये दोको नोकृति नही कह सकते। और चूँकि उसके वर्ग ४ मेंसे उसके मूल दोको घटाने पर दो शेष रहते हैं और उसका वर्ग करने पर चार ही होते हैं—राशि बढती नही, अत दोको कृति भी नही कह सकते।

सूत्र ६७में ग्रन्थकृतिका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—लोकमें[1], वेदमें, समयमे शब्दप्रबन्धरूप अक्षरकाव्यादिकी जो ग्रन्थरचना की जाती है उसे ग्रन्थकृति कहते हैं। सब कृतियोका स्वरूप बतलानेके बाद सूत्रकारने यह प्रश्न किया है कि इन कृतियोमेंसे कौन-सी कृतिसे यहाँ प्रयोजन है। और उसका उत्तर दिया है कि गणनाकृतिसे यहाँ प्रयोजन है। इसकी व्याख्यामे धवलाकारने लिखा है कि गणनाको जाने बिना शेष अनुयोगद्वारोका कथन नही हो सकता।

इस कृति अनुयोगद्वारमे ७६ सूत्र हैं।

कृति अनुयोगद्वार और श्वेताम्बरी अनुयोगद्वारकी निरूपणशैलीमें बहुत कुछ समानता है। कृति अनुयोगद्वारमें कृतिके सात भेद किये हैं और अनुयोगद्वारसूत्रमें आवश्यककी चर्चा होनेसे आवश्यकके चार भेद किये हैं। नामआवश्यक स्थापनाआवश्यक, द्रव्यावश्यक और भावावश्यक। कृतिके सात भेदोमें भी नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति और भावकृति ये चार भेद हैं। इन चारो भेदोके स्वरूपबोधक सूत्रोमें कितनी समानता है, यह दोनो ग्रन्थोके सूत्रोके मिलानसे स्पष्ट हो जाता है।

१ 'जा सा णामकदी णाम सा जीवस्स वा अजीवस्स वा, जीवाण वा, अजीवाण वा, जीवस्स च अजीवस्स च, जीवस्स च अजीवाण च, जीवाण च अजीवस्स [च], जीवाण च अजीवाण च ॥ ५१ ॥'—षट्ख०, पु० ९, पृ० २४६।

१ 'से कि त नामावस्सयं ? जस्स ण जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाण वा अजीवाण वा तदुभयस्स वा तदुभयाण वा आवस्सएत्ति नाम कज्जइ से त नामावस्सय ॥ ९ ॥'—अनु० सू०।

---

१ 'जा सा गथकदी णाम सा लोए वेदे समए सद्दपबधणा अक्खरकव्वादीण जा च गथ रयणा कीरये सा सव्वा गथकदी णाम ॥ ६७ ॥—पु० ९, पृ० ३२१।

कृतिमें आठो भंगोका निर्देश किया गया है, किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें छहका निर्देश किया है। किन्तु उनमें शेष दो भी गर्भित है।

स्थापनाका लक्षण लीजिये—

२ 'जा सा ठवणकदी णाम सा कट्ठकम्मेसु वा चित्तकम्मेसु वा, पोत्तकम्मेसु लेप्पकम्मेसु वा लेण्णकम्मेसु वा सेलकम्मेसु वा गिहकम्मेसु वा भित्तिकम्मेसु वा दंतकम्मेसु वा भेंडकम्मेसु वा अक्खो वा वराडओ वा जे चामण्णे एवमादिया ठवणाए ठविज्जंति कदि त्ति सा सव्वा ठवणकदी णाम ॥५२॥'—षट्ख, पु० ९, पृ० २४८।

२ 'से किं त ठवणावस्सयं ? जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा गथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा सघाइमे वा अक्खे वा वराडए वा एगो वा अणेगो वा सब्भावठवणा वा असब्भावठवणा वा आवस्सएति ठवणा ठविज्जइ से त ठवणावस्सय ॥ १० ॥'—अनु० सू०।

३ जा सा आगमदो दव्वकदी णाम तिस्से इमे अट्ठाहियारा भवंति—ट्ठिद जिद परिजिद वायणोपगद सुत्तसम अत्थसम गथसमं णामसम घोससम ॥५४॥ जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेक्खा वा थयथुइ धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया ॥ ५५ ॥''—षट्ख० पु० ९, पृ० २५१, २६२।

३ से किं त आगमओ दव्वावस्सय ? जस्स ण आवस्सए त्ति पद सिक्खित ठित जित मित परिजित नामसम घोससम गुरुवायणोवगय, से ण तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए अणुप्पेहाए, कम्हा ? अणुवओगे दव्वमिति कट्टु ॥ १३ ॥ अनु० सू०।

यद्यपि दोनोके उक्त उद्धरणोमें कुछ अन्तर भी है। किन्तु जो समानता है वह उल्लेखनीय है।

दोनोकी द्रव्यनिक्षेपमें नययोजना भी दृष्टव्य है—

४ 'णेगमववहाराणमेगो अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५६ ॥ सगहणयस्स एयो वा अणेया वा अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५७ ॥ उजुसुदस्स एओ अणुवजुत्तो आगमदो दव्वकदी ॥ ५८ ॥ सद्दणयस्स अवत्तव्व ॥ ५९ ॥ सा सव्वा आगमदो दव्वकदी णाम ॥ ६० ॥'—षट्खं०, पु० ९, पृ० २६४–२६६।

४ ''नेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगं दव्वावस्सय दोण्णि अणुवउत्ता आगमओ दोण्णि दव्वावस्सयाइ तिण्णि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वावस्सयाइं एव जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइयाइं दव्वावस्सयाइ, एवमेव

ववहारस्सवि। सगहस्स ण एगो वा अणेगो वा अणुवउत्तो वा अणुवउत्ता वा आगमओ दव्वास्सयं दव्वावस्सयाणि वा से एगे दव्वावस्सए। उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एग दव्वावस्सय पुहत्तं नेच्छइ। तिण्ह सद्दनयाण जाणए अणुवउत्ते अवत्थु, कम्हा? जइ जाणए अणुवउत्ते न भवति, जइ अणुवउत्ते जाणए ण भवति, तम्हा णत्थि आगमओ दव्वावस्सयं। से त आगमओ दव्वावस्सय ॥ १४ ॥'—अनु० सू०।

दोनो नययोजनाओमें कोई अन्तर नही है। कृतिका वर्णन सक्षिप्त है और अनुयोगद्वारका विस्तृत है।

इस साम्यसे केवल यही प्रकट होता है कि जैन आगमिक शैली यही थी। अनुयोगोके प्रारम्भमें निक्षेप और निक्षेपोमे नययोजना होना आवश्यक था। और उसको लेकर विपयगत और शब्दगत साम्य था। किन्तु श्वेताम्वरीय आगमोमें इस शैलीके दर्शन नही होते। सम्भव है यह शैली पूर्वोंसे सम्बद्ध हो, क्योकि अनुयोग पूर्वगत श्रुतके भेद है।

२ वेदना अनुयोगद्वार—वेदना अधिकारमें १६ अनुयोगद्वार है—वेदनानिक्षेप, वेदनानयविभाषणता, वेदतानामविधान, वेदनद्रव्यविधान, वेदनक्षेत्रविधान, वेदनकालविधान, वेदनभावविधान, वेदनस्वामित्वविधान, वेदनवेदनविधान, वेदनगतिविधान, वेदनअनन्तरविधान, वेदनसन्निकर्पविधान, वेदनपरिमाणविधान, वेदनभागाभागविधान, और वेदनअल्पवहुत्वविधान। प्रथम सूत्रके द्वारा इन १६ अनुयोगद्वारोका निर्देश किया गया है।

१ वेदनानिक्षेप—दो सूत्रोके द्वारा वेदनामे निक्षेपोका विधान किया है। वेदनाके चार भेद है—नामवेदना, स्थापनावेदना, द्रव्यवेदना और भाववेदना। वेदनाशब्दके अनेक अर्थ है। उनमेसे अप्रकृत अर्थका निराकरण करके प्रकृत अर्थको बतलानेके लिए यह अनुयोगद्वार है।

२ वेदनानयविभाषणता—सब व्यवहार नयाधीन है। अत नामादि निक्षेपगत व्यवहार किस नयके अधीन है, यह इस अनुयोगद्वारमें वतलाया है। अर्थात् आगमिक शैलीके अनुसार चार सूत्रोके द्वारा निक्षेपोमें नययोजनाका कथन है। वेदनासे यहाँ बन्ध, उदय और सत्त्वरूप द्रव्यकर्मकी वेदना ली गई है।

३ वेदनानामविधान—बन्ध, उदय और सत्त्वरूपसे जो कर्मपुद्‌गल जीवमें स्थित है उनमें किस-किस नयका कहाँ-कहाँ कैसा प्रयोग होता है इसके लिये यह वेदनानामविधान अधिकार है। कर्मके आठ भेद है, अत आठो कर्मोकी वेदनाके अनुसार वेदना भी आठ रूप है। सग्रहनयकी अपेक्षा आठो कर्मोकी एक वेदना है क्योकि सग्रहनय अनेकोको एकरूपसे ग्रहण करता है। और ऋजुसूत्रनय वर्तमान

पर्यायको ही ग्रहण करता है, अत चूँकि वेदनाका अर्थ सुख-दु ख लोकमें लिया जाता है और वे सुख-दु ख वेदनीयकर्मके सिवाय अन्य कर्मद्रव्योसे उत्पन्न नही होते। अत उदयागत वेदनीयकर्म ही ऋजुसूत्रनयसे वेदना है। इसमें भी ४ सूत्र है।

४. वेदनाद्रव्यविधान—वेदनारूप द्रव्यके विधान अर्थात् भेद उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य आदि अनेक है। उनका इस अनुयोगमें कथन है। इस अनुयोगद्वारके अन्तर्गत तीन अनुयोगद्वार है—पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमासामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयद्रव्यवेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है और अजघन्य भी है। सूत्रको देशामर्पक मानकर धवलाकारने सादि, अनादि आदि अन्य भी नौ पदोकी योजना की है। तथा बतलाया है कि सप्तम पृथिवीके गुणितकर्माशिक नारकीके अन्तिम समयमे उत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अत ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी है और उक्त नारकीके सिवाय अन्यत्र सर्वत्र उसका अनुत्कृष्ट द्रव्य पाया जाता है, अत अनुत्कृष्ट भी है। क्षपित कर्माशिक जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें उसका जघन्यद्रव्य पाया जाता है, अत ज्ञानावरणीयवेदना जघन्य भी है और उक्त जीवके बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको छोडकर अजघन्यद्रव्य पाया जाता है, अत अजघन्य भी है। शेष सातो कर्मोमें भी इसी प्रकार जानना चाहिये।

स्वामित्व अनुयोगद्वारमें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोके उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट आदि पद किन-किन जीवोमें किस प्रकारसे सम्भव है, इस तरह उनके स्वामियोका कथन बहुत विस्तारसे किया है। और अल्पबहुत्वमें ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोको जघन्य उत्कृष्ट और जघन्य उत्कृष्ट वेदनाओके अल्पबहुत्वका प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोके पश्चात् वेदनाद्रव्यविधानकी चूलिका आती है। इसके आरम्भिक सूत्रमें चूलिकाकी उपयोगिता अथवा विपयका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि उत्कृष्ट स्वामित्वका कथन करते हुए कहा है कि 'बहुत-बहुत बार उत्कृष्ट योगस्थानोको प्राप्त करना है और जघन्य स्वामित्वका भी कथन करते हुए कहा है कि बहुत-बहुत बार जघन्य योगस्थानोको प्राप्त होता है। इन दोनो ही सूत्रोका अर्थ भलीभाँति अवगत नही हो सका। इसलिए दोनो ही सूत्रोका निश्चय करानेके लिए योगविषयक अल्पबहुत्व और प्रदेशविषयक अल्पबहुत्वका कथन किया जाता है। यथा—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग सबसे थोडा है ॥१४५॥ बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग उससे असख्यात गुणा है ॥१४६॥ उससे दो इन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग असख्यात गुणा है ॥ १४७॥ उससे तेइन्द्रिय

अपर्याप्तकका जघन्य योग असंख्यातगुणा है ॥१४८॥ उससे चौइन्द्रिय अपर्याप्तकका जघन्य योग असख्यात गुणा है ॥१४९॥ इत्यादि ।

जिस प्रकार योगविषयक अल्पवहुत्वकी प्ररूपणा की गई है, उसी प्रकार प्रदेशविषयक अल्पवहुत्वकी प्ररूपणा करनेका निर्देश सूत्रकारने किया है ।

योगस्थानकी प्ररूपणाके लिए इन दस अनुयोगद्वारोको जानने योग्य कहा है—

अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पवहुत्व ॥१७६॥ और आगे इनका कथन किया है । यथा—

एक-एक जीवप्रदेशमें असख्यातलोकप्रमाण योग-अविभागप्रतिच्छेद होते है ॥१७८॥ असख्यातलोकप्रमाण योगअविभागप्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है ॥१८०॥ असख्यात वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है ॥१८२॥ इस प्रकार एक योगस्थानमें श्रेणिके असख्यातवें भाग मात्र स्पर्धक होते है ॥१८३॥ (दूसरे शब्दोमे) श्रेणिके असख्यातवें भाग स्पर्धकोका एक जघन्य योगस्थान होता है ॥१८६॥

अनन्तरोपनिधाके अनुसार जघन्य योगस्थानमें थोडे स्पर्धक है ॥१८८॥ दूसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक है ॥१८९॥ तीसरे योगस्थानमें स्पर्धक विशेष अधिक है ॥१९०॥ इस प्रकार उत्कृष्ट योगस्थानपर्यन्त उत्तरोत्तर विशेष अधिक स्पर्धक होते गये है ॥१०१॥

समयप्ररूपणाके अनुसार चार समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भागमात्र है ॥१९७॥ पाँच समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भाग है ॥१९८॥ इसी तरह छै समय, सात समय और आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान श्रेणिके असख्यातवें भाग है ॥१९९॥

अल्पवहुत्वके अनुसार आठ समय तक रहनेवाले योगस्थान सबसे थोडे है ॥२०६॥ सात समय तक होनेवाले योगस्थान उनसे असख्यातगुणे है । इसी तरह क्रमश ६, ५, ४ आदि समय तक होनेवाले योगस्थान उत्तरोत्तर असख्यातगुणे जानना चाहिये ।

वेदनाद्रव्यविधानके अन्तिम सूत्रमें कहा है कि जो योगस्थान है वे ही प्रदेशबन्धस्थान है । अर्थात् प्रदेशबन्धके कारण योगस्थान ही है । जैसा उत्कृष्ट या जघन्य योगस्थान होता है तदनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोका उत्कृष्ट या जघन्य प्रदेशवन्ध होता है । और प्रदेशवन्धके अनुसार ही ज्ञानावरणादि कर्मोकी उत्कृष्ट या जघन्य द्रव्यवेदना होती है । इसीसे वेदनामें योगस्थान और उनके अवयवो—वर्गणा आदिका कथन किया गया है ।

योग जीवकी एक शक्तिविशेष है, जो कर्मोके आगमनमें कारण होती है। शक्तिके अविभागी अंशको अविभागीप्रतिच्छेद कहते हैं और उनके समूहको वर्गणा, वर्गणाके समूहको स्पर्धक कहते हैं।

५ वेदनाक्षेत्रविधान—आठो कर्मोके द्रव्यकी वेदना संज्ञा है। वेदनाके क्षेत्रको वेदनाक्षेत्र और उसके विधानको वेदनाक्षेत्रविधान कहते है। इसमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं।

पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पवहुत्व।

वेदनाद्रव्यविधानकी ही तरह वेदनाक्षेत्रविधानका भी कथन किया गया है। पदमीमासामें बतलाया है कि ज्ञानावरणीयकर्मकी क्षेत्रकी अपेक्षा वेदना उत्कृष्ट भी है, अनुत्कृष्ट भी है, जघन्य भी है, और अजघन्य भी है। इसीप्रकार सातो कर्मोको जानना।

स्वामित्वके दो प्रकार है जघन्यपदरूप और उत्कृष्टपदरूप। स्वामित्वसे उत्कृष्टपदमें ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट किसके है ॥७॥ इस प्रश्नका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है—'एक हजार योजनकी अवगाहना वाला जो मत्स्य स्वयभुरमण समुद्रके बाह्य तट पर स्थित है ॥८॥ वह वेदना-समुद्घातसे समुद्घातको प्राप्त हुआ और तनुवातवलयको उसने स्पृष्ट किया है। फिर तीन मोडोके साथ वह मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त हुआ। अनन्तर समयमे वह सातवें नरकमें उत्पन्न होगा। उसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है। क्यो होती है, इसका समाधान धवलाटीकामें किया गया है।

इसी तरह ज्ञानावरणकी क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य वेदना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्य-पर्याप्तक जीवके बतलाई है।

अल्पबहुत्वमें भी तीन अनुयोगद्वार कहे है—जघन्यपद, उत्कृष्टपद और जघन्य-उत्कृष्टपद। और उनके द्वारा आठो कर्मोकी उक्त वेदनाओके अल्पबहुत्व-की प्ररूपणा की है।

६ वेदनाकालविधान[1]—इसमें भी पूर्ववत् तीन अनुयोगद्वार है। पदमीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व। पदमीमासामें ज्ञानावरणीय आदि कर्मोकी वेदना कालकी अपेक्षा उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य बतलाई है।

स्वामित्वमें, ज्ञानावरणादि कर्मोकी उत्कृष्ट आदि वेदना कालकी अपेक्षा किस-के होती है, यह पूर्ववत् बतलाया है। तथा ज्ञानावरणीयकी उत्कृष्ट वेदना कालकी अपेक्षा सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवके बतलाई है और वह सज्ञी पञ्चेन्द्रिय कैसा होना चाहिये, उसका विस्तारसे कथन किया है। इसी तरह आठो कर्मोकी वेदनाके

---

१. षट्खं, पु० ११, पृ० ७५ से।

सभी कर्मोके प्रदेशाग्रके निक्षेपणका यही क्रम है। सूत्रकारने मोहनीय, आयु आदिके भी प्रदेशाग्रोके निक्षेपणका कथन इमी प्रकार किया है। उक्त कर्मोसे मोहनीय और आयु कर्मकी स्थिति और आवाधामें अन्तर होनेसे ही उनका पृथक् कथन किया है।

आवाधाकाण्डकप्ररूपणा—'अवाधकंदयपरूवणदाए' ॥१२१॥ सूत्रकी धवला-टीकामें यह शका की गई है कि आवाधाकाण्डकप्ररूपणा किस लिये की गई है? ममाधानमे कहा गया है कि सब स्थितिवन्धस्थानोंमें एक ही आवाधा होती है या भिन्न-भिन्न आवाधा होती है, यह बतलानेके लिये आवाधाकाण्डकप्ररूपणा की गई है। यथा—

'सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय, तेइन्द्रिय, दोइन्द्रिय, वादर और सूक्ष्म एके-न्द्रिय, इन पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोके आयुको छोडकर शेप सात कर्मोकी उत्कृष्ट स्थितिमे समय समयमें पल्योपमके असख्यातवें भाग नीचे उतर कर एक आवाधा-काण्डकको करता है। यह क्रम जघन्य स्थिति तक है॥१२२॥

आशय यह है कि उत्कृष्ट आवाधाके अन्तिम समयको पकडनेपर उत्कृष्ट स्थितिसे पल्योपमके असख्यातवें भाग मात्र नीचे उतरकर एक आवाधाकाण्डकको करता है। अर्थात् आवाधाके अन्तिम समयको पकडकर उत्कृष्ट स्थितिको बाँधता है, उससे एक समय कम स्थितिको बांधता है, दो समय कम स्थितिको बांधता है। इस प्रकार पल्योपमके असख्यातवें भाग कम स्थिति तक ले जाना चाहिये। इस तरह आवाधाके अन्तिम समयमें वन्धयोग्य स्थितिविकल्पोंको एक आवाधाकाण्डक कहते है। आवाधाके उपान्त्य समयको पकडकर भी इसी प्रकार दूसरे आवाधा-काण्डकका कथन करना चाहिये। आवाधाके त्रिचरम समयको पकडकर तीसरे आवाधाकाण्डककी प्ररूपणा करना चाहिये। जघन्य स्थिति तक यही क्रम जानना चाहिये।

अल्पवहुत्वमें[२]—सूत्रकारद्वारा चौदह जीवसमासोमें ज्ञानावरणादि सात कर्मो तथा आयुकर्मकी जघन्य व उत्कृष्ट आवाधा, आवाधा स्थान, आवाधाकाण्डक, नाना प्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणस्थानान्तर, जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिवन्ध तथा स्थितिवन्धस्थान इन सवके अल्पवहुत्वकी प्ररूपणा विस्तारमे की गई है। यथा—

सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और अपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि जीवोके आयुको छोडकर

---

१ पु० ११, पृ० २६६।

२ पु० ११, पृ० २७०

शेष सात कर्मोंकी जघन्य आबाधा सबसे थोड़ी है ॥१२४॥ आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों ही समान संख्यातगुणे हैं ॥१२५॥

उत्कृष्ट आबाधामेंसे एक समय कम जघन्य आबाधा तक जितने आबाधास्थानोंकी उत्पत्ति होती है। अतः चूँकि जघन्य आबाधासे उत्कृष्ट आबाधा संख्यातगुणी है इसलिये आबाधास्थान भी उससे संख्यातगुणे हैं। और क्योंकि एक-एक आबाधास्थानसम्बन्धी जो पल्योपमके असंख्यातवें भाग मात्र स्थितिबन्धस्थान हैं उनकी आबाधाकाण्डक संज्ञा है। इसलिये आबाधास्थान और आबाधाकाण्डक दोनों समान हैं। इस सूत्रमें अल्पबहुत्वका निर्देश किया गया है।

दूसरी चूलिकामें—स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानोंकी प्ररूपणा तीन अनुयोगोंके द्वारा की गई है—

वे तीन अनुयोगद्वार हैं—जीवसमुदाहार, प्रकृतिसमुदाहार और स्थिति-समुदाहार।

स्थितिबन्धस्थानोंके कारणभूत संक्लेश-विशुद्धिस्थानोंको स्थितिबन्धाध्यवसान-स्थान कहते हैं। असातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोंको संक्लेश कहते हैं और सातावेदनीयके बन्धयोग्य परिणामोंको विशुद्धिस्थान कहते हैं। ये संक्लेश-विशुद्धिस्थान स्थितिबन्धके मूल कारण हैं। इनका वर्णन यहाँ तीन अनुयोगद्वारोंसे किया गया है।

साता और असाताकी एक एक स्थितिमें इतने जीव हैं और इतने नहीं हैं, इस बातका ज्ञान प्रथम अनुयोगद्वार जीवसमुदाहारके द्वारा कराया गया है। यथा—'ज्ञानावरणीयके बन्धक जीव दो प्रकारके हैं—सातबन्धक और असातबन्धक ॥१६६॥

सातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक।

असातबन्धकजीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुस्थानबन्धक।

आशय यह है कि साता या असातावेदनीयके बिना ज्ञानावरणीयका बन्ध नहीं होता। इसलिये ज्ञानावरणीयकर्मका बन्ध करनेवालोंके दो भेद कर दिये—सातवेद-नीयबन्धक और असातवेदनीयबन्धक। साताकी अनुभागशक्तिकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गई है। गुडके समान प्रथम भागको पहला स्थान, खाडके समान दूसरे भागको दूसरा स्थान, शक्करके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और अमृतके समान चौथे भागका चौथा स्थान कहा जाता है। इसी तरह दुःखदायी असाताके अनुभागको नीम, काजीर, विष और हालाहलकी उपमा दी

गई है। नीमके समान प्रथम भागको पहला स्थान, कांजीरके समान दूसरे भाग-को दूसरा स्थान, विषके समान तीसरे भागको तीसरा स्थान और हालाहलके समान चतुर्थ भागको चौथा स्थान कहते हैं।

जिस साता अथवा असाताके अनुभागमें अपने-अपने उक्त चारों स्थान होते हैं वह अनुभागबन्ध चतुःस्थान कहा जाता है और उसको बांधनेवाले जीव चतुःस्थान-बन्धक कहलाते हैं। इसीप्रकार त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक भी समझना चाहिये।

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध हैं ॥ १६९ ॥ त्रिस्थान-बन्धक संक्लिष्टतर (उत्कृष्ट कषायवाले) हैं ॥ १७० ॥ द्विस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं ॥ १७१ ॥

असातवेदनीयके द्विस्थानबंधक जीव सर्वविशुद्ध हैं ॥ १७२ ॥ त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर हैं ॥१७३॥ चतुःस्थानबन्धक जीव उनसे संक्लिष्टतर हैं ॥१७४॥

सातवेदनीयके चतुःस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिको बांधते हैं ॥१७५॥ साताके त्रिस्थानबन्धक जीव ज्ञानावरणीयकी मध्यम स्थितिको बांधते हैं ॥ १७६ ॥ इत्यादि कथन जीवसमुदाहारमें किया गया है।

प्रकृतिसमुदाहारमें दो अनियोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगमके अनुसार ज्ञानावरणीयके असंख्यात लोकप्रमाण स्थितिबन्धाध्यव-सायस्थान हैं। इसीप्रकार शेष सात कर्मोंकी भी प्रमाणप्ररूपणा करना चाहिये। अल्पबहुत्वके अनुसार आयुकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे कम हैं। नाम और गोत्रकर्मके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान दोनो ही तुल्य असंख्यातगुणे हैं। ज्ञाना-वरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय चारों कर्मोंके स्थितिबन्धाध्यवसाय-स्थान तुल्य हैं किन्तु नाम-गोत्रसे असंख्यातगुणे हैं। मोहनीयके स्थितिबन्धाध्यव-सायस्थान संख्यातगुणे हैं ॥ २४५ ॥

तीसरे स्थितिसमुदाहार अधिकारमें तीन अनुयोगद्वार हैं—प्रगणना, अनुकृष्टि और तीव्रमन्दता ॥ २४६ ॥

प्रगणना अनुयोगद्वार 'अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिबन्धा-ध्यवसायस्थान इतने इतने होते हैं' इसप्रकार स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है। यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ॥ २४७ ॥ द्वितीय स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं ॥ २४८ ॥ तीसरी स्थितिके स्थिति-बन्धाध्यवसायस्थान असंख्यातलोकप्रमाण हैं। इसप्रकार उत्कृष्ट स्थिति तक असंख्यातलोक असंख्यातलोक प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं ॥ २५० ॥

इसीप्रकार सातो कर्मोके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोकी प्ररूपणा करना चाहिये ॥ २५१ ॥ इत्यादि ।

अनुकृष्टि अनुयोगद्वार प्रत्येक स्थितिके स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानोकी समानता व असमानताको बतलाता है । यथा—ज्ञानावरणीयकी जघन्य स्थितिमें जो स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान हैं द्वितीय स्थितिमें वे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान भी हैं और अपूर्व भी हैं ।

तीव्र-मन्दता अनुयोगद्वार जघन्य व उत्कृष्ट परिणामोके अविभागी प्रतिच्छेदोके अल्पबहुत्वकी प्ररूपणा करता है । यथा—ज्ञानावरणीयका जघन्यस्थितिसम्बन्धी जघन्यस्थितिबन्धाध्यवसायस्थान सबसे मन्द अनुभागवाला है ॥ २७२ ॥ उसीका उत्कृष्ट स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान अनन्तगुणा है ॥ २७३ ॥ इत्यादि ।

७. वेदनाभावविधान[1]—चौथे वेदनानामक खण्डके वेदनाभावविधाननामक सप्तम अधिकारमें भी तीन अनुयोगद्वार हैं—पदमीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व । पदोकी मीमांसाको पदमीमांसा कहते हैं । यह पहला अनुयोगद्वार है । स्वामित्वसे यहाँ कर्मभावके स्वामित्वका ग्रहण किया गया है । यह दूसरा अनुयोगद्वार है । अल्पबहुत्वसे भी यहाँ कर्मभावके अल्पबहुत्वका ही ग्रहण किया गया है । यह तीसरा अनुयोगद्वार है ।

पदमीमांसामे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोकी उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य भाववेदनाओका विचार किया गया है । यथा—ज्ञानावरणीयवेदना उत्कृष्ट भी होती है, अनुत्कृष्ट भी होती है, जघन्य भी होती है और अजघन्य भी होती है । इसी प्रकार शेष सातो कर्मोकी भी जाननी चाहिये ।

स्वामित्वमें उत्कृष्ट आदि चार पदोकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय आदि कर्मोकी भाववेदनाके स्वामीका कथन किया है । यथा—भावमें ज्ञानावरणीयकर्मकी उत्कृष्ट वेदना किसके होती है ? पञ्चेन्द्रिय सज्ञी मिथ्यादृष्टि, सब पर्याप्तियोसे पर्याप्त अवस्थाको प्राप्त, साकार उपयोगसे युक्त, जागृत और नियामसे उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त जीवके द्वारा बाँधे गये उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व जिस जीवके होता है उसके ज्ञानावरणीय वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । चूँकि उक्त उत्कृष्ट अनुभागका सत्त्व एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, सज्ञी और असज्ञी, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थाको प्राप्त जीव जीवोके यथायोग्य चारो गतियोमेंसे किसी भी एक गतिमें वर्तमान रहते हुए होता है अतएव उक्त जीवके ज्ञानावरणीयकी वेदना भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है । इसी प्रकारसे आठो कर्मोकी उत्कृष्ट आदि वेदनाओके स्वामित्वका कथन किया गया है ।

---

१ षट्खं०, पु० १२ में ।

अल्पबहुत्वमें जघन्य, उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट पदोके द्वारा पहले आठो मूल-कर्मोके आश्रयसे अल्पबहुत्वका विचार किया है। फिर उत्तरप्रकृतियोके आश्रयसे अनुभागके अल्पबहुत्वका कथन किया गया है।

इस कथनमे उल्लेखनीय बात यह है कि पहले गाथासूत्रोके द्वारा कथन किया गया है फिर गाथासूत्रोमे प्रतिपादित कथनको गद्यात्मक सूत्रोके द्वारा कहा गया है। धवलाटीकामे इन गाथासूत्रोके आधारपर रचे गये गद्यात्मक सूत्रोको चूर्णिसूत्र नाम दिया है। कसायपाहुडकी गाथाओके ऊपर यतिवृषभ द्वारा रचे गये चूर्णिसूत्रोकी तरह ही उन्हे यह सज्ञा दी गई है। ये गाथासूत्र छै है और तीन-तीनकी सख्यामें दो बार आये है। अर्थात् पहले तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये है और पुन तीन गाथाएँ देकर उनपर चूर्णिसूत्र दिये गये है।

ये गाथाएँ प्रचीन प्रतीत होती है, इसीसे उन्हे ज्यो-का-त्यो देकर भूतबलीने अपने सूत्रोके द्वारा उनमें कथित विपयका प्रतिपादन किया है।

अल्पबहुत्वानुगमके पश्चात् तीन चूलिकाएँ है।

प्रथमचूलिकाके प्रारम्भमें ये दो गाथाएँ है—

'सम्मत्तुप्पत्ती[1] वि य सावय विरदे अणतकम्मसे।
दसणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसते॥ ७॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो सखेज्जगुणा य सेडीओ॥ ८॥

'सम्यक्त्वोत्पत्ति अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत (महाव्रती), अनन्तानुबन्धी कषायका विसयोजन करनेवाला, दर्शनमोहका क्षपक, चारित्रमोहका उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थानजिन और योगनिरोधमें प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानोमे उत्तरोत्तर असख्यात गुणी निर्जरा होती है। परन्तु निर्जराका काल उससे विपरीत है अर्थात् अन्तसे आदिकी ओर बढता हुआ सख्यात गुणित श्रेणिरूप है।

इन दोनो गाथाओको देकर सूत्रकारने गद्यसूत्रके द्वारा गाथोक्त विपयका प्रतिपादन किया है।

ये दोनो गाथाएँ दिगम्बर[2] तथा श्वेताम्बर साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती है किन्तु इनकी सबसे प्राचीन उपलब्धि पट्खण्डागममें ही पाई जाती है क्योकि अन्य जिन ग्रन्थोमें ये दोनो गाथाएँ पाई जाती है उन सबमें कर्मप्रकृति[3] प्राचीन

१ पट्ख०, पु० १२, पृ० ७८।

२ कार्ति० अनु०, गा०, गो० जी० का० गा०।

३ 'सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए सजोयणाविणासे य। दसणमोहक्खवगे कसायउवसामगुव-

है। किन्तु कर्मप्रकृति षट्खण्डागमसे अर्वाचीन है और उसमें थोड़ा-सा शब्द-भेद भी है। उन्हीं गाथाओंके आधारसे तत्त्वार्थसूत्रमें[1] भी एक सूत्र द्वारा उक्त विषयका प्रतिपादन किया गया है। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टिसे भी उक्त दोनों गाथाओंकी स्थिति उल्लेखनीय है।

दूसरी चूलिका

दूसरी चूलिकामें[2] अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानकी प्ररूपणा बारह अनुयोग-द्वारोंके द्वारा की गई है। वे बारह अनुयोगद्वार इस प्रकार हैं – अविभागीप्रति-च्छेदप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, ओजयुग्मप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधस्तनस्थानप्ररूपणा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्य-प्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा और अल्पबहुत्व प्ररूपणा ॥१०८॥

एक-एक अनुभागबन्धस्थानमें इतने-इतने अविभागी प्रतिच्छेद होते है, यह बतलानेके लिए अविभागीप्रतिच्छेदप्ररूपणा की गई है। एक परमाणुमें जो जघन्य अनुभाग पाया जाता है उसे अविभागीप्रतिच्छेद कहते है। यथा—जो जघन्य अनुभागस्थान है उसके सब परमाणुओंको एक जगह स्थापन करके, उनमेंसे सबसे मन्द अनुभाग वाले परमाणुको ग्रहण करो। उस परमाणुके रूप, रस और गन्धको छोड़कर केवल स्पर्शको ही बुद्धि द्वारा ग्रहण करो और बुद्धिके ही द्वारा उस स्पर्शगुणका तब तक छेद करो जब तक विभागरहित छेद हो सके। उसी विभागरहित अन्तिम छेदको अविभागप्रतिच्छेद कहते है। उस अविभागप्रतिच्छेद रूपसे स्पर्शगुणके खण्डित करनेपर उससे समस्त जीवराशिसे अनन्तगुणे अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते है। उन सब अविभागी प्रतिच्छेदोंके समूहका नाम वर्ग है। पुन उस परमाणुसमूहमेंसे उसी परमाणुके समान दूसरे परमाणुको ग्रहण करके उसके स्पर्शगुणके भी पूर्ववत् प्रज्ञाके द्वारा छेद करनेपर उतने ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते है। इस क्रमसे पूर्वपरमाणुके सदृश एक-एक परमाणुको लेकर प्रज्ञाके द्वारा उसके स्पर्शगुणके अविभागी प्रतिच्छेद करनेपर एक-एक वर्ग उत्पन्न होता है। जघन्यगुणवाले सब परमाणुओंके समाप्त होने तक यह क्रिया करनी होती है। इन सब वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते है।

पुन पूर्वोक्त परमाणुसमूहमेंसे एक परमाणुको ग्रहण करके प्रज्ञा द्वारा उसका छेद करनेपर उसमें पूर्वोक्त परमाणुसे एक अधिक अविभागी प्रतिच्छेद पाये जाते

सते ॥८॥ खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असखगुणसेढी। उदओ तव्विवरीओ कालो सखेज्जगुणसेढी ॥९॥ —कर्मप्र० उदया०।

१. 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोह-जिना क्रमशोऽसख्येयगुणनिर्जरा।—त० सू० ९।४५।

२. पु० १२, पृ० ८७ से।

है। यह एक वर्ग हुआ। इमे अलग स्थापित करना चाहिए। इसी क्रमसे उसके समान अन्य परमाणुओको भी ग्रहण करके प्रत्येकका प्रज्ञाके द्वारा छेदन करनेपर तत्सदृश ही अविभागी प्रतिच्छेद प्राप्त होते है। उन सब वर्गोंके समूहकी दूसरी वर्गणा होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अविभागी प्रतिच्छेदकी अधिकताके क्रमसे तीसरी, चौथी, पाँचवी आदि वर्गणाओको उत्पन्न करना चाहिये। इन सब वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते है। एक जघन्यस्थानमें ऐसे वहुतसे स्पर्द्धक होते है। इनका विस्तृत विवेचन धवलाटीकामें किया गया है। इस तरह अविभागप्रतिच्छेदप्ररूपणामें अविभागप्रतिच्छेदोका कथन है। एक जीवमें एक समयमें जो कर्मानुभाग पाया जाता है उसे स्थान कहते है। स्थानके दो भेद है—अनुभागवन्धस्थान और अनुभागसत्त्वस्थान। उनका वर्णन स्थानप्ररूपणामें है। एक स्थानसे उसके अनन्तरवर्ती स्थानमें कितना अन्तर होता है, इसका कथन अन्तरप्ररूपणामे किया गया है।

छै वृद्धियाँ होती है—अनन्तभागवृद्धि, असख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागवृद्धि, सख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि। काण्डकप्रमाण पूर्ववृद्धिके होनेपर एक वार उत्तरवृद्धि होती है। यथा—काण्डकप्रमाण अनन्तभागवृद्धिके होनेपर एक वार असख्यातभागवृद्धि होती है। और काण्डकप्रमाण असख्यातभागवृद्धियोके होनेपर एक बार सख्यातभागवृद्धि होती है। इस प्रकार अनन्तगुणवृद्धि तक यही क्रम जानना चाहिये। एक स्थानमें इन वृद्धियोका विचार काण्डकप्ररूपणामे किया गया है।

ओजयुग्मप्ररूपणामें कहा गया है कि अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म है, स्थान कृतयुग्म है और काण्डक कृतयुग्म है। इसका खुलासा करते हुए धवलाकार श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि समस्त अनुभागस्थानोके अविभागी प्रतिच्छेद कृतयुग्म है, क्योकि उन्हे चारसे भाजित करनेपर कुछ शेप नही रहता। अत विवक्षित राशिमें चारसे भाग देनेपर जहाँ कुछ शेप नही रहता या दो शेप रहते है उसे युग्म कहते है और जहाँ एक या तीन शेप रहते है उसे ओज कहते है।

उक्त सब प्ररूपणाओका कथन सूत्रकारने तो केवल एक-एक सूत्रके द्वारा ही किया है। धवलाकारने प्रत्येकका व्याख्यान विस्तारसे करते हुए प्रत्येक प्ररूपणाका अभिप्राय व्यक्त किया है।

पट्स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धिमें अनन्तसे जीवराशिका प्रमाण लेना चाहिये। असख्यातभागवृद्धि और असख्यातगुणवृद्धिमें असख्यातसे असख्यातलोकका प्रमाण लेना चाहिये। और सख्यातभागवृद्धि तथा सख्यातगुणवृद्धिमें सख्यातसे उत्कृष्टसख्यात लेना चाहिये। अधस्तन-

स्थानप्ररूपणामे वतलाया है कि एक षट्स्थानवृद्धिमें अनन्तभागवृद्धि कितनी होती है, असख्यातभागवृद्धि कितनी होती है, सख्यातभागवृद्धि कितनी होती है इत्यादिका कथन किया है।

समयप्ररूपणामें जघन्यअनुभागवन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टअनुभागवन्धस्थान तक जितने अनुभागवन्धस्थान हैं उनका प्रमाण वतलाकर उनमें परस्परमें अल्प-वहुत्व वतलाया है। यथा—आठ समय वाले अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान सबसे थोडे है। सात समय वाले अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान असख्यातगुणे है, इत्यादि।

वृद्धिप्ररूपणामे प्रथम तो यह वतलाया है कि अनुभागवन्धस्थानोमे अनन्त-भागवृद्धि और अनन्तभागहानिस लेकर छह वृद्धियाँ और छह हानियाँ होती हैं। फिर इन वृद्धि-हानियोका काल वतलाया है कि अमुक वृद्धि और अमुक हानि इतने काल तक होती हैं। यथा—अनन्तगुणवृद्धि और अनन्तगुणहानि कितमे काल तक होती हैं? जघन्यसे एक समय तक और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त काल तक होती हैं ॥२५२॥

यवमध्यप्ररूपणामें यवमध्यके दो भेद वताये है—कालयवमध्य और जीवयव-मध्य। यहाँ कालयवमध्यका कथन हैं। यद्यपि समयप्ररूपणासे ही कालयवमध्य सिद्ध है तथापि उस यवमध्यका प्रारम्भ और समाप्ति कौन-सी वृद्धि अथवा हानिमें हुई है, यह नही जाना जाता हैं। अत. उसका प्रारम्भ और समाप्ति इन वृद्धि-हानियोंमें हुई है, यह वतलानेके लिए यवमध्यप्ररूपणा को गई है। इसमें केवल एक सूत्र है।

पर्यवसानप्ररूपणामे बतलाया है कि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवके जघन्यस्थानसे लेकर पहले कहे गये समस्त स्थानोका पर्यवसान अनन्तगुणके ऊपर अनन्तगुणा होगा। इसमे भी एक ही सूत्र हैं।

अल्पवहुत्वप्ररूपणा अधिकारमे दो अनुयोगद्वार हैं—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे अनन्तगुणवृद्धिस्थान सवसे थोडे है। उनसे असख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं। उनसे सख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यात-गुणे हैं। उनसे सख्यातभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे हैं। उनसे असख्यातभागवृद्धि-स्थान असख्यातगुणे हैं। उनसे अनन्तभागवृद्धिस्थान असख्यातगुणे है। परम्परोप-निधामें अनन्तभागवृद्धिस्थान सवसे थोडे है। उनसे असख्यातभागवृद्धिस्थान अस-ख्यातगुणे है। उनसे सख्यातभागवृद्धिस्थान सख्यातगुणे हैं। उनसे सख्यातगुणवृद्धि-स्थान सख्यातगुणे है। उनसे असंख्यातगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे है। उनसे अनन्तगुणवृद्धिस्थान असख्यातगुणे है, इत्यादि कथन है।

तीसरी चूलिका—

तीसरी चूलिकामे जीवसमुदाहारका कथन है। पहले जिन असख्यातलोक-

प्रमाण अनुभागवन्धस्थानोकी प्ररूपणा की गई है उन सब स्थानोमे जीव क्या सदृश होते है अथवा विसदृश होते ह अथवा सदृश-विसदृश होते है? इन प्रश्नोका समाधान जीवसमुदाहारमे किया गया है। इसमें आठ अनुयोगद्वार है—एकस्थानजीवप्रमाणानुगम, निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम, सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगम नानाजीवकालप्रमाणानुगम, वृद्धिप्ररूपणा, यवमध्यप्ररूपणा, स्पर्शनप्ररूपणा और अल्पवहुत्व ॥२६८॥

एकस्थानजीवप्रमाणानुगममे वतलाया है कि एक-एक स्थानमें यदि जीव होते है तो एक, दो, तीन अथवा उत्कृष्टसे आवलीके असख्यातवें भाग होते है ॥२६९॥

निरन्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममें वतलाया है कि निरन्तरजीवसहितस्थान उत्कृष्टसे आवलीके असख्यातमे भाग मात्र ही होते है ॥२७०॥

सान्तरस्थानजीवप्रमाणानुगममे वतलाया है कि जीवोसे रहित अनुभागवन्धस्थान एक भी होता है, दो भी होते है, तीन भी होते है। इस तरह उत्कृष्टसे असख्यात लोकप्रमाण होते है ॥२७१॥

नानाजीवकालप्रमाणानुगममे वतलाया है कि एक-एक अनुभागवन्धस्थानमे नाना जीवोका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलीके असख्यातवें भाग है। वृद्धिप्ररूपणामें दो अनुयोगद्वार है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधासे जघन्य अनुभागवन्धस्थानमे जीव सवसे थोडे है ॥२७६॥ उनसे दूसरे अनुभागवन्धस्थानमे जीव विशेष अधिक है ॥२७७॥ उनसे तीसरे अनुभागवन्धस्थानमे जीव विशेष अधिक है ॥२७८॥ इस प्रकार यवमध्य तक जीव विशेष-अधिक विशेष-अधिक है ॥२७९॥ इसके आगे जीव विशेषहीन है ॥२८०॥

इस प्रकार उत्कृष्ट अनुभागवन्धाध्यवसायस्थान तक जीव विशेषहीन विशेषहीन है। इसी प्रकार परम्परोपनिधासे कथन किया गया है।

यवमध्यप्ररूपणामे वतलाया है कि सव स्थानोके असख्यातवे भागमें यवमध्य होता है। और यवमध्यके नीचेके स्थान थोडे है और ऊपरके स्थान असख्यातगुणे है।

स्पर्शनप्ररूपणामें उत्कृष्ट अनुभागवन्धस्थान, जघन्य अनुभागवन्धस्थान, काण्डक और यवमध्य आदिका स्पर्शनकाल वतलाया है।

अल्पबहुत्वमें उत्कृष्ट अनुभागबन्धस्थान, जघन्य अनुभागबन्धस्थान, काण्डक और यवमध्यमें स्थित जीवोके अल्पबहुत्वका विचार किया गया है।

इस वेदनाभावविधानमें ३१४ सूत्र है।

८ वेदनाप्रत्ययविधान[1]

इस अनुयोगद्वारमें नैगम आदि नयोंके आश्रयसे ज्ञानावरण आदि आठो कर्मो-

---

१ षट्ख०, पु० १२, पृ० २७५ से।

की वेदनाके बन्धके कारणोंका विचार किया गया है। यथा—नैगम, संग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयवेदना प्राणातिपात (प्राणीके प्राणोंका घातन) प्रत्ययसे, मृषावादप्रत्ययसे (असत्य भाषण), अदत्तादानप्रत्ययसे (बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण), मैथुनप्रत्ययसे, परिग्रहप्रत्ययसे, रात्रिभोजनप्रत्ययसे, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययसे, निदानप्रत्ययसे, तथा अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, माया, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग प्रत्ययसे होती है। प्रत्ययका अर्थ कारण है। अतः उक्त कारणोंसे ज्ञानावरणकी वेदना होती है। शेष सात कर्मोंकी वेदनाके प्रत्यय भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

इनमें प्राणातिपात[1], मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह ये पांच पाप हैं, जिनका सर्वतः त्याग महाव्रत और एकदेश त्याग अणुव्रत कहलाता है। अभ्याख्यान[2], कलह आदिको अकलंकदेवने बारह भाषाओंके रूपमें गिनाया है।

वेदनाप्रत्ययविधानमें केवल १६ सूत्र हैं।

९ वेदनास्वामित्वविधान

इस अनुयोगद्वारके प्रथम सूत्र 'वेयणसामित्त[3] विहाणे त्ति' की धवलाटीकामें यह शंका की गई है कि जिस जीवके द्वारा जो कर्म बांधा गया है वह जीव उस कर्मकी वेदनाका स्वामी है, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है, तब इस अनुयोगद्वार-की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए श्री वीरसेनस्वामीने लिखा है कि कर्मोंकी उत्पत्ति न केवल जीवसे होती है और न केवल अजीवसे होती है। किन्तु मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगको उत्पन्न करनेमें समर्थ पुद्गलद्रव्य और जीव कर्मबन्धके कारण हैं। अतः दो, तीन अथवा चार कारणोंसे उत्पन्न होकर जीवमें स्थित वेदना उनमेंसे एकके ही होती है, अन्यके नहीं होती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतः वेदनास्वामित्वका कथन करना उचित है।

वेदनास्वामित्वका विधान करते हुए कहा गया है कि नैगम और व्यवहार नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीयकी वेदना कथञ्चित् जीवके होती है ॥२॥ कथञ्चित् नोजीवके होती है ॥३॥ धवलामें लिखा है कि अनन्तानन्त विस्रसोपचयोंसे

---

१ 'पञ्चमहव्वया पण्णत्ता, त जहा—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमण, जाव सव्वातो परिग्गहातो वेरमण। पचाणुव्वता पण्णत्ता, त जहा—थूलातो पाणाइवायातो वेरमण थूलातो मुसावायातो वेरमण थूलातो अदिन्नादाणातो वेरमण सदारसतोसे इच्छापरिमाणे।'—स्थाना० स्था० ५, उ० १, सू० ३८९।

२ 'अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासम्बद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोषसम्यङ्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा।'—त० वा०, पृ० ७५।

३ षट्खं०, पु० १२, पृ० २९४-२९५।

उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध कथञ्चित् जीव है, क्योकि वह जीवसे भिन्न नही पाया जाता। इस विवक्षासे जीवके वेदना होती है। तथा अनन्तानन्तविस्रसोपचयोसे उपचित कर्मपुद्गलस्कन्ध प्राणरहित होनेसे अथवा ज्ञान-दर्शनसे रहित होनेसे नोजीव है और उससे अभिन्न होनेसे जीव भी कथञ्चित् नोजीव है।

इस तरह जीव, नोजीव, अनेक जीव, अनेक नोजीव, एक जीव और एक अजीव, एक जीव और अनेक नोजीव, अनेक जीव और एक नोजीव, तथा अनेक जीव और अनेक नोजीवोकी वेदनाका स्वामी उक्त दो नयोसे बतलाया है। धवलाकारने प्रत्येक भगका स्पष्टीकरण धवलाटीकामे किया है। इस तरह वेदनाके स्वामी जीव और पुद्गल दोनो होते है। सग्रहनयकी अपेक्षा वेदनाका स्वामी जीव है क्योकि सग्रहनय जीव और अजीवका अभेद मानता है। इस अनुयोगद्वारमे केवल १५ सूत्र है।

१० वेदनावेदनाविधान

जिसका वर्तमानमें वेदन किया जाता है या भविष्यमे वेदन किया जायगा, वह वेदना है। इस निरुक्तिके अनुसार आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धको वेदना कहा है। और अनुभवन करनेका नाम वेदना है। वेदनाकी वेदनाको वेदनावेदना कहते है अर्थात् आठ प्रकारके कर्मपुद्गलस्कन्धोके अनुभवन करनेका नाम वेदना-वेदना है। उसके विधान—कथन करनेको वेदनावेदनाविधान[1] कहते है।

वेदनावेदनाका विधान करते हुए सूत्र २ के द्वारा कहा है कि नैगम नयकी अपेक्षा सभी कर्मको प्रकृति मानकर यह प्ररूपणा की जाती है। इस सूत्रकी धवला-में स्पष्टीकरण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि नैगमनय बध्यमान (जो बध रहा है), उदीर्ण (जो उदयमें आ गया है) और उपशान्त (जो सत्तामें स्थित है) इन तीनो ही कर्मोकी वेदनासज्ञा स्वीकार करता है। तदनु-सार कहा गया है कि ज्ञानावरणीयवेदना कथञ्चित् बध्यमानवेदना है, कथ-ञ्चित् उदीर्णवेदना है, कथञ्चित् उपशान्तवेदना है, इत्यादि अनेक भगोके द्वारा वेदनावेदनाका विधान कुछ विस्तारसे किया है। और धवलाटीकामे उन सब भगोके स्पष्टीकरणके साथ ही उनके अनेक अवान्तर भगोका भी कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमे ५८ सूत्र है।

११ वेदनागतिविधान

इस अनुयोगद्वारमे वेदनाकी गति अर्थात् गमनका कथन है। इसलिए इसे

1, 'का वेयणा? वेद्यते वेदिष्यते इति वेदनाशब्दसिद्धे। अट्ठविहकम्मपोग्गलक्ख-धो वेयणा अनुभवन वेदना। वेदनाया वेदना वेदनावेदना अष्टकर्मपुद्गल-स्कन्धानुभव इत्यर्थ।—षट्खं०, पु० १२, पृ० ३०२।

वेदनागतिविधान नाम दिया है। पहले लिख आये हैं कि जीवके साथ सम्बद्ध कर्मपुद्गलस्कन्धोंकी वेदनासंज्ञा है। अतः योगके द्वारा जीवप्रदेशोंके संचरण होने-पर उनसे अभिन्न कर्मस्कन्धोंका भी संचार होता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जायगा और कर्मप्रदेशोंको स्थित ही माना जायगा, तो देशान्तरमें गये हुए जीव-को सिद्धजीवके समान मानना होगा। क्योंकि पूर्वसंचित कर्म तो पूर्वस्थानमें ही स्थित हैं, उनका देशान्तरमें जाना संभव नहीं है। अतः जीव और कर्मके पार-तन्त्र्यस्वरूप सम्बन्धको बतलानेके लिए और जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका हेतु योग ही है, इस बातको बतलानेके लिए इस अनुयोगद्वारका कथन किया गया है। इसमें बतलाया गया है कि नैगम, संग्रह और व्यवहारनयोंकी अपेक्षा ज्ञाना-वरणीयवेदना कथञ्चित् स्थित है, क्योंकि जीवप्रदेशोंमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। और उक्त वेदना कथञ्चित् स्थित-अस्थित है, क्योंकि छद्मस्थ जीवके जो प्रदेश जिस समय संचाररहित होते हैं उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी स्थित होते हैं तथा जो प्रदेश संचार करते हैं उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचार करते हैं। चूँकि उसकी वेदना एक है, अतः वह वेदना स्थित-अस्थित कही जाती है। दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मोंकी वेदना भी ज्ञानावरणीयके समान स्थित और स्थित-अस्थित होती है। वेदनीयकर्मकी वेदना कथञ्चित् स्थित है क्योंकि चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवके प्रदेश अवस्थित रहते हैं। तथा वह कथञ्चित् अस्थित और कथञ्चित् स्थित-अस्थित है। नाम, गोत्र और आयुकर्मकी वेदना वेदनीयके तुल्य है क्योंकि ये सब कर्म अघातिया हैं। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठों कर्मोंकी वेदना कथञ्चित् स्थित और कथञ्चित् अस्थित है।

इस अनुयोगद्वारमें १२ सूत्र हैं।

१२. वेदनाअन्तरविधान[1]

वेदनावेदनाविधान अनुयोगद्वारमें यह कहा है कि वध्यमान कर्म भी वेदना है, उदीर्ण और उपशान्त कर्म भी वेदना है। उनमें जो वध्यमान कर्म है वह क्या बंधनेके समयमें ही पक कर अपना फल देता है अथवा द्वितीयादिक समयोंमें अपना फल देता है, यह बतलानेके लिये इस अनुयोगद्वारका अवतार हुआ है। बन्धके दो प्रकार हैं—अनन्तरबंध और परम्पराबन्ध। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके द्वारा कार्मणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोंके कर्मरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं और बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्मरूप पुद्गलस्कन्धों और जीवप्रदेशोंका जो बन्ध होता है उसे परम्परा-बन्ध कहते हैं।

१. षट्खं०, पु० १२, पृ० ३७०।

इसमें बतलाया है कि नैगम और व्यवहारनयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठो कर्मोकी वेदना अनन्तरबन्ध हैं, पराम्परावन्ध है और तदुभयवन्ध है। सग्रह-नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणादि आठो कर्मोकी वेदना अनन्तरवन्व और परम्पराबन्ध हैं। ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा आठो कर्मोकी वेदना परम्पराबन्ध है।

इसमे ११ सूत्र है।

१२ वेदनासन्निकर्षविधान[1]

ज्ञानावरणादि कर्मोकी वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा उत्कृष्ट भी होती है और जघन्य भी होती है। जघन्य तथा उत्कृष्ट भेदरूप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोमेसे किसी एकको विवक्षित करके उसमे शेप पद क्या उत्कृष्ट है, क्या अनुत्कृष्ट है, क्या जघन्य है, अथवा क्या अजघन्य है इस प्रकारकी जो परीक्षा की जाती है उसे सन्निकर्ष कहते हैं। उसके दो भेद है—स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष और परस्थानवेदनासन्निकर्ष। किसी एक विवक्षित कर्मका जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव विषयक सन्निकर्ष होता है वह स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष है। और आठो कर्मविषयक सन्निकर्प परस्थानवेदनासन्निकर्ष है।

स्वस्थानवेदनासन्निकर्ष दो प्रकारका है—जघन्य और उत्कृष्ट। उत्कृष्ट स्वस्थानवेदनासन्निकर्प चार प्रकारका है, द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे और भावसे ॥ ॥

जिसके ज्ञानावरणीयवेदना द्रव्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट होती है उसके वह क्षेत्र-की अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट ॥ ६ ॥ नियमसे अनुत्कृष्ट और असख्यातगुणी हीन होती है ॥ ७ ॥ इसका खुलासा धवलाटीकामें किया है।

इसी तरह, जिसके ज्ञानावरणीयवेदना क्षेत्रसे उत्कृष्ट होती है उसके वह द्रव्यकी अपेक्षा क्या उत्कृष्ट होती है अथवा अनुत्कृष्ट? नियमसे अनुत्कृष्ट होती है ॥ १६ ॥

इत्यादि कथन है। इस अनुयोगद्वारमे ३२० सूत्र है।

१४ वेदनापरिमाणविधान

पहले द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन करके आठ ही प्रकृतियाँ कही है। तथा उन आठो प्रकृतियोके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिके प्रमाणकी भी प्ररूपणा की है। यहाँ पर्यायार्थिकनयका अवलम्बन करके प्रकृतियोके परिमाणका कथन किया गया है। इसमें यह तीन अनुयोगद्वार है—प्रकृत्यर्थता, समयप्रवद्धार्थता और क्षेत्रप्रत्याश्रय ॥ २ ॥

प्रकृतिभेदसे कर्मभेदकी प्ररूपणा पहला अधिकार है। एक समयमें जो बाँधा जाता है वह समयप्रवद्ध है। समयप्रवद्धोके भेदसे प्रकृतिभेदकी प्ररूपणा दूसरा

---

1. षट्ख०, पु० १२, पृ० ३७५।

अधिकार है और क्षेत्रभेदसे प्रकृतिभेदका कथन करनेवाला तीसरा अधिकार है।

इस प्रकार वेदनापरिमाणकी प्ररूपणा तीन प्रकारसे की है।

यथा—प्रकृत्यर्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मका कितनी प्रकृतियाँ हैं? ॥३॥

ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्मकी असंख्यातलोकप्रमाण प्रकृतियाँ हैं ॥४॥

आशय यह है कि जितने ज्ञानके भेद हैं उतनी ही कर्मकी आवरणशक्तियाँ हैं। उनके बिना असंख्यातलोकप्रमाण ज्ञान नहीं बन सकते। तथा सब ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होते हैं और जितने दर्शन हैं उतनी ही दर्शनावरणकी आवरणशक्तियाँ हैं। इस प्रकारसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी प्रकृतियाँ असंख्यातलोकप्रमाण हैं।

वेदनीयकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥७॥ मोहनीयकर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं ॥१०॥ आयुकर्मकी चार प्रकृतियाँ हैं ॥१३॥ नामकर्मकी असंख्यातलोकमात्र प्रकृतियाँ हैं ॥१६॥ गोत्रकर्मकी दो प्रकृतियाँ हैं ॥१९॥ अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियाँ हैं ॥२२॥

समयप्रबद्धार्थता-अधिकारकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मकी कितनी प्रकृतियाँ हैं? ॥२५॥ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मकी एक-एक प्रकृति, तीस कोडाकोडी सागरोपमोंको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो, उतनी हैं ॥२६॥

आशय यह है कि इन तीनों कर्मोकी स्थिति तीस कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है। उसके अन्तिम समयमें कर्मस्थितिप्रमाण समयप्रबद्ध होते हैं, क्योंकि कर्मस्थितिके प्रथम समयसे लेकर उसके अन्तिम समय तक बाँधे गये समयप्रबद्धोंके एक परमाणुसे लेकर अनन्तपरमाणु तक कर्मस्थितिके अन्तिम समयमें पाये जाते हैं। कालभेदसे प्रकृतिभेदको प्राप्त हुए इन समयप्रबद्धोंका संकलन करनेपर एक समयप्रबद्धकी शलाकाओंको स्थापित करके उसे तीस कोडाकोडी सागरोपमोंसे गुणित करनेपर उतनी मात्र ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायमेंसे एक-एक कर्मकी प्रकृतियाँ होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक कर्मकी स्थितिको उसकी समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर प्रत्येक कर्मकी प्रकृतियाँ जाननी चाहिये। आयुकर्म इसका अपवाद है। अन्तर्मुहूर्तकालको समयप्रबद्धार्थतासे गुणित करनेपर जो प्राप्त हो उतनी ही आयुकर्मकी प्रकृतियाँ बतलाई हैं, क्योंकि आयुकर्मका बन्ध सदा नहीं होता।

अनन्तर अनुयोगद्वार हैं—स्पर्शनिक्षेप, स्पर्शनयविभाषणता, स्पर्शनामविधान, स्पर्शद्रव्यविधान, स्पर्शक्षेत्रविधान, स्पर्शकालविधान, स्पर्शभावविधान, स्पर्शप्रत्यय-विधान, स्पर्शस्वामित्वविधान, स्पर्शस्पर्शविधान, स्पर्शगतिविधान, स्पर्शअनन्तर-विधान, स्पर्शसन्निकर्षविधान, स्पर्शपरिमाणविधान, स्पर्शभागाभागविधान और स्पर्शअल्पबहुत्व।

इनमेंसे केवल स्पर्शनिक्षेप और स्पर्शनयविभाषणता [illegible] का वर्णन स्पर्शअनु-योगद्वारमें किया गया है।

स्पर्शनिक्षेपका कथन करते हुए [illegible] स्पर्शके तेरह प्रकार बतलाये हैं—नामस्पर्श, स्थापनास्पर्श, द्रव्यस्पर्श, एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरक्षेत्रस्पर्श, देशस्पर्श, त्वक्स्पर्श, सर्वस्पर्श, स्पर्शस्पर्श, कर्मस्पर्श, बन्धस्पर्श, भव्यस्पर्श और भावस्पर्श।

तदनन्तर उनका [illegible] द्वारा [illegible] किया है। [illegible] है कि [illegible] स्पर्श नैगमनयके विषय हैं। किन्तु व्यवहारनय और संग्रहनय [illegible] और [illegible] स्पर्शोंको नहीं स्वीकार करते। ऋजुसूत्र एकक्षेत्रस्पर्श, अनन्तरस्पर्श, बन्धस्पर्श और भव्यस्पर्श-को स्वीकार नहीं करता। शब्दनय नामस्पर्श, स्पर्शस्पर्श और भावस्पर्शको ही स्वीकार करता है ॥७-८॥

वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामें इसका कारण बतलाया है कि क्यों अमुक नय अमुक स्पर्शको ही विषय करता है और अमुक स्पर्शको विषय नहीं करता।

स्पर्शनिक्षेपमें नययोजना करनेके पश्चात् सूत्रकारने स्पर्शनिक्षेपके तेरह प्रकारों-का अर्थ बतलाया है—

जिस जीव या अजीवका स्पर्श नाम रखा जाता है वह नामस्पर्श है। काष्ठ-कर्म, चित्रकर्म आदिमें स्पर्शकी स्थापना स्थापनास्पर्श है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ स्पर्शको प्राप्त होना द्रव्यस्पर्श है ॥१२॥ इसकी धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने द्रव्यस्पर्शके ६३ विकल्पोंका कथन किया है।

जो द्रव्य एक क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है ॥१४॥ जैसे एकआकाशप्रदेशमें स्थित पुद्गलस्कन्धोंका जो स्पर्श होता है वह एकक्षेत्रस्पर्श है। जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्रके साथ स्पर्श करता है वह अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है ॥१६॥

जो द्रव्य एक देशरूपसे अन्य द्रव्यके अवयवके साथ स्पर्श करता है वह देश-स्पर्श है ॥१८॥ जो द्रव्य त्वचा (छाल) या नोत्वचा (ऊपरी पपडी) को स्पर्श करता है वह त्वक्स्पर्श है ॥२०॥ जो द्रव्य सबका सब सर्वात्मना स्पर्श करता है वह सर्वस्पर्श है, जैसे परमाणु ॥२२॥ कर्कश, मृदु, आदि आठ प्रकारका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है ॥२४॥

आशय यह है कि जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श कहते है, जैसे कोमलता आदि। और जिसके द्वारा स्पर्श किया जाता है उसे भी स्पर्श कहते है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय। इन दोनोका स्पर्श स्पर्शस्पर्श है। और वह आठ प्रकारका है।

कर्मोका कर्मोके साथ जो स्पर्श होता है वह कर्मस्पर्श है। उसके ज्ञानावरणादि आठ भेद है। धवलाटीकामें[1] कर्मस्पर्शके भेदोका विवेचन विस्तारसे किया है।

वन्धस्पर्शके पाँच भेद है—औदारिकशरीरवन्धस्पर्श, वैक्रियिकशरीरवन्ध-स्पर्श, आहारकशरीरवन्धस्पर्श, तैजसशरीरवन्धस्पर्श और कार्मणशरीरवन्धस्पर्श। धवलाटीकामें[2] इन पाँचोके २३ भग वतलाये है, जिनमे १४ अपुनरुक्त है, शेप नौ पुनरुक्त है।

विप, कूट (चूहेदान), यत्र, पिंजरा, कन्दक (हाथी पकडनेका यत्र) वागुरा (हिरण फँसानेकी फासा) आदि तथा इनके कर्ता और इन्हे इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवाले, जो स्पर्शनके योग्य होगे परन्तु अभी उसे स्पर्श नही करते, उन सवको भव्यस्पर्श करते है ॥३०॥

आशय यह है कि जो पर्याय भविष्यमें होने वाली होती है उसे भव्य या भावी कहते है। अत जो भविष्यमे स्पर्शपर्यायसे युक्त होगा वह भव्यस्पर्श है। उक्त यत्रादिका निर्माण पशुओको पकडनेके लिए किया जाता है। अत चूँकि भविष्यमें वे पशुओका स्पर्श करेंगे, अत उन्हें भव्यस्पर्श कहा है। इसी तरह कारणमें कार्यका उपचार करके उनके निर्माताओको और उन्हें इच्छित स्थानमें स्थापित करनेवालोको भी भव्यस्पर्श कहा है। जो स्पर्शप्राभृतका ज्ञाता उसमे उपयुक्त है वह भावस्पर्श है ॥३२॥

इन तेरह प्रकारके स्पर्शोमेंसे प्रकृत स्पर्शअनुयोगद्वारमें 'कर्मस्पर्श' लिया गया है ॥३३॥

इसमें ३३ सूत्र है।

कर्मअनुयोगद्वार

इसमें १६ अनुयोगद्वार है—कर्मनिक्षेप, कर्मनयविभाषणता, कर्मनामविधान, कर्मद्रव्यविधान, कर्मक्षेत्रविधान, कर्मकालविधान, कर्मभावविधान, कर्मप्रत्ययविधान, कर्मस्वामित्वविधान, कर्मकर्मविधान, कर्मगतिविधान, कर्मअनन्तरविधान, कर्म-सन्निकर्षविधान, कर्मपरिमाणविधान, कर्मभागाभागविधान, कर्मअल्पबहुत्व।

कर्मनिक्षेपके दस भेद है—नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, सम-वदानकर्म, अध कर्म, ईर्यापथकर्म, तप कर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म ॥४॥

---

१ पट्खं०, पु० १३, पृ० २६-२९।

२, वही, पृ० ३१-३३।

जिस जीव या अजीवका कर्म नाम रखा जाता है, वह नामकर्म है ॥१०॥ काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमे यह कर्म है, इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापनाकर्म कहते है ॥१२॥ जो द्रव्य अपनी-अपनी स्वाभाविक क्रियारूपसे निष्पन्न है वह सब द्रव्यकर्म है, जैसे जीवद्रव्यका ज्ञानादिरूपसे परिणमन और पुद्गलद्रव्यका रूप-रसादिरूपसे परिणमन उनकी स्वाभाविक क्रिया है ।

प्रयोगकर्मके तीन भेद है—मन प्रयोगकर्म, वचनप्रयोगकर्म और वायप्रयोग-कर्म ॥१६॥ यह प्रयोगकर्म ससारदशामे वर्तमान पहलेसे बारहवे गुणस्थान तकके जीवोके तथा तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली जीवोके होता है ॥१७॥

कार्मणपुद्गलोका मिथ्यात्व, असयम, योग और कषायके निमित्तसे आठकर्म-रूप, सातकर्मरूप या छहकर्मरूप भेद करना समवदानकर्म है ॥२०॥

जो उपद्रावण (उपद्रव करना), विद्रावण (अगछेदन आदि करना), परिता-पन (सन्ताप उत्पन्न करना) और आरम्भ (प्राणियोके प्राणोका घात करना) रूप कार्यसे निष्पन्न होता है वह अध कर्म है ॥२२॥

ईर्याका अर्थ योग है । योगमात्रसे जो कर्म बधता है वह ईर्यापथकर्म है । वह छद्मस्थ वीतरागोके और सयोगकेवलियोके होता है । धवलाटीकामें[1] इसका विवेचन थोडा विस्तारसे किया है ।

बारह प्रकारके अभ्यन्तर और बाह्य तपको तप कर्म कहते है ॥२६॥ धवला-टीकामें[2] तपोका विस्तृत वर्णन है ।

आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार करना, तीन बार नमस्कार, चार बार सिर नवाना और बारह आवर्त यह सब क्रियाकर्म है ॥२८॥

अर्थात् ये क्रियाकर्मके छै प्रकार है । क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना चाहिये, पराधीन नही । वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनालयकी प्रद-क्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है । तीनो सन्ध्याकालोमें वन्दनाका नियम करनेके लिये तीन बार करना कहा है ।

पैर धोकर शुद्ध मनसे जिनेन्द्रदेवके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकितवदन होकर जिनेन्द्रके आगे नमना प्रथम नमस्कार है । पुन उठकर विनन्ति करके नमना दूसरा नमस्कार है । फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धि करके कषायसहित कायका उत्सर्ग करके, जिनके अनन्तगुणोका ध्यान करके, चौवीस तीर्थङ्करोकी वन्दना करके, फिर जिन, जिनालय और गुरुकी स्तुति करके

---

१ षट्ख०, पु० १३, पृ० ४८-५४ ।
२ वही, पु० १३, ५४-८८ ।

पृथ्वी पर नत होना तीसरा नमस्कार है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्म करते समय तीन नमस्कार होते हैं।

सब क्रियाकर्मोमें चार बार सिर नमाया जाता है। सामायिकके आदिमें, फिर उसके अन्तमें, फिर 'त्थोस्सामि' दण्डकके आदिमें और फिर अन्तमे। इस प्रकार एक क्रियाकर्ममें चार बार सिर नमाया जाता है।

सामायिक और 'त्थोस्सामि' दण्डकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायकी विशुद्धिके परावर्तनके बारह बार होते हैं। इसलिये एक क्रियाकर्म बारह आवर्तोंसे युक्त होता है। यह सब क्रियाकर्म है।

कर्मप्राभृतका जो ज्ञाता उसमें उपयुक्त होता है उसे भावकर्म कहते हैं।

कर्मके इन भेदोमेंसे यहाँ समवदानकर्मसे प्रयोजन है, क्योकि कर्म अनुयोगद्वारमें समवदानकर्मका ही विस्तारसे कथन किया है।

इस अनुयोगद्वारमें ३१ सूत्र[1] है। ३१वें सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेनस्वामीने लिखा है कि 'मूलतन्त्रमें तो प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अध कर्म, ईर्यापथकर्म, तप कर्म और क्रियाकर्म प्रधान है, क्योकि वहाँ इनका विस्तारसे कथन है।

यहाँ इन छै कर्मोको आधार मानकर सत्, द्रव्य, क्षेत्र, काल, स्पर्शन, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व अनुयोगोके द्वारा कथन करते है। तदनुसार लगभग सौ पृष्ठोमें उन्होंने विस्तारसे कथन किया है।

सूत्रकार भूतबलिने तो कर्मानुयोगद्वारमें समवदानकर्मसे ही प्रयोजन बतलाया है। इसलिए मूलतन्त्रसे अभिप्राय महाकर्मप्रकृतिप्राभृतसे जान पडता है। उसके अन्तर्गत कर्मानुयागद्वारमें उक्त छै कर्मोका वर्णन रहा होगा।

प्रकृति अनुयोगद्वार[2]

प्रकृति अनुयोगद्वारके अन्तर्गत १६ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है—प्रकृतिनिक्षेप, प्रकृतिनयविभाषणता, प्रकृतिनामविधान, प्रकृतिद्रव्यविधान, प्रकृतिक्षेत्रविधान, प्रकृतिकालविधान, प्रकृतिभावविधान, प्रकृतिप्रत्ययविधान, प्रकृतिस्वामित्वविधान, प्रकृतिप्रकृतिविधान, प्रकृतिगतिविधान, प्रकृतिअन्तरविधान, प्रकृतिसन्निकर्षविधान, प्रकृतिपरिमाणविधान, प्रकृतिभागविधान और प्रकृतिअल्पबहुत्वविधान ॥ २ ॥

१, 'एदेम्मि कम्माण केण कम्मेण पयद ? समोदाणकम्मेण पयद ॥३१॥
(धव)—कुदो ? कम्माणियोगद्दारम्मि समोदाणकम्मस्सेव वित्थरेण परूविदत्तादो। ••
मूलतन्त्रे पुण पयोगकम्म-समोदाणकम्म-आधाकम्म-इरियावथकम्म-तवोकम्म-किरियाकम्माणि पहाण तत्थ वित्थारेण परूविदत्तादो—षट्ख०, पु० १३, पृ० ९०।

२, वही, पु० १३, पृ० १९७ से।

प्रकृतिनिक्षेपके चार प्रकार है—नामप्रकृति, स्थापनाप्रकृति, द्रव्यप्रकृति और भावप्रकृति ।।४।। इनमेंसे नैगम, सग्रह और व्यवहारनय सबको स्वीकार करते है ।।६।। ऋजुसूत्रनय स्थापनाप्रकृतिको नही चाहता ।।७।। शब्दनय नाम-प्रकृति और भावप्रकृतिको स्वीकार करता है ।।८।। जिस जीव या अजीवका 'प्रकृति' नाम किया जाता है वह नामप्रकृति है ।।९।। काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदि-में 'यह प्रकृति है' ऐसी स्थापनाको प्रकृति कहते है ।।१०।। द्रव्यप्रकृतिके दो भेद है—आगमद्रव्यप्रकृति और नोआगमद्रव्यप्रकृति ।।११।। आगमद्रव्यप्रकृतिके अर्था-धिकार इस प्रकार है—स्थित, जित, परिजित, वाचनोगत, सूत्रसम, अर्थसम, ग्रथ-सम, नामसम और घोपसम ।।१२।।

वेदनाखण्डके कृति अनुयोगद्वारमे भी इन सबका कथन आ चुका है ।

नोआगमद्रव्य प्रकृतिके दो प्रकार है—कर्मप्रकृति और नोकर्मप्रकृति ।।१५।। घट, थाली, सकोरा, अरजण और उलुचण आदि विविध भाजनविशेषोकी मिट्टी प्रकृति है । धान 'तप्पण' (तर्पण) आदि की जौ और गेहूँ प्रकृति है । सब[1] नोकर्मप्रकृति है ।।१८।। कर्मप्रकृतिके ज्ञानावरणादि आठ भेद है ।।१९। और ज्ञानावरणीयके आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय आदि पाच भेद है ।।२१।।

पहले कहा है कि जितने ज्ञानके भेद है उतनी ही ज्ञानको आवृत करनेवाले ज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ है । इस प्रकृतिअनुयोगद्वारमें सूत्रकारने ज्ञानके भेदोका आलम्बन लेकर ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोका कथन किया है । यथा—आभिनिबोधिकज्ञानावरणीय कर्मके चार, चौबीस, अट्ठाईस और बत्तीस भेद जानने चाहिये ।।२२।। अवग्रहावरणीय, ईहावरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय ये चार भेद है ।।२३।। अवग्रहावरणीय कर्मके दो भेद है—अर्थावग्रहावरणीय, और व्यञ्जनावग्रहावरणीय ।।२४।। व्यञ्जनावग्रह केवल चार इन्द्रियोसे होता है, अत व्यञ्जनावग्रहावरणीय कर्मके भी चार भेद है । अर्थावग्रह पाँचो इन्द्रियो और मनसे होता है, अत अर्थावग्रहावरणीय कर्मके छै भेद है । इसी तरह ईहा-वरणीय, अवायावरणीय और धारणावरणीय कर्मोके भी छै-छै भेद होते है, क्योकि ये चारो ज्ञान इन्द्रियो और मनसे उत्पन्न होते है ।

उक्त चारो ज्ञानोको छहो इन्द्रियोसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते है और उनके आवरण भी २४ ही होते है । इन चौबीस भेदोमें जिह्वा, स्पर्शन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय सम्बन्धी चार व्यञ्जनावग्रहोके मिलानेपर आभिनिबोधिक

---

१ 'घडपिढरसरावारजणोलुचणादीण विविहभायणविसेमाण मट्टिया पयडी, धाणतप्पणादीण च जवगोधूमा पयडी, मा सव्वा णोकम्मपयडी णाम ।।१८।।—पु १३, पृ २०४-२०५ ।

ज्ञानके २८ भेद होते है और उतने ही उनके आवरणोके भी भेद होते है। इनमें चार मूल भेदोके मिलाने पर वत्तीस आभिनिवोधिक ज्ञानके भेद और उतने ही उनके आवरणोके भी भेद होते है।

आभिनिवोधिक ज्ञानके ये भेद चार, चौवीस, अट्ठाईस और वत्तीस होते है।

ये ज्ञान वारह प्रकारके पदार्थोंको विपय करते है। वे है वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त और ध्रुव, तथा इनके प्रतिपक्षी—एक, एकविध, चिर, निसृत, उक्त, अध्रुव। अत उक्त चौवीस भेदोको छैसे गुणा करने पर आभिनिवोधिक-ज्ञानके एकसौ चवालीस भेद होते है। उक्त अट्ठाईस भेदोको छैसे गुणा करने पर १६८ भेद होते है। और उक्त वत्तीस भेदोको छैसे गुणा करने पर १९२ भेद होते है। और उक्त चौवीस, अट्ठाईस और वत्तीस भेदोको १२ से गुणा करने पर आभिनिवोधिकज्ञानके दोसौ अट्ठासी, तीनसौ छत्तीस और तीनसौ चौरासी भेद होते है। जितने ज्ञानके भेद है उतने ही उसके आवरणके भेद है। अत आभिनिवोधिकज्ञानावरणीयकर्मके भेदोको वतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'इस प्रकार आभिनिवोधिकज्ञानावरणीयकर्मके चार, चौवीस, अट्ठाईस, वत्तीस, अड-तालीस, एकसौ चवालीस, एकसौ अडसठ, एकसौ वानवे, दोसौ अठासी, तीन सौ छत्तीस, और तीनसौ चौरासी भेद होते है ॥३५॥

श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ वतलाते हुए कहा है—कि जितने अक्षर और अक्षरसयोग है उतनी श्रुतज्ञानावरणीयकर्मकी प्रकृतियाँ है ॥४५॥

आशय यह है कि एक एक अक्षरसे श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति होती है, अत जितने अक्षर है उतने ही श्रुतज्ञान है। तेतीस व्यञ्जन, नौ स्वर अलग अलग ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतके भेदसे सत्ताईस और चार अयोगवाह—जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और विसर्ग इस तरह चौंसठ मूल अक्षर है। इनके सयोगी अक्षरोको लानेके लिए सूत्रकारने एक 'गणित-गाथा' दी है—

सजोगावरणट्ठ चउसट्ठि थावए दुवे रासी।
अण्णोण्णसमब्भासो रूवूण णिद्दिसे गणिद ॥४६॥

अर्थात् सयोगावरणोको लानेके लिए चौसठसख्याप्रमाण दो राशि स्थापित करो—एक एकसे चौसठ तक और दूसरी उसके नीचे चौसठसे एक तक। दोनो-को परस्परमें गुणा करके जो लब्ध आवे उसमेंसे एक कम करनेपर कुल सयुक्ता-क्षरोका प्रमाण होता है। इसके स्पष्टीकरणके लिये सूत्र ४६ की धवलाटीका देखना चाहिये।

उसी श्रुतज्ञानावरणीय कर्मके वीस भेद वतलानेके लिये सूत्रकारने एक गाथा-सूत्र दिया है।

'पज्जय-अक्खर-पद-संघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइं ।
पाहुडपाहुड-वत्थू पुव्व समासा य बोद्धव्वा ॥१॥'

अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास, पद, पदसमास, संघात, संघातसमास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्तिसमास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वारसमास, प्राभृत, प्राभृतसमास, प्राभृतप्राभृत, प्राभृतप्राभृतसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व और पूर्वसमास ये श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं।

इन्हीको लेकर सूत्रकारने सूत्र ४८ में 'श्रुतज्ञानावरणीयकर्मके बीस भेद गिनाये हैं। श्रुतज्ञानके इन भेदोंके विवेचनके लिये धवलाटीका देखना चाहिये।

श्वेताम्बरीय नन्दिसूत्रमें ज्ञानकी सुन्दर चर्चा है। किन्तु श्रुतज्ञानके इन बीस भेदोका कोई संकेत तक आगमिक परम्परामें नही मिलता। हाँ, कर्मग्रन्थमें एक गाथाके द्वारा श्रुतज्ञानके ये बीस भेद अवश्य गिनाये गये हैं।

सूत्रकार भूतबलिने एक सूत्रके द्वारा श्रुतज्ञानके इकतालीस पर्यायशब्द गिनाये हैं। जो इस प्रकार हैं—प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियोंमें मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसन्निकर्ष, नयविधि, नयान्तरविधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्र्य, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व ये श्रुतज्ञानके पर्यायनाम हैं ॥५०॥ धवलामें इनका व्याख्यान किया है।

अवधिज्ञानावरणीयकर्मकी असख्यात प्रकृतियाँ वतलाते हुए अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्ययअवधिज्ञान देवनारकियोंके होता है और गुणप्रत्ययअवधिज्ञान तिर्यञ्चो और मनुष्योंके होता है।

अवधिज्ञानके अनेक भेद हैं - देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र और अनेकक्षेत्र ॥५६॥

जिसके अवधिज्ञान होता है उसके शरीरसे नाभिसे ऊपर श्रीवत्स, कलश, शख, स्वस्तिक, नन्दावर्त आदि आकार वन जाते है। इन्ही चिन्होसे अवधिज्ञान उत्पन्न होता है। उन्हीके कारण उसे एक क्षेत्र या अनेक क्षेत्र कहते हैं।

आगे गाथासूत्रोके[1] द्वारा सूत्रकारने अवधिज्ञानके क्षेत्रसे सम्बद्ध कालका और कालसे सम्बद्ध क्षेत्रका, तथा देवोके अवधिज्ञानके विषयका कथन किया है। सूत्रगाथा १५ के द्वारा परमावधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका कथन किया

१ षट्ख०, धवला, पु० १३, पृ० ३०१-३२७।

है। गाथा न० १७ के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अवधिज्ञानके स्वामित्वका कथन किया है।

अवधिज्ञानसे सम्बद्ध ये गाथाएँ दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें अन्यत्र भी पाई जाती है। गोम्मटसार जीवकाण्ड[1] तो षट्खडागम और उसकी टीका धवलाके आधार पर ही सगृहीत किया गया है, अत उसमें तो कतिपय गाथाएँ यहीसे ली गई है।

महाबन्धके[2] आदिमें ये सब गाथाए थोडेसे व्यतिक्रमके साथ पायी जाती है।

चूँकि महाबन्ध भूतबलीकी ही रचना है, अत उनका वहाँ पाया जाना सम्भव है। गाथा न० १२, १३, १४ तिलोयपण्णत्तिके[3] आठवें अधिकारमें पाई जाती है। गाथा न० १२-१३, मूलाचारके[4] बारहवें अधिकारमें पाई जाती है। श्वेताम्बर परम्पराके नन्दिसूत्रमें भी ज्ञानकी चर्चा है। उसमें अवधिज्ञानके प्रकरणमें गाथाएँ (गा० न० ५०, ५१, ५२, ५३, ५४) ऐसी है जो इस अनुयोगद्वारकी गा० ४-८ से मिलती है। कुछ पाठभेदके सिवाय और भेद नही है।

षट्खण्डागमके वेदना और वर्गणा खण्डमें जो सूत्ररूपमें गाथाएँ आई है, हमारा विश्वास है कि वे गाथाएँ प्राचीन होनी चाहिये। इसीसे भूतबलिने उन्हें ज्यो-का-त्यो अपने ग्रन्थमे सूत्ररूपमें रख लिया है। सम्भवतया इसीसे उनमेसे कुछ गाथाएँ अन्यत्र भी उपलब्ध होती है।

मन पर्ययज्ञानावरणकर्मकी दो प्रकृतियाँ—ऋजुमतिमन पर्ययज्ञानावरण और विपुलमतिमन पर्ययज्ञानावरण बतलाई है। उनके प्रसगसे दोनो ज्ञानोके स्वरूप, विषय आदिका कथन सूत्रकारने विस्तारसे किया है।

मन पर्ययज्ञानका विषय बतलाते हुए सूत्रकारने कहा है—'मनके द्वारा मानसको जानकर मन पर्ययज्ञान दूसरोकी सज्ञा, स्मृति, मति, चिन्ता, जीवित-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, नगरविनाश, देशविनाश, जनपदविनाश, खेटविनाश, कर्वटविनाश, मडबविनाश, पट्टनविनाश, द्रोणमुखविनाश, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सुवृष्टि, दुर्वृष्टि, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, क्षेम, अक्षेम, भय और रोगरूप पदार्थोंको जानता है ॥६३॥

केवलज्ञानका वर्णन करते हुए लिखा है—'स्वय उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे युक्त भगवान देवलोक और असुरलोकके साथ मनुष्यलोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके साथ

---

१ गो०जी०का०गा०, ४०३-४०६, ४०७, ४२५, ४२६, ४२९, ४३१।

२ म०ब०, भा० १, पृ० २१-२४।

३ ति० प०, गा० ६८५, ६८६, ६८७।

४ मूलाचा० अधि० १२, गा० न० १०७-११०।

जीवादि द्रव्योका सम्मिलन), अनुभाग, तर्क, काल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित आदिकर्म (अर्थपर्याय और व्यञ्जन पर्यायरूपसे सब द्रव्योकी आदि), अरह कर्म (सब द्रव्योकी अनादिता), सब लोक, सब जीव, और सब भावोको सम्यक् प्रकारसे एक साथ जानते-देखते हुए विहार करते है ॥८२॥

इस प्रकार प्रकृतिअनुयोगद्वारमे ज्ञानावरणकर्मकी प्रकृतियोके सम्बन्धसे ज्ञानके भेदोकी मौलिक चर्चा है। यही चर्चा सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके प्रथम अध्यायमे आगत ज्ञानविषयक कथनका आधार है। इसका कथन इन ग्रन्थोके प्रकरणमे किया जायगा। इसी प्रकार दर्शनावरणीय आदि कर्मोकी प्रकृतियोका कथन प्रकृतिअनुयोगद्वारमे किया गया है। अन्तमे कहा है कि उन प्रकृतियोमेसे यहाँ कर्मप्रकृतिका प्रकरण है।

वन्धनअनुयोगद्वार[1]

वन्धनअनुयोगद्वारको आरम्भ करते हुए सूत्रकारने वन्धनके चार भेद किये है—१ वन्ध, २ वन्धक, ३ वन्धनीय और ४ वन्धविधान ॥१॥

वन्धके चार भेद है—नामवन्ध, स्थापनावन्ध, द्रव्यवन्ध और भाववन्ध ॥२॥ नैगम, सग्रह और व्यवहारनय सब वन्धोको स्वीकार करते है ॥४॥ ऋजुसूत्रनय स्थापनावन्धको स्वीकार नही करता ॥५॥ शब्दनय नामवन्ध और भाववन्धको स्वीकार करता है ॥६॥

जिस जीव या अजीवका 'वन्ध' यह नाम रखा जाता है वह नामवन्ध है। काष्ठकर्म, चित्रकर्म आदिमे 'यह वन्ध है' ऐसी स्थापना करना स्थापनावन्ध है। भाववन्धके दो भेद है—आगम भाववन्ध और नोआगम भाववन्ध। यह सब वर्णन पूर्ववत् है।

नोआगम भाववन्धके दो भेद है—जीवभाववन्ध और अजीवभाववन्ध।

जीवभाववन्धके तीन भेद है—विपाकप्रत्ययिक, अविपाकप्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक ॥१४॥

कर्मोके उदय और उदीरणाको विपाक कहते है। विपाक जिस भावका कारण होता है वह विपाक प्रत्ययिक जीवभाववन्ध है। और कर्मोके उदय और उदीरणाके अभावको अथवा कर्मोके उपशम वा, क्षयको अविपाक कहते है। अविपाक जिस भावका कारण है वह अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध है। और विपाक तथा अविपाकसे जो भाव उत्पन्न होता है वह तदुभयप्रत्ययिक जीवभाववन्ध है।

'देवभाव, मनुष्यभाव, तिर्यञ्चभाव, नारकभाव, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसक-

---

१. षट्ख०, धवला०, पु० १४।

वेद, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, दोप, मोह, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ललेश्या, असंयतभाव, अविरतभाव, अज्ञानभाव, मिथ्यादृष्टिभाव ये सब विपाकप्रत्ययिक अथवा औदयिक भाव हैं ॥१५॥'

अविपाक प्रत्ययिक जीवभाववन्धके दो प्रकार हैं—औपशमिक और क्षायिक ॥१६॥

उपशान्तक्रोध, उपशान्तमान, उपशान्तमाया, उपशान्तलोभ, उपशान्तराग, उपशान्तदोप, उपशान्तमोह, उपशान्तकपाय, वीतरागछद्मस्थ, औपशमिकसम्यक्त्व और औपशमिकचारित्र आदि जितने औपशमिक भाव हैं वे सब औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाववन्ध हैं ॥१७॥

क्षीणक्रोध, क्षीणमान, क्षीणमाया, क्षीणलोभ, क्षीणराग, क्षीणदोप, क्षीणमोह, क्षीणकपाय, वीतरागछद्मस्थ, क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकचरित्र, क्षायिकदानलब्धि, क्षायिकलाभलब्धि, क्षायिकभोगलब्धि, क्षायिकपरिभोगलब्धि, क्षायिकवीर्यलब्धि, केवलज्ञान, केवलदर्शन, सिद्ध, बुद्ध, परिनिर्वृत्ति, सर्वदुःखअन्तकृत्, इसी प्रकार अन्य भी जो क्षायिक भाव हैं वे सब क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभाववन्ध हैं ॥१८॥

एकेन्द्रिय लब्धि, द्वीन्द्रिय लब्धि, त्रीन्द्रिय लब्धि, चतुरिन्द्रिय लब्धि, पञ्चेन्द्रिय लब्धि, मत्यज्ञानी, श्रुताज्ञानी, विभंगज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, चक्षुदर्शनी, अचक्षुदर्शनी, अवधिदर्शनी, सम्यक्मिथ्यात्वलब्धि, सम्यक्त्वलब्धि, संयमासंयमलब्धि, संयमलब्धि, दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, परिभोगलब्धि, वीर्यलब्धि, आचारधर, सूत्रकृद्धर, स्थानधर, समवायधर, व्याख्याप्रज्ञप्तिधर, नाथधर्मधर, उपासकाध्ययनधर, अन्तकृद्धर, अनुत्तरौपपादिकदशधर, प्रश्नव्याकरणधर, विपाकसूत्रधर, दृष्टिवादधर, गणी, वाचक, दशपूर्वधर, चतुर्दशपूर्वधर ये तथा इसी प्रकारके अन्य जो क्षायोपशमिक भाव हैं वे सब तदुभयप्रत्ययिक जीवभाववन्ध हैं ॥१९॥

इसी प्रकार अजीवभाववन्धके भी तीन भेद करके विपाकप्रत्ययिक, अविपाक प्रत्ययिक और तदुभयप्रत्ययिक अजीवभाववन्धोका कथन किया है।

द्रव्यवन्धके दो भेद हैं—आगमद्रव्यबन्ध और नोआगमद्रव्यबन्ध।

नोआगमद्रव्यबन्धके दो भेद हैं—प्रयोगवन्ध और विस्रसाबन्ध।

विस्रसावन्धके दो भेद हैं—सादि और अनादि। धर्मास्तिकाय, धर्मास्तिकायदेश और धर्मास्तिकायप्रदेश, अधर्मास्तिक, अधर्मास्तिकदेश, और अधर्मास्तिकप्रदेश, आकाशास्तिक, आकाशास्तिदेश, आकाशस्तिप्रदेश, इन तीनो ही अस्तिकायोका जो परस्पर प्रदेशबन्ध हैं वह अनादिविस्रसाबन्ध हैं ॥३१॥

सादिवैस्रसिकबन्ध कहते हैं—विसदृश स्निग्धता और विसदृश रूक्षतामें बन्ध होता है। और समस्निग्धता और समरूक्षतामें भेद होता है॥ अत

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण ल्हुक्खस्स ल्हुक्खेण दुराहिएण।

णिद्धस्स ल्हुक्खेण हुवेदि बंधो जहण्णवज्जो विसमे समे वा ॥३६॥

स्निग्ध पुद्गलका दो अधिक स्निग्ध पुद्गलके साथ और रूक्ष पुद्गलका दो अधिक रूक्ष पुद्गलके साथ बन्ध होता है तथा स्निग्धगुण पुद्गलका रूक्षगुण पुद्गलके साथ सम या विषम गुण होने पर बन्ध होता है, जघन्यगुणवालेका बंध नही होता।

उक्त गाथा श्वेताम्बर परम्परामें भी पाई जाती है। किन्तु द्वितीय पंक्तिके अर्थमें दोनोंमें मतभेद है। उसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा।

उक्त गाथासे पहले इस बन्धनअनुयोगद्वारमें दो सूत्र हैं—

'वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो ॥ ३२ ॥ समणिद्धदा समल्हुक्खदा भेदो ॥ ३३ ॥

श्वेता० प्रज्ञापनामें भी ठीक इसी आशयको शब्दशः लिये हुए एक गाथा और तदनन्तर उक्त गाथा इस प्रकार आती है—

समणिद्धयाए बंधो न होति समलुक्खयाए वि ण होति।

वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण बंधो उ खंधाण ॥ १ ॥

णिद्धस्स णिद्धेण दुयाहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण।

निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो जहण्णवज्जो विसमो समो वा ॥२॥

—प्रज्ञापना०, परि० पद १३, सू० १८५

पुद्गलोंके बन्धका स्वरूप बतलाकर आगे लिखा है—

'इस प्रकार वे पुद्गल बन्धनपरिणामको प्राप्त होकर अभ्ररूपसे, मेघरूपसे सन्ध्यारूपसे, बिजलीरूपसे, उल्कारूपसे, कनक (वज्र) रूपसे, दिशादाहरूपसे, धूमकेतुरूपसे, इन्द्रधनुषरूपसे, क्षेत्रके अनुसार, कालके अनुसार, ऋतुके अनुसार, अयनके अनुसार, पुद्गलके अनुसार, बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते हैं।'

ये सब तथा इनसे अन्य जो अमंगलप्रभृति बन्धनपरिणामरूपसे परिणत होते है वह सब सादिवैस्रसिक बन्ध है ॥३७॥

प्रयोगबन्धके दो भेद हैं—कर्मबन्ध और नोकर्मबन्ध। नोकर्मबन्धके पाँच भेद हैं—आलापनबन्ध, अल्लीवनबन्ध, संश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरिबन्ध ॥४०॥

शकटोंका, यानोंका, युगोंका,[1] गड्डियोंका[2], गिल्लियोंका, रथोंका, स्यन्दनों[3]-

---

१ जो घोड़े और खच्चरोंसे खींची जाती है।

२ हल्का भार ढोने वाली गाडी।

३ युद्धोपयोगी साधनोंसे सम्पन्न रथ।

का, शिविकाओका, गुहोका, प्रासादोका, गोपुरोका और तोरणोका काष्ठसे, लोहसे, रस्सीसे, चमडेकी रस्सीसे, और दर्भसे जो बन्ध होता है वह आलापनवन्ध है ।।४१।। कटकोका (चटाईका), कुड्योका, गोवरपिण्डोका, प्राकारोका और शाटिकाओका, तथा इस प्रकारके अन्य द्रव्योका जो वन्ध होता है वह अल्लीवण-बन्ध है ।।४२।। लकडी और लाखके वन्धको सश्लेषवन्ध कहते है ।।४३।। औदारिक आदि शरीरोके बन्धको शरीरवन्ध कहते है ।

जीवके आठ मध्य प्रदेशोका जो परस्परमें प्रदेशवन्ध है वह अनादि शरीर-बन्ध है ।

कर्मवन्धको कर्मानुयोगद्वारकी तरह जानना चाहिये ।।६४।।

इस वन्धनअनुयोगद्वारमे ६४ सूत्र है ।

२ वन्धकअनियोगद्वार

वन्धकअनुयोगको खुद्दावन्ध नामक दूसरे खण्डकी तरह जान लेना चाहिये । खुद्दावन्धमें इसका कथन हो चुका है ।

३ बन्धनीयअनुयोगद्वार

जो बन्धके योग्य होता है उसे वन्धनीय कहते है । पुद्‌गल वन्धनीय है क्योकि पुद्‌गलोके सिवाय अन्य कोई पदार्थ बन्धनीय नही है । वे वन्धनीय पुद्‌गल स्कन्ध-स्वरूप होते है । और वे स्कन्ध वर्गणारूप होते है । अत वन्धनीयका कथन करते हुए वर्गणाका कथन अवश्य करना चाहिये ।

वर्गणाओके सम्वन्धमें आठ अनुयोगद्वार जानने योग्य है—वर्गणा, वर्गणाद्रव्य-समुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमासा और अल्पबहुत्व ।।६९।।

वर्गणा—वर्गणाअनुयोगद्वारके विषयमें ये सोलह अनुयोगद्वार है—वर्गणा-निक्षेप, वर्गणानयविभाषणता, वर्गणाप्ररूपणा, वर्गणानिरूपणा, वर्गणाध्रुवाध्रुवानुगम, वर्गणासान्तरनिरन्तरानुगम, वर्गणाओजयुग्मानुगम, वर्गणास्पर्शनानुगम, वर्गणा-अन्तरानुगम, वर्गणाभावानुगम, वर्गणाउपनयनानुगम, वर्गणापरिमाणानुगम, वर्गणाभागाभागानुगम और वर्गणाअल्पबहुत्व ।।७०।।

वर्गणानिक्षेप छै प्रकारका है—नामवर्गणा, स्थापनावर्गणा, द्रव्यवर्गणा, क्षेत्र-वर्गणा, कालवर्गणा, और भाववर्गणा ।।७१।। नैगम, सग्रह और व्यवहार सब वर्गणाओको स्वीकार करते है । ऋजुसूत्र स्थापनावर्गणाको स्वीकार नही करता । शब्दनय नामवर्गणा और भाववर्गणाको स्वीकार करता है । इस तरह सूत्रकारने वर्गणाके सोलह अनुयोगद्वारोमेंसे आदिके दो ही अनुयोगद्वारोका कथन किया है ।

आगे वर्गणाका कथन करते हुए २३ वर्गणाएँ वतलाई हैं, जो इसप्रकार है—

एकप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा १, द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, चतु प्रदेशी, पच-प्रदेशी, पट्प्रदेशी, सप्तप्रदेशी, अष्टप्रदेशी, नवप्रदेशी, दसप्रदेशी, आदि सख्यात-प्रदेशी, परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा २, असख्यातप्रदेशी परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ३, अनन्तप्रदेशी, परमाणु पुद्गलद्रव्यवर्गणा ४, आहार द्रव्यवर्गणा ५, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ६, तैजसशरीर द्रव्यवर्गणा ७, अग्रहण द्रव्यवर्गणा ८, भापाद्रव्य-वर्गणा ९, अग्रहणद्रव्यवर्गणा १०, मनोद्रव्यवर्गणा ११, अग्रहण द्रव्यवर्गणा १२, कार्मणद्रव्यवर्गणा १३, ध्रुवस्कन्धद्रव्यवर्गणा १४, सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणा १५, ध्रुवशून्यवर्गणा १६, प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा १७, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा १८, वादर निगोद द्रव्यवर्गणा १९, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २०, सूक्ष्म निगोद-वर्गणा २१, ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा २२, महास्कन्धवर्गणा २३ ।

इन तेईस वर्गणाओंके नाम सूत्रकारने वाईस सूत्रोके द्वारा वतलाये हैं ।

इसका कारण यह है कि उन्होने प्रथम चार वर्गणाओके पश्चात प्रत्येक वर्गणा का निर्देश इस प्रकार किया है—'अनन्तानन्त प्रदेशी परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणाके ऊपर आहार द्रव्यवर्गणा है ॥७९॥ 'आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहणद्रव्य-वर्गणा है ॥८०॥' 'अग्रहणद्रव्यवर्गणाके ऊपर तैजसद्रव्यवर्गणा है ॥८१ ॥' 'तैजस द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा है ॥८२॥' इत्यादि ।

इसका कारण यह है कि पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक अक मिलाने पर आगेकी जघन्य वर्गणाका प्रमाण होता है । यथा—सवसे प्रथम परमाणु पुद्गल द्रव्यवर्गणा तो एकपरमाणुरूप है । उसमे एक परमाणुके मिल जानेसे अर्थात् दो परमाणुओके समागमसे द्विप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । यह जघन्यसख्याताणुवर्गणा है क्योकि जघन्य संख्यातका प्रमाण दो है । उत्कृष्ट सख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य असख्यात-प्रदेशी द्रव्यवर्गणा होती है । उत्कृष्ट असख्यातासख्यातप्रदेशी परमाणुपुद्गल-द्रव्यवर्गणामें एक अंक मिलाने पर जघन्य अनन्तप्रदेशी परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । अपने जघन्यसे अनन्तगुणी उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी पुद्गलद्रव्यवर्गणा होती है । ये चारो ही वर्गणाएँ अग्राह्य हैं—जीवके द्वारा इनका ग्रहण नही होता ।

उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य आहारद्रव्य-वर्गणा होती है । औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गल स्कन्धोको आहारद्रव्यवर्गणा कहते है । उत्कृष्ट आहारद्रव्यवर्गणामे एक अक मिलाने पर प्रथम अग्रहणद्रव्यवर्गणा सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है । जो

पुद्गलस्कन्ध पाँचो शरीर, भापा और मनके अयोग्य होते हैं उनको अग्रहणवर्गणा कहते है। प्रथम उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य तैजस-शरीरद्रव्यवर्गणा होती है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते है। इसलिए यह ग्रहणवर्गणा है।

उत्कृष्ट तैजसशरीरद्रव्यवर्गणामे एक अक मिलाने पर दूसरी अग्रहण द्रव्य-वर्गणा सम्वन्धी जघन्य अग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है। यह पाँच शरीरोके योग्य नही होती, इसलिये इसे अग्रहणद्रव्यवर्गणा कहा गया है।

दूसरी उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य भापाद्रव्य-वर्गणा होती है। भापाद्रव्यवर्गणाके परमाणु पुद्गलस्कन्वभापाओके तथा शब्दो-के योग्य होते है।

उत्कृष्ट भापाद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर तीसरी जघन्य, अग्रहणद्रव्य-वर्गणा होती है। इसके भी पुद्गलस्कन्ध ग्रहणयोग्य नही होते। तीसरी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर जघन्य मनोद्रव्यवर्गणा होती है। मनोद्रव्यवर्गणासे द्रव्यमनकी रचना होती हैं। उत्कृष्ट मनोद्रव्यवर्गणामें एक अक मिलाने पर चौथी जघन्यअग्रहणद्रव्यवर्गणा होती है। यह भी ग्रहण योग्य नही होती। चौथी उत्कृष्ट अग्रहणद्रव्यवर्गणामे एक अक मिलाने पर जघन्यकार्मण-शरीरद्रव्यवर्गणा होती हैं। कार्मणद्रव्यवर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोके योग्य होते हैं।

इस प्रकार पूर्वपूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक एक प्रदेशकी वृद्धि होने पर आगेकी जघन्य वर्गणा होती है। प्रथम परमाणुपुद्गलद्रव्यवर्गणाको छोडकर प्रत्येक वर्गणाके अपने जघन्यसे लेकर उत्कृष्टपर्यन्त वहुतसे भेद होते हैं। धवला-टीकामें उनका कथन किया है। विस्तार भयसे यहाँ हमने कथन नही किया।

इन तेईस वर्गणाओमेंमे आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भापावर्गणा, मनोद्रव्य-वर्गणा और कार्मणवर्गणा ये पाँच वर्गणाएँ ही ग्राह्यवर्गणाएँ है क्योकि जीवके द्वारा इनका ग्रहण होता है। अत वन्धनीयमें इन पाँचकी ही उपयोगिता है, शेप-वर्गणाएँ वन्धनीय नही है। किन्तु शेपवर्गणाओका कथन किये विना इन पाँच वन्धनीयवर्गणाओका कथन नही किया जा सकता। इसलिये वन्धनीयके सम्वन्ध-में २३ पुद्गलवर्गणाओका कथन किया गया है। और उसीके कारण इस पचम खण्डका नाम वर्गणा खण्ड है।

धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने प्रत्येक शरीरद्रव्यवर्गणा और बादरनिगोद द्रव्यवर्गणाका विवेचन बहुत विस्तारसे किया है।

इसके पश्चात् सूत्रकारने यह वतलाया है कि इन तेईस वर्गणाओमेंसे कौन वर्गणा

भेदसे उत्पन्न होती है, कौन वर्गणा सघातसे उत्पन्न होती है और कौन वर्गणा भेद और सघात दोनोसे उत्पन्न होती है।

स्कन्धोका विभाग होनेको भेद कहते हैं। और परमाणुपुद्गलोके सम्मिलनका नाम सघात है। तथा भेदपूर्वक होनेवाले सघातको भेदसघात कहते है।

परमाणुद्रव्यवर्गणा तो द्विप्रदेशी आदि ऊपरकी वर्गणाओके भेदसे ही उत्पन्न होती है। शेप वर्गणाएँ भेदसे, सघातसे और भेदसघातसे उत्पन्न होती है। अर्थात् अपनेसे नीचेकी वर्गणाओके सघातसे और ऊपरकी वर्गणाओके भेदसे तथा स्वस्थान की अपेक्षा भेद-सघातसे उत्पन्न होती है।

उक्त वर्गणाओका कथन करनेके पश्चात् सूत्रकार भूतवलिने कहा है—

'अव इस बाह्यवर्गणाकी अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये ॥११७॥ इसके विषयमे ये चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है—शरीरिशरीरप्ररूपणा, शरीरप्ररूपणा, शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणा और विस्रसोपचयप्ररूपणा ॥११८॥'

धवलाटीकामे बतलाया है कि पाँचो शरीरोकी बाह्यवर्गणा सज्ञा है। अत सूत्रकारने उक्त चार अनुयोगोके द्वारा उनका विशेप कथन किया है। सबसे प्रथम शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन करते हुए कहा कि 'जीव प्रत्येकशरीरवाले और साधारणशरीरवाले होते है ॥११९॥ साधारणशरीरवाले जीव नियमसे वनस्पतिकायिक होते है। और शेप जीव प्रत्येकशरीरी होते है ॥१२०॥ आगे सात गाथाओसे साधारणशरीरवाले जीवोका कथन किया है। उनके प्रारम्भका सूत्र इस प्रकार है—'तत्थ इम साहारणलक्खण भणिद ॥१२१॥' 'वहाँ साधारणका यह लक्षण कहा है।' इससे स्पष्ट है कि साधारणका कथन करनेवाली गाथा या गाथाएँ प्राचीन है। और अपने स्थलसे 'सभवतया' महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके वन्धनअनुयोगद्वारसे ही उठाकर यहाँ रखी गई है। यहाँ हम उन सातो गाथाओको अर्थके साथ देते है—

"साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहण च।
साहारणजीवाण साहारणलक्खण भणिद ॥१२२॥"

साधारण आहार, साधारण उच्छ्वास-निश्वासका ग्रहण, यह साधारणकायवाले जीवोका साधारणलक्षण कहा है।

'एयस्स[1] अणुग्गहण वहूण साहारणाणमेयस्स।
एयस्स ज वहूण समासदो त पि होदि एयस्स ॥१२३॥'

एक जीवका जो अनुग्रहण (पर्याप्तियोके योग्य पुद्गल परमाणुओका ग्रहण

१. 'इक्कस्स उ ज गहण वहूण साहारणाण त चेव। ज वहुयाण गहण समासओ त पि इक्कस्स ॥९६॥—प्रज्ञा० १ पद।

अथवा निष्पन्न शरीरके योग्य परमाणु पुद्गलोका ग्रहण) है वह बहुतसे साधारण जीवोका तथा उस एक ग्रहण करनेवाले जीवका भी है। तथा बहुत जीवोका जो अनुग्रहण है वह पिण्डरूपसे उस एक विवक्षित निगोदिया जीवका भी है।

'समग वक्कताण समगं तेसिं सरीरणिप्पत्ती।
समग च अणुग्गहण समग उस्सासणिस्सासो ॥१२४॥'

"एक साथ उत्पन्न होनेवाले उन जीवोके शरीरकी निष्पत्ति एक साथ होती है। एक साथ अनुग्रहण होता है और एक साथ उछ्वास-निश्वास होता है।"

'जत्थेउ मरइ जीवो तत्थ दु मरणं भवे अणताण।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमण तत्थ णताण ॥१२५॥'

"जिस शरीरमे एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्त जीवोका मरण होता है और जिस शरीरमे एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोकी उत्पत्ति होती है ॥१२५॥"

'बादर-सुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण।
ते हु अणता जीवा मूलयथूहुल्लयादीहि ॥१२६॥'

"बादरनिगोदजीव और सूक्ष्मनिगोदजीव ये परस्परमे बद्ध और स्पृष्ट होकर रहते है। वे जीव अनन्त होते है और मूलक, थूहर, आर्द्रक आदि कारणो-से होते है।"

'अत्थि अणता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकअपउरा णिगोदवास ण मुंचति ॥१२७॥'

"ऐसे अनन्त जीव है जिन्होने त्रसभावको प्राप्त नही किया, क्योकि वे भाव-कलक अर्थात् सक्लेशपरिणामोकी अधिकतासे युक्त होते है, इसलिये निगोदवासको नही छोडते।"

'एगणिगोदशरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ॥१२८॥'

"एक निगोदिया जीवके शरीरमें द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा समस्त अतीत कालमें सिद्ध हुए जीवोसे भी अनन्तगुणे जीव देखे गये है।"

इनमेंसे गाथा न० १२२, १२३ और १२४ श्वे० प्रज्ञापनासूत्रके प्रथम पदमें भी पाई जाती है। वहाँ इनका क्रम विपरीत है अर्थात् १२४ (९५), १२३ (९६) और १२२ (९७) के क्रमसे है। गाथा १२३ में पाठभेद भी है। अस्तु,

उक्त गाथाओके पश्चात् सूत्रकारने लिखा है—

'एदेण अट्ठपदेण तत्थ इमाणि अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवति—सतपरू-

वणा, दव्वपमाणाणुगमो, खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो, कालाणुगमो, अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥ १२९ ॥

इस अर्थपदके अनुसार यहाँ ये अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं—सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम।

ये आठो अनुयोगद्वार वही है, जिनका जीवट्ठाणके सतपरूवणा अनुयोगद्वारके आदिमें पुष्पदन्ताचार्यने निर्देश किया था। भूतबलिने शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन इन्ही आठ अनुयोगोके द्वारा किया है।

ओघसे कथन करते हुए कहा है कि—'ओघसे दो शरीरवाले, तीन शरीरवाले, चार शरीरवाले और शरीररहित जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

विग्रह गतिमें वर्तमान चारो गतियोके जीव दो शरीरवाले होते है क्योकि उनके वहाँ तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर होते है। औदारिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले मनुष्य और तिर्यञ्च अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्मण शरीरवाले देव और नारकी तीन शरीरवाले होते है। औदारिक, वैक्रियिक, तैजस और कार्मण अथवा औदारिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरवाले जीव चार शरीरवाले होते है। और मुक्त जीव शरीररहित होते है।

आगे सूत्रकारने आदेशसे १४ मार्गणाओमें उक्त शरीरवाले जीवोकी सत्ताका कथन किया है। सतपरूवणाके पश्चात् छै अनुयोगद्वारोका कथन सूत्रकारने नही किया। टीकाकार वीरसेनस्वामीने धवलाटीकामें उनका कथन किया है। सूत्रकारने अन्तिम अल्पबहुत्वानुगमका कथन किया है। उसके साथ ही शरीरिशरीरप्ररूपणाका कथन समाप्त हो जाता है। उसके पश्चात् शरीरप्ररूपणाका कथन प्रारम्भ होता है।

शरीरप्ररूपणा

शरीरप्ररूपणा छै अनुयोगोके द्वारा की गई है। वे छै अनुयोगद्वार है—नामनिरुक्ति, प्रदेशप्रमाणानुगम, निषेकप्ररूपणा, गुणकार, पदमीमासा और अल्पबहुत्व ॥ २३६ ॥ नामनिरुक्तिमें सूत्रकारने प्रत्येक शरीरके नामकी निरुक्ति की है—'उरालमिदि ओरालिय ॥२३७॥' उदार—स्थूल होनेसे औदारिक कहा जाता है।

'विविहगुणइड्ढिजुत्तमिदि वेउव्वियं ॥ २३८ ॥' विविध गुणो और ऋद्धियोसे युक्त होनेसे वैक्रियिक कहा जाता है।

'णिवुणाण वा णिण्णाणं वा सुहुमाण वा आहारदव्वाण सुहुमदरमिदि आहारय

॥ २३९ ॥ अर्थात् आहारद्रव्यमेंसे निपुणतर, स्निग्धतर और सूक्ष्मतर स्कन्धको आहार ग्रहण करता है, इसलिए आहारक कहा जाता है ।

'तेयप्पहगुणजुत्तमिदि तेजइयं ॥ २४० ॥

तेज और प्रभा गुणसे युक्त है, इसलिये तैजस कहते हैं ।

'सव्वकम्माण परूहणुप्पादय सुहदुक्खाणं वीजमिदि कम्मइय ॥२४१॥

सब कर्मोका प्ररोहण अर्थात् आधार, उत्पादक और सुख-दु खका बीज है, इसलिये इसे कार्मण कहते है । इस प्रकार नामनिरुक्तिमें पाँचो शरीरोके नामोकी निरुक्ति की गई है ।

प्रदेशप्रमाणानुगममें वतलाया है कि प्रत्येक शरीरके प्रदेश अभव्योसे अनन्त-गुणें और सिद्धोके अनन्तवें भाग है । निषेकप्ररूपणाका कथन छै अनुयोगोके द्वारा किया है । वे छै अनुयोग है—समुत्कीर्तना, प्रदेशप्रमाणानुगम, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, प्रदेशविरच और अल्पवहुत्व ।

इन छै अनुयोगद्वारोका कथन करनेके पश्चात् पदमीमासानामक अनुयोगद्वारका कथन है । उसमें वतलाया है कि औदारिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी तीन पल्यकी आयुवाला उत्तरकुरु और देवकुरुका मनुष्य होता है ॥४१८॥

आगे अनेक सूत्रोके द्वारा उसकी अन्य विशेषताएँ भी बतलाई है, जिनके होनेसे ही वह उत्कृष्टप्रदेशसंचयका स्वामी होता है ।

वैक्रियिकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी बाईस सागरकी स्थितिवाला आरण-अच्चुतकल्पका वासी देव होता है ॥४३१॥ उसकी भी अनेक विशेषताएँ बतलाई है । आहारकशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी उत्तरशरीरकी विक्रिया करने वाला प्रमत्तसयत मुनि होता है ॥४४६॥ तैजसशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह है जो पूर्वकोटिकी आयुवाला जीव सातवी पृथिवीके नारकियोकी आयुका बन्ध करके सातवी पृथिवीमें उत्पन्न हुआ, वहाँसे निकल कर पुन पूर्वकोटिकी आयुवालोमें उत्पन्न हुआ । उसी प्रकार मरण करके पुन सातवी पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न हुआ । वहाँ तेतीस सागरकी आयुको पालता हुआ रहा । चरम समयवर्ती वह जीव तैजस शरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी होता है ।

कार्मणशरीरके उत्कृष्ट प्रदेशाग्रका स्वामी वह जीव होता है जो बादर-पृथिवीकायिक जीवोमें दो हजार सागर कम कर्मस्थितिप्रमाणकाल तक रहता है । इत्यादि ।

इसी तरह प्रत्येकशरीरके जघन्य प्रदेशाग्रके स्वामीका भी कथन किया है । अल्पवहुत्वमें वतलाया है कि औदारिकशरीरका प्रदेशाग्र सबसे थोडा है । उससे वैक्रियिकशरीरका प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है ॥४९८॥ उससे आहारकशरीरका

प्रदेशाग्र असख्यातगुणा है ॥४९९॥ उससे तैजसशरीरका प्रदेशाग्रका अनन्त-गुणा है ॥५००॥ उससे कार्मणशरीरका प्रदेशाग अनन्तगुणा है ॥५०१॥

शरीरविस्रसोपचयप्ररूपणाका कथन अविभागप्रतिच्छेद, वर्गणा, स्पर्धक, अन्तर, शरीर और अल्पबहुत्व इन छै अनुयोगोके द्वारा किया गया है। इनके कथनमे बतलाया है कि एक-एक औदारिकशरीरमे सब जीवोसे अनन्तगुणे अवि-भागी प्रतिच्छेद होते है। अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदोकी एक वर्गणा होती है। इस प्रकार अभव्योमे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण वर्गणाएँ होती है और अभव्योसे अनन्तगुणी और सिद्धोके अनन्तवे भाग वर्गणाओका एक स्पर्धक होता है। इस प्रकार अभव्योमे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवें भाग-प्रमाण अनन्त स्पर्धक होते है ॥५०९॥ तथा शरीरके बन्धनके कारणभूत गुणोका बुद्धिके द्वारा छेद करने पर अविभागी प्रतिच्छेद उत्पन्न होते है ॥५१२॥ औदारिक शरीरके अविभागी प्रतिच्छेद सबसे कम है। उससे आगेके शेप चार शरीरोके अविभागी प्रतिच्छेद उत्तरोत्तर अनन्तगुणे होते है।

इसी तरह विस्रसोपचयका कथन करते हुए बतलाया है कि एक-एक जीव-प्रदेशपर अनन्त विस्रसोपचय उपचित होते है, जो कि सब जीवोसे अनन्त गुणे है और वे सब लोकमेंसे आकर बद्ध हुए है। इत्यादि रूपसे विस्रसोपचयका कथन पूर्ण होनेके साथ बाह्यवर्गणाका कथन समाप्त होता है।

'इससे आगेके ग्रन्थका नाम चूलिका है ॥५८१॥' ऐसा स्वय सूत्रकारने निर्देश किया है।

चूलिका

जैसा कि चूलिकाका लक्षण कहा है, इसमें पहले सूचित किये गये अर्थोका विशेप रूपसे कथन किया गया है। पहले जो 'जत्थेय मरदि जीवो' आदि गाथा कही थी उसके उत्तरार्धमें कहा गया था कि 'जिस शरीरमें एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीव उत्पन्न होते है।' उसीका विशेप कथन प्रारम्भमें किया गया है। तत्पश्चात् उक्त गाथाके पूर्वार्धका, जिसमें कहा है कि 'जिस शरीरमें एक जीवका मरण होता है वहाँ अनन्तानन्त जीवोका मरण होता है', विशेप कथन किया है।

पहले तेईस वर्गणाओका कथन किया है। उसमें बतलाया है कि ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य है और ये वर्गणाएँ ग्रहणयोग्य नही है। उसीका कथन करनेके लिए—बन्धनीयके चार अनुयोगद्वार ज्ञातव्य बतलाये है—वर्गणा, वर्गणानिरूपणा, प्रदेशार्थता और अल्पबहुत्व ॥७०६॥

वर्गणाप्ररूपणामें पुरानी बात ही दोहराई है—'आहार द्रव्यवर्गणाके ऊपर अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। अग्रहण द्रव्यवर्गणाके ऊपर तेजोद्रव्यवर्गणा होती है, इत्यादि। यहाँ केवल पाँच ग्रहणवर्गणापर्यन्त ही उक्त कथनको दोहराया है क्योंकि यहाँ पाँच शरीरोके ग्रहणयोग्य और अग्रहणयोग्यका ही कथन किया है। अत इस वर्गणाप्ररूपणाके ७०८ से ७१८ तकके सूत्र बन्धनअनुयोगद्वारकी वर्गणा-प्ररूपणाके ७६ से ८७ तकके सूत्रोके साथ प्राय अक्षरश मिलते है। इसीसे सूत्र नं० ७१८ की धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने लिखा है कि इन सब सूत्रोंके द्वारा पूर्वोक्त वर्गणाओकी ही सम्हाल की गई है।

दूसरे वर्गणानिरूपणाअनुयोगद्वारमें पाँचों शरीरोंके ग्रहणयोग्य और अग्रहण-योग्य वर्गणाओका थोडा प्रकारान्तरसे कथन किया है। इस कथनमे आहार-वर्गणा आदि पाँचो ग्रहणवर्गणाओका और उनके मध्यकी अग्रहणवर्गणाओंका स्वरूप भी बतलाया है। यथा—'औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके जिन द्रव्योको ग्रहण कर जीव औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूपसे परिणमाते है उन द्रव्योकी आहारवर्गणा सज्ञा है ॥७३॥' 'जिन द्रव्योको ग्रहण कर जीव तैजसशरीररूपसे परिणमाता है उन द्रव्योकी तैजसवर्गणा संज्ञा है ॥' इसी तरह जो वर्गणा चार प्रकारकी भाषारूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह भाषावर्गणा है और जो वर्गणा चार प्रकारके मनरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह मनोवर्गणा है। जो वर्गणा आठ प्रकारके कर्मरूपसे ग्रहण होकर प्रवृत्त होती है वह कार्मणवर्गणा है।

प्रदेशार्थता-अनुयोगद्वारमें बतलाया है कि औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक-शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणामें तो पाँचो वर्ण, पाँचो रस, दोनो गध और और आठो स्पर्श गुण होते है। किन्तु तैजसशरीरद्रव्यवर्गणा, भाषा-द्रव्यवर्गणा, मनोद्रव्यवर्गणा और कार्मणद्रव्यवर्गणामें पाँचों वर्ण, पाँचो रस, दोनो गन्ध होते है किन्तु स्पर्श चार ही होते हैं—स्निग्ध या रूक्ष, शीत या उष्ण, कठोर या कोमल, और गुरु अथवा लघु।

अल्पबहुत्वमें प्रदेशोकी अपेक्षा उक्त वर्गणाओके अल्पबहुत्वका कथन किया है। अल्पबहुत्वकी समाप्तिके साथ ही बन्धनीय अनुयोगद्वार समाप्त हो जाता है।

बन्ध, बन्धक, बन्धनीयका कथन कर चुकनेके पश्चात् केवल एक बन्ध-विधान शेष बचता है। वर्गणाखण्डके अन्तिम सूत्रमें उसका निर्देश करते हुए केवल इतना कहा है—'जो बन्धविधान है वह चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध ॥७९७॥

इस सूत्रकी धवलाटीकामें श्रीवीरसेनस्वामीने लिखा है—'इन चारों बन्धोका विधान भूतबलीभट्टारकने महाबन्धमें विस्तारके साथ लिखा है। इसलिये यहाँ हमने नही लिखा। अत सकल महाबन्धका यहाँ कथन करनेपर बन्धविधान समाप्त होता है।

इस तरह पांचवें वर्गणाखण्डकी समाप्तिके साथ भूतबली विरचित षट्खण्डागमके पांच खण्ड समाप्त हो जाते हैं। किंतु चूँकि महाबन्धको इससे अलग स्वतंत्र ग्रंथके रूपमें गिना जाता है, अत वर्गणाखण्डके साथ ही षट्खण्डागम नामक ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इसकी सूत्रसंख्या इस प्रकार है—

१ जीवट्ठाण	प्र० पुस्तक १	सत्प्ररूपणा	१७७ सूत्र संख्या
	पुस्तक ३	द्रव्यप्रमाण	१९२ ,,
	पुस्तक ४	क्षेत्रानुगम	९२ ,,
	,,	स्पर्शनानुगम	१८५ ,,
	,,	कालानुगम	३४२ ,,
	पुस्तक ५	अन्तर	३९७ ,,
	,,	भाव	९३ ,,
	,,	अल्पबहुत्व	३८२ ,,
	पु० ६ चूलिका—	प्रकृतिसमुत्कीर्तन	४६ ,,
	,,	स्थानसमुत्कीर्तन	११७ ,,
	,,	प्रथम महादण्डक	२ ,,
	,,	द्वितीय महादण्डक	२ ,,
	,,	तृतीय महादण्डक	२ ,,
	,,	उत्कृष्टस्थितिचू०	४४ ,,
	,,	जघन्यस्थितिचू०	४३ ,,
	,,	सम्यक्त्वोत्पत्तिचू०	१६ ,,
	,,	गत्यागतिचूलिका	२४३ ,,
२. खुद्दाबन्ध	पुस्तक ७	सत्वप्ररूपणा	४३ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा स्थायित्व	९१ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा काल	२१६ ,,
	,,	एक जीवकी अपेक्षा अन्तर	१५१ ,,
	,,	नानाजीवोकी अपेक्षा भंगविचय	२३ ,,
	,,	द्रव्य प्रमाणानुगम	१७१ ,,

२ खुद्दाबंध	७ पुस्तक	क्षेत्रानुगम	१२४ सूत्र स०	
,,	,,	स्पर्शनानुगम	२७९ ,,	
,,	,,	नाना जीवोकी अपेक्षा कालानुगम	५५ ,,	
,,	,,	,, ,, अन्तरानुगम	६८ ,,	
,,	,,	भागाभागानुगम	८८ ,,	
,,	,,	अल्पबहुत्वानुगम	२०५ ,,	
,,	,,	महादण्डक	७९ ,,	
३ बन्धस्वामित्वविचार	८ पुस्तक	बन्धस्वामित्व	३२४ ,,	
४ वेदना	९ पु०	कृतिअनुयोगद्वार	७६ ,	
,,	१० पु०	वेदनानिक्षेप	३ ,,	
,,	,,	नयविभापणता	४ ,,	
,,	,,	नामविधान	४ ,,	
,,	,,	द्रव्यविधान	२१३ ,,	
,,	११ पुस्तक	क्षेत्रविधान	९९ ,,	
,,	,,	कालविधान	२७९ ,,	
,,	१२ पुस्तक	भावविधान	३१४ ,,	गा०स०८
,,	,,	प्रत्ययविधान	१६ ,,	
,,	,,	स्वामित्वविधान	१५ ,,	
,,	,,	वेदनाविधान	५८ ,,	
,,	,,	गतिविधान	१२ ,,	
,,	,,	अनन्तरविधान	११ ,,	
,,	,,	सन्निकर्पविधान	३२० ,,	
,,	,,	परिमाणविधान	५३ ,,	
,,	,,	भागाभागविधान	२१ ,,	
,,	,,	अल्पबहुत्व	२६ ,,	
५ वर्गणाखण्ड	१३ पुस्तक	स्पर्शअनियोगद्वार	३३ ,,	गा० २
,,	,,	कर्मानुयोगद्वार	३१ ,,	
,,	,	प्रकृतिअनुयोगद्वार	१४२ ,,	गा० १७
,,	१४ पुस्तक	बन्धनअनुयोगद्वार	७९७ ,,	

कुल सूत्रसख्या ६८१९, गा०स० २७

कसायपाहुड और छक्खडागमका तुलनात्मक विवेचन

कसायपाहुड और छक्खडागमके विश्लेषण और विवेचनके अनन्तर उक्त

दोनो सिद्धान्त-ग्रन्थोके तुलनात्मक अध्ययनपर प्रकाश डालना अनुचित न होगा। शैली और भाषाकी दृष्टिसे दोनोकी भिन्नता पहले ही लिखी जा चुकी है। अतएव इस सन्दर्भमे विषय-वस्तुके प्रतिपादनकी दृष्टिसे दोनोका तुलनात्मक निरूपण आवश्यक है।

यहां यह ध्यातव्य है कि छक्खंडागमके वेदना और वर्गणा खडमे पच्चीस गाथा-सूत्र आये है, जो प्राचीन प्रतीत होते है। इसी प्रकार कसायपाहुडकी भी कुछ गाथाएँ गुणधर-विरचित न भी हो, पर वे जिस कसायपाहुडको उपसंहृत किया गया है उसीसे ज्यो-की-त्यो ले ली गयी हो। यत प्राचीन परिपाटी ऐसी रही है।

एक विचारणीय वात यह है कि कसायपाहुड और छक्खडागमकी कुछ गाथाएँ अन्य ग्रन्थोमे मिलती है। परन्तु कसायपाहुडकी कोई भी गाथा न तो छक्खंडागममे मिलती है और न छक्खंडागमकी कोई गाथा कसायपाहुडमे ही उपलब्ध होती है। अन्य भी कोई ऐसा तथ्य नही मिलता है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एककी छाया दूसरेपर है अथवा एकके रचयिताने दूसरे-की कृतिको देखा है। किन्तु थोडा-सा सादृश्य जहां प्रतीत होता है उसका उल्लेख कर देना भी अनुचित न होगा।

कसायपाहुडके सम्यक्त्वअधिकारके प्रारम्भमे चार गाथाओके द्वारा पृच्छा की गयी है। गाथाएँ इस प्रकार है—

दसणमोहउवसामगस्स परिणामो केरिसो हवे।
जोगे कसाय उवजोगे लेस्सा वेदो य को भवे ॥९१॥
काणि वा पुव्व वद्धाणि के वा असे णिवंधदि।
कदि आवलिय पविसति कदिण्हं वा पवेसगो ॥९२॥
के असे झीयदे पुव्वं वंधेण उदएण वा।
अंतरं वा कहिं किच्चा के के उवसामगो कहिं ॥९३॥
किं ट्ठिदियाणि कम्माणि अणुभागेसु केसु वा।
ओवट्टेदूण सेसाणि कं ठाणं पडिवज्जदि ॥९४॥

अर्थ—दर्शनमोहका उपशम करने वाले जीवका परिणाम कैसा होता है ? किस योग, कषाय और उपयोगमें वर्तमान होता है, उसके कौन-सी लेश्या और कौन-सा वेद होता है ? ॥९१॥ उसके पूर्ववद्ध कर्म कौनसे है और अव कौनसे नवीन कर्मांशोको वाधता है ? किन-किन प्रकृतियोका उसके उदय होता है और किन-किन-की वह उदीरणा करता है ? ॥९२॥ दर्शनमोहके उपशमकालसे पूर्व वन्ध अथवा उदयकी अपेक्षा कौन-कौनसे कर्मांश क्षीण होते है ? कहाँ अन्तर करता है और कहाँपर किन-किन कर्मोका उपशामक होता है ? ॥९३॥ किस-किस स्थिति और

अनुभाग वाले किन-किन कर्मोका अपवर्तन करके किस स्थानको प्राप्त करता है और अवशिष्ट कर्म किस-किस स्थिति और अनुभागको प्राप्त होते है ?

उधर जीवस्थानकी[1] चूलिकाके आरम्भमे ये पृच्छाएँ की गई है—

'कदिकाओ पयडीओ बधदि, केवडि कालट्ठिदिएहि कम्मेहि सम्मत्त लब्भदि वा ण लब्भदि वा, केवचिरेण कालेण वा कदि भाए का करेदि मिच्छत्त, उवसामणा वा खवणा वा केसु व खेत्तेसु कस्स व मूले केवडियं वा दसणमोहणीय कम्म खवेंतस्स चारित्त वा सपुण्ण पडिवज्जतस्स ॥१॥'

अर्थ—सम्यक्त्वको उत्पन्न करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव कितनी और किन प्रकृतियोको बाँधता है ? कितनी कालस्थिति वाले कर्मोके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है अथवा नही प्राप्त करता है ? कितने कालके द्वारा मिथ्यात्वकर्मको कितने भागरूप करता है और किन-किन क्षेत्रोमें तथा किसके पासमें कितने दर्शनमोहनीयकर्मको क्षपण करने वाले जीवके और सम्पूर्ण चारित्रको प्राप्त होने वाले जीवके मोहनीयकर्मकी उपशामना और क्षपणा होती है ? ॥१॥

दोनो ग्रन्थोका प्रकरण एक ही है और पृच्छापूर्वक कथन करनेकी जैन आगमिक शैली है। किन्तु कसायपाहुडमे उक्त चार गाथाओके द्वारा केवल पृच्छा ही की गई है। इन पृच्छाओका उत्तर तो चूर्णिसूत्रकारने दिया है। किन्तु जीवस्थानचूलिकामें प्रारम्भमें सामूहिक रूपसे सब पृच्छाओको देकर फिर एक-एक प्रकरणमें एक-एक पृच्छाका उत्तर दिया है। दोनो ग्रन्थोकी उक्त पृच्छाओमें केवल दो पृच्छा ऐसी है जो आपसमें मेल खाती है। किन्तु इतने मात्रसे निष्कर्ष निकालना तो दूर, कोई सभावना भी नही की जा सकती।

इसी तरह कसायपाहुडके इसी प्रकरणमें आगे १५ गाथाएँ आती है। उनमेंसे दो गाथाएँ उल्लेखनीय है। उनमें एक गाथा इस प्रकार है—

दसणमोहस्सुवसामगो दु चदुसु वि गदीसु बोद्धव्वो ।
पचिदिओ य सण्णी णियमा सो होई पज्जत्तो ॥९५॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मका उपशम करने वाला जीव चारो ही गतियोमें जानना चाहिये। वह जीव नियमसे पञ्चेन्द्रिय, सज्ञी और पर्याप्तक होता है।

जीवस्थानकी सम्यक्त्वोपत्तिचूलिकामें इसीको विस्तारसे कहा है। यथा—

'उवसामेंतो[2] कम्हि उवसामेदि, चदुसु वि गदीसु उवसामेदि। चदुसु वि गदीसु उवसामेंतो पचिदिएसु उवसामेदि, णो एइदियविगलिंदिएसु। पचिदिएसु उवसामेंतो सण्णीसु उवसामेदि, णो असण्णीसु। सण्णीसु उवसामेंतो गब्भोवक्कतिएसु

---

१ षट्ख०, पु० ६, पृ० १।
२. षट्ख०, पु० ६, पृ० २३८

उवसामेदि णो सम्मुच्छिमेसु। गब्भोवक्कंतिएसु उवसामेंतो पज्जत्तएसु उवसामेदि णो अपज्जत्तएसु। पज्जत्तएसु उवसामेंतो संखेज्जवस्साउगेसु वि उवसामेदि, असंखेज्जवस्साउगेसु वि ॥९॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयकर्मको उपशमाता हुआ जीव कहाँ उपशमाता है ? चारो ही गतियोमें उपशमाता है। चारो ही गतियोमे उपशमाता हुआ पञ्चेन्द्रियोमें उपशमाता है, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियोमें नही उपशमाता है। पचेन्द्रियोमें उपशमाता हुआ सज्ञियोमें उपशमाता है, असज्ञियोमें नही। सज्ञियोमें उपशमाता हुआ गर्भज जीवोमें उपशमाता है, सम्मूर्छनजन्मवालोमें नही। गर्भजोमे उपशमाता हुआ पर्याप्तकोमें उपशमाता है, अपर्याप्तकोमें नही। पर्याप्तकोमे उपशमाता हुआ सख्यातवर्पकी आयुवाले जीवोमे भी उपशमाता है, और असख्यातवर्पकी आयुवाले जीवोमें भी उपशमाता है ॥९॥

दोनोकी तुलना करनेसे ऐसा आभास होता है कि ऊपरकी गाथाकी ही विभापा नीचेके सूत्र द्वारा की गई है। किन्तु इतनेसे यह नही कहा जा सकता कि पट्खण्डागमकारके सन्मुख कसायपाहुड था। अत इस तरहके उल्लेखोके आधारपर कोई निश्चित निष्कर्प नही निकाला जा सकता।

कसायपाहुडके[1] प्रदेशविभक्तिनामक अधिकारमें चूर्णिकारने मिथ्यात्वकर्म जघन्यप्रदेशसत्कर्मके स्वामीका कथन किया है और पट्खण्डागमके वेदनाखण्डके वेदनाद्रव्यविधान नामक अनुयोगद्वारमें द्रव्यसे ज्ञानावरणीयकर्मकी जघन्य-वेदनाके स्वामीका कथन किया है। दोनोका यह कथन कुछ अर्थदृष्टिसे और कुछ शब्द-दृष्टिसे भी परस्परमें मेल खाता है। यद्यपि दोनो ग्रन्थकारोमें उक्त विपयमें कुछ मौलिक मतभेद भी हैं, जो दोनो उद्धरणोसे स्पष्ट हैं और जिसकी चर्चा आगे करेंगे, तथापि दोनोका यह साम्य भी उल्लेखनीय है। इस साम्यका कारण यह भी हो सकता है, कि दोनो ग्रन्थकारोको अपनी-अपनी परम्परासे वह इसी रूपमें प्राप्त

---

१ सुहुमणिगोदेसु कम्मट्ठिदिमच्छिदाउओ। तत्थ सव्वबहुआणि अपज्जतभवग्गहणाणि। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ। जदा जदा आउअ बधदि तदा तदा तप्पाओग्ग-उक्कस्सएसु जोगट्ठाणेसु बधदि। हेट्ठिल्लीणं ट्ठिदीणं णिसेयस्स उक्कस्स पदेस तप्पाओग्ग उक्कस्सविसोहिमभिक्ख गदो'—क० पा० सु०, पृ० १८८।

'जो जीवो सुहुमणिगोदजीवेसु पलिदोवमस्स असखेज्जदिभागेण ऊणिय कम्मट्ठिदि मच्छिदो। तत्थ य ससरमाणस्स बहुआ अपज्जतभवा, थोवा पज्जतभवा। दीहाओ अपज्जत्तद्धाओ रहस्साओ पज्जत्तद्धाओ। जदा जदा आउअ बधदि तदा तदा तप्पाओग्गुक्कस्सएण जोगेण बधदि। उवरिल्लीण ट्ठिदीणं णिसेयस्स जहण्णपदे हेट्ठिल्लीण ट्ठिदीण णिसेयस्स उक्कस्सपदे बहुसो बहुसो जहण्णाणि जोगट्ठाणाणि गच्छदि। बहुसो बहुसो मदसकिलेसपरिणामो भवदि।—पट्खं, पु० १०, पृ० २६८–२७६।

हुआ हो, क्योकि मूल सिद्धान्त तो एक ही है, किन्तु उनमें जो मौलिक मतभेद हैं उसको देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि केवल यह अश चूर्णिसूत्रकारने वेदनाखण्डसे लिया होगा।

पहले हम लिख आये है कि कसायपाहुड (चूर्णिसूत्रसहित) और षट्खण्डागम ये दोनो दो भिन्न आचार्यपरम्पराओके उत्तराधिकारी है क्योकि दोनोमें अनेक सैद्धान्तिक मतभेद है। अत उन दोनोका उद्गम यदि स्वतत्र भावसे हुआ हो तो असभव नही है। फिर यह हम पहले लिख आये है कि यतिवृपभके गुरु नागहस्ती भी कर्मप्रकृतिप्रधान थे और यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें कर्मप्रकृतिका निर्देश किया है। अत यह सभव है कि यतिवृपभ भी महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता हो, जिसके आधारपर षट्खण्डागमके सूत्र रचे गये है। अत दोनोमें क्वचित् शब्दगत या अर्थगत साम्य हो सकता है।

छक्खडागम और पण्णवणा

षट्खण्डागममें चर्चित विषयोका कोई-कोई अश विभिन्न श्वे० आगमिक साहित्यमें मिलता है। यथा, पट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत वन्धनअनुयोगद्वारके आदिमें विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्धके भेदो-प्रभेदोका कथन है। भगवती सूत्रके ८वें शतकके नौवें उद्देशमें भी वही कथन किञ्चित् अन्तरके साथ पाया जाता है। बन्धनअनुयोगद्वारमें[1] प्रयोगवन्धके दो भेद किये है—कर्मवन्ध और नोकर्मवन्ध। तथा नोकर्मवन्धके पाँच भेद किये है—आलापनवन्ध, अल्लीवनबन्ध, सश्लेषबन्ध, शरीरबन्ध और शरीरीबन्ध। भगवतीसूत्रमें प्रयोगवन्धके तीन भेद किये है—अनादिअपर्यवसित, सादिअपर्यवसित और सादिसपर्यवसित। तथा सादिसपर्यवसितके चार भेद किये है—आलापनवन्ध, अल्लियावणबन्ध, शरीरवन्ध और शरीरप्रयोगबन्ध। दोनो ग्रन्थोमें अपने-अपने ढगसे इन बन्धोके जो लक्षण दिये है उनमें शब्दभेद होते हुए भी अभिप्रायभेद नही है।

षट्खण्डागमकी जीवस्थानचूलिकामें जो कर्मोंकी जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति तथा आवाधा आदिका कथन है, प्रज्ञापनाके २३वें आदि पदोमें भी उसीसे मिलताजुलता हुआ कथन है। जैसे, जीवस्थानचूलिकाके आरम्भमें 'कदिकाओ पयडीओ वधदि' इत्यादि प्रथमसूत्रके द्वारा पाँच प्रश्नोका सूत्रपात करके फिर क्रमसे एक-एक चूलिकाके द्वारा उसका उत्तर दिया गया है। प्रज्ञापनाके[2] २३ वें पदके

---

१ पट्ख० पु० १४, पृ० ३६ आदि।

२ 'कति पगडी कहिं वधइ कतिहिं ट्ठाणेहिं वधई जीवो। कइ वेदेइ य पगडी अणभावो कतिविहो कस्स ॥१॥'–प्रज्ञा०

प्रारम्भमें भी एक गाथाके द्वारा कर्मविपयक पाँच प्रश्नोको उठाया गया है—१ कितनी प्रकृतियाँ है ? २ किस प्रकारसे उनका बन्ध होता है, ३ कितने स्थानोके द्वारा बन्ध होता है, ४. कितनी प्रकृतियोका जीव वेदन करता है, और ५ किस कर्मका अनुभाग कितने प्रकारका होता है ? और फिर क्रमसे इन पाँचो प्रश्नोका समाधान किया गया है ।

मूलकर्मोका नाम वतलानेके पश्चात् उत्तरप्रकृतियोकी गणना जैसे चूलिकामे की है, प्रज्ञापनामें भी की है । चूलिकामें प्रत्येक उत्तरप्रकृतिका नाम गिनाया है । प्रज्ञापनामे कही पूरा नाम गिनाया है तो कही सक्षिप्त । जिस प्रकार छठी चूलिका[1]-मे कर्मोकी उत्कृष्ट स्थिति, उनकी आवाधा और निपेक वतलाये है, प्रज्ञापनामें भी अपने ढगसे उनका उसी प्रकार कथन किया है। चूलिकामें जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका कथन पृथक् पृथक् किया है, प्रज्ञापनामें[2] एक साथ है । विपयकी दृष्टिसे दोनो ग्रन्थोके अन्य भी कोई-कोई कथन मिलते हुए हैं । किन्तु प्रज्ञापनामे सकलित कर्मविषयक कथन साधारण कोटिका है । भगवती और प्रज्ञापना दोनो ही सग्रह ग्रन्थ है, जिनमे विविध विपय सगृहीत हैं । उनके देखनेसे प्रकट होता है कि उनकी सकलनाके समय श्रुतका कितना विच्छेद हो चुका था और अवशिष्ट अशोको सुरक्षित रखनेका किस प्रकार प्रयत्न किया गया था ।

ग्यारहवाँ अग विपाकसूत्र कर्मसिद्धान्तसे ही सम्वद्ध था, किन्तु उपलब्ध विपाकसूत्रमें वह बात नही है, यह उसका परिचय कराते हुए वतला चुके है । कसायपाहुड, चूर्णिसूत्र, षट्खण्डागम तथा प्रज्ञापना आदि आगमिक साहित्यके पर्यवेक्षणसे एक बात स्पष्ट है कि प्रश्नपूर्वक कथन करनेकी ही प्राचीन आगमिक-शैली थी ।

छक्खडागम और कर्मप्रकृति

एक कर्मप्रकृति नामक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामे मान्य है । उसकी उपान्त्य गाथामें कहा गया[3] है कि 'मुझ अल्पबुद्धिने जो जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृति

---

१. 'पचण्ह णाणावरणीयाण णवण्ह दमणावरणीयाण असादावेदणीय पचण्हमतराइयाण-मुक्कस्सओ ट्ठिदिवधो तीस सागरोवमकोडाकोडीओ ॥४॥ तिण्णि वाससहस्साणि आवाधा ॥५॥ आवाधूणिया कम्मट्ठिदी कम्मणिसेओ ॥६॥'–षट्ख०, पु० ६, पृ० १४६–१५० ॥

२ 'नाणावरणिज्जस्स ण भते ! कम्मस्स केवतिय काल ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहुत्त उक्कोसेण तीस सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्निय वाससहस्साइ अवाहा अवाहूणिता कम्मठिई कम्मणिसेगो ।'–प्रज्ञा०, २३ प० ।

३. 'इय कम्मप्पगडीओ जहासुय तीयम्प्पभ ईणा वि । सोहियाणाभोगकय कह तु वरदिट्ठीवायन्नु ॥५६॥–कर्मप्र०, सत्ता० ।

से इस ग्रन्थका उद्धार किया। जो मुझसे स्खलित कथन हुआ हो, दृष्टिवादके ज्ञाता उसे शुद्ध करके कहें।' इस परसे इस कर्मप्रकृतिको भी उसी कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत कहा जाता है, जिसके आधारपर षट्खण्डागमसूत्रोकी रचना हुई थी। किन्तु दोनोकी तुलना करनेसे यह प्रकट नही होता कि भूतबलि आचार्य जिस प्रकार महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके ज्ञाता थे, उस प्रकार कर्मप्रकृतिकार भी उसके ज्ञाता थे। हाँ, उसके कुछ अशोके वे ज्ञाता अवश्य थे, जिन्हें उन्होने दृष्टिवादके बचे अवशिष्टाशके रूपमें गुरुमुखसे श्रवण किया होगा और इसलिए कर्मप्रकृति-की प्रथम गाथाकी उत्थानिकाकी चूर्णिमें चूर्णिकारने जो कुछ कहा है वही समुचित प्रतीत होता है। चूर्णिकारने कहा है कि—'दुषमाकालके कारण जिनकी बुद्धि, आयुष्य वगैरह घटता जाता है ऐसे आजकलके साधुजनोका उपकार करनेकी कामनासे आचार्यने विच्छिन्न हुए कर्मप्रकृति नामक महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए उसी सार्थक नामवाले कर्मप्रकृतिसग्रहणी नामक प्रकरणको आरम्भ किया है।' अत कर्मप्रकृतिप्राभृतका विच्छेद होनेपर ही उक्त कर्मप्रकृतिसग्रहणी नामक ग्रन्थ रचा गया है। उसका नाम कर्मप्रकृतिसग्रहणी है, यही उसके लिए उचित भी है। उसीको लघु करके कर्मप्रकृति नामसे उसकी ख्याति हुई है।

●

तृतीय परिच्छेद

महाबंध

कसायपाहुड और छक्खडागम इन दो मूल आगम-ग्रन्थोके रचयिता, रचना-काल, विषयवस्तु एव उनके महत्वके विवेचनके पश्चात् तृतीय आगम-ग्रन्थ महाबधका विमर्श उपस्थित किया जा रहा है। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस महावध सिद्धान्तग्रन्थके रचयिता भी आचार्य भूतवलि है।

यह सिद्धान्त-ग्रन्थ छक्खण्डागमका अन्तिम खण्ड है। अपनी विशालता और विषयकी गम्भीरताके कारण इसे स्वतत्र सिद्धान्त-ग्रन्थकी सज्ञा प्राप्त है।

आचार्य वीरसेनने छक्खडागमपर अपनी धवलाटीका लिखी है, पर उनकी यह टीका पूर्वके पाँच खण्डोपर ही है। इस छठे खण्डपर इनकी टीका नही है और न अन्य किसी आचार्यकी टीका प्राप्त है। इसका प्रधान कारण यही है कि आचार्य भूतबलिने इसे स्वय विवरणात्मक शैलीमें रचा है। जो ग्रन्थ इस शैलीमें लिखा जाता है, उसपर भाष्य या वृत्तियाँ बडी कठिनाईसे लिखी जाती है। यत सुगम-पर विवृत्ति या भाष्य लिखनेमें सौकर्य रहता है और उसकी व्याख्या सुवोध होनेके कारण छोड दी जाती है।

इस ग्रन्थकी शैली भी पूर्वके खण्डोकी सूत्रात्मक शैलीसे भिन्न है और इसका प्रमाण भी शेप पाँच खण्डोसे पाँच गुना है। अत यह छठा खण्ड अपने पाँचो बडे भाईयोसे अलग पड गया है और महाबन्ध नामसे एक स्वतत्र ग्रन्थके रूपमें ही प्रकाशित[१] हुआ है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[२] महाबन्धको तीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है और ब्रह्म हेमचन्द्रने[३] चालीस हजार श्लोकप्रमाण बतलाया है। इसके रचयिता भी आचार्य भूतबलि है। उन्होने चतुर्थ वेदनाखण्डके आदिमें ४४ सूत्रोके द्वारा

---

१ महाबन्धका प्रकाशन ७ भागोंमें भारतीय ज्ञानपीठ काशीकी ओरसे हुआ है।

२ 'सूत्राणि पट्सहस्रग्रन्थान्यथ पूर्वसूत्रसहितानि। प्रविरच्य महाबन्धाह्वय तत पष्ठक खण्डम् ॥१३९॥ त्रिशत्सहस्र सूत्रग्रन्थ व्यरचयदसौ महात्मा।'—श्रुताव०

३ 'सदरीसहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस्स बोधव्वो। महवधो चालीस सिद्ध ततय अह वदे ॥८८॥'

जो मगल किया है उसे टीकाकार[1] वीरसेनने शेप तीनो खण्डोका अर्थात् वेदना, वर्गणा और महावन्धका मंगल ,वतलाया है, क्योकि वर्गणा और महावन्धखण्डके आदिमें मगल नही किया है। अत यह स्पष्ट है कि महावन्धके प्रारम्भमें ग्रन्थकार भूतवलिने मंगल नही किया।

महावन्धका प्रकाशन हो जानेपर भी यह वात हमें इसलिये लिखनी पडी है कि इस ग्रन्थराजकी केवल एक ही प्रति मूडविद्रीके सिद्धान्तवसतिभण्डारमें सुरक्षित मिली, किन्तु उसके भी १४ ताडपत्र नष्ट हो गये थे। उनमें पहला पत्र भी था। इसलिये भूतवलिने इस खण्डग्रन्थका आरम्भ किस रूपमें किया था, उसके जाननेका कोई उपाय नही है।

वर्गणाखण्डके वन्धनअनुयोगद्वारके अन्तमें अथवा यह कहना चाहिये कि महावन्धके आरम्भसे पूर्वमें वन्धनके चार भेदोमेंसे वन्ध, वन्धक और वन्धनीयका कथन करनेके पश्चात् वन्धविधानके[2] चार भेद कहे हैं—प्रकृतिवन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध। इन्ही चार वन्धोका वर्णन महावन्धमें है। वन्धो-का विस्तारसे कथन होनेके कारण ही इसका नाम महावन्ध रखा गया है। पहले प्रकृतिवन्धका कथन है।

चूँकि प्रथम ताडपात्र नष्ट हो गया है, अत अवधिज्ञानका निरूपण करने वाली गाथाओसे उपलब्ध महावन्धका प्रारम्भ होता है। ये गाथाएँ वर्गणाखण्ड-के प्रकृतिअनुयोगद्वारमें भी आई हैं। एक तरहसे प्रकृतिअनुयोगद्वारसे ही महा-वन्धका आरम्भ होता है। यहाँ उसका नाम प्रकृतिसमुत्कीर्ण है। महावन्धका प्रकृति-समुत्कीर्तन वर्गणाखण्डके अन्तर्गत प्रकृतिअनुयोगका ही सक्षिप्त रूप है। वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमें पृच्छासूत्र भी है—'मणपज्जवणाणा-वरणीयस्स कम्मस्स केवडियाओ पयडीओ'—अर्थात् मन पर्ययज्ञानावरणीयकर्म-की कितनी प्रकृतियाँ है। इस प्रकारके पृच्छासूत्र महावन्धमें नही है, केवल विषयप्रतिपादन है और वह प्राकृतगद्यरूपमें है। दोनोंका अन्तर दिखानेके लिए यहाँ दोनो ग्रन्थोसे कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती है—

'मणपज्जवणाणावरणीयस्य कम्मस्स दुवे पयडीओ उजुमदिमणपज्जवणाणा-वरणीय चेव विउलमदिमणपज्जवणाणावरणीय चेव ॥६१॥ ज त उजु-मदिमणपज्जवणाणावरणीय णाम कम्म त तिविह—उजुग मणोगद जाणदि

---

१. 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खडेसु कस्सेद' मगल ? तिण्ण खडाण। कुदो ? वग्गणामहा-वंधाणमादीए मगलाकरणादो।'–षट्खं पु० ९, पृ० १०५।

२ 'ज त वधविहाण त चउव्विह—पयडिवधो ट्ठिदिवधो अणुभागवधो पदेसवधो चेदि ॥७९७॥'

उजुग वचिगद जाणदि उजुग कायगद जाणदि ॥६२॥ मणेण माणस पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंता, जीविदमरण लाहालाह सुहदुक्ख णयरविणास देसविणास जणवयविणास खेडविणासं कव्वडविणास मडवविणास पट्टण-विणास दोणामुहविणास अइवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्ख दुब्भिक्ख खेमाखेमभयरोगकालस[प]जुत्ते अत्थे वि जाणदि ॥६३॥ किं च भूओ—अप्पणो परेसिं च वत्तमाणाण जीवाण जाणदि णो अवत्तमाणाण जीवाण जाणदि ॥६४॥ कालदो जहण्णेण दो-तिण्णि-भवग्गहणाणि ॥६५॥ उक्कस्सेण सत्तट्ठ-भवग्गहणाणि ॥६६॥ जीवाण गदिमागदिं पदुप्पादेदि ॥६७॥ खेत्तदो ताव जहण्णेण गाउवपुधत्त उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतरदो णो वहिद्धा ॥६८॥ (छक्ख-डागम, पु० १३, पृ० ३२८-३३८) ।

उक्त सूत्रोको महावन्धमें इस प्रकार निवद्ध किया गया है—

'ज त मणपज्जवणाणावरणीय कम्म वधतो त एयविध । तस्स दुविहपरू-वणा उज्जुमदिणाण चेव विपुलमदिणाण चेव । ज त उजुमदिणाण त तिविध उज्जुग मणोगदं जाणदि । उज्जुग वचिगद जाणदि । उज्जुग कायगद जाणदि । मणेण माणस पडिविंदइत्ता परेसिं सण्णा सदि मदि चिंतादि विजाणदि, जीविद-मरण लाभालाभ सुहदुक्ख णगरविणासं देह(देस)विणास जणपदविणासं अदिवुट्ठि अणावुट्ठि सुवुट्ठि दुवुट्ठि सुभिक्ख दुब्भिक्ख खेमाखेमभयरोगं उब्भय इब्भय सभम वत्तमाणाण जीवाण णो अवत्तमाणाण जीवाण जाणदि । जहण्णेण गाउदपुधत्त । उक्कस्सेण जोयणपुधत्तस्स अब्भतरादो, णो वहिद्धा । जहण्णेण दो-तिण्णि भवग्गहणाणि, उक्कस्सेण सत्तट्ठभवग्गहणाणि गदिरागदिं पदुप्पादेदि ।" (म०व०, भा० १, पृ० २४-२५ ।)

महावधमें ज्ञानावरणीयकी प्रकृतियोके निमित्तसे ज्ञानके भेदका विवेचन तो प्रकृतिअनुयोगद्वारके अनुसार किया है । किन्तु वाकीके सात कर्मोकी प्रकृतियोकी केवल सख्या वतला दी है । यथा दर्शनावरणीयकर्मकी नौ प्रकृतियाँ है, वेदनीयकी दो प्रकृतियाँ है, आदि । चूँकि वर्गणाखण्डके प्रकृतिअनुयोगद्वारमे कर्मोकी प्रकृतियो-का वर्णन किया जा चुका था, इसीसे महावन्धमें उन सवका वर्णन नही किया गया ।

आगे वन्धस्वामित्वविचय-बन्धके स्वामीपनेके विचारका प्रतिपादन किया गया है । यह कथन वन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डका सक्षिप्त रूप है ।

महाबन्धमें भी तीर्थंकरप्रकृतिके बन्धके सोलह कारण वतलाये है किन्तु सोलह कारणोके क्रममें थोडा अन्तर है । यहाँ आठवें नम्बरपर 'साधुसमाधि-सधारणता'के स्थानमे 'साधुप्रासुकपरित्यागता' पाठ है और नौवें नम्बरपर 'वैयावृत्ययोगयुक्तता'के स्थानमें 'समाधिसधारणता' पाठ है । तथा न० १०में 'साधु-

प्रासुकपरित्यागता' के स्थानमें 'वैयावृत्ययोगयुक्तता' पाठ है। शेष पाठ समान है।

आगेका ताडपत्र त्रुटित होनेसे बन्धस्वामित्वका आदेशकथन अधूरा रह गया है। आगे कालप्ररूपणा है। इसका भी आरम्भिक भाग नहीं है। इसमें गति आदि मार्गणाओंकी अपेक्षा प्रत्येक कर्मप्रकृतिका जघन्य और उत्कृष्ट बन्ध-काल बतलाया है। यथा—नरकगतिमें एक जीवकी अपेक्षा तीर्थंकरप्रकृतिका जघन्यबन्धकाल ८४ हजार वर्ष और उत्कृष्ट साधिक तीन-तीन सागर है। आदि।

आगे एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगमका कथन करते हुए प्रत्येक कर्मके बन्ध-का अन्तरकाल बतलाया है। यह कथन जीवस्थानके अन्तरानुगम अनुयोगद्वारपर आधृत है, उसीके आधारपर कर्मोंके बन्धके अन्तरकालका कथन किया गया है।

तत्पश्चात् सन्निकर्षका कथन है। उसके दो भेद किये हैं—स्वस्थानसन्नि-कर्ष और परस्थानसन्निकर्ष। स्वस्थानसन्निकर्षमें बतलाया है कि ज्ञानावरणीय-कर्मकी जो एक भी प्रकृतिका बन्ध करता है वह उस कर्मकी शेष प्रकृतियोंका भी बन्धक होता है। इस प्रकार स्वस्थानसन्निकर्षमें एकजातीय प्रकृतियोंके बन्धके सन्निकर्षका कथन है और परस्थानसन्निकर्षमें सजातीय तथा विजातीय प्रकृतियों-के बन्धके सन्निकर्षका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणीय कर्मका बन्धक शेष चार श्रुतज्ञानावरण आदि सजातीय प्रकृतियोंका और दर्शनावरणकी चार तथा अन्तरायकर्मकी पाँच प्रकृतियोंका बन्धक है। कथन बहुत विस्तारसे किया गया है।

भंगविचयअनुयोगद्वारमें भंगोंका विचार किया गया है। यथा सातावेदनीय-के अनेक बन्धक और अनेक अबन्धक होते हैं। चारों आयुकर्मोंके अनेक बन्धक हैं, अनेक अबन्धक हैं। इस तरह प्रत्येक प्रकृतिके भंगोंका विचार बन्धक और अबन्धककी अपेक्षा किया गया है।

भागाभागानुगममें बतलाया है कि अमुक प्रकृतिके बन्धक अथवा अबन्धक सब जीवोंके कितने भागप्रमाण हैं? यथा—सातावेदनीयके बन्धक सब जीवोंके कितने भाग हैं? संख्यातवें भाग हैं। अबन्धक सब जीवोंके संख्यात बहुभाग हैं। असाताके बंधक सर्वजीवोंके कितने भाग हैं? संख्यात बहुभाग हैं। अबंधक सर्व-जीवोंके कितने भाग हैं? संख्यातवें भाग हैं। आदि।

परिमाणानुगम अनुयोगद्वारमें कर्मप्रकृतियोंके बन्धकों और अबन्धकोंका परिमाण बतलाया है। यथा—सातावेदनीयके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। असाताके बन्धक और अबन्धक कितने हैं? अनन्त हैं। दोनों वेदनीय-कर्मोंके बन्धक और अबन्धक अनन्त हैं, इत्यादि।

क्षेत्रानुगममें वतलाया है कि कर्मप्रकृतियोके वन्धक और अवन्धक जीव कितने क्षेत्रमें रहते है। यथा—साता और असाताके वन्धक और अवन्धक जीव कितने क्षेत्रमे रहते है ? सर्वलोकमे। दोनो वेदनीयकर्मोके वन्धक कितने क्षेत्रमें रहते है ? सर्वलोकमें। अवन्धक कितने क्षेत्रमें रहते है ? लोकके असंख्यातवें भागमे।

स्पर्शनानुगममे स्पर्शनका कथन है। यथा—साताके वन्धको और अवन्धकोने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है ? सर्वलोकका। असाताके वन्धको और अवन्धकोने कितने क्षेत्रका स्पर्शन किया है ? सर्वलोकका। दोनो प्रकृतियोके वन्धकोने सर्वलोकका स्पर्शन किया है। और अवन्धकोने लोकके असख्यातवें भागका स्पर्शन किया है।

कालानुगममें नाना जीवोकी अपेक्षा प्रकृतियोके वन्धकोका काल वतलाया है। यथा—साता और असाताके वन्धक और अवन्धक कितने काल तक होते है ? सर्वकाल होते है। दोनोके वन्धक और अवन्धक कितने काल तक होते है ? सर्वकाल होते है। नाना जीवोकी अपेक्षा अन्तरानुगममें कर्मप्रकृतियोके वन्धको और अवन्धकोका अन्तरकाल नाना जीवोकी अपेक्षा वतलाया है। नरकायु, मनुष्यायु और देवायुके वन्धकोका जघन्यसे एक समय और उत्कृष्टसे २४ मुहूर्त अन्तर है। अर्थात् अधिक-से-अधिक २४ मुहूर्तका समय ऐसा आ सकता है जिनमें कोई जीव इन तीनो आयुकर्मोका वन्धक न हो। अवन्धकोका अन्तर नही है। तिर्यञ्चायुके वन्धको और अवन्धकोका अन्तर नही है। इत्यादि।

भावानुगममे वतलाया है कि कर्मप्रकृतियोके वन्धको और अवन्धकोका कौन भाव है ? यथा—मिथ्यात्वके वन्धकोका कौन भाव है ? औदयिक भाव है। अवन्धकोमें कौन-सा भाव है ? औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक या पारिणामिक।

अल्पवहुत्वके दो भेद किये है—एकजीवअल्पवहुत्व और दूसरा कालअल्पवहुत्व। इन दोनोके भी स्वस्थान और परस्थानकी अपेक्षा दो-दो भेद है। यथा—साता और असाता दोनो प्रकृतियोके अवन्धक जीव सवसे कम है। साताके वन्धक जीव अनन्तगुणे है। असाताके वन्धक जीव उनसे संख्यातगुणे है। दोनोके वन्धक जीव इनसे विशेप अधिक है। यह स्वस्थानजीवअल्पवहुत्वके कथनका उदाहरण है।

ओघकी अपेक्षा आहारकशरीरके वन्धक जीव सवसे कम है। तीर्थंकरप्रकृतिके वन्धक जीव उनसे असख्यातगुणे है। मनुष्यायुके वन्धक जीव उनसे असख्यातगुणे है, इत्यादि। यह परस्थानजीवअल्पवहुत्वका उदाहरण है।

चौदह जीवसमासोमें साता-असाता इन दोनो प्रकृतियोके वन्धकोका जघन्यकाल समान रूपसे स्तोक है। सूक्ष्मअपर्याप्तकोमें साताके वन्धकका उत्कृष्टकाल

संख्यातगुणा है। असाताके बन्धकका उत्कृष्टकाल सख्यातगुणा है। इत्यादि। यह स्वस्थानकालअल्पबहुत्वका उदाहरण है।

परस्थानकालअल्पबहुत्वमें परिवर्तमान प्रकृतियोका परस्थानमे अल्पबहुत्वका कथन किया है। ऐसी परिवर्तमान प्रकृतियाँ यहाँ २१ ली हैं—४ गति, २ गोत्र, २ वेदनीय, ४ आयु, हास्य-रतिका युगल और यश कीर्ति-अयश कीर्तिका युगल। इन्हीके अल्पबहुत्वका विवेचन है।

इस प्रकार उक्त अनुयोगोके द्वारा प्रकृतिबन्धका कथन ओघसे और आदेशसे किया गया है।

बन्धस्वामित्वविचयमें तो गुणस्थानो और मार्गणाओमें कर्मप्रकृतियोके बन्धके केवल स्वामियोका ही कथन था। यहाँ उनके बन्धको और अबन्धकोके काल क्षेत्र, अन्तर आदि अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है।

२ स्थितिबन्धाधिकार

स्थितिबन्धके मुख्य अधिकार दो हैं—मूलप्रकृतिस्थितिबन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिबन्ध। मूलप्रकृतिस्थितिबन्धके मुख्य अधिकार चार हैं—स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणा, निषेकप्ररूपणा, आबाधाकाण्डकप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा।

प्रत्येक कर्मके जघन्यस्थितिबन्धस्थानसे लेकर उत्कृष्टस्थितिबन्धस्थान तकके समस्त विकल्पोको स्थितिबन्धस्थान कहते है। समस्त ससारी जीव चौदह जीवसमासोमें विभक्त है। इनमेंसे एक-एक जीवसमासमें अलग-अलग कितने स्थितिविकल्प होते है, स्थितिबन्धके कारणभूत सक्लेशस्थान और विशुद्धिस्थान कितने हैं, और सबसे जघन्य स्थितिबन्धसे लेकर उत्तरोत्तर किसके कितना स्थितिबन्ध होता है, अल्पबहुत्वकी प्रक्रिया द्वारा इन तीन बातोका कथन स्थितिबन्धस्थानप्ररूपणामें किया गया है।

एक समयमें बँधे हुए कर्मोंके निषेकोका उस समय प्राप्त स्थितिमें जिस क्रमसे निक्षेप होता है उसे निषेकरचना कहते है। इसका कथन करनेवाली प्ररूपणाको निषेकप्ररूपणा कहते है। निषेकप्ररूपणाका कथन दो अनुयोगोके द्वारा किया गया है—अनन्तरोपनिधा और परम्परोपनिधा। अनन्तरोपनिधाके द्वारा बतलाया है कि आयुकर्मके सिवाय शेष सात कर्मोका जितना स्थितिबन्ध होता है उसमेंसे आबाधाकालको कम करके जो स्थिति शेष रहती है उसके प्रथम समयमें सबसे अधिक कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते है, और उसके आगे द्वितीयादि समयोमें क्रमसे उत्तरोत्तर एक-एक चयहीन कर्मपरमाणुओका निक्षेप होता है। इस प्रकार प्रति समयमें जिस कर्मके जितने परमाणुओका बन्ध होता है उनका उक्त प्रकारसे

स्थितिके समयोमें विभाग हो जाता है। किन्तु आयुकर्मकी आवाधा उसके स्थिति-वन्धमे सम्मिलित नही है। इसलिये आयुकर्मके कर्मपरमाणुओका विभाग उक्त क्रमसे स्थितिवन्धके सव समयोमे होता है।

किस कर्मकी कितनी आवाधा होती है, इस वातका भी यहाँ सकेत किया है। जीवस्थानके चूलिकाअनुयोगद्वारकी छठवी और सातवी चूलिकामे क्रमसे उत्कृष्ट-स्थितिवन्ध और जघन्यस्थितिवन्धका कथन करते हुए आवाधाका भी कथन किया गया है। अत उसको फिर यहाँ लिखना जरूरी नही है।

परम्परोपनिधामें वतलाया है कि प्रथम निषेकसे आगे पल्यके असख्यातवे भागप्रमाणस्थान जानेपर प्रथम निषेकमें जितने कर्मपरमाणु निक्षिप्त होते है उनमे वे आधे रह जाते है। इसी प्रकार जघन्यस्थिति प्राप्त होने तक उत्तरोत्तर पल्यके असख्यातवें भागप्रमाण जानेपर वे आधे-आधे रह जाते है। सव कर्मोकी निषेक-रचनाका यही क्रम है।

वधको प्राप्त कर्म जितने काल तक फल देनेमे समर्थ नही होते उतने कालको आवाधाकाल कहते है। और जितने स्थितिविकल्पोका एक-सा आवाधाकाल होता है उतने स्थितिविकल्पोकी एक आवाधा होनेसे आवाधाकाण्डक सज्ञा है। इनका विचार जिसमें किया जाता है उसे आवाधाकाण्डकप्ररूपणा कहते है।

आवाधाकाण्डकप्ररूपणामें वतलाया है कि उत्कृष्टस्थितिसे पल्यके असख्यातवें भागप्रमाणस्थान जाने तक इन सव स्थितिविकल्पोका एक आवाधाकाण्डक होता है अर्थात् इतने स्थितिविकल्पोकी उत्कृष्ट आवाधा होती है।

उसके वाद इतने ही स्थितिविकल्पोकी एक समय कम आवाधा होती है। इस प्रकार जघन्यस्थितिपर्यन्त ले जाना चाहिये। यहाँ जितने स्थितिविकल्पोकी एक आवाधा होती है उसकी आवाधाकाण्डकसज्ञा है। आवाधारहित उत्कृष्ट स्थितिमें उत्कृष्टआवाधाकालका भाग देनेपर एक आवाधाकाण्डकका प्रमाण आता है। किन्तु आयुकर्ममें यह नियम लागू नही होता, क्योकि आयुकर्मकी आवाधा उसके स्थितिवन्धके अनुपातसे नही होती।

चौथे अल्पवहुत्वप्रकरणमें जीवसमासोमे जघन्यआवाधा, आवाधास्थान, आबाधाकाण्डक, उत्कृष्टआवाधा, नानाप्रदेशगुणहानिस्थानान्तर, एकप्रदेशगुणहानि-स्थानान्तर, जघन्यस्थितिवन्ध, स्थितिवन्धस्थान और उत्कृष्टस्थितिबन्ध इन सबके अल्पवहुत्वका कथन किया है।

आगे उक्त विवेचनको अर्थपद मानकर चौबीस अधिकारोके द्वारा मूलप्रकृति-स्थितिबन्धका कथन किया गया है। वे अधिकार है—अद्धाछेद, सर्ववन्ध, नो-

सर्वबन्ध, उत्कृष्टवन्ध, अनुत्कृष्टवन्ध, जघन्यवन्ध, अजघन्यवन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुववन्ध, अध्रुववन्ध, स्वामित्व, वन्धकाल, वन्धान्तर, वन्वसन्निकर्प, नानाजीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पवहुत्व। इसके वाद भुजगारवन्ध, पदनिक्षेप, वृद्धिबन्ध, अध्यवसानसमुदाहार और जीवसमुदाहार। इन प्रकरणो द्वारा भी मूलप्रकृतिस्थितिवन्धका विचार किया गया है। इनमेंसे भुजगारवन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं, पदनिक्षेपके तीन अनुयोगद्वार है, वृद्धिवन्धके तेरह अनुयोगद्वार हैं और अध्यवसानसमुदाहारके तीन अनुयोगद्वार हैं। जीवसमुदाहारका कोई अवान्तरअनुयोगद्वार नही ह।

आगे उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धका भी विचार इसी प्रकारसे किया गया है। अन्तर इतना है कि मूलप्रकृतिस्थितिवन्धमें केवल आठ मूलकर्मोके आश्रयसे विचार किया गया है और उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धमें १२० उत्तरप्रकृतियोके आश्रयसे विचार किया गया है क्योकि यद्यपि आठो कर्मोकी उत्तरप्रकृतियाँ १४८ हैं तथापि दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियोमेंसे सम्यक्त्वप्रकृति और सम्यक्मिथ्यात्वप्रकृति ये दो अवन्धप्रकृतियाँ हैं और पाँच बन्धनो तथा पाँच संघातोका पाँच शरीरोंमें अन्तर्भाव हो जाता है, तथा स्पर्शनामकर्मके ८, रसनामकर्मके ५, गन्धनामकर्मके २ और वर्णनामकर्मके ५, इन बीस भेदोमेंसे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारका ही ग्रहण किया जाता है। इस तरह २ + १० + १६ = २८ प्रकृतियोके कम हो जानेसे १२० वन्धप्रकृतियाँ अभेदविवक्षामें ली गई हैं।

३ अनुभागबन्धाधिकार

आत्माके साथ वन्धको प्राप्त होने वाले कर्मोमे राग, द्वेप और मोहके निमित्तसे जो फलदानशक्ति पडती है उसे अनुभागवन्ध कहते हैं। मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिकी अपेक्षा उसके भी दो भेद है—एक मूलप्रकृतिअनुभागवन्ध और दूसरा उत्तरप्रकृतिअनुभागवन्ध। इस प्रकरणमें इन्ही दोनो वन्धोका विस्तारसे कथन किया गया हैं।

सवसे प्रथम मूलप्रकृतिअनुभागवन्धका कथन किया गया है। उसमें दो मुख्य अनुयोगद्वार है—निपेकप्ररूपणा और स्पर्धकप्ररूपणा। निपेकरचना दो प्रकारकी है, एक स्थितिकी अपेक्षा और एक अनुभागकी अपेक्षा। आवाधाकालको छोडकर स्थितिके प्रत्येक समयमें वन्धको प्राप्त कर्मपुजका जो निक्षेप होता है वह स्थितिकी अपेक्षा निपेकरचना है। स्थितिवन्धाधिकारमें उसका कथन किया गया है। अनुभागके आधारसे निषेकरचनाका कथन वेदनाखण्डका परिचय कराते हुए किया गया है। अनुभागकी मुख्यतासे निपेक दो प्रकारके होते हैं—सर्वघाति और देशघाति। यद्यपि सर्वघाती और देशघाती भेद घातिकर्मोमें ही सम्भव है तथापि

यहाँ अघातिकर्मोमें भी ये दो भेद किये गये हैं क्योकि अघातिकर्म भी जीवके प्रतिजीवीगुणोको घातनेके कारण घातिप्रतिबद्ध ही है। अत निषेकप्ररूपणामें सब कर्मोके सर्वघाति और देशघाति निषेकोका कथन किया गया है।

अनन्तानन्तअविभागीप्रतिच्छेदोके समुदायको एक वर्ग कहते हैं। अनन्तानन्त वर्गोकी एक वर्गणा होती है और अनन्तानन्त वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते है। वेदनाखण्डमें स्पर्धकप्ररूपणाका परिचय कराया गया है। स्पर्धकप्ररूपणामें स्पर्धकोका कथन है।

ये दोनो अनुयोगद्वार आगेकी प्ररूपणाके मूलाधार है। उनको आधार बनाकर सज्ञा, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्कृष्टबन्ध, अनुत्कृष्टबन्ध आदि चौबीस अनुयोगोके द्वारा अनुभागबन्धका कथन किया गया है। यहाँ सक्षेपमें इनका परिचय कराया जाता है।

सज्ञा—सज्ञाके दो भेद है, घातिसज्ञा और स्थानसज्ञा। आठ कर्मोमेंसे चार कर्म घाती है और चार अघाती है। घातिकर्मके भी दो भेद है, सर्वघाती और देशघाती। जो जीवके ज्ञानादि गुणोको पूरी तरहसे घातते है उन्हे सर्वघाती कर्म कहते है और जो एकदेशघात कहते है उन्हें देशघाती कहते हैं। चार घातिकर्मोका उत्कृष्ट अनुभागवन्ध सर्वघाती होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागवन्ध सर्वघाती और देशघाती होता है। जघन्य अनुभागबन्ध देशघाती होता है तथा अजघन्य अनुभागबन्ध देशघाती और सर्वघाती होता है। शेष चार कर्मोका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य अनुभागबन्ध घातीसे सम्बद्ध अघाती होता हैं। घातिसज्ञामे यह कथन किया गया है।

घातिकर्मोमें लता, दारु, अस्थि और शैलकी उपमाको लिये हुए चार प्रकारका अनुभाग माना गया है। जिसमें यह चारो प्रकारका अनुभाग होता है, उसे चतु स्थानिक अनुभाग कहते है। जिसमें शैलके बिना शेष तीन प्रकारका अनुभाग होता है उसे त्रिस्थानिक अनुभाग कहते है। जिसमें लता और दारुरूप अनुभाग होता है उसे द्विस्थानिक अनुभाग कहते है। और जिसमें केवल लता रूप अनुभाग होता है उसे एकस्थानिक अनुभाग कहते है। चारो घातिकर्मोका उत्कृष्ट अनुभागवन्ध चतु स्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागवन्ध त्रिस्थानिक, द्विस्थानिक और एकस्थानिक होता है। जघन्यअनुभागवन्ध एकस्थानिक होता है, और अजघन्य अनुभागवन्ध एकस्थानिक, द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतु स्थानिक होता है।

अघातिकर्म दो प्रकारके होते है—प्रशस्त और अप्रशस्त। प्रशस्त कर्मोके अनुभागकी उपमा गुड, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी जाती है। और अप्रशस्त

कर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, काजीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। अघातिकर्मोंमें भी पाये जानेवाले चारो प्रकारके अनुभागको चतु स्थानिक अन्तके भेदको छोडकर पाये जानेवाले शेष तीन प्रकारके अनुभागको त्रिस्थानिक और अन्तके दो भेदोको छोडकर पाये जाने वाले शेष दो प्रकारके अनुभागको द्विस्थानिक कहते है। चार अघातिकर्मोंका उत्कृष्ट अनुभागवन्ध चतु स्थानिक होता है। अनुत्कृष्ट अनुभागवन्ध चतुस्थानिक, त्रिस्थानिक, और द्विस्थानिक होता है। जघन्य अनुभागवन्ध द्विस्थानिक होता है। तथा अजघन्य अनुभागवन्ध द्विस्थानिक, त्रिस्थानिक और चतुस्थानिक होता है। यह सब कथन घातिसज्ञामें किया गया है।

सर्व-नोसर्वबन्ध—सब अनुभागोके बन्धको सर्वबन्ध और उससे कम अनुभाग बन्धको नो सर्वबन्ध कहते है। इनका विचार इस अनुयोगमें किया है। आठो कर्मोका अनुभागवन्ध सर्वबन्धरूप भी होता है और नो सर्वबन्ध रूप भी होता है।

उत्कृष्ट अनुत्कृष्टबन्ध—सबसे उत्कृष्ट अनुभागवन्धको उत्कृष्ट अनुभागबन्ध और उससे कम अनुभागवन्धको अनुत्कृष्ट अनुभागवन्ध कहते है।

सभी कर्मोंमें दोनो प्रकारका अनुभागवन्ध होता है।

जघन्य-अजघन्य अनुभागबन्ध—सबसे कम अनुभागवन्धको जघन्य अनुभागबन्ध कहते है। और उससे अधिक अनुभागबन्धको अजघन्य अनुभागबन्ध कहते है। समी कर्मोंमें दोनो प्रकारका अनुभागवन्ध होता है।

सादि-अनादि ध्रुवाध्रुवबन्ध—किसी कर्मका बन्ध न होकर पुन बन्ध होवे तो उसे सादि बन्ध कहते है। जो जीव अनादि कालसे पहले ही गुणस्थानमें वर्तमान है उसका वन्ध अनादिवन्ध है। अभव्यका बन्ध ध्रुव है और भव्यका कर्मबन्ध अध्रुव है। ऊपर जो उत्कृष्ट आदि चार प्रकारका बन्ध कहा है वह सादि है अथवा अनादि, इसका कथन इन अनुयोगद्वारोमें किया गया है।

स्वामित्व—इसका कथन तीन अनुयोगद्वारोकी अपेक्षा किया गया है वे तीन अनुयोगद्वार है—प्रत्ययानुगम, विपाकदेश और प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणा। प्रत्यय कहते है। कारणको कर्मबन्धके चार प्रत्यय हैं—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग। इन चारोमेंसे किसके निमित्तसे किस कर्मका बन्ध होता है इसका विस्तार प्रत्ययानुगममें किया गया है। यथा-छह कर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असंयम प्रत्यय और कषाय प्रत्यय होते है। वेदनीयकर्म मिथ्यात्वप्रत्यय, असयमप्रत्यय कषाय प्रत्यय और योगप्रत्यय होता है।

कर्मके अनुभागका विपाक जीवमें, पुद्गलमें, क्षेत्रमें या भवमें होता है।

तदनुसार कर्मोके चार भेद किये गये है—जीवविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी और क्षेत्रविपाकी। चार घातिकर्म, वेदनीय और गोत्र ये जीवविपाकी है। आयुकर्म भवविपाकी है क्योकि नारक आदि भवोमे उसका विपाक देखा जाता है नामकर्मकी कुछ प्रकृतियाँ जीवविपाकी है, कुछ पुद्गलविपाकी और कुछ क्षेत्रविपाकी। यह सब कथन विपाकदेशमे किया गया है।

प्रशस्ताप्रशस्तप्ररूपणामें कहा है कि चार घातिकर्म अप्रशस्त है और अघातिकर्म प्रशस्त भी है अप्रशस्त भी। इन तीन अनुयोगद्वारोका कथन करनेके बाद उसके आधारमे स्वामित्वका कथन विस्तारसे किया गया है।

भुजगारबन्ध—भुजगारसे यहाँ भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य बन्ध लिये गये है। वर्तमान समयमे पिछले समयसे अधिक भागबन्ध होना भुजगार बन्ध है। और कम अनुभागबन्ध होना अल्प- अनुतरबन्ध है। तथा पिछले समयमें जितना अनुभागबन्ध हुआ हो, वर्तमानमें भी उतना ही अनुभागबन्ध होना अवस्थितबन्ध है। तथा पिछले समयमें बन्ध न होकर वर्तमानमें बन्ध होनेको अवक्तव्यबन्ध कहते है। इन चारो प्रकारके बन्धोकी अपेक्षा अनुभागबन्धका विचार इस अनुयोगद्वारमें किया गया है। इसमें तेरह अवान्तर अधिकार है—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व।

पदनिक्षेप—इस अनुयोगद्वारमें अनुभागबन्ध सम्बन्धी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि, उत्कृष्ट अवस्थान, जघन्यवृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन अवान्तर अधिकारोके द्वारा कथन किया गया है।

वृद्धि—वृद्धिबन्धमें छह वृद्धि, छह हानि, अवस्थित और अवक्तव्य पदोका समुत्कीर्तना, स्वामित्व काल, अन्तर, नानाजीवोकी अपेक्षा भग विचयानुगम भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व, इन तेरह अनुयोगोके द्वारा कथन किया गया है।

अध्यवसान समुदाहार—इसमें ये बारह अनुयोगद्वार है—अविभाग प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर, काण्डक, ओजयुग्म, षट्स्थान, अधस्तन स्थान, समय, वृद्धि, यवमध्य पर्यवसान और अल्पबहुत्व प्ररूपणा। चतुर्थ वेदना खण्डके अन्तर्गत वेदनाभाव विधान नामक अनुयोगद्वारकी द्वितीय चूलिकाका परिचय कराते हुए इन सबका परिचय करा आये है।

जीवसमुदाहार—इसमे आठ अनुयोगद्वार है—एक स्थान जीव स्थान प्रमाणा-

नुगम, निरन्तर स्थान-जीव प्रमाणानुगम, सान्तर स्थान जीव प्रमाणानुगम, नानाजीव काल प्रमाणानुगम, वृद्धि प्ररूपणा, यवमध्य प्ररूपणा, स्पर्शन प्ररूपणा और अल्पबहुत्व । उक्त वेदना भाव विधानके परिचयसे इनका परिचय भी ज्ञात किया जा सकता है ।

इसप्रकार मूलप्रकृति अनुभागवन्धका कथन करके पश्चात् उत्तर प्रकृति अनुभागवन्धका कथन उक्त अनुयोगोके द्वारा किया गया है ।

प्रदेशबन्धाधिकार

महावन्धके इस अन्तिम अधिकारमें मूलप्रकृति प्रदेशवन्ध और उत्तर प्रकृति-प्रदेशवन्धका कथन किया गया है । दोनोके कथनका प्रकार एक ही है । सबसे प्रथम भागाभाग समुदाहारका कथन है—

भागाभाग समुदाहार—आठ मूलकर्मोंका वन्ध होते समय किस कर्मको समय-प्रवद्धका कितना भाग मिलता है यह इसमें बतलाया गया है । सबसे कम भाग आयुको मिलता है क्योंकि उसका स्थितिवन्ध सब कर्मोंसे अल्प है । उससे नामकर्म और गोत्रकर्मको विशेप अधिक भाग मिलता है—क्योकि दोनोका स्थितिवन्ध तुल्य होते हुए भी आयुकर्मसे अधिक है । इन दोनोसे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको विशेष अधिक भाग मिलता है क्योकि इन तीनोका स्थितिवन्ध नाम गोत्रसे अधिक है किन्तु परस्परमें समान है । उनसे मोहनीय-कर्मको अधिक भाग मिलता है क्योकि उसका स्थितिबन्ध सबसे अधिक है । किन्तु वेदनीयकर्मको मोहनीयसे भी विशेष अधिक भाग मिलता है क्योकि सुख दु खके निमित्तसे वेदनीयकी निर्जरा वहुत होती रहती है । आठो कर्मोको जो भाग मिलता है वह उनकी बन्धको प्राप्त अवान्तर कर्म प्रकृतियोमे बँट जाता है । घातिकर्मोंको प्राप्त द्रव्य दो भागोमें हो जाता है सर्वघाती और देशघाती । सर्वघाती द्रव्य सब प्रकृतियोमें बट जाता है किन्तु देशघाती द्रव्य केवल देशघाती प्रकृतियोमें ही बटता है । वेदनीयकर्म, आयुकर्म और गोत्रकर्मकी एक समयमें एक ही प्रकृति वधती है अत इन्हें जो द्रव्य मिलता है वह सब उस एक ही कर्मप्रकृतिको मिल जाता है ।अत इनमें अवान्तर विभाग नही होता । शेप पाँच कर्मोंमें ही अवान्तर विभाग होता है । उनकी जिस समय जितनी अवान्तर प्रकृतियाँ वधती है । उतनेमें ही बटवारा होता है ।

यद्यपि महावन्धकी रचना गद्य सूत्रात्मक है । तथापि उत्तर प्रकृति प्रदेश बन्धाधिकारके प्रारम्भमें दो गाथाएँ आती है । उनके द्वारा घातिकर्मोकी उत्तर प्रकृतियोमें बटवारेके क्रमका निर्देश किया गया है । गाथाएँ इस प्रकार है—

'ज सव्वघादिपत्त सगकम्म पदेसाणतिमो भागो।
आवरणाण चदुधा तिधा च तत्थ पचधाविग्घे॥
मोहे दुधा चदुद्धा पचधा वा पि वज्झमाणीण।
वेदणीयाउगगोदे य वज्भमाणीणं भागो से॥
(म० व०, भा० ६, पृ० ८९)

इनमें वतलाया है कि प्रदेशवन्धके होने पर घातिकर्मोंको जो द्रव्य प्राप्त होता है उसका अनन्तवाँ भाग सर्वघाती द्रव्य है और शेप बहुभाग देशघाती द्रव्य है। ज्ञानावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी चारो देशघाती प्रकृतियोमें विभक्त हो जाता है। दर्शनावरणको जो देशघाती द्रव्य मिलता है वह उसकी तीनो देशघाती प्रकृतियोमें वट जाता है। अन्तरायकर्म देशघाती ही है। अत उसको प्राप्त द्रव्य उसकी पाँचो देशघाती प्रकृतियोमें वट जाता है। मोहनीयकर्मके देशघाती द्रव्यके मुख्य दो भाग होते है एक भाग कपायवेदनीयको मिलता है और एक भाग नोकषाय वेदनीयको। कपायवेदनीयका द्रव्य वन्धानुसार चार भागोमें और अकषायवेदनीयका द्रव्य पाँच भागोमें विभक्त हो जाता है। वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोमेंसे एक कालमें एकका ही वन्ध होता है। इसलिये इन कर्मोको प्राप्त द्रव्य वधने वाली उस एक प्रकृतिको ही मिल जाता है।

भागाभाग समुदाहारके पश्चात् चौवीस अनुयोगद्वारोका निर्देश है। जो इस प्रकार है—स्थानप्ररूपणा, सर्ववन्ध, नोसर्ववन्ध, उत्कृष्टवन्ध, अनुत्कृष्टवन्ध, जघन्यबन्ध, अजघन्यबन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुवबन्ध अध्रुववन्ध, स्वामित्व, एक जीवकी अपेक्षाकाल, अन्तर, सन्निकर्प, नानाजीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। उनके पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसान समुदाहार और जीव समुदाहारका कथन किया गया है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

स्थान प्ररूपणा—इसके अवान्तर अधिकार दो है—योग स्थान प्ररूपणा और प्रदेशबन्ध प्ररूपणा। योग स्थान प्ररूपणामें चौदह जीव समासोके आश्रयसे पहले जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंके अल्प बहुत्वका कथन किया है। फिर दस अनुयोगोके द्वारा उनका विशेष कथन किया है। वे दस अनुयोगद्वार है— अविभाग प्रतिच्छेदप्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, समयप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा और अल्पबहुत्व।

मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोको लानेमें कारण है

उसे योग कहते हैं। जीवके सब प्रदेशोंमें योग शक्ति तारतम्यरूपसे रहती है। उसीसे योग स्थान बनते हैं। पहली अविभागी प्रतिच्छेद प्ररूपणामें बतलाया है कि प्रत्येक आत्म प्रदेशमें योगशक्तिके कितने अविभागी प्रतिच्छेद होते हैं। उन्हीके समूहको वर्गणा और वर्गणाओके समूहको स्पर्धक कहते हैं। वर्गणा और स्पर्धक प्ररूपणामें उनकी वर्गणाओ और स्पर्धकोका कथन है।

अन्तर प्ररूपणामें बतलाया है कि एक स्पर्धककी अन्तिमवर्गणासे दूसरे स्पर्धककी प्रथमवर्गणामें अविभागी प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा कितना अन्तर होता है। स्थानप्ररूपणामें बतलाया है कि कितने स्पर्धक मिलकर एक योगस्थान बनता है। अनन्तरोपनिधामें बतलाया है कि जघन्य योगस्थानसे लेकर उत्कृष्ट योगस्थान तक प्रत्येक योगस्थानमें कितने स्पर्धक बढते जाते हैं। परम्परोपनिधामें बतलाया है कि कितने योगस्थान जानेपर वे स्पर्धक दूने हो जाते हैं। समय प्ररूपणामें बतलाया है कि चार समय वाले, पाँच समय वाले, छह समय वाले, सात समय वाले, आठ समय वाले तथा पुनः सात समय वाले, छह समय वाले, पाँच समय वाले, चार समय वाले, और इनसे ऊपरके तीन समय वाले तथा दो समय वाले योगस्थान अलग-अलग जगत् श्रेणिके असख्यातवें भाग प्रमाण हैं। वृद्धि प्ररूपणामें योगस्थानमें होने वाली असख्यात भाग वृद्धि, असख्यातभाग हानि, सख्यातभागवृद्धि-सख्यातभागहानि सख्यातगुणवृद्धि-सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि-असख्यात गुणहानि, इन चार हानि-वृद्धियोका कथन किया गया है। अल्पबहुत्व प्ररूपणमें आठ समयवाले सात समय वाले आदि योगस्थानोके अल्पबहुत्वका कथन है। योगस्थान प्रकरणका दूसरा अधिकार प्रदेशबन्ध स्थान प्ररूपणा है। इसमें बतलाया है कि जो योगस्थान हैं वे ही प्रदेशबन्धस्थान हैं किन्तु इतनी विशेषता है कि प्रदेशबन्धस्थान प्रकृति विशेषकी अपेक्षा विशेष अधिक होते हैं।

सर्व-नो सर्वबन्ध—समस्त प्रदेशबन्धको सर्वबन्ध और उससे कमको नो सर्वबन्ध कहते हैं। ओघसे सभी कर्मोका सर्वबन्ध भी होता है और नो सर्वबन्ध भी होता है। आदेशसे नरक गतिमें मोहनीय और आयु कर्मके सिवाय शेष कर्मोंका नो सर्वबन्ध होता है।

उत्कृष्ट-अनुकृष्ट प्रदेशबन्धप्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सभी कर्मोंका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है और अनुकृष्ट प्रदेशबन्ध भी होता है। आदेशसे नरक गतिमें मोह और आयुकर्मके सिवाय शेष छै कर्मोका अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध होता है।

जघन्यअजघन्य प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—में बतलाया है कि ओघसे सब कर्मोंका जघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है और अजघन्य प्रदेशबन्ध भी होता है।

सादि-अनादि-ध्रुव-अध्रुव प्रदेशबन्ध प्ररूपणा—मे बतलाया है कि ओघसे छह कर्मोका उत्कृष्ट, जघन्य और अजघन्य प्रदेशवन्ध सादि और अध्रुवबन्ध है अनुत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सादि आदि चारो प्रकारका होता है। मोहनीय और आयुकर्मका उत्कृष्ट अनुत्कृष्ट जघन्य अजघन्य प्रदेशवन्ध सादि और अध्रुवबन्ध होता है। इत्यादि कथन है।

स्वामित्वप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोमें उत्कृष्ट और जघन्य प्रदेशवन्धके स्वामियोका कथन किया है। सामान्यरूपसे जो उत्कृष्ट योगसे युक्त होता है और उत्कृष्ट प्रदेशवन्धके साथ कमसे कम प्रकृतियोका बन्ध करता है वह उत्कृष्ट प्रदेश वन्धका स्वामी होता है। तथा जो जघन्य योगसे युक्त होता है और जघन्य प्रदेशवन्धके साथ अधिकसे अधिक प्रकृतियोका वन्ध करता है, वह जघन्य प्रदेशवन्धका स्वामी होता है।

कालप्ररूपणामे—ओघ व आदेशसे मूल तथा उत्तरप्रकृतियोमें जघन्य और उत्कृष्टप्रदेशवन्धके कालका कथन किया गया है। यथा—ओघसे छह कर्मोके उत्कृष्ट प्रदेशवन्धका जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्टकाल दो समय है, इत्यादि।

अन्तरप्ररूपणामें—ओघ व आदेशसे मूल व उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट आदि प्रदेशवन्धोके अन्तरकालका कथन है। यथा—ओघसे छह कर्मोके उत्कृष्ट प्रदेश-वन्धका जघन्य अन्तरकाल एक समय और उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तप्रमाण है, इत्यादि।

सन्निकर्षप्ररूपणामें—उत्कृष्ट प्रदेशवन्ध और जघन्यप्रदेशवन्धके आश्रयसे स्वस्थान सन्निकर्ष और परस्थानसन्निकर्पका कथन किया गया है। पहले उत्कृष्ट-स्वस्थान और उत्कृष्टपरस्थान सन्निकर्पका कथन है, पश्चात् जघन्यस्वस्थान और जघन्यपरस्थान सन्निकर्पका कथन है। यथा—मतिज्ञानावरणकर्मका उत्कृष्टप्रदेश-वन्ध करनेवाला जीव श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरणका नियमसे उत्कृष्टप्रदेशवन्ध करता है। यह उत्कृष्टस्वस्थान सन्निकर्पका उदाहरण है। इसी प्रकार ओघ और आदेशसे सव सन्निकर्ष घटित किये है। यह प्रकरण काफी वडा है। उत्कृष्ट सन्निकर्षके अन्तमें यहाँ भी 'पवाइज्जमाण' और अपवाइज्जमाण उपदेशोका निर्देश मिलता है। जैसा कि यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें मिलता है।

भंगविचयप्ररूपणामें—ओघ व आदेगसे मूल व उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट व जघन्य प्रदेगवन्धके भगोका नानाजीवोकी अपेक्षा कथन किया गया है। उसमेंसे मूलप्रकृतियोकी अपेक्षा कथन नष्ट हो गया है।

भागाभागप्ररुपणा—मूलप्रकृतियोमे भागाभागप्ररूपणाका कथन भी नष्ट हो

गया है। उत्तरप्रकृतियोमें भागाभागका कथन वर्तमान है। तीन आयु, वैक्रियिकषट्क और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट जीव इनका वन्ध करनेवाले जीवोके असख्यातवें भाग प्रम प्रदेशवन्ध करनेवाले जीव असख्यात वहुभागप्रमाण होते हैं, गया है। परिमाणप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोकी अपेक्षा कथन हो गया है। उत्तरप्रकृतियोकी अपेक्षा कथन करनेवाला भाग वतलाया है—तीन आयु, और वैक्रियिकपट्कका उत्कृष्टप्रदेश प्रदेशवन्ध करनेवाले जीव असख्यात है। आहारकद्विकका उर प्रदेशवन्ध करनेवाले जीव सख्यात है। इत्यादि रूपसे परिमाण वतलाया गया है।

क्षेत्रप्ररूपणा—मूलप्रकृतियोमें क्षेत्रप्ररूपणाका कथन तो प्रकृति विपयक कथन अवशिष्ट है। उसमें वतलाया है कि षट्क, आहारकद्विक और तीर्थङ्कर प्रकृतिका उत्कृष्ट औ करनेवाले जीवोका क्षेत्र लोकके असख्यातवें भाग है अ उत्कृष्टप्रदेशवन्ध करनेवाले जीवोका क्षेत्र लोकके सख्या इत्यादि कथन है।

स्पर्शन प्ररूपणा—मूलप्रकृतियोमे कथन करनेवाला भ है। उत्तरप्रकृतियोके उत्कृष्ट अनुकृष्ट जघन्य और अजघन्य वालोके स्पर्शनका कथन अवशिष्ट है।

नानाजीवोंकी अप्रेक्षाकाल—मूलप्रतियोकी अपेक्षा उत्कृ हो गई जघन्यकालप्ररूपणा तथा उत्तरप्रकृति विषयककाल प्र

नानाजीवोकी अपेक्षा अन्तर—इसमें ओघतथा आदेशसे मूल उत्कृष्ट आदि प्रदेशबन्धोका अन्तरकाल नानाजीवोकी अपेक्ष यथा—आठो कर्मोंके उत्कृष्टप्रदेशबन्धका जघन्य अन्तर एक प्रदेशवन्धका अन्तरकाल नही है। उत्तरप्रकृतियोकी अपेक्ष इत्यादि कथन है।

भावप्ररूपणा—चू कि सव प्रकृतियोका वन्ध औदयिकभा यहाँ सव मूल और उत्तरप्रकृतियोका जघन्य और उत्कृष्ट जीवोके औदयिक भाव वतलाया है।

अल्पवहुत्वप्ररूपणा—अल्पवहुत्वके दो भेद है स्वस्था परस्थान अल्पवहुत्व। मूलप्रकृतियोमें स्वस्थान अल्पबहुत्व

भुजगार बन्ध

इस प्रकरणमें भुजगार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोका कथन है। पिछले समयकी अपेक्षा वर्तमानमें अधिक प्रदेशोका बन्ध करना भुजगार बन्ध है, कम प्रदेशोका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है, पिछले समयमें जितना प्रदेश बन्ध किया था वर्तमान समयमें भी उतना ही प्रदेशबन्ध होना अवस्थितबन्ध है, और बन्ध न करके बन्ध करना अवक्तव्यबन्ध है। इन बन्धोका कथन तेरह अनुयोगोके द्वारा किया गया है—समुत्कीर्तना, स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, भागाभाग, परिमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर भाव और अल्पबहुत्व। ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे इस प्रकरणका कुछ भाग लुप्त हो गया है।

यहाँ भी मूल प्रकृतियोमें ओघसे अवस्थित पदके कालका कथन करते हुए पवाइज्जंत तथा अपवाइज्जत उपदेशका निर्देश किया है।

पदनिक्षेप

उक्त भुजगार अल्पतर आदि पद उत्कृष्ट भी होते है और जघन्य भी होते है। अत इस प्रकरणमें भुजगारके उत्कृष्ट वृद्धि और जघन्य वृद्धि ये दो भेद करके अल्पतरके उत्कृष्ट हानि और जघन्य हानि ये दो भेद करके तथा अवस्थित पदके उत्कृष्ट अवस्थान और जघन्य अवस्थान ये दो भेद करके कथन किया गया है। अत पदनिक्षेपके समुत्कीर्तना, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोमेंसे प्रत्येकके उत्कृष्ट और जघन्य ये दो भेद करके कथन किया है। तदनुसार उत्कृष्ट समुत्कीर्तना, उत्कृष्ट स्वामित्व और उत्कृष्ट अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोकी उत्कृष्ट वृद्धि, उत्कृष्ट हानि और उत्कृष्ट अवस्थानका कथन है। तथा जघन्य समुत्कीर्तना, जघन्य स्वामित्व और जघन्य अल्पबहुत्वमें ओघ और आदेशसे मूल और उत्तर प्रकृतियोकी जघन्य वृद्धि, जघन्य हानि और जघन्य अवस्थानका कथन है।

इस प्रकरणका भी ताडपत्र नष्ट हो जानेसे कितना ही अश लुप्त हो गया है।

वृद्धि

वृद्धि पदसे यहाँ वृद्धि, हानि, अवस्थित और अवक्तव्य इन चारोका ग्रहण होता है। इन चारोके अवान्तर भेद बारह है—अनन्त भाग वृद्धि, अनन्तभाग हानि, असख्यातभागवृद्धि, असख्यातभागहानि, संख्यातभागवृद्धि, सख्यातभागहानि संख्यातगुणवृद्धि, सख्यातगुणहानि, असख्यातगुणवृद्धि, असख्यातगुणहानि, अवस्थित और अवक्तव्य। यहाँ इन पदोकी अपेक्षा समुत्कीर्तना आदि तेरह अनुयोगोका ओघ

और आदेशसे मूल तथा उत्तर प्रकृतियोंमें कथन किया है। यहाँ भी मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा वृद्धि अनुयोगद्वारका कथन करने वाला प्रकरण ताडपत्रके नष्ट हो जानेसे नष्ट हो गया है। केवल उत्तर प्रकृतियोंका प्रकरण अवशिष्ट है।

अध्यवसानसमुदाहार

अध्यवसान समुदाहारके अन्तर्गत दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगममें योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञानावरणीय कर्मके असंख्यात प्रदेशबन्धस्थान हैं जो योगस्थानोंसे संख्यातवें भाग प्रमाण अधिक हैं। इसका कारण भी बतलाया है। मूलप्रकृतियोंकी तरह ही उत्तर प्रकृतियोंमें प्रत्येक प्रकृतिकी अपेक्षा योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके प्रमाणका अलग-अलग कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें इन योगस्थानों और प्रदेशबन्धस्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा किया है।

जीवसमुदाहार

जीवसमुदाहारके अन्तर्गत भी दो अनुयोगद्वार हैं—प्रमाणानुगम और अल्पबहुत्व। प्रमाणानुगममें चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट योगस्थानोंका कथन करनेके बाद, उन्हीं चौदह जीवसमासोंके आश्रयसे जघन्य और उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध स्थानोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है। तथा अल्पबहुत्वमें उसके जघन्य उत्कृष्ट और जघन्योत्कृष्ट भेद करके ओघ व आदेशसे सब मूल व उत्तर प्रकृतियोंके प्रदेशोंके बन्धक जीवोंके अल्पबहुत्वका कथन किया है।

इस प्रकार महाबन्धके अन्तर्गत प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबंधाधिकारोंके विषयका यह सामान्य परिचय है। चारों अधिकारोंकी शैली तथा अनुयोगद्वार आदि सब समान है। केवल आधार भूत प्रकृतिबन्ध स्थितिबन्ध आदि बन्धोंको लेकर ही विषय भेद पाया जाता है।

महाबन्धके उपर्युक्त वस्तु-विश्लेषणसे यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त-ग्रन्थमें अनुयोगद्वार पूर्वकबन्धके भेदोंका विवेचन किया गया है। इस विवेचन-सन्दर्भमें जिन भुजाकार आदि बन्ध-विकल्पोंका कथन आया है उनका उत्तरकालीन साहित्यपर पूरा प्रभाव दिखायी पड़ता है। वास्तवमें बन्धका ऐसा सूक्ष्म और विस्तृत प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

●

द्वितीय अध्याय

चूर्णिसूत्र साहित्य

दिगम्बर परम्परामें मूल सिद्धान्त ग्रन्थोके कुछ ही समय पश्चात् चूर्णिसूत्र साहित्य लिखा गया है। इस साहित्य विधाका उद्‌गम कब और कैसे हुआ यह तो निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता पर 'कसायपाहुड' पर यतिवृषभके जो चूर्णि सूत्र उपलब्ध है, उनके अध्ययनसे यह अनुमान होता है कि इतने प्रौढ सूत्र एकाएक नही लिखे जा सकते है। अवश्य कोई पूर्ववर्ती परम्परा रही होगी, जो अनवच्छिन्न कालके प्रवाहमे आज उपलब्ध नही है।

मूल सिद्धान्त ग्रन्थो और चूर्णि सूत्रोके तुलनात्मक अध्ययनसे इतना अवश्य प्रकट होता है कि चूर्णिसूत्र सिद्धान्त ग्रन्थोके पश्चात् और अन्य भाष्य एव विवृत्तियोके पूर्वमें रचे गये होगे। यहाँ यह स्मरणीय है कि दिगम्बर परम्पराका 'चूर्णिसूत्र साहित्य' श्वेताम्बर-परम्पराके 'चूर्णि साहित्य' से स्थापत्य और वर्ण्य-विषय दोनो ही दृष्टियोसे भिन्न है। श्वेताम्बर परम्पराकी चूर्णियाँ गद्यात्मक और पद्यात्मक मिश्रित शैलीमें लिखी गयी है। इनकी भाषा भी सस्कृत मिश्रित प्राकृत है तथा कतिपय चूर्णियाँ प्राकृतमे भी उपलब्ध है। इन चूर्णियोकी शैलीकी एक प्रमुख विशेषता आख्यानात्मक उदाहरणो द्वारा विषयके स्पष्टीकरणकी है। चूर्णिकार अपनी ओरसे कोई सिद्धान्तात्मक नये तथ्य अकित नही करता, अपितु निर्युक्तियो और भाष्यो द्वारा विवृत तथ्योकी ही पुष्टि करता है।

पर दिगम्बर परम्पराके चूर्णि सूत्रोमें आगम सम्बन्धी नये तथ्योकी प्रचुरता है। बीज पदरूप गाथा सूत्रो पर ये 'चूर्णिसूत्र' वृत्तिका कार्य करते हुए भी अनेक नये तथ्योको सूत्र रूपमें प्रस्तुत करते है। यही कारण है कि जयधवलाकारने चूर्णि सूत्रोके भी व्याख्यान लिखे है। बताया जाता है कि 'कसायपाहुड' की गाथाओका सम्यक् अर्थ अवधारण कर उन पर वृत्ति सूत्र लिखे गये है। ये वृत्ति सूत्र ही चूर्णिसूत्र कहे जाते है। 'जयधवला' में वृत्ति सूत्रका लक्षण निम्न प्रकार बताया है—

'सुत्तस्सेव विवरणाए सखित्तसद्दरयणाए सगहियसुत्तासेसत्थाए वित्तिसुत्तववएसादो।'[1]

१. जयधवला अ० प० ५२।

अर्थात् जिसकी शब्द रचना सक्षिप्त हो और जिसमें सूत्रगत विशेप अर्थोंका सग्रह किया गया हो, ऐसे सूत्रोके विवरणको वृत्ति सूत्र कहते हैं।

चूर्णि सूत्रोके अध्ययनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकारके साहित्यमें वृत्ति रूप संक्षिप्त सूत्र लिखे जाने पर भी अर्थ बहुल पदोका समावेश किया गया जिससे चूर्णि सूत्रोमें पर्याप्त प्रमेयका समावेश हुआ है। यदि इन चूर्णि सूत्रोको चूर्णि पदो का समानार्थक मान लिया जाय, तो चूर्णिपदकी व्याख्यामें समाहित सभी लक्षण इन सूत्रोमें घटित होते हैं। हम यहाँ चूर्णिपदका लक्षण प्रस्तुत करते हैं।

अत्थबहुल महत्थ हेउ-निवाओवसग्गगम्भीर।
बहुपायमवोच्छिन्नं गम-णयसुद्ध त चुण्णपय ॥[1]

अर्थात् अर्थबहुल, महान अर्थका धारक या प्रतिपादक, हेतु निपात और उपसर्गसे युक्त गम्भीर, अनेक पद समन्वित और अव्यवच्छिन्न चूर्णिपद कहलाते हैं। आशय यह है कि जिनमें वस्तुका स्वरूप धारा प्रवाहसे कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकारके जाननेके उपाय और नयोसे शुद्ध हो, उन्हें चौर्ण अथवा चूर्णि सम्बन्धीपद कहते है।

चूर्णिपदका यह लक्षण चूर्णि सूत्रोमें घटित होता है। अत यह अनुमान सहज है कि 'वृत्ति' और 'चूर्णि' एकार्थक है। आचार्य यतिवृषभने 'कसायपाहुड' के गाथा-सूत्रोपर वृत्यात्मक ऐसे सूत्र लिखें, जो बीजपदोके विश्लेषणके साथ प्रसगगत नये तथ्योके भी सूचक है। अतएव चूर्णि सूत्र सूत्रात्मक शैलीमें रचित बीजपद विवृत्यात्मक ऐसा साहित्य है, जिसमें शब्द अल्प और अर्थबहुल पाया जाता है। यथार्थत चूर्णिसूत्रकार गाथा-सूत्रोके बीजपदोका विश्लेपण कई सूत्रो-में भी करते है। बीजपदोमें अन्तर्निहित अर्थका विश्लेपण जब तक प्रकट नही हो जाता, तब तक वे सक्षिप्त रूपमें सूत्रोका प्रणयन करते हैं। अपने इस कथन-की पुष्टिके हेतु "पेज्जदोसविहत्तिअत्थाहियारा" की दूसरी गाथा बाईसवी सख्यक ली जा सकती है। चूर्णि सूत्रकारने इस गाथाके प्रत्येक पदको बीज मान-कर प्रकृति विभक्तिका १२९ सूत्रोमें, स्थिति विभक्तिका ४०७ सूत्रोमें, अनुभाग विभक्तिका १८९ सूत्रोमें, प्रदेश विभक्तिका २९२ सूत्रोमें, झीणाझीणका १४२ सूत्रोमें और स्थित्यन्तिकका १०६ सूत्रोमें वर्णन किया है। इस वर्णनसे यह ध्वनित होता है कि चूर्णिसूत्र साहित्य बीजपदोका व्याख्यात्मक तो है ही, साथ ही उसमें ऐसे भी अनेक पद प्रयुक्त हैं, जिनकी व्याख्या या वर्णन जाननेके लिये सकेत किया गया है। अणुचिंतिऊण णेदव्व (सूत्र १९२, गाथा ६२), गेण्हियव्व (सूत्र १५५, गाथा १२३), दट्ठव्व (सूत्र ३३५, गाथा १२३), साहेयव्व (सूत्र ८५

१ अभिधान राजेन्द्र 'चुण्णपद'।

गाथा ५८९,) आदि पदोंसे यह स्पष्ट है कि चूर्णिसूत्रोंमें निहित अर्थ उच्चारणाचार्य या व्याख्यानाचार्यों द्वारा अवगन्तव्य अथवा मननीय है।

चूर्णि सूत्रोंके निरूपणके सम्बन्धमें 'जयधवलाटीका' में भी कतिपय तथ्य उपलब्ध हैं। हम यहाँ उन निष्कर्षोंको प्रस्तुतकर 'चूर्णि सूत्र' साहित्य विधाके स्वरूप निर्धारणका प्रयास करेंगे। वास्तवमें यह साहित्य विधा वृत्यात्मक ऐसी मौलिक विधा है, जिसमें बीज पदोंकी वृत्तिके साथ विषय सम्बन्धी नये तथ्य भी संकेतित हैं। चूर्णि सूत्रोंमें प्रस्तुत की गयी वृत्तियाँ सूत्रात्मक हैं, भाष्यात्मक नहीं। साहित्य विधाकी मनोवैज्ञानिक पीठिकामें बतलाया जाता है कि मूल आगम सम्बन्धी रचनाओंके तत्काल ही सूत्रात्मक वृत्तियाँ लिखी जाती हैं, जो उत्तरकालीन वार्तिकका पूर्व रूप रहती हैं, ऐसे सूत्रोंकी व्याख्याएँ भी उत्तरकालमें टीकाकारों द्वारा लिखी जाती हैं।

जयधवलाकी मंगल गाथाओंमें यतिवृषभको 'वित्तिसुत्तकत्ता'—वृत्तिसूत्र कर्ता लिखा है। और जयधवलाके अन्दर[2] तो चुण्णिसुत्त करके बहुतायतसे उनका उल्लेख पाया जाता है। इसी तरह षट्खण्डागमकी[3] टीका धवलामें भी चुण्णिसुत्त नामसे उनका निर्देश पाया जाता है। इन्द्र नन्दिने अपने श्रुतावतारमें[4] वृत्तिसूत्र और चूर्णिसूत्र दोनों नामोंका प्रयोग बड़े ढंगसे किया है। उन्होंने लिखा है कि उसके पश्चात् यतिवृषभने उन गाथाओं पर वृत्ति सूत्र रूपमें छै हजार प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यतिवृषभकी इस कृतिका नाम चूर्णिसूत्र है और कषायपाहुडकी वृत्तिरूप होनेसे उन्हें वृत्ति सूत्र कहते हैं।

धवलामें इन्हें पाहुड[5] चुण्णिसुत्त भी कहा है। कसायपाहुडका संक्षिप्त नाम पाहुड करके उसके चूर्णिसूत्र होनेसे पाहुडचुण्णिसुत्त कहना उचित ही है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी अन्तिम[6] गाथामें त्रिलोकप्रज्ञप्तिका परिमाण बतलाते हुए

---

१. 'सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो मे वर देऊ।' —क० पा०, भा० १, पृ० २।

२. क० पा० भा० १, पृ० ५, १२, २७, ८८, ९६।

३. 'पुणो सो अत्थो आइरियपरपराए आगतूण गुणहरभडारय सपत्तो। पुणो तत्तो आइरियपरपराए आगतूण अज्जमखु णागहत्थिभडारयाण मूल पत्तो। पुणो तेहि दो-हिवि कमेण जदिवसह भडारयस्स वक्खाणिदो, तेणवि अणुभागसंकमे सिस्साणुग्गहट्ठम चुण्णिसुत्ते लिहिदो।' —षट्खं, पु० १२, पृ० २३२।

४. 'तेन ततो यतिपतिना तद्गाथा वृत्तिसूत्ररूपेण। रचितानि षट्सहस्रग्रन्थान्यथ चूर्णि-सूत्राणि॥ १५६॥ —तत्त्वानु०, पृ० ८७।

५. 'एयत्त कत्थ सिद्ध ? पाहुड चुण्णिसुत्ते सुप्पसिद्ध'।' —षट्खं, पु० १२, पृ० ९४।

६. 'चुण्णिसरूव छक्करणसरूवपमाण होइ किं ज त। अट्ठसहस्सपमाण तिलोयपण्णत्ति-णामाए॥७७॥ —ति० प० भा० २, प० ८८२।

'चूण्णिसरूव' का निर्देश आया है जो यतिवृपभकृत चूर्णिसूत्रोके लिये ही आया है। इस गाथाके यतिवृपभकी कृती माने जानेसे यह मानना पडता है कि यतिवृपभने स्वय अपनी इस कृतिको चूर्णि' सज्ञा प्रदान की थी।

दि० जैनसाहित्यमें चूर्णिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध अन्य किसी रचनासे हम अवगत नही है। किन्तु धवलाटीकामें वीरसेनस्वामीने पट्खण्डागमके सूत्रोको भी 'चुण्णिसुत्त' नामसे अभिहित किया है। परन्तु उन्ही सूत्रोको चूर्णिसूत्र कहा है जो गाथाके व्याख्यानरूप है। वात यह है कि वेदनाखण्डमें कुछ गाथाएँ भी आती है जो सूत्र उनके व्याख्यानरूप है उन्हीको धवलाकारने चूर्णिसूत्र[1] कहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गाथाओके व्याख्यानरूप सूत्र चूर्णिसूत्र कहे जाते थे।

जयधवलाकारने यतिवपभाचार्यके चूर्णिसूत्रोको वृत्तिसूत्र कहा है। जिस प्रसगसे जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका लक्षण दिया है, उस प्रमगको भी यहाँ दे देनेसे उसपर विशेपप्रकाश पडेगा।

प्रसग यह है कि चूर्णिसूत्रोमें एक जगह केवल दोका अक रखा है। उसपर शकाकार पूछता है कि यह दोका अक यहाँ क्यो रखा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते है कि अपने हृदयमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये यतिवृषभाचार्यने २ का अक रखा है। इसपर शकाकार पुन पूछता है कि उस अर्थको अक्षरोके द्वारा क्यो नही कहा ? तो जयधवलाकार उत्तर देते है कि वृत्तिसूत्रका अर्थ कहनेपर चूर्णिसूत्रके उपयुक्त कोई नाम ही नही रहता क्योकि जिसमें वृत्तिसूत्रका अर्थ भी कहा गया हो उसे वृत्तिसूत्र नही कहा जा सकता। 'जो सूत्रका ही व्याख्यान करता है तथा जिसकी शव्द रचना सक्षिप्त है और जिसमें सूत्रके समस्त अर्थको सग्रहीत कर दिया गया है उसे वृत्तिसूत्र[2] कहते है।

वृत्तिसूत्रका उक्त लक्षण यतिवृपभके चूर्णिसूत्रोमें पूर्णतया घटित होता है क्योकि उसकी शव्द रचना सक्षिप्त है फिर भी उनमें गाथासूत्रोका समस्त अर्थ सगृहीत है। सभव है जयधवलाकारने वृत्तिसूत्रका यह लक्षण चूर्णिसूत्रोकी दृष्टि रखकर ही बनाया हो।

किन्तु इस प्रकारके वृत्तिसूत्रोको चूर्णिसूत्र नाम देनेका हेतु क्या है यह पूर्वमें लिखा जा चुका है।

महत्त्व

चूर्णिसूत्रोका महत्त्व कसायपाहुडकी गाथाओसे किसी तरह कम नही प्रतीत

---

१ 'एदस्स गाहासुत्तस्स विवरणभावेण रचिद उवरिम चुण्णिसुत्तादो।'
—पटख०, पु० १२, पृ० ४१।

२ क० पा०, भा० २, पृ० १४१।

होता। चूकि गाथासूत्रोमे जिन अनेक विषयोकी पृच्छा मात्र और सूचना मात्र है उन सबका प्रतिपादन चूर्णिसूत्रोमें किया गया है। अतः एक तरहसे कसायपाहुड और चूर्णिसूत्र दोनो मिलकर एक ग्रन्थरूप हो गये है और चूर्णिसूत्रकारका मत कसायपाहुणकारका मत माना जाता है। वीरसेनस्वामीने धवला टीकामें अनेकस्थानो पर चूर्णिसूत्रकारके मतको 'कसायपाहुड'[1]के नामसे उल्लिखित किया है। इतना ही नही किन्तु चूर्णिसूत्रको उद्धृत करके उसे पाहुडसुत्त[2] नामसे अभिहित किया है।

धवला[3]में अनेक स्थानो पर पट्खण्डागमके मतके सामने चूर्णिसूत्रकारके मत-को रखकर वीरसेनस्वामीने दोनोको परस्पर विरुद्ध बतलाया है। और इस तरह चूर्णिसूत्रकारके मतोको पट्खण्डागमके मतोसे समकक्षता प्रदान की है। इसका प्रभाव हम उत्तर कालीन ग्रन्थकारो पर भी पाते है। विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी-के जैनाचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने धवलाके आधार पर लब्धिसार[4] नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उसमें उन्होने पहले यतिवृषभके मतका निर्देश किया है तदनन्तर भूतबलिके मतका निर्देश किया है। यतिवृषभका मत उनके चूर्णिसूत्रोके आधार पर ही दर्शाया गया है यह कहने की आवश्यकता नही है। अत चूर्णि-सूत्रोका महत्त्व स्पष्ट है।

कसायपाहुड और चुण्णिसुत्त · अधिकार विमर्श

यह लिख आये है कि दो गाथाओके द्वारा गुणधराचार्यने कषाय प्राभृतके अधिकारोका नाम निर्देश किया है। और वे दोनो गाथाएं गुणधरकृत ही मानी गई है उसमें कोई मतभेद नही है।

यति वृषभने भी अपने चूर्णिसूत्रोके द्वारा १५ अर्थाधिकारोका निर्देश किया है किन्तु गुणधर निर्दिष्ट अधिकारोसे उसमें अन्तर है।

जयधवला टीकामें इस पर आपत्ति करते हुए यह आशङ्का की गयी है कि गुणधर भट्टारकके द्वारा कहे गये पन्द्रह अधिकारोके रहते हुए उन्ही पन्द्रह अधि-कारोको अन्य प्रकारसे बतलानेके कारण यतिवृषभ गुणधर भट्टारकके दोष दिखाने वाले क्यो नही होते? इसका परिहार करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि

---

१. कसायपाहुडे सम्मत्तसम्मामिच्छत्ताणमुक्कस्साणु भागो दसणमोहक्खवग मोत्तूण सव्वत्थ होदित्ति परूविदत्तादो वा णव्वदे–पट्‌ख, पु० १२, पृ० ११६, पृ० १२९, पृ० १३८।

२ पट्० पु० १२, पृ० २२१। 'एसो पाहुड चूण्णिसुत्ताभिप्पाओ।– पट्‌ख, पु० ६, पृ० ३३१

३ 'कसायपाहुडसुत्तेणेद सुत्त विरुन्झदि त्ति। वुत्तो सच्च विरुज्झइ—पट्‌ख पु० ८, पृ० ५६। 'एसो सतकम्मपाहुडउवदेसो कसायपाहुड उवदेसो पुण .. पु० १, पृ० २१७।

४ जदि मरदि सासणों सो णिरय तिरिक्ख णर ण गच्छेदि। णियमा देवगच्छदि जइवसह मुणिंद वयणेण।।३४९।। उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि। भूतबलिणाह णिम्मल सुत्तस्स फुडोवदेसेण ।।३५०।। लब्धि०

यतिवृषभने गुणधराचार्यके द्वारा कहे गये अधिकारोका निषेध नही किया किन्तु उनके ही कथनका अभिप्रायान्तर व्यक्त किया है। गुणधराचार्यने तो पन्द्रह अधिकारोकी दिशा मात्र दिखलाई है। उससे यह आशय नही लेना चाहिये कि जिन अधिकारोका गुणधराचार्यने निर्देश किया है वे ही अधिकार होने चाहिये। इसी बातको दिखलानेके लिये यतिवृषभने अन्य प्रकारसे पन्द्रह अधिकार कहे है। सभवत अपने उक्त परिहारको उपपन्न करनेके लिये जयधवलाकारने एक तीसरे प्रकारसे पन्द्रह अधिकारोका निर्देश किया है और लिखा है कि इसी प्रकार चौथे पाचवें आदि प्रकारोसे पन्द्रह अधिकारोका कथन कर लेना चाहिये। गुण-धराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट पन्द्रह अधिकारोका कथन करने वाली गाथाए इस प्रकार है—

'पेज्जदोस विहत्ती ट्ठिदि अणु भागे च बधगे चेय।
वेदग उवजोगेवि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥
सम्मत्त देस विरयी सजम उवसामणा च खवणा च।
दसण चरित्त मोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥

१. पेज्जदोसविहत्ती (प्रेयोद्वेष विभक्ति,), २ ट्ठिदि (स्थिति विभक्ति), ३ अणु भाज (अनुभाग विभक्ति), ४-५ बधग (अकर्मबन्धकी अपेक्षा बन्धक और कर्मबधकी अपेक्षा बन्धक अर्थात् सक्रामक), ६ वेदग (वेदक), ७ उवजोग (उप-योग) ८ चउट्ठाण (चतु स्थान), ९ वियजण (व्यञ्जन), सम्मत्त (१० दर्शन-मोहकी उपशामना और ११ दर्शनमोहकी क्षपणा। १२ देस विरयी (देश विरति), १३ सजम (सकल सयम), १४ उवसामणा च (चारित्र मोहकी उपशामना), १५ खवणा च (चारित्रमोहकी क्षपणा) ये पन्द्रह अधिकार गुणधरा-चार्यने कहे है। उक्त गाथाओ के ही आधार पर रचित चूर्णिसूत्रोमें यतिवृषभने नीचे लिखे अनुसार पन्द्रह अधिकार गिनाये है—

पेज्ज दोसे १ (प्रेयोद्वेप, विहत्ति ट्ठिदि अणु भागे च २ (प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणा और स्थित्यन्ति-कको लिये हुए दूसरा अधिकार), बधगेति बधो च ३ सकमो च ४ (बन्धकपदसे तीसरा बन्धक और चौथा सक्रम) अधिकार वेदएत्ति उदओ च ५. उदीरणा च ६ (वेदकपदसे पाचवा उदयाधिकार और छठा उदीरणाधिकार), उवजोगे च ७. (उपयोग), चउट्ठाणेच ८ (चतु स्थान), वजणे च ९ (व्यञ्जन), सम्मत्तेत्ति दसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०. दसणमोहणीयक्खवणा च ११ ('सम्यक्त्व' पदसे दर्शन मोहनीयकी उपशामना नामक दसवा दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नामक ग्यारहवाँ अधिकार), देसविरदी च १२ (देशविरति नामक बारहवा अधिकार), संजमे उवसामणा च खवणा च चारित्त मोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४ (चारित्र मोहनीयकी उपशामना नामक तेरहवा और चारित्र मोहनीयकी

इस दूसरे अधिकारके अन्तर्गत बाईसवी गाथाका[1] पदच्छेद करते हुए यतिवृषभने इसमें प्रकृतिविभक्ति, स्थितिविभक्ति, अनुभागविभक्ति, प्रदेशविभक्ति, क्षीणाक्षीण और स्थित्यन्तिकका समावेश कर लिया है।

आगे[2] बधकके दो भेद बध और सक्रम करके तीसरे और चौथे अधिकारका ग्रहण किया है। आगे वेदक[3] अणियोगद्वारके उदय और उदीरणा भेद करके पाँचवें और छठें अधिकारका निर्देश किया है। गुणधराचार्यने वेदकके दो भेद नही किये है। आगे 'उवजोगेत्ति[4] अणियोगद्दारस्स सुत्त' लिखकर सातवें उपयोग अधिकारका निर्देश किया है। आगे 'चउट्ठाणेत्ति अणियोगद्दारे[5]' लिखकर आठवें चतुस्थान नामक अधिकारका निर्देश किया है। फिर[6] 'वजणेत्ति अणिओगद्दारस्स सुत्त' लिखकर नौवें व्यजन नामक अधिकारका निर्देश किया है।

कसायपाहुडकी अधिकार-निर्देशक गाथा १४ में 'सम्मत्त' पद आया है उससे यतिवृषभने भी दो अधिकार लिये है—एक दर्शनमोहकी उपशामना और एक दर्शनमोहकी क्षपणा। किन्तु अधिकारोका वर्णन करते समय एक सम्यक्त्व[7] नामक अनुयोगद्वारका ही निर्देश किया है। यद्यपि उसके अन्तर्गत दर्शनमोहकी उपशमना और क्षपणा दोनोका कथन किया है किन्तु उनका निर्देश अनुयोगद्वार शब्दसे नही किया।

आगे देशविरति[8] नामक १२ वें अधिकारका निर्देश है।

यह पहले लिख आये है कि गुणधराचार्यने तेरहवाँ अधिकार [illegible] नामक माना है और यतिवृषभने इसे नही माना। किन्तु [illegible]

१. 'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ती तह ट्ठिदीए अणुभागे। उक्कस्स[illegible] ट्ठिदिय वा ॥२२॥ चूणिसू०—पदच्छेदो। त जहा—[illegible] त्ति एसा पयडिविहत्ती। तह ट्ठिदी चेदि एसा [illegible] विहत्ती। उक्कस्समणुक्कस्स त्ति पदेसविहत्ती। [illegible] —क० पा० सु०, पृ० ४८-४९।

२ 'बधगेत्ति एदस्स वे अणियोगद्दाराणि। त [illegible] पृ०-२४८)।

३ 'वेदगेत्ति अणियोगद्दारे दोण्णि [illegible] —क० पा० सु० पृ० ४६५।

४ क० पा० सु० पृ० ५५६।

५. क० पा० सु० पृ० '५९७।

६ वही पृ० ६१२।

७. 'कसायपाहुडे सम्मत्ते [illegible]

८ 'देसविरदेत्ति अ[illegible]

'लद्धि' तहा चरित्तस्स' लिखकर यतिवृषभने चारित्रलब्धि नामक अनुयोगद्वारका निर्देश किया है और यह भी लिखा है कि संयमासंयमलब्धि नामक अधिकारमें जो गाथा आई है वही गाथा इस अधिकारमें है। यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि जिन गाथाओंके द्वारा अधिकारोंमें गाथाओंका विभाजन किया गया है, और जिन पर चूर्णिसूत्र नहीं हैं, उन्ही गाथाओंमेंसे ६ नम्बरकी गाथामें 'लद्धि तहा चरित्तस्स' पद आया है। और उसीसे यह कहा है कि दोनों अधिकारोंमें एक गाथा है। उसीका अनुसरण यतिवृषभने भी किया है।

तथा गुणधरने अद्धापरिमाणनिर्देशको अधिकार नही माना, और यतिवृषभने माना है किन्तु उनके चूर्णिसूत्रोंमें अद्धापरिमाणनिर्देश नामक किसी अधिकारका व्याख्यान नही है। अतः गुणधराचार्यसे कुछ भिन्न अधिकारोंको मानकर भी यतिवृषभने अधिकारोंके वर्णनमें प्रायः गुणधराचार्यका ही अनुसरण किया है।

चूर्णिसूत्रोंकी रचना और व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्रोंकी रचनाशैली सूत्ररूप है। जिस तरह कसायपाहुडके गाथा-सूत्रोंका रहस्य आर्यमंक्षु और नागहस्तीके द्वारा यतिवृषभ जान सके उसी तरह यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोंके व्याख्याता चिरन्तनाचार्यों और उच्चारणाचार्योंके द्वारा ही जयधवलाकार जान सके थे, क्योंकि सूत्र तो सूचक होता है। २३३ गाथाओंके द्वारा सूचित अर्थकी सूचना यतिवृषभने ६००० प्रमाण चूर्णिसूत्रोंके द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्यने १२००० प्रमाण उच्चारणा वृत्तिके द्वारा किया और उसका आश्रय लेकर ६०००० प्रमाण जयधवला टीका रची गई। अतः छै हजारमें ६० हजार समाये हुए है। इसीसे चूर्णिसूत्रोंमें 'अणुचितिऊण णेदव्व' (चिन्तन करके ले जाना चाहिये), 'अणुमाणिय णेदव्व' (अनुमान करके घटित कर लेना चाहिये, 'वत्तव्व' (कहना चाहिये), 'विहासियव्वाओ' (विशिष्ट वर्णन करना चाहिये) इस प्रकारके शब्दोंका बाहुल्य है।

जिस प्रकार चूर्णिसूत्रोंकी सहायताके विना कसायपाहुडके सूत्रोंका रहस्य समझना सम्भव नही है वैसे ही जयधवलाटीकाके साहाय्य विना चूर्णिसूत्रोंके रहस्यको नही समझा जा सकता।

---

१. 'लद्धि तहा चरित्तस्सेत्ति अणिओगद्दारे पुव्व गमणिज्ज सुत्त।' त जहा। जा चेव सजमासजमे भणिदा गाहा सा चेव एत्थ वि कायव्वा।' —वही, पृ० ६६९।

२ 'लद्धीय संजमासंजमस्स लद्धि तहा चरित्तस्स। दोसु वि एक्का गाहा अट्ठेवुवसामण द्धाम्मि ॥६॥

उदाहरणके लिये मूलपयडि[1] विभत्तिमें एक चूर्णिसूत्र केवल दो का अक रूप है। इसके सम्बन्धमें पीछे लिखा है।

शिष्यने शका की कि वह दो का अंक क्यो रखा है? जयधवलाकारने उत्तर दिया—अपने मनमें स्थित अर्थका ज्ञान करानेके लिये चूर्णिसूत्रकारने यहाँ दो का अक रखा है। इसपर शिष्यने पुन· पूछा—उस अर्थका कथन अक्षरोसे क्यो नही किया? तो जयधवलाकारने उत्तर दिया—इस प्रकार वृत्तिसूत्रोका अर्थ कहनेसे चूर्णिसूत्र ग्रन्थ बेनाम हो जाता, इस भयसे चूर्णिसूत्रकारने यहाँ अक द्वारा अपने हृदयस्थित अर्थका कथन किया।

जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोको देशामर्षक[2] कहा है अत उन्होने जगह-जगह लिखा है कि इससे सूचित अर्थका कथन उच्चारणावृत्तिके साहाय्यसे और एलाचार्यके प्रसादसे करता हूँ। इन बातोसे चूर्णिसूत्रोकी सक्षिप्तता और अर्थबहुलतापर प्रकाश पडता है, किन्तु सक्षिप्त और अर्थपूर्ण होनेपर भी चूर्णिसूत्रोकी रचनाशैली विशद और प्रसन्न है। भाषा और विषयका साधारण जानकार भी उनका पाठ सुगमतापूर्वक कर सकता है। चूर्णिसूत्रोकी व्याख्यानशैलीसे अभिप्राय यह है कि चूर्णिसूत्रोके द्वारा गाथासूत्रोके व्याख्यानकी क्या शैली है? आगे उसपर प्रकाश डाला जाता है।

यह हम पहले लिख आये है कि कसायपाहुडकी सभी गाथाओपर चूर्णिसूत्र नही रचे गये है, कुछ गाथाएँ ऐसी भी है जिनपर चूर्णिसूत्र नही है। कसायपाहुडकी समस्त गाथासख्या २३३ है। इनमें १८० मूलगाथा है, शेष ५३ सम्बन्धगाथा आदि है। इन ५३ गाथाओमेंसे केवल तीनपर ही चूर्णिसूत्र है १२ सम्बन्ध ज्ञापक गाथाओपर, ६ अद्धापरिमाणनिर्देश सम्बन्धी गाथाओपर और सक्रमवृत्तिसम्बन्धी ३५ गाथाओमेंसे ३२ गाथाओ पर चूर्णिसूत्र नही है। और इस तरह २३३ गाथाओमेंसे ५० पर कोई चूर्णिसूत्र नही है।

जिन ५० गाथाओपर कोई चूर्णिसूत्र नहीं है उन्हे भी दो भागो में बाँटा जा सकता है। सक्रमवृत्तिसम्बन्धी बत्तीस गाथाओका उत्थानिकासूत्र और उपसहार सूत्र है। इन गाथाओकी क्रमसख्या २७ से ५८ तक है। २७ वी गाथाके प्रारम्भका चूर्णिसूत्र इस प्रकार है—[3]'एत्तो पयडिट्ठाण सकमो, तत्थ पुव्व गम-

१. 'जइवसहाइरियेण एसो दोएहमको किमट्ठमेत्थ ठविदो? सगहियट्ठियअत्थस्स जाणावणट्ठं। मो अत्थो अक्खरेहि किण्ण परूविदो? वित्तिसुत्तस्स अत्थे भण्णमाणे णिण्णामो गथो होदित्ति भएण ण परूविदो—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविद तेण चउण्ह गईण उत्तुच्चारणावलेण एलाइरियपसाएण च सेसकम्माण परूवणा कीरदे'—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ७५४५।

३. क० पा० सू०, पृ० २६०।

णिज्जा सुत्तसमुक्कित्तणा । त जहा-' अर्थात् यहाँसे आगे प्रकृतिस्थान सक्रमका प्रकरण है । उसमें प्रथम गाथासूत्रोकी समुत्कीर्तना करनी चाहिये ।' इसके पश्चात् ३२ गाथाएँ आती है । उनके अन्तमे चूर्णिसूत्र इस प्रकार है [1]'सुत्तसमुक्कीत्तणाए समत्ताए इमे अणिओगद्दारा ।' अर्थात् संक्रम सम्बन्धी गाथाओकी समुत्कीर्तनाके समाप्त होनेपर ये (आगे कहे गये) अनुयोगद्वार ज्ञातव्य है ।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बत्तीस गाथाएँ चूर्णिसूत्रकारके सन्मुख थी । किन्तु उन्होने इनका पदच्छेदरूपसे या विभाषारूपसे व्याख्यान करना आवश्यक नही समझा । इनमें आगत विषयका परिज्ञान अनुयोगद्वारोमें आगत विवेचनसे हो जाता हैं । किन्तु शेप १८ गाथाओंका न तो कोई उत्थानिकासूत्र है और न कोई उपसहारसूत्र । मानो ये गाथाएँ उनके सामने थी ही नही । यद्यपि चूर्णिसूत्रोके अनुगमसे ऐसा प्रमाणित नही होता । फिर भी साधारण दृष्टिसे देखनेपर ऐसा ही प्रतीत होता है ।

अब जिन गाथाओपर चूर्णिसूत्र है उनके विषयमें प्रकाश डालेंगे । गाथा[2] नम्बर एकपर जो चूर्णिसूत्र है उनकी उत्थानिकादि नही है तथा चूर्णिसूत्रकी रचना उपक्रमरूप होते हुए भी इस प्रकारसे की गई है कि उसमे गाथाका अभिप्राय आ जाता है । इस उपक्रमके रूपमें आगे अलगसे प्रकाश डालेंगे । गाथा नम्बर दो से बारह तक पर कोई चूर्णिसूत्र नही है । गाथा नम्बर[3] १३ और १४ में कसायपाहुडके पन्द्रह अधिकारोका निर्देश है । इन गाथाओकी भी कोई उत्थानिका नही है और चूर्णिसूत्रोमें केवल पन्द्रह अधिकारोके नाम इस तरहसे दर्शाए है कि दोनो गाथाओंके प्राय पूरे शब्द

१ क० पा० सू०, पृ० ३८७ ।

२ 'पुव्वम्मि पचमम्मि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिए । पेज्ज ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुड णाम ॥१॥ चू० सू०—'णाणप्पवादस्स पुव्वस्स दसमस्स वत्थुस्स तदियस्स पाहुडस्स पचविहो उवक्कमो ।'

३ पेज्जदोसविहत्ती ट्ठिदि अणु भागे च वधगे चेय । वेदग उवजोगे वि य चउट्ठाण वियजणे चेय ॥१३॥ सम्मत्त देसविरयी सजम उवसामणा च खवणा च । दसण-चरित्तमोहे अद्धापरिमाणणिद्देसो ॥१४॥ चू० सू०—अत्थाहियारो पण्णारसविहो (अण्णेण पयारेण) । त जहा—पेज्जदोसे १, विहत्तिट्ठिदि अणुभागे च २, वधगे त्ति वधो च ३, सकमो ४, वेदए ति उदओ च ५, उदीरणा च ६, उवजोगे च ७, चउट्ठाणे च ८, वजणे च ९, सम्मत्ते ति दसणमोहणीयस्स उवसामणा च १०, दसणमोहणीयक्खवणा च ११, देसविरदी च १२, सजमे उवसामणा च खवणा च—चरित्तमोहणीयस्स उवसामणा च १३, खवणा च १४, 'दसणचरित्तमोहे' त्ति पदपरिवूरण । अद्धापरिमाणणिद्देसो त्ति १५, एसो अत्थाहियारो पण्णारसविहो ।

—क० पा०, भा० १, पृ० १८४-१९२ ।

चूर्णिसूत्रोंमें आ पाये है, कोई पद छूटा नही है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि गुणधराचार्यके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंसे यतिवृषभके द्वारा निर्दिष्ट १५ अधिकारोंमें भेद है। अस्तु, गाथा नम्बर १५ से २० तक पर भी कोई चूर्णिसूत्र नही है। गाथा २१ से कसायपाहुडमें चर्चित विषयका आरम्भ होता है और सबसे प्रथम इसी गाथाका उत्थानिकासूत्र पाया जाता है। 'एत्तो सुत्तसमोदारो' 'इसके अनन्तर गाथासूत्रका समवतार' होता है। 'समवतार' शब्द कितना आदर-सूचक है यह बतलानेकी आवश्यकता नही है। आगे किसी सूत्रकी उत्थानिकामें इस शब्दका व्यवहार मेरी दृष्टिसे नही गुजरा।

चूर्णिसूत्रकारने उपक्रमके पांच भेद बतलाये हैं—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें[1] उपक्रमके छै भेद भी बतलाये हैं—उनमें उक्त पांच भेदोंके सिवाय एक भेद समवतार भी है। चूर्णि-सूत्रकारने यद्यपि समवतारको उपक्रमके भेदोंमे नही गिना, फिर भी उन्होंने 'एत्तो सुत्तसमोदारो' के द्वारा शायद उसी छठे भेदका उल्लेख किया है। अस्तु, गाथाके समवतारके पश्चात् चूर्णिसूत्र[2] में कहा है कि इस गाथाके पूर्वार्धकी 'विहासा' (विभाषा) करना चाहिये। जयधवलाकारने सूत्रके द्वारा सूचित अर्थका विशेष कथन करनेको विभाषा[3] कहा है। आव० नि०[4] के कर्ताने अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिकको एकार्थक बतलाते हुए उनमें उत्तरोत्तर विशेष कथनकी अपेक्षा विशेष बतलाया है। विशे० भाष्यके[5] कर्ताने भी विविध प्रकारसे अथवा विशिष्ट प्रकारसे कथन करनेको विभाषा कहा है।

जयधवलाकारने[6] विभाषाके दो भेद किये हैं—एक प्ररूपणाविभाषा और एक

---

१. 'अहवा उवक्कमे छव्विहे पण्णत्ते। त जहा—आणुपुव्वी १, नामं २, पमाणं ३, वत्तव्वया ४, अत्थाहियारे ५, समोआरे ६।—अनु० द्वा०, सू० ७०।

२ 'एदिस्से गाहाए पुरिमद्धस्स विहासा कायव्वा—क० पा० भा० १, पृ० ३६५।

३ 'सुत्तेण सूचिदत्थस्स विसेसिऊण भासा विभासाविवरण त्ति वुत्त होदि।'
ज० ध० प्रे० का० पृ० ३११९।

४ अणुओगो य निओगो भास विभासाय वत्तिय चेव। एए अणुओगस्स उ नामा एगट्ठिया पच ॥१२८॥ कट्ठे पोत्थे चित्ते सिरिधरिए पोंड देसिए चेव। भासग विभासए वा वित्ति-करणे य आहरणा ॥१३२॥ आ० नि०

५ विविहा विसेसओ वा होइ विभासा दुगादि पज्जाया। जह सामइय समओ सामाओ वा समाओ वा ॥१४२२॥ विशे० भा०

६ 'विहासा दुविहा होदि—परूवणाविहासा सुत्तविहासा चेदि।' तत्थ परूवणाविहासा णाम सुत्तपदाणि अणुच्चारिय सुत्तसूचिदासेसत्थस्स वित्थरपरूवणा। सुत्तविहासा णाम गाहासुत्ताणमवयवत्थपरामरसमुहेण सुत्तफासो—ज० ध० प्रे० का०।

सूत्रविभाषा। सूत्रके पदोका उच्चारण न करके सूत्रके द्वारा सूचित समस्त अर्थका विस्तारसे कथन करनेको प्ररूपणाविभाषा कहते है। और गाथासूत्रोके अवयवार्थका परामर्श करते हुए सूत्रका स्पर्श करनेको सूत्रविभाषा कहते है। चूर्णिसूत्रकारने कही तो गाथासूत्रोकी सूत्रविभाषा की है और कही प्ररूपणाविभाषा की है। इसीसे जयधवलाकारने उन्हे 'विभाषासूत्रकार' के नाममे भी अभिहित किया है।

इन दोनो विभाषाओमेंसे सूत्रविभाषा गाथाके पदच्छेदपूर्वक होती है क्योकि अवयवार्थका कथन पदच्छेद विना नही हो सकता। किन्तु ऐसी गाथाए स्वल्प ही है, जिनका चूर्णिसूत्रकारने पदच्छेदपूर्वक व्याख्यान किया है। अत बहुत कम गाथाओकी सूत्रविभाषा पाई जाती है, इसके विपरीत अधिकाश गाथाओकी प्ररूपणाविभाषा की गई है।

उदाहरणकेलिये गाथासख्या २२ का व्याख्यान पदच्छेदपूर्वक किया है और इसका कारण यह है कि यह एक ही गाथा प्रारम्भके कई अधिकारोकी आधारभूत है। इसीसे उसका पदच्छेद करके प्रत्येक पदकी विभाषा की गई है। इसी तरह सक्रम अधिकारके अन्तर्गत प्रकृतिसक्रमकी तीन गाथाओका भी पदच्छेदपूर्वक ही अर्थ किया है। यद्यपि ये गाथाए सरल है किन्तु उनमें उक्त अधिकारमें आगत विषयोकी सूचना है। अत उनका पदच्छेद करके उनके द्वारा सूचित अर्थका विस्तारसे कथन किया है।[1]

डा० वासुदेवशरण अग्रवालने[2] लिखा है कि 'पाणिनिने दो अर्थोमें वृत्तिशब्दका प्रयोग किया है—एक तो शिल्प या रोजगारके लिये दूसरे ग्रन्थकी टीकाको भी वृत्ति कहा जाता था। पाणिनिसूत्र 'वृत्तिसर्गतायनेपुक्रम' (१।३।३८) की काशिकामें एक उदाहरण दिया है—'ऋक्षु अस्य क्रमते बुद्धि'। ऋग्वेदकी व्याख्यामें इनकी बुद्धि बहुत चलती है। इस उदाहरणमें वेदमन्त्रोके व्याख्यानको वृत्ति कहा है। मन्त्रोके प्रत्येक पदका विग्रह और उनका अर्थ यही इन आरम्भिक वृत्तियोका स्वरूप था। जैसा शतपथकी मंत्रार्थशैलीसे ज्ञात होता है। पतञ्जलिने व्याकरणसूत्रोके व्याख्यानके लिये भी उसी शैलीका उल्लेख किया है।'

यह हम लिख आये कि जयधवलाकारने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोको वृत्तिसूत्र कहा है। किन्तु वेदमन्त्रोके व्याख्यानरूप वृत्तिसे उनके इन वृत्तिसूत्रोकी

---

१ 'एत्तो एदासिं गाहाण पदच्छेदो कायव्वो होदि, अवयवत्थवक्खाणे पयारतराभावादो।' —ज० ध० प्रे० का० पृ० ३४७६।

२ पा० भा०, पृ० ३३२।

प्रक्रियामें अन्तर है। इसीसे जयधवलाकारने चूर्णिसूत्रोको विभाषाग्रन्थ[1] अथवा विभाषासूत्र भी कहा है और चूर्णिसूत्रकारको विभाषासूत्रकार कहा है। उक्त वृत्तिसे[2] विभाषामें अन्तर है। जो दोनोके लक्षणोसे स्पष्ट है।

दर्शनमोहक्षपणानामक अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने[3] परिभाषाका भी निर्देश किया है और परिभाषाके पश्चात् सूत्रविभाषा करनेका निर्देश किया है। जयधवलाके[4] अनुसार गाथासूत्रमें निवद्ध अथवा अनिबद्ध किन्तु प्रकृतमें उपयोगी जितना अर्थसमूह है उस सबको लेकर विस्तारसे अर्थका कथन करनेको परिभाषा कहते है। परिभाषाका अनुगमन पहले करना चाहिये, पीछे सूत्रविभाषा करनी चाहिये, क्योकि सूत्रपरिभाषा करनेसे सूत्रके अर्थके विषयमें निश्चय नही किया जा सकता।

विभाषा और परिभाषा शब्दोका यह अर्थ अन्यत्र देखनेमे नही आता।

साराश यह है कि चूर्णिसूत्र विभाषारूप है—उनके द्वारा गाथासूत्रोके द्वारा सूचित समस्त अर्थोका विस्तारसे कथन किया है। कही यह कथन गाथाके अवयवार्थपूर्वक भी किया है। गाथासूत्रोका निर्देशकरके उनका विवरण करना यह उनकी सामान्यशैली है। प्रकृतचर्चापर और भी प्रकाश डालनेके लिये बन्धक नामक अधिकारकी व्याख्यानशैलीका चित्रण किया जाता है।

इस अधिकारके प्रारम्भमें ही यह चूर्णिसूत्र आता है—'वधगेत्ति एदस्स वे अणिओगद्दाराणि। त जहा, 'वधो च सकमो च'। इसके द्वारा चूर्णिसूत्रकार बन्धक अधिकारके प्रारम्भ होनेकी तथा उसके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोकी सूचना करके 'एत्थ सुत्तगाहा' इस उत्थानिकाके द्वारा गाथाका अवतरण करके, उसके बाद गाथासे सूचित होनेवाले अर्थकी सूचना देकर पदच्छेदपूर्वक गाथाके प्रत्येक पदका व्याख्यान करते है। इस अधिकारका मुख्य विषय 'सक्रम' है। अतः

---

१ 'सपहि एदस्सेवात्थस्स फुडीकरणट्ठमुवरिम विहासागथमाढवेइ' ज० ध० प्रे० का० पृ० ७११८ ७१२३, ७१२५, ७१२७, ७१३४।

२ एतो अदीदासेसपवधेण विहासिदत्थाण गाहासुत्ताण सरूवणिद्देस कुणमाणो विहासासुत्तयारो इदमाह—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६१७९।

३. 'पच्छा सुत्तविहासा। तत्थ ताव पुव्व गमणिज्जा परिहास।—क० पा०सू० पृ० ६४२।

४ 'का सुत्तविहासा णाम? गाहासुत्ताणमुच्चारण कादूण तेसिं पदच्छेदाहिमुहेण जा अत्थपरिक्खा सा सुत्तविहासा ति भण्णदे। सुत्त परिहासा पुण गाहासुत्तणिवद्धमणिवद्ध च पयदोवजोगिजमत्थजाद त सव्व घेत्तूण वित्थरदो अत्थपरूवणा। सा ताव पुव्वमेत्थाणुगतव्वा पच्छा सुत्तविहामा कायव्वा। किं कारणम्? सुत्तपरिभासमकादूण सुत्तविहासाए कीरमाणाए सुत्तत्थविपयणिच्छयाणुववत्तीदो—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ६२१७-१८।

चूर्णिसूत्रकार संक्रमका वर्णन प्रारम्भ करनेसे पहले उसके प्रकृत अर्थका ज्ञान करानेके लिये पांच उपक्रमोंका कथन करते हैं और यह बतलाकर कि यहाँ प्रकृतिसंक्रमसे प्रयोजन है। वे प्रकृतिसंक्रमकी तीन गाथाओंका कथन करते हैं। पुन: लिखते हैं—ये तीन गाथाएँ प्रकृतिसंक्रमअनुयोगद्वारमें हैं और इन गाथाओं-का पदच्छेद इस प्रकार है। गाथाओंका व्याख्यान समाप्त होने पर चूर्णिसूत्र आता है—'एस सुत्तफासो'। यह इस बातकी सूचना देता है कि सूत्रगाथाओंका अवयवार्थ समाप्त हुआ। इससे चूर्णिसूत्रकारकी व्याख्यानशैलीकी क्रमबद्धता और स्पष्टता प्रकट है।

गाथासंख्याकी दृष्टिसे चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकार सबसे बडा है। इसमें ११० गाथाए हैं, जिनमें २८ मूलगाथाए हैं और ८६ भाष्य-गाथाए हैं। प्रत्येक मूलगाथा और उससे सम्बद्ध भाष्यगाथाओंकी समुत्कीर्तना और विभाषा ऐसे सुन्दर ढगसे की गई है कि प्रत्येक गाथाका हार्द समझनेमें सरलता होती है और पाठक उकताता नही।

यहाँ आगत 'सुत्तफास' शब्द अपना कुछ वैशिष्टच रखता है। अत उसके सम्बन्धमे दो शब्द लिखना आवश्यक है।

गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें 'एत्थ सुत्तगाहा', 'तत्थ सुत्तगाहा', 'सुत्त-समुक्कित्तणा' जैसे चूर्णिसूत्रोंकी तरह 'एत्तो[1] सुतप्फासो कायव्वो' चूर्णिसूत्र भी क्वचित् पाये जाते है। इसका अर्थ होता है—आगे सूत्रस्पर्श करना चाहिये। यहाँ 'सूत्रस्पर्श' शब्द 'सूत्रसमुत्कीर्तन'के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है।

किन्तु गाथासूत्रके उपसहाररूपमें भी 'एस सुत्तप्फासो' चूर्णिसूत्र क्वचित् पाया जाता है। इसका अर्थ जयधवलाकारने[2] इस प्रकार किया है—'यह गाथासूत्रोके अवयवार्थका परामर्श (विचार) किया। स्पर्शका अर्थ परामर्श भी होता है।

अनु० द्वा० सू०मे अनुगमके दो भेद किये है—सूत्रानुगम और निर्युक्ति-अनुगम। तथा निर्युक्ति-अनुगमके तीन भेद किये है—निक्षेप-निर्युक्ति अनुगम, उपोद्घात-निर्युक्ति अनुगम और सूत्रस्पर्शक-निर्युक्ति अनुगम। सूत्रके व्याख्यानको सूत्रानुगम कहते है। निर्युक्त अर्थात् सूत्रके साथ सम्बद्ध अर्थोको स्पष्ट करना,

---

१, 'एत्तो सुतफासो कायव्वो भवदि।' पुव्व परिभासिदत्थाण गाहासुत्ताणमेण्हि समु-क्कित्तणा जहाकम कायव्वा त्ति भणिद होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ६१७९।

२ 'एसो गाहासुत्ताणामवयवत्थपरामरसो कओ त्ति भणिद होइ'—ज० ध० प्रे० का० पृ० ३४९१।

तद्रूप व्याख्याको निर्युक्ति कहते हैं और सूत्रका स्पर्श करनेवाली निर्युक्तिको सूत्र-स्पर्शकनिर्युक्ति कहते है। इसमें प्रथम अस्खलित और अमिलित आदि रूपसे शुद्ध और निर्दोष सूत्रका उच्चारण करना होता है। सभवतया यही प्रथम 'सुत्तप्फास' है जो उत्थानिकारूपमें आया है।

वि० भा०में लिखा है कि सूत्रका उच्चारण करनेपर, उसकी शुद्धताका नियम हो जानेपर फिर पदच्छेद करनेपर और सूत्रमें आगत शब्दोका निक्षेप हो जानेपर सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिका अवसर आता है। यह दूसरा सुत्तफास है जो अन्तमें आया है।

इस तरह चूर्णिसूत्रमें आगत 'सुत्तफास' शब्दका अर्थ जानना चाहिये।

चूर्णिसूत्रकारने[1] जैसे कसायपाहुडकी गाथाओको सूचनासूत्र और पृच्छा-सूत्र कहा है वैसे ही किन्ही गाथाओको वागरण (व्याकरण) सूत्र भी कहा है। जयधवलाकारने व्याकरणसूत्रका अर्थ व्याख्यानसूत्र[2] किया है। और वह भी व्याकरणशब्दकी व्युत्पत्तिपूर्वक किया है। किन्तु व्याख्यानके अर्थमें व्याकरणशब्द-का प्रयोग न तो वैयाकरणोमें देखा गया और न श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें ही।

किन्तु बौद्ध परम्परामें 'वेय्याकरण' शब्द 'अर्थवर्णना' अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। बौद्ध जातक पाँच भागोमें विभक्त है—पच्चुप्पन्न वत्थु, अतीतवत्थु, गाथा, वेय्याकरण या अत्थवण्णना और समोधान। गाथाएँ जातकके प्राचीनतम अश है। गाथाओके बाद प्रत्येक जातकमें वेय्याकरण या अत्थवण्णना आती है। इसमें गाथाओकी व्याख्या और उसका शब्दार्थ होता है। पालीके वेय्याकरण अर्थमें ही यतिवृषभने प्राकृत 'वागरण' शब्द का प्रयोग किया है।

आगामिक व्याख्यानशैली

चूर्णिसूत्र—किसी भी आगामिक विषयके प्रतिपादनकी जैन शैली अपना एक विशिष्ट स्थान रखती है और उस वैशिष्टचके दर्शन अन्यत्र नही होते। इसका एक कारण यह है कि जैन परम्परामें वस्तुदर्शनकी और दृष्टवस्तुके प्रतिपादनकी अपनी शैली पृथक् है। उस शैलीको समझ बिना जैन आगामिक साहित्यमें चर्चित विषयोको समझना कठिन है।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वह प्रत्येक वस्तुको अनेकधर्मात्मक मानता है। उसके मतसे वस्तु अनेक धर्मोका एक अखण्ड पिण्ड है। वस्तुके उन अनेक

---

१ क० पा० सु० पृ० ८८३।

२ वागरणसुत्त ति व्याख्यानसूत्रमिति, व्याक्रियतेऽनेनेति व्याकरण प्रतिवचनमित्यर्थ।

धर्मोंको जान सकना किसी अल्पज्ञके लिये शक्य नही है। और अल्पज्ञ मनुष्य अपने अपने दृष्टिकोणसे वस्तुको जानते है और समझते है कि हमने पूर्ण वस्तुको जान लिया। फलत वे एक ही वस्तुके विषयमे विभिन्न दृष्टिकोण रखनेके कारण परस्परमे टकरा जाते है। अनेकान्तदृष्टि उनके इस पारस्परिक विरोधको मिटाकर समन्वयका मार्ग दर्शाती है। वह बतलाती है कि एक ही वस्तुको लेकर परस्परमें टकरानेवाली दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक अशको ही ग्रहण करती है और एकाशको ही पूर्ण वस्तु मान बैठनेके कारण उनमे विरोध प्रतिभासित होता है। इस अनेकान्तग्राही दृष्टिको जैनदर्शन 'प्रमाण' के नामसे पुकारता है। और जो दृष्टि वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी वस्तुमे वर्तमान इतर धर्मोका प्रतिक्षेप नही करती उसे नय कहते है। सक्षेपमें सकलग्राही ज्ञानको प्रमाण और एकाशग्राही ज्ञानको नय कहते है। यह नय प्रमाणका ही भेद माना गया है। चूकि वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है अत द्रव्यदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको द्रव्यार्थिक नय और पर्यायदृष्टिसे वस्तुको जाननेवाले ज्ञानको पर्यायार्थिक नय कहते है। द्रव्यदृष्टि अभेदप्रधान है और पर्यायदृष्टि भेदप्रधान है। द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद है—नैगम, सग्रह और व्यवहार तथा पर्यायार्थिक नयके चार भेद है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत।

सकल्पमात्रमे ही वस्तुका व्यवहार करनेवाले ज्ञानको नैगमनय कहते है। जैसे रसोई करनेका संकल्प करके उसका सामान जुटानेमें लगा मनुष्य पूछने पर उत्तर देता है मैं रसोइ बना रहा हूँ। समस्त पदार्थोंको अभेदरूपसे ग्रहण करनेवाला नय सग्रहनय है। जैसे वन, सेना, नगर। ये सज्ञाए सग्रहनयमूलक है। और सग्रहनयके द्वारा सगृहीत पदार्थोका क्रमश भेद-प्रभेद करके ग्रहण करनेवाला नय व्यवहारनय है। जैसे वनमें आम आदिके वृक्ष है। पदार्थकी वर्तमान एक क्षणवर्ती पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय ऋजुसूत्रनय है। इस नयकी दृष्टिमे एक वर्तमान क्षणवर्ती पर्याय अतीत और अनागतसे भिन्न है तथा अतीतके नष्ट हो जाने और अनागतके अनुत्पन्न होनेसे वर्तमान क्षण ही व्यवहारोपयोगी है।

काल, कारक, लिंग, सख्या आदिके भेदसे भिन्न अर्थको ग्रहण करनेवाला नय शब्दनय है। आशय यह है कि इनके भेदसे यह नय एक ही वस्तुको भिन्नरूप ग्रहण करता है। शब्दभेदसे अर्थभेदका ग्राही समभिरूढ नय है। जैसे इन्द्र, शक्र, पुरन्दर शब्द एक लिंगवाले होनेपर भी विभिन्न अर्थके वाचक है क्योकि इन शब्दोकी प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न है, इन्दन क्रिया इन्द्रशब्दकी प्रवृत्तिका निमित और पूर्दारण (नगरोका उजाडना) किया पुरन्दरशब्दकी प्रवृत्तिमें निमित्त है।

शब्दनय इन तीनो शब्दोमें अर्थभेद नही मानता, क्योकि तीनोमें लिंगादि भेद नही है, परन्तु समभिरूढ नय मानता है, यही दोनोमें अन्तर है।

क्रियाके भेदसे अर्थभेद माननेवाला एवभूतनय है। जिस शब्दका जिस क्रिया-रूप अर्थ हो उस क्रियाके कालमें ही उस शब्दका व्यवहार करना उचित मानता है। जब इन्द्र इन्दनक्रिया करता हो उसी समय उसे इन्द्र कहना उचित है। यह इस [1]नयका मन्तव्य है।

इन नयोके सिवाय जैनदर्शनकी एक देन निक्षेप है। उसके चार भेद है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके व्यवहारके लिये वस्तुकी यथेच्छ सज्ञा रखनेको नाम निक्षेप कहते है, जैसे कि-ी साधारण मनुष्यके द्वारा अपने पुत्रका नाम 'राजा' रख लेना नाम निक्षेप है। किसी वस्तुमें किसी अन्यकी स्थापना कर लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे राजाके मर जाने पर उसके प्रतिनिधिके रूपमें उसकी मूर्तिको राजा मानकर स्थापित करना।

जो भविष्यमें राजा होनेवाला हो या राज्यपदसे उतर चुका हो उसको राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमानमे राज्यासीनको राजा कहना भाव निक्षेप है। इस निक्षेपके चार प्रयोजन है[2]—अप्रकृतका निराकरण, प्रकृतका प्ररूपण, सशयका विनाश और तत्त्वार्थका व्यवहार।

अर्थात् जब प्रत्येक वस्तुका लोकमें चार रूपोमें व्यवहार पाया जाता है तब श्रोताको यह जानना आवश्यक है कि कहाँ नामरूप वस्तुका व्यवहार अपेक्षित है और कहाँ स्थापना, द्रव्य या भाव रूप वस्तुका, जिससे वह विसवादमे न पडे। इसके लिये निक्षेप आवश्यक है।

नयो और निक्षेपोमें वही सम्बन्ध है जो ज्ञान और ज्ञेयमें होता है। नय ज्ञानरूप है तो निक्षेप ज्ञेयरूप है। आगमिक शैलीमें प्रत्येक वस्तुका विवेचन पहले नय और निक्षेपके द्वारा होता है। कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रोमें भी उसी शैलीको अपनाया गया है। यहाँ चूर्णिसूत्रोंके आधारपर उसका दिग्दर्शन कराया जाता है।

पहली गाथाके उत्तरार्ध 'पेज्ज ति पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुड णाम।' में इस ग्रन्थके दो नाम कहे है—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। ये दोनो नाम किस अभिप्रायसे कहे है यह बतलाते हुए चूर्णिसूत्रकार लिखते है—

---

१ नयोंका स्वरूप जाननेके लिये देखें—कसायपाहुड भा० १, पृ० १९९-२५८

२ 'अवगयणिवारणट्ठ पयदस्स परूवणाणिमित्त च। ससयविणासणट्ठ तच्चत्थववहारणट्ठ च'। ज० ध० प्रे० का०, पृ० ३४६'५।

'उस[1] प्राभृतके दो नाम है—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड। इन दोनो नामोमेंसे पेज्जदोसपाहुड नाम अभिव्याहरण निष्पन्न है।'

अभिमुख अर्थके व्याहरण अर्थात् कथनको अभिव्याहरण कहते है और जो उससे उत्पन्न हो उसे अभिव्याहरण निष्पन्न कहते हैं। अत पेज्ज (प्रेय) और दोसका कथन करनेवाला प्राभृत पेज्जदोस प्राभृत कहलाता है।

'और कसायपाहुड नाम नय निष्पन्न है।'

आशय यह है कि 'पेज्ज और दोस' ये दोनो कषाय कहलाते है। और कषायका कथन करनेवाले प्राभृतको कषाय प्राभृत कहते है। अत. कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न है क्योकि द्रव्यार्थिक नयके द्वारा पेज्ज और दोसका एकीकरण करके उन्हें कषाय सज्ञा दी गई है। अस्तु

पेज्ज, दोस, कसाय और पाहुड ये शब्द जिनसे दोनो नाम बने है, अनेक अर्थोमें व्यवहृत होते हुए पाये जाते है। इसलिये अप्रकृत अर्थका निषेध करके प्रकृत अर्थका, जो वहाँ लिया गया है—ग्रहण करनेके लिये चूर्णिसूत्रकार उनमें निक्षेपोकी योजना करते हैं—उन[2] चारो शब्दोंमेंसे पहले पेज्जका निक्षेप करना चाहिये—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, और भावपेज्ज।'

ऐसा कहा है कि—'पद[3]का उच्चारण करके और उसमें किये गये निक्षेपोको जानकर 'यहाँ इस पदका क्या अर्थ है' इस प्रकार ठीक रीतिसे अर्थ तक पहुँचा देते है अर्थात् अर्थका ठीक-ठीक ज्ञान करा देते है इसलिये उन्हे नय कहते हैं।'

अत निक्षेपकी योजना करके और उसके अर्थको स्थगित करके चूर्णिसूत्रकार यह बतलाते है कि कौन नय किस निक्षेपको चाहता है—

'नैगमनय[4], सग्रहनय और व्यवहारनय सभी निक्षेपोको स्वीकार करते है।'

'ऋजूसूत्रनय[5] स्थापनाके सिवाय सभी निक्षेपोको स्वीकार करता है।'

---

१ 'तस्स पाहुडस्स दुवे णामधेज्जाणि। त जहा-पेज्जदोसपाहुडे त्ति वि कसायपाहुडे त्ति वि। तत्थ अभिवाहरणनिप्पण्ण पेज्जदोसपाहुड। णयदो णिप्पण्ण कसायपाहुड—क० पा० भा० १, पृ० १९७-१९९।

२ 'तत्थ पेज्ज णिक्खियव्व—णामपेज्ज ट्ठवणपेज्ज दव्वपेज्ज भावपेज्ज चेदि।—क० पा० भा० १, पृ० २५८

३ 'उच्चारयम्मि दु पदे णिक्खेव वा कय तु दट्ठूण। अत्थ णयति ते तच्चदो त्ति तम्हा णया भणिदा ॥११८॥— क० पा० भा० १, पृ० २५९

४ 'णेगमसगहववहारा सव्वे इच्छति— क० पा० भा० १, पृ० २५९।

५ 'उजुसुदो ठवणवज्जे'। पृ० २६०।

'शब्द,[1] समभिरूढ और एवं भूतनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विषय करते हैं।' इनका विशेष खुलासेके लिये जयधवला टीका देखनी चाहिये। अब हम पुन' निक्षेपोकी ओर आते हैं। 'पेज्ज' यह शब्द नाम पेज्ज है। किसी दूसरे पदार्थमें 'यह पेज्ज है' इसप्रकार पेज्जकी स्थापना करना स्थापना पेज्ज है। द्रव्य पेज्जके दो भेद हैं—आगम द्रव्य पेज्ज और नोआगम द्रव्यपेज्ज। जो जीव पेज्ज विषयक शास्त्रको जानता हुआ भी पेज्जविषयक शास्त्रके उपयोगसे रहित अर्थात् उसमें लगा हुआ नही है, उसे आगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं।

नोआगमद्रव्यपेज्जके तीन भेद हैं—ज्ञायकशरीर, भा/व और तद्व्यतिरिक्त। पेज्जविषयक शास्त्रके ज्ञाताके भूत, वर्तमान और भावि शरीरको ज्ञायक शरीर कहते हैं। जो भविष्यमें पेज्जविषयक शास्त्रको जाननेवाला होगा उसे भावि नोआगमद्रव्यपेज्ज कहते हैं। तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यपेज्जके दो भेद हैं—कर्मपेज्ज और नोकर्मपेज्ज।

उक्त निक्षेपोका अर्थ सुगम जानकर यतिवृषभाचार्यने इनका अर्थ नही कहा। आगेके निक्षेपका अर्थ करते हुए वह कहते हैं—'नोकर्म[2]-तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्ज तीन प्रकारका है—हितपेज्ज, सुखपेज्ज और प्रियपेज्ज। इन तीनोके सात भग होते हैं।'

जो द्रव्य व्याधिके उपशमनका कारण होता है उसे हित कहते हैं, जो द्रव्य जीवके आनन्दका कारण होता है उसे सुख कहते हैं और जो वस्तु अपनेको रुचती है उसे प्रिय कहते हैं। तीन भग तो ये है ही। दाख हितरूप भी है और सुखरूप भी है। नीम हितरूप भी है और प्रिय भी है, पित्त ज्वरके रोगीको कडवी वस्तु प्रिय लगती है। दूध सुखकर भी है और प्रिय भी है। ये तीन द्विसयोगी भग हुए। गुड और दूध हितकर, सुखकर और प्रिय होते हैं। ये सब सात भग होते हैं।

'यह[3] तद्व्यतिरिक्त-नोआगम-द्रव्यपेज्जका सात भगरूप कथन नैगमनयकी अपेक्षासे है।' सग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रकी अपेक्षा समस्त द्रव्यपेज्जरूप है।" भावपेज्जका[4] कथन स्थगित करते है।

---

१ '[सद्दणयस्स] णाम भावो च'। क० पा० भा० पृ० २६४।

२. 'नोआगमदव्वपेज्ज तिविह—हिद पेज्ज, सुह पेज्ज, पिय पेज्ज। गच्छगा च सत्त भगा क० पा० भा० १, पृ ७७१।

३ 'एद णेगमस्स। सगहववहाराण उज्जुसुदस्स च सव्व दव्व पेज्ज।' क० पा० भा० १, पृ ७७४।

४ भावपेज्ज ट्ठवणिज्ज' —क० पा० भा० १, पृ ७७६।

इसप्रकार पेज्जमें निक्षेपोकी योजना करके चूर्णिसूत्रकार दोसमे निक्षेप योजना करते हैं ।

'दोसका[१] निक्षेप करना चाहिये—नामदोस, स्थापनादोस, द्रव्यदोस और भावदोस। नैगम, सग्रह और व्यवहार सभी निक्षेपोको विपय करते हैं । ऋजु-सूत्रनय स्थापनाको छोड शेप तीन निक्षेपोको स्वीकार करते हैं। शब्दनय नाम निक्षेप और भाव निक्षेपको विपय करते हैं ।'

सुगम जानकर यतिवृपभाचार्यने नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप आगमद्रव्यनिक्षेप और नोआगमद्रव्यनिक्षेपके दो भेदोका कथन नही किया। उसके तीसरे भेदका कथन करते हुए वह कहते हैं—

'जो द्रव्य[२] जिस उपघातके निमित्तमे उपभोगको नही प्राप्त होता वह उपघात उस द्रव्यका दोप है । यही तद्वयतिरिक्तनोआगमद्रव्यदोप है ।'

'वह उपघात दोस कौनसा है ? साडीका अग्निसे जल जाना या चूहोके द्वारा खाया जाना आदि उपघातदोस हैं । भावदोसका कथन स्थगित करते हैं ।'

इस प्रकार दोसमें निक्षेप योजना करके चूर्णिसूत्रकार कषायमें निक्षेप योजना करते हैं—

'कपायका[3] निक्षेप करना चाहिये—नामकषाय, स्थापनाकपाय, द्रव्यकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकपाय, रसकषाय और भावकषाय।' नैगमनय सभी कषायोको स्वीकार करता है। संग्रह और व्यवहारनय समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषायको स्वीकार नही करते। ऋजुसूत्रनय इन दोनोको और स्थापना कषायको स्वीकार नही करता ।

शब्द, समभिरूढ और एवभूतनय नामकषाय और भावकषायको विषय करते है ।'

नामकषाय, स्थापनाकपाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्य-कषाय और भाविनोआगमद्रव्यकषायका स्वरूप सुगम जानकर यतिवृषभने नही कहा । नो आगम तद्वयतिरिक्त द्रव्यकपायका स्वरूप वह कहते हैं—

---

१ 'दोसो णिक्खियव्वो णामदोसो, ट्ठवणदोसो, दव्वदोसो भावदोसो चेदि। वही पृ २७७ ।

२ 'णोआगमदव्वदोसो णाम ज दव्व जेण उवघादेण उवभोग ण एदि तस्स दव्वस्स सो उवघादो दोसो णाम। त जहा, सादियाए अग्गिद्दद्ध वा मूसयभक्खिय वा एवमादि ।' वही, पृ० २८१-२८२ ।

३ 'कसाओ ताव णिक्खियव्वो णामकसाओ ट्ठवणकसाओ दव्वकसाओ पच्चयकसाओ समुप्पत्तिकसाओ आदेसकसाओ रसकसाओ भावकसाओ चेदि । वही, पृ० २८३ ।

'सर्जकपाय[1] शिरीषकपाय आदि नोकर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकपाय है।'

सालवृक्षके कसैले रसको सर्जकपाय और सिरसवृक्षके कसैले रसको शिरीप-कषाय कहते है।

क्रोध[2] वेदनीय कर्मके उदयसे जीव क्रोधरूप होता है। इसलिये प्रत्यय-कषायकी अपेक्षा क्रोधवेदनीय कर्म क्रोध कहा जाता है। इसी तरह मानवेदनीय कर्मके उदयसे जीव मानरूप होता है, इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा मानवेदनोय कर्मको मान कहा जाता है। मायावेदनीयकर्मके उदयसे जीव मायारूप होता है इसलियेमायावेदनीय कर्म प्रत्ययकषायकी अपेक्षा माया है। लोभवेदनीयकर्मके उदयसे जीव लोभी होता है इसलिये प्रत्ययकषायकी अपेक्षा लोभकर्म लोभ कहलाता है। इस प्रकार जो क्रोधादिरूप कर्मको प्रत्ययकषाय कहा है वह नैगम, सग्रह और व्यवहारनयकी अपेक्षासे कहा है। और ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिमें क्रोध कर्मके उदयकी अपेक्षा जीव क्रोधकषायरूप होता है इसलिये क्रोधकर्मका उदय प्रत्ययकषाय[3] है। इसीप्रकार मान, माया आदिके विषयमें भी जानना चाहिये।

समुत्पत्तिकषायकी[4] अपेक्षा कही जीव क्रोधरूप है और कही अजीव क्रोध-रूप है। जिस मनुष्यके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति-कषायकी अपेक्षा क्रोध है और जिस लकडी, ईंट आदि टुकडेके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है, समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा वह लकडी या ईंट आदिका टुकडा क्रोध है। इसप्रकार एक जीव या एक अजीव, अनेक जीव या अनेक अजीव या मिश्र, इनमेंसे जिसके निमित्तसे क्रोध उत्पन्न होता है वह समुत्पत्तिकषायकी अपेक्षा क्रोध कहा जाता है। इसी प्रकार मान, माया और लोभके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये।

आदेशकषायकी[5] अपेक्षा चित्रमें अकित क्रोधी जीवकी आकृति—भ्रकुटि चढी हुई, मस्तकमें त्रिवली पडी हुई आदि—क्रोधरूप है। इसी तरह चित्रमें अकित गर्विष्ठ पुरुप या स्त्री आदेशकषायकी अपेक्षा मान है। चित्रमें अकित दूसरेको ठगते हुए मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा माया है और चित्रमें अकित लालची मनुष्यकी आकृति आदेशकषायकी अपेक्षा लोभ है। इसीप्रकार[6] लकडी-

---

१ 'नोआगम दव्वकसाओ जहा सज्जकसाओ सिरिसकसाओ एवमादि। वही, पृ० २८५।

२ वही, पृ० २८७।

३ वही, पृ० २९०।

४ क० पा० भा० १, पृ० २९३ आदि।

५ वही, पृ० ३०१।

६ एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा एस आदेसकसाओ णाम॥ क० पा० भा० १, पृ० ३०३।

पर खोदे गये, वस्त्रपर छापे गये, भित्तिपर चित्रित किये गये और पत्थर पर खोदे गये क्रोधी, मानी, मायावी और लोभीकी आकृतियाँ आदेशकषायकी अपेक्षा क्रोध, मान, माया और लोभ कहे जाते है।

ये दोनो समुत्पत्तिकषाय और आदेशकषाय नैगमनयके विषय है। अन्य नयोके नही।

जिस[1] द्रव्य या जिन द्रव्योका रस कसैला है उस या उन द्रव्योको रसकषाय कहते है। और कषायसे रहित द्रव्यको नोकषाय कहते है।

भावनिक्षेपके दो भेद है—आगमभावनिक्षेप और नोआगमभावनिक्षेप। नोआगमभावनिक्षेपकी अपेक्षा क्रोधका वेदन करनेवाला जीव क्रोधकषाय है। इसीप्रकार मान, माया और लोभको भी जानना चाहिये।

इस तरह आचार्य यतिवृषभने 'कसायप्राभृत' नामके कषायशब्दका निक्षेपोके द्वारा कथन करके यह बतलाया कि कषायशब्दका व्यवहार कितने रूपोमें किस-किस प्रकारसे होता है। और उनमेंसे यहाँ केवल भावकषाय ही विवक्षित है, शेप कषाय नही।

आगे इस भावकषायका विशेष कथन करनेके लिये आचार्य यतिवृपभने छ: अनुयोगद्वारोका कथन किया है—

१. कपाय क्या है? २ कषाय किसके होती है? ३ कपाय किस साधनसे होती है? ४ कपाय किसमें होती है? ५ कपाय कितने काल तक होती है? और ६ कषायके कितने प्रकार है? इन छै अनुयोगोका नाम क्रमश[2] निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधान है। इनके द्वारा कथन करनेसे कपायके विपयकी पूरी जानकारी या कथनी हो जाती है, इसीसे जैन आगामिक[3] परम्परामें सभी पदार्थोका विवेचन इन छै अनुयोगोके द्वारा करनेका विधान है। अस्तु,

कपायका निक्षेपविधिसे कथन करनेके पश्चात् यतिवृपभने 'पाहुड' का कथन किया है—

---

१ वही, पृ० ३०४।

२ 'निर्देश-स्वामित्व-साधन-अधिकरण-स्थिति विधानत.। त० सू० -१-६।

३. 'किं केण कस्स कत्थ वि केवचिर कदिविधो य भावो य। छहिं अणिओगद्दारें सव्वे भावाणुगतव्वा ॥" मूलाचा० ८-१५। 'दुविहा परूवणा छप्पया य नवहा य छप्पया इणमो। किं कस्स केण व कहिं केवचिर कइविधे य भवे ।८९१॥ आव० नि०

'पाहुडका[1] निक्षेप करना चाहिये। नामपाहुड, स्थापनापाहुड, द्रव्यपाहुड और भावपाहुड इसप्रकार पाहुडके विषयमें चार निक्षेप होते हैं।

इनमेंसे सबका स्वरूप न बतलाकर आचार्य यतिवृषभने नोआगमतद्व्यतिरिक्त-निक्षेपका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यनिक्षेपकी अपेक्षा पाहुडके तीन भेद है—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

यहाँ पाहुड (प्राभृत) का अर्थ भेंट है। भेंटमें दिये गये हाथी घोडा आदि सचित्त पाहुड हैं।

मणि, मुक्ता आदि अचित्त पाहुड है और रत्नालकार भूषित स्त्री मिश्र पाहुड है।

'नोआगम[2] भावपाहुडके दो भेद हैं—प्रशस्त और अप्रशस्त। दोगथिय[3] पाहुड प्रशस्त नोआगम भावपाहुड है। और कलहपाहुड अप्रशस्त नोआगम भावपाहुड है।

इनकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा है कि परमानन्द और आनन्द सामान्यकी सज्ञा 'दोगथिय' है। जो वस्तु परमानन्द या आनन्दका कारण होती है उपचारसे उसे भी 'दोगथिय' कहते है। केवल आनन्द तो किसीको उपहारमें नही दिया जा सकता, अत आनन्द या परमानन्दका निमित्त कोई द्रव्य भेंट देना दोगधियपाहुड कहा जाता है। अत दोगथियपाहुडके दो भेद है—परमानन्दपाहुड और आनन्दमात्रपाहुड। केवलज्ञान और केवल-दर्शनरूप लोचनोसे समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले वीतराग जिनेन्द्रदेवने निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान्,आचार्योंकी परम्परासे भक्तजनोके लिये भेजा गया जो बारह अगरूप वाणी या उसका एक देश परमानन्द दोग्रन्थिक पाहुड है। इस ग्रन्थमें पाहुडसे परमानन्द दो गधिय पाहुड ही इष्ट है।

इसके पश्चात् यतिवृषभने 'पाहुड' शब्दकी निरुक्ति[4] की है—'पदेहिं पुद (फुडं) पाहुड'। पदोसे जो स्फुट अर्थात् व्यक्त हो उसे 'पाहुड' कहते है।

---

१ 'पाहुड णिक्खियव्वं। णामपाहुड टठ्वणपाहुड दव्वपाहुड भावपाहुट चेदि एव चत्तारि णिक्खेवा सत्थ होंति।' वही, पृ० ३२२।

२ 'नोआगमदो भावपाहुड दुविह पसत्थमप्पसत्थ च' वही, पृ० ३२३।

३ पसत्थ जहा दोगधिर्थ पाहुड। अमत्थं जहा कलहपाहुड।' वही, पृ० ३२४,३२५।

१ 'पाहुडेत्ति का निरुत्ती ? जम्हा पदेहि पुद (फुड) तम्हा पाहुट।' वही, पृ० ३२६।

सारांश यह है कि यहाँ कषायविषयक श्रुतज्ञानको कषाय कहा है और उसके पाहुडको कषायपाहुड कहा है।

इसतरह 'कषायपाहुड' के अर्थ विवेचन पूर्वक निक्षेपके साथ उपक्रम समाप्त होता है।

यह हम लिख आये हैं कि निक्षेप और नयके द्वारा वस्तुका विवेचन करनेकी आगमिक पद्धति थी। उसी पद्धतिका दर्शन हम कषायपाहुडके गाथासूत्रोंमें भी पाते हैं—

उपक्रमके पश्चात् जिस गाथासूत्रसे[२] अवतार होता है उसमें कहा है—

'किस नयकी अपेक्षा किस-किस कषायमें पेज्ज (प्रेयस्त्व) होता है। अथवा 'किस नयकी अपेक्षा किस कषायमें दोष होता है? कौन नय किस द्रव्यमें दुष्ट होता है अथवा कौन नय किस द्रव्यमें पेज्ज होता है?'

इस गाथाके द्वारा उठाये गये प्रश्नोंका समाधान आचार्य यतिवृषभ अपने चूर्णिसूत्रोंके द्वारा करते हैं—

'इस गाथाके पूर्वार्धकी विभाषा (विवरण) करना चाहिये। वह इसप्रकार है—

नैगमनय और संग्रहनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया प्रेय है और लोभ प्रेय है।'

आशय यह है कि इस ग्रन्थके दो नाम हैं—कषायपाहुड या पेज्जदोसपाहुड। यहाँ कषायके लिये उसके स्थानमें दो शब्दोंका प्रयोग किया है पेज्ज (प्रेय) और दोस (द्वेष)। अतः यह बतलाना आवश्यक है कि कषायके भेदोंमेंसे कौन प्रेय है और कौन द्वेषरूप है? तभी तो कषायके लिए 'पेज्जदोस' नाम घटित हो सकता है?

क्रोध द्वेष है क्योंकि सकल अनर्थकी जड़ है। मान भी इसीसे द्वेषरूप है, किन्तु माया पेज्ज है क्योंकि उसकी सफलतासे मनुष्यको सन्तोष होता है। यही बात लोभके विषयमें भी जानना चाहिये। आशय यह है कि जो कषाय उसके कर्ताके लिये सतापका कारण हो वह द्वेष है और जो आनन्दका कारण हो वह पेज्ज है।

'व्यवहारनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ पेज्ज है।'

मायाचार लोकनिन्द्य और अविश्वासका कारण होनेसे द्वेष है किन्तु लोभसे द्रव्य बचाकर मनुष्य सुखपूर्वक जीवन विताता है इसलिये लोभ पेज्ज है।

---

२ 'पेज्ज वा दोसो वा कम्मि कसायम्मि कस्स व णयस्स। दुट्ठो व कम्मि दव्वे पियायए को कहिं वा वि॥ २१। क० पा० अ० १, पृ० ३६४।

'ऋजुसूत्रनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष हैं, मान न द्वेष है न पेज्ज है, माया न द्वेष है न पेज्ज है, किन्तु लोभ पेज्ज है।' शब्दनयकी अपेक्षा क्रोध द्वेष है, मान द्वेष है, माया द्वेष है और लोभ द्वेष है। क्रोध मान माया पेज्ज नही है किन्तु लोभ कथचित् पेज्ज है।

इसप्रकार चूर्णिसूत्रकारने गाथासूत्रकारके द्वारा प्रश्नरूपसे निर्दिष्ट विषयका ही नयदृष्टिसे विवेचन किया है। अत जैन आगमिक परम्पराकी यह विषय-विवेचनपद्धति गाथासूत्रकारसे भी प्राचीन प्रतीत होती है। संभव है पूर्वोका विवेचन इसी शैलीमें हो।

वर्तमान श्वेताम्बरमान्य मूलसूत्रोमें हमे इस पद्धतिके दर्शन नही होते। किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें निक्षेपयोजनाका क्रमवद्ध विधान विस्तारसे मिलता है और उसमें नयोका भी प्रयोग किया गया है।[1] असलमे अनुयोगद्वारसूत्र, जैसा कि उसके नामसे प्रकट है—अनुयोगसे ही सम्बन्ध रखता है। प्रस्तुत अनुयोगद्वारसूत्रकी उत्थानिकामें उसके टीकाकार हेमचन्द्र मलधारीने लिखा है कि जिनवचनमें प्राय आचार आदि समस्त श्रुतका विचार उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नयोके द्वारा होता है और इस अनुयोगद्वारमें उन्ही उपक्रम आदि द्वारोका कथन है।' अतः जिनवचनके व्याख्यानकी परिपाटी, जिसका अनुसरण गाथासूत्रकार और चूर्णिसूत्रकारने किया है उसीका विवेचन अनुयोगद्वारमें मिलता है, जो उस परिपाटीका ही समर्थक है।[2] निर्युक्तियोमें भी निक्षेप योजनाका विधान मिलता है। किन्तु प्रकृत विपय कपायमें निक्षेपयोजनाका विधान विशेषावश्यकभाष्यमें ही देखनेको मिलता है।

छक्खंडागम और चूर्णिसूत्रोंकी तुलना

छक्खडागम और चूर्णिसूत्रकी तुलनाकी दृष्टिसे अन्य भी दो-एक वातें उल्लेखनीय है। जिस तरह छक्खडागममें निक्षेप और नय-योजना की गई है, चूर्णिसूत्रोमें भी की गई है।

किन्तु दोनोमें अन्तर है। भूतवलिने वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्डके अनुयोगद्वारोमें निक्षेपयोजना करते हुए प्रत्येक निक्षेपका स्वरूप स्पष्ट रूपसे वतलाया है और उसमें पुनरुक्तिका भी ख्याल नही किया है। इसके प्रमाण रूपमें कृति

---

१ 'जिणपवयणउप्पत्ती पवयण एगट्ठिया विभागो य। दारविही य नयविही वक्खाण विही य अणुओगो ।।१२५।। नामं ठवणा दविए, खित्ते, काले वयण भावे वा। एसो अणुओगस्स निक्खेवो होई सत्तविहो ।।१२९।। जत्थ य ज जाणिज्जा निक्खेव निक्खिवे निरवसेसं। जत्थऽवि य न जाणिज्जा चउक्कम निक्खिवे तत्थ। आ० नि० ।।४।।

२ जिनवचने ह्याचारादि श्रुत प्राय सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारै विचार्यते। प्रस्तुत शास्त्रे च तान्येवोपक्रमादि द्वाराण्यभिधास्यन्ते'। अनु० टी०।

अनुयोगद्वार तथा वर्गणाखण्डके स्पर्श अनुयोगद्वार, कर्म अनुयोगद्वार, प्रकृति अनुयोगद्वार और बन्धन अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेपके लक्षणपरक सूत्रोको देख जाइये, कृति, स्पर्श आदि शब्दोके भेदके सिवाय उनमें कोई भेद नही है। किन्तु यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमे आवश्यकतानुसार निक्षेपयोजना की, यथा—'पेज्ज णिक्खियव्व—णामपेज्ज, ठवणपेज्ज, दव्वपेज्ज, भावपेज्ज चेदि।' (क० पा० सु० पृ० १६)। 'दोसो णिक्खिवियव्वो—णामदोसो, ठवणदोसो, दव्वदोसो, भावदोसो।' (पृ० १९), किन्तु सिवाय नोआगमद्रव्यनिक्षेपके किसी निक्षेपका स्वरूप या उदाहरण नही दिया। इससे कसायपाहुडकी तरह ही चूर्णिसूत्रोकी भी सक्षिप्त शब्दरचना द्योतित होती है। साथ ही ऐसा भी प्रकट होता है कि भूतवलि-पुष्पदन्ताचार्यको षट्खण्डागमके सूत्रोकी रचना करते हुए इस वातका ध्यान था कि जहाँ तक शक्य हो, सूत्ररचना स्पष्ट हो, जिससे उसके अध्येताको उसे समझनेमें कठिनाई नही हो, इसीलिये उन्होने शब्दलाघवपर विशेष ध्यान नही दिया और न पुनरुक्तिको दोप माना और ऐसा शायद उन्होने इसलिये किया—क्योकि वचे-खुचे महाकर्मकृतिप्राभृतके भी एकमात्र ज्ञाता धरसेनाचार्यका स्वर्गवास हो चुका था और अव आगे श्रुतज्ञानकी परम्पराके स्रोतका अन्त आ गया था।

किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें हम वह वात नही पाते। उनके द्वारा यद्यपि कसायपाहुडकी गाथाओका रहस्य खुलता है किन्तु स्वय उनका रहस्य खोलनेके लिए व्याख्याकारोकी आवश्यकता है। इससे ऐसा लगता है कि या तो यतिवृषभके सामने श्रुतविच्छेदका वैसा भय उपस्थित नही हुआ था या उनकी शैली ही ऐसी थी।

एक वात और भी उल्लेखनीय है—'चूर्णिसूत्रमें केवल चित्रकर्म, काष्ठकर्म और पोतकर्मका उल्लेख मिलता है[1]। किन्तु षट्खण्डागमके स्थापनानिक्षेप विषयक सूत्रमें काष्ठकर्म, चित्रकर्म, पोत्तकर्मके सिवाय लेप्यकर्म, लेण्णकर्म, सेलकर्म, गृहकर्म, भित्तिकर्म, दन्तकर्म और भेडकर्मका भी निर्देश है।

इसी तरह जयधवलामें ही एक दूसरे स्थानमें चूर्णिसूत्रके साथ जीवट्ठाणका विरोध बतलाते हुए कहा[2] है—'यदि कहा जाय कि आठ समय अधिक छह महीनाके नियमके वलसे एक-एक गुणस्थानमें जीवोके सचयका समानरूपसे कथन

---

१ 'आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिंदो। एवमेदे कट्ठकम्मे वा पोत्तकम्मे वा।' —क० पा० सू० पृ० २४।

२. 'ण च जीवट्ठाणसुत्तेण अट्ठसमयाहियछमासणियमवलेण एगेगगुणट्ठाणम्मि जीवसचय सरिसभावेण परूवणेण सह विरोहो, पुधभूदआइरियाण मुहविणिग्गयमेत्तेण दोण्हं थप्पभावसुवगयाण विरोहाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भा० २, पृ० ३६१।

करनेवाले जीवस्थानके सूत्रके साथ इस कथनका विरोध हो जायगा, सो भी बात नही है क्योकि ये दोनो उपदेश अलग-अलग आचार्योके मुखसे निकले हैं अत दोनो स्वतन्त्र रूपमे स्थित होनेके कारण उनमे विरोध नही हो सकता।'

यहाँ चूर्णिसूत्रके कथनको जीवस्थानके कथनसे स्वतन्त्र मानते हुए उन्हे दो पृथक्-पृथक् आचार्योका उपदेश बतलाया है।

षट्खण्डागमका छठा खण्ड महाबध है, जो स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें माना जाता है, वह भी आचार्य भूतबलिकी कृति है। जयधवलामें उसको भी तन्त्रान्तर बतलाया है। महाबन्ध और कसायपाहुडके मतभेदकी चर्चा करते हुए उसमें लिखा[1] है—'महाबन्धमे विकलेन्द्रियोमें स्वस्थानमें ही सक्लेशक्षयमे सख्यातभागवृद्धिरूप बन्धके दो समय कहे हैं। उसके बलसे कसायपाहुडको समझना ठीक नही है क्योकि भिन्न पुरुषके द्वारा रचित ग्रन्थान्तरसे ग्रन्थान्तरका ज्ञान नही हो सकता।'

जयधवलाकी तरह धवला-टीकामें भी षट्खण्डागम और कसायपाहुडके मतभेदोकी चर्चा अनेक स्थलो पर की गई है।

धवलामें[2] लिखा है कि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें पहले सोलह प्रकृतियोका क्षय होता है, पीछे आठ कषायोका क्षय होता है, यह 'सतकम्मपाहुड' का उपदेश है। किन्तु कसायपाहुडका उपदेश है कि आठ कषायोका क्षय होनेपर पीछे सोलह कर्मोका क्षय करता है। ये दोनो ही उपदेश सत्य है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं। किन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता, क्योकि उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पडता है। तथा दोनो कथन प्रमाण है, यह वचन भी घटित नही होता, क्योकि एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नही होना चाहिये ऐसा न्याय है।'

प्रकृत विषयकी चर्चा करते हुए इसी प्रसगमे धवलामें आगे जो शका-समाधान किया गया है वह भी दृष्टव्य है। लिखा है—

शका—उक्त दोनो वचनोमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है, क्योकि जिन अन्यथावादी नही होते। अत उनके वचनोमें विरोध नही होना चाहिये।

समाधान—यह कहना ठीक है किन्तु उक्त वचन तीर्थङ्करके वचन नही है, आचार्योके वचन है। आचार्योके वचनोमे विरोध होना सम्भव है।

---

१. 'महाबंधम्मि विगलिंदिएसु सत्थाणे चेव सकिलेसक्खएण सखेज्जभागवड्ढिबधस्स वे समया परूविदा, तव्वलेण कसायपाहुडस्स ण पडिबोहणा काउ जुत्ता, तततरेण भिण्ण-पुरिसकएण तततरस्स पडिवोयणाणुववत्तीदो।' —क० पा०, भा० ४, पृ० १६५।

२. 'एसो सतकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण ।'

—षट्खं०, पु० १, पृ० २१७।

शका—तो फिर [1]आचार्यकथित सत्कर्मप्राभृत और कषायप्राभृतको सूत्रपना कैसे सम्भव हो सकता है।

समाधान—तीर्थङ्करके द्वारा अर्थरूपसे कहे गये और गणधरोके द्वारा ग्रन्थ-रूपसे निबद्ध द्वादशाग आचार्य परम्परासे निरन्तर चले आ रहे थे। परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर बुद्धिके क्षीण होनेपर और उन अगोको धारण कर सकनेवाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। तब श्रेष्ठ बुद्धिवालोका अभाव देखकर तीर्थविच्छेदके भयसे पापभीरु और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करनेवाले आचार्योने उन्हे पोथियोमें लिपिबद्ध किया। अतएव उनमें असूत्रपना नही हो सकता।

शका—तब तो द्वादशागका अवयव होनेसे उक्त दोनो ही वचन सूत्र हो जायेंगे ?

समाधान—दोनोमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोको सूत्रपना नही प्राप्त हो सकता, क्योकि उन दोनोमे परस्परमें विरोध है।

शका—दोनो वचनोमेंसे किसको सत्य माना जाये ?

समाधान—यह तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा नही जान सकता। उक्त विस्तृत चर्चासे मतभेदका कारण भिन्न आचार्यपरम्पराका होना ही प्रकट होता है।

२ जीवट्ठाणके [2]अन्तरानुगममे चारो कषायोका उत्कृष्ट अन्तर काल छै मास बतलाया है। उसकी धवला टीकामें लिखा है कि ऐसा मानने पर पाहुडसुत्त (कसायपाहुड) के साथ व्यभिचार नही आता है क्योकि उसका उपदेश भिन्न है।

३ जीवस्थान चूलिकाकी [3]धवलामें लिखा है—'यह व्याख्यान अपूर्वकरण गुणस्थानके प्रथम समयमें होनेवाले स्थितिबन्धका सागरोपम कोटिलक्ष पृथक्त्व-प्रमाण कथन करनेवाले पाहुडचूर्णिसूत्रसे विरोधको प्राप्त होता है, ऐसी आशङ्का नही करना चाहिये। वह तन्त्रान्तर है।

४. उक्त चूलिकाकी [4]धवलामे ही अन्यत्र लिखा है—'इस द्वितीयोपशम

---

१. आइरिय-कहियाण सतकम्मकसायपाहुडाण कथ सुत्तत्तणमिदि चेण्ण, तित्थयरकहिय-त्थाण गणहरदेवकयगथरयणाण बारहगाण आइरियपरपराए णिरतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहट्टतीसु भायणाभावेण पुणो ओहट्टिय आगयाण पुणो सुट्ठुबुद्धीण खय दट्ठूण तित्थवोच्छेदभएण वज्जभीरूहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडा-वियाण असुत्तत्तणविरोहादो।' —षट्ख०, पु० १, पृ० २२१।

२. 'ण पाहुडसुत्तेण वियहिचारो, तस्स भिण्णोवदेसत्तादो।' —षट्ख० पु० ५, पृ० ११२।

३ षट्ख० पु० ६, पृ० १७७।

४. पु० ६, पृ० ३११।

सम्यक्त्वकालके भीतर जीव असयमको भी प्राप्त हो सकता है, सयमासयमको भी प्राप्त हो सकता है और छह आवली काल शेष रहनेपर सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त हो सकता है। यदि सासादनको प्राप्त करके मरता है तो नरकगति, तिर्यञ्चगति और मनुष्यगतिको प्राप्त नही कर सकता, किन्तु नियमसे देवगतिमें जाता है। यह पाहुडचूर्णिसूत्रका अभिप्राय है। किन्तु भगवन्त भूतवलिके उपदेशानुसार उपशमश्रेणिसे उतरता हुआ जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त नही करता।'

५ उसीमें पुन अन्यत्र[1] लिखा है—'यह वात प्राभृतसूत्र (कसायपाहुडचूर्णिसूत्र) के अभिप्रायानुसार कही गई है। परन्तु जीवस्थानके अभिप्रायसे सख्यातवर्षकी आयुवाले मनुष्योमें सासादनगुणस्थान सहित निर्गमन नही बन सकता, क्योकि उपशमश्रेणिसे उतरे हुए मनुष्यका सासादनगुणस्थानमें गमन सम्भव नही है।'

खुद्दाबन्धकी धवला-टीकामें महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशोमें भेद बतलाते हुए लिखा[2] है—'मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके अन्तिम समयमें दस प्रकृतियोकी उदयव्युच्छित्ति होती है, यह महाकर्मप्रकृतिप्राभृतका उपदेश है। चूर्णिसूत्रकर्ताके उपदेशके अनुसार मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके अन्तमें पाँच प्रकृतियोका उदयविच्छेद होता है, शेष पाँचका उदयविच्छेद सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें होता है।'

महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना हुई है। अत षट्खण्डागमके मत अवश्य ही महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मत होने चाहिये। और इस तरहसे चूर्णिसूत्रकारके मत महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके मतोसे भी भिन्न थे, यह कहा जा सकता है। अत ये सैद्धान्तिक मतभेद वहुत प्राचीन प्रतीत होते है।

[3]खुद्दाबन्धकी ही धवला-टीकामें एक अन्य भी उल्लेखनीय चर्चा है, जो इस प्रकार है—

शका—कसायपाहुडसुत्तके साथ यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—सचमुचमें कषायप्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र (२४) विरुद्ध पडता है किन्तु यहाँ एकान्तग्रह नही करना चाहिये कि यही सत्य है या वही सत्य है, क्योकि श्रुतकेवलियो या प्रत्यक्ष ज्ञानियोके विना इस प्रकारका निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसग आयेगा।

---

१ पु० ६, पृ० ४४४।

२ 'एसो महाकम्मपपडिपाहुडउवएसो। चुण्णिसुत्तकत्ताराणमुवेएसेण पचण्ण पयडीण मुदयवोच्छेदो।' —पु० ८, पृ० ९।

३. पु० ८, पृ० ५६–५७।

शका—सूत्रोमे विरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—अल्पश्रुतके धारक आचार्योके द्वारा रचे गये सूत्रो व उपसहारोमे विरोधका होना सम्भव प्रतीत होता है ।

शका—उपसहारोको सूत्रपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—घट, घटी, सकोरा आदिमे रखे हुए अमृतसागरके जलमें अमृतत्व पाया ही जाता है ।

इस प्रकार पट्खण्डागम और कसायपाहुडचूर्णिसूत्र दो भिन्न आचार्य-परम्पराओके उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं । इसीसे उनके कतिपय सैद्धान्तिक मन्तव्योमे मतभेद है ।

अनुयोगद्वार और चूर्णिसूत्र

अनुयोगद्वारसूत्र स्वतत्र ग्रन्थ है, व्याख्याग्रन्थ नही है, किन्तु चूर्णिसूत्र व्याख्यासूत्र है । अनुयोगद्वारमें जिस आगमिक शैलीका दर्शन मिलता है, चूर्णिसूत्रोमें भी उसी आगमिक शैलीका दर्शन होता है । इससे इतना तो स्पष्ट है कि प्राचीन आगमिक व्याख्या-शैली वही थी जो इन दोनो सूत्र-ग्रन्थोमें पाई जाती है ।

अनुयोगद्वारसूत्रको परम्परासे आर्यरक्षितकी कृति माना जाता है । पट्टावलियोके अनुसार आर्यरक्षित आर्यमक्षु और नागहस्तीके मध्यमें हुए थे । अत उनका समय[1] विक्रमकी प्रथम शतीका उत्तरार्ध माना जाता है । इस हिसावसे अनुयोगद्वारसूत्र चूर्णिसूत्रोका पूर्वज सिद्ध होता है । किन्तु उसको देखनेसे उसकी प्राचीनतामें सन्देह होता है । [2]नन्दिसूत्रमें अनुयोगद्वारका नाम आया है । और नन्दिसूत्र वलभी वाचनाके समय अर्थात् विक्रमकी छठी शताव्दीके प्रारम्भमें रचा गया माना जाता है । नन्दिमें मिथ्याश्रुत और अनुयोगमें [3]लौकिकश्रुतके नामसे अनेक ग्रन्थोके नाम दिये है । उनमें माठर और पष्ठितन्त्रका भी नाम है । ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिकापर माठरकी कृति प्रसिद्ध है तथा [4]अनुयोगद्वारमे लौकिक भावावश्यकका स्वरूप वतलाते हुए लिखा है—पूर्वाण्हमें भारतका और अपराण्हमें रामायणका वाचन अथवा श्रवण करना है यह लौकिक भावावश्यक है ।

---

१ 'श्रीमदार्यरक्षितसूरि सप्तनवत्यधिकपचशत ५९७ वर्षान्ते स्वर्गभणिति पट्टावल्यादौ दृश्यते ।' —प० स०, पृ० ४८ ।

२. से किं तं लोइय भावावस्सय ? पुव्वण्हे भारह अवरण्हे रामायण, से त लोइयं भावा-वस्सय (सू० २५) ।

३ क० पा० भा० १, पृ० ।

४ 'जण्ण कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा लेप्पकम्मे वा (सू० १०) अ० ।

भारत और रामायणके इस प्रकार आवश्यक रूपसे वाचन अथवा श्रवणका परिचलन अवश्य ही गुप्तकालमे होना चाहिये। अत अनुयोगद्वारसूत्र गुप्तकालसे पूर्वका नही होना चाहिये।

चूर्णिसूत्रोके साथ उसकी तुलना करनेपर भी उसका कोई प्रभाव परिलक्षित नही होता। प्रत्युत चूर्णिसूत्र ही उससे अधिक प्राचीन प्रतीत होते है। आदेश[1] कषायका स्वरूप बतलाते हुए चूर्णिसूत्रोमें चित्रकर्म, काष्टकर्म और पोत्थकर्मका ही उल्लेख है किन्तु अनुयोगद्वारसूत्रमें लेप्यकर्मका भी निर्देश मिलता है। इसी तरह उसमें पूर्ववत् शेषवत् आदि अनुमानके तीन भेद गिनाये है। जो न्यायसूत्रोमें पाये जाते है।

चूर्णिसूत्र · ऐतिहासिक महत्त्व—दो परम्पराएँ

यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोमें ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उपदेशकी दो परम्पराएँ, जिनमेंसे एकको वह पवाइज्जमाण (प्रवाह्यमान) और दूसरीको अपवाइज्जमाण कहते है। इन दोनो परम्पराओका निर्देश कसायपाहुडके उपयोग नामक अधिकारमें पाया जाता है।

'पवाइज्जमाण'की व्याख्या बतलाते हुए जयधवलाकारने लिखा है—'जो सब आचार्योके द्वारा सम्मत हो और प्राचीनकालसे बिना किसी विच्छेदके सम्प्रदायक्रमसे आता हुआ शिष्य-परम्पराके द्वारा लाया हो उसे पवाइज्जत उपदेश कहते है। अथवा यहाँ पर भगवान आर्यमखुके उपदेशको अपवाइज्जमाण और नागहस्ती क्षपणके उपदेशको पवाइज्जमाण स्वीकार करना चाहिये।

उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने[2] लिखा है कि इस गाथाकी विभाषाके विषयमें दो उपदेश पाये जाते है। एक उपदेशके द्वारा व्याख्यान समाप्त करके लिखा है कि अव पवाइज्जत उपदेशके द्वारा चौथी गाथाकी विभाषा करते है। इसी 'पवाइज्जत' की टीकामें जयधवलाकारने उक्त बात कही है।

इससे ऐसा प्रकट होता है कि कसायपाहुडके गाथासूत्रोके व्याख्यानमें आर्यमक्षु और नागहस्तीमें मतभेद था। आचार्य यतिवृषभने आर्यमक्षुके मतको प्रथम

---

१ (सू० ४१),

२. 'एक्केण उवएसेण चउत्थीए विहासा समत्ता भवदि। पवाइज्जतेण उवएसेण चउत्थीए गाहाए विभासा।' ज० ध०—को पुण पवाइज्जतोवएसो णाम वुत्तमेद? सव्वाइरियसम्मदो चिरकालमवोच्छिण्णसंपदायकमेणागच्छमाणो जो सिस्सपरपराए पवाइज्जदे पण्णविज्जदे सो पवाइज्जतोवएसो त्ति भण्णदे। अथवा अज्जमखुभयवताणमुवएसो एत्थापवाइज्जमाणो णाम। णागहत्थिखवणाणमुवएसो पवाइज्जतवो त्ति घेतव्वो।'
—ज० ध० प्रे० का०, पृ० ५९२०।

स्थान दिया, और यद्यपि दूसरे उपदेशको—जिसे जयधवलाकार नागहस्तीका बतलाते हैं—पवाइज्जंत बतलानेसे प्रथम उपदेशका अपवाइज्जत होना स्वय सिद्ध है, किन्तु उन्होने अपनी लेखनीसे उसे अपवाइज्जत नही कहा। इसी तरह इसी अधिकारकी सातवी गाथाकी विभाषामे भी दोनो उपदेशोका कथन करके एक[1] उपदेशको पवाइज्जत लिखा और अन्तमे लिख दिया कि इन दोनो उपदेशोसे त्रसजीवोके कषायोदयस्थान जान लेना चाहिये। ऐसा करके यतिवृषभने जहाँ प्राचीन उपदेशकी सुरक्षा की वहाँ दूसरेकी अवहेलना नही की। यह उनके बडप्पनको तो द्योतित करता ही है, साथ ही आर्यमक्षुके प्रति अनादरभावको भी प्रकट नही करता।

किन्तु जयधवलाकारने इसी अध्यायमे तथा आगे आर्यमक्षु और नागहस्ती दोनोके उपदेशको पवाइज्जत भी कहा है।

उपयोगाधिकारकी प्रथम गाथाकी विभाषा करते हुए चूर्णिसूत्रकारने लिखा है—'पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोका विशेष अन्तर्मुहूर्त है और उसी पवाइज्जत उपदेशकी अपेक्षा चारो गतियोमे अल्पबहुत्वका कथन करते है।'

इस टीकामें[2] जयधवलाकारने दोनोके उपदेशको पवाइज्जत कहा है। इसी तरह सम्यक्त्व अनुयोगद्वारमें[3] भी उन्होने दोनोके उपदेशको पवाइज्जत कहा है। ऐसी स्थितिमे उपयोगाधिकारकी चतुर्थ गाथाके चूर्णिसूत्रोकी व्याख्यामें जो उन्होने आर्यमक्षुके उपदेशोको पवाइज्जत और नागहस्तीके उपदेशोको अपवाइज्जत कहा है, उसके साथ सगति नही बैठती और दोनो कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते है। किन्तु जयधवलाके शब्दोपर ध्यान देनेसे यह विसगति दूर हो जाती है।

जयधवलाकारने वहाँ पहले 'पवाइज्जत उपदेश' की व्याख्या की है कि जो सर्वाचार्य सम्मत आदि हो वह पवाइज्जत उपदेश है। फिर 'अथवा' कहकर आर्यमक्षुके उपदेशको अपवाइज्जमाण कहा है। किन्तु अपवाइज्जमाणके पहले आगत 'एत्थ' शब्द खास ध्यान देने योग्य है जो बतलाता है कि यहाँपर अपवाइज्जमाणसे आर्यमक्षुका उपदेश ग्रहण करना चाहिये। अत आर्यमक्षुका प्रत्येक उपदेश अपवाइज्जमाण नही है। किन्तु नागहस्तिके साथ एत्थ पद नही है। अत नागहस्ती-

---

१ एसो उवएसो पवाइज्जइ। अण्णो उवदेसो । एदेहिं दोहि उवदेसेहिं कसाय-उदयट्ठाणि णेदव्वाणि तसाण। —क० पा० सु०, पृ० ५९२–५०३।

२ 'तेसिं चेव भयवताणमज्जमखु-णागहत्थीण पवाइज्जतेण उवएसेण।' —ज० ध० स० का०, पृ० ५८६४।

३ 'पवाइज्जतेण पुण उवएसेण सव्वाइरियसम्मदेण अज्जमखु-णागहत्थिमहावाचयमुह-कमल विणिग्गएण।' —ज० ध० प्रे० क०, ६२६१।

का कोई उपदेश अपवाइज्जत नही था—सब उपदेश पवाइज्जत था। किन्तु आर्यमक्षुका कोई-कोई उपदेश अपवाइज्जत भी था।

इस तरह चूर्णिसूत्रोंमें विभिन्न उपदेशोंकी परम्पराके दर्शन होते हैं।

चूर्णिसूत्रके रचयिता

चूर्णिसूत्रके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। ये गुणधर, आर्यमक्षु और नागहस्तिके उत्तराधिकारी हैं। पट्टावलि, शिलालेख तथा अन्य स्रोतोंसे आचार्य यतिवृषभके जीवन-परिचय, समय आदिके सम्बन्धमें विशेष जानकारी प्राप्त नही है।

इनकी दो ही कृतियाँ मानी जाती हैं—एक कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्र और दूसरी त्रिलोकप्रज्ञप्ति। किन्तु उनमें अन्य बातोंका तो कहना ही क्या, ग्रन्थकर्ता तकका नाम नही पाया जाता। हाँ, त्रिलोकप्रज्ञप्तिके अन्तमें एक गाथा आई है—

> "पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
> दट्ठूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं॥

इस गाथामें 'जदिवसहं' (यतिवृषभ) नाम आया है। और उसके अन्तमें वसह (वृषभ) शब्द होनेसे उसका अनुप्रास मिलानेके लिये अन्य शब्दोंके अन्तमें भी 'वसह' पद दिया है। जिनवरवृषभ और गणधरवृषभ पद तो स्पष्ट ही हैं, क्योकि जिनवर वृषभ प्रथम तीर्थङ्कर थे और उनके प्रथम गणधरका नाम भी वृषभ ही था। किन्तु 'गुणवसहं' पद स्पष्ट नही है। यों तो उसे 'गणहरवसहं' का विशेषण किया जा सकता है, 'जैसा कि त्रिलोकप्रज्ञप्ति'[1] के हिन्दी अनुवादमें और श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपने 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति'[2] शीर्षक लेखमें किया है। किन्तु उससे कोई विशेष चमत्कार प्रतीत नही होता। इसी तरह 'दट्ठूण परिसवसहं' पद भी अस्पष्ट है।

जयधवलाके सम्यक्त्व-अनुयोगद्वारके प्रारम्भमें मगलाचरणरूपमें भी यह गाथा पाई जाती है। और उससे उक्त पदोंकी समस्या सुलझ जाती है। गाथा इस प्रकार है—

> पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणहरवसहं
> दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाढरवसहं॥

इससे अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—

'जिनवरवृषभको, गणधरवृषभको, गुणधरवृषभ (श्रेष्ठ) और दुस्सह परीषह-

---

१ जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।
२ जै० सा० इ०, पृ० ७।

का समाधान करते हुए वीरसेन स्वामीने[1] कहा है—'विपुलाचलके शिखरपर स्थित महावीररूपी सूर्यसे निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बूस्वामी आदि आचार्य-परम्परासे आकर, गुणधराचार्यको प्राप्त होकर गाथारूपसे परिणत हो, पुन आर्यमक्षु-नाग-हस्तीके द्वारा यतिवृषभके मुखसे चूर्णिसूत्ररूपसे परिणत हुई दिव्यध्वनिरूपी किरणोसे हमने ऐसा जाना है।' यहाँ यतिवृषभके वचनोको भगवान महावीरकी दिव्यध्वनिके साथ एकरसता बतलानेसे यतिवृषभके प्रति वीरसेन स्वामीकी असीम श्रद्धा व्यक्त होती है। तभी तो वे जिनेन्द्रोमें श्रेष्ठ प्रथम जिन और गणधरोंमें श्रेष्ठ उनके प्रथम गणधरके साथ गुणधर और यतिवृषभको नमस्कार करनेकी प्रेरणा करते है।

स्वय यतिवृषभ अपने विषयमें ऐसा नही कह सकते, क्योकि उक्त गाथामें आगत 'जइवसह' शब्द श्लेषरूपसे प्रयुक्त नही जान पडता। स्वय उसके साथ दो विशेषण पद लगे हुए हैं। यदि उसे श्लेषरूपमे प्रयुक्त माना जाता है तो गाथाके पूरे उत्तरार्धको किसी विशेष्यके साथ प्रयुक्त करना होगा। गाथाके पूर्वार्द्धमें तीन विशेष्यपद है, जिणवरवसह, गणहरवसह और गुणहरवसह। अब इन तीनों विशेष्योमेंसे किसके विशेपणरूपसे उक्त तीनो विशेषणोका प्रयोग किया जाये, यह समस्या उत्पन्न होती है। खीचातानी करके किसी एकके साथ या तीनोके साथ तीनो भेदोको सयुक्त कर देनेपर भी यतिवृषभ जैसे ग्रन्थकारकी कृतिके अनुरूप स्वाभाविकता उसमें नही रहती। अस्तु,

दूसरा विशेपण 'धम्मसुत्तपाढरवसह' बतलाता है कि यतिवृषभ धर्मसूत्रके पाठकोंमे श्रेष्ठ थे, किन्तु धर्मसूत्रसे किस सूत्र-ग्रन्थका अभिप्राय है यह स्पष्ट नही होता। इस तरहके शब्दका व्यवहार भी जैनपरम्परामें मेरे देखनेमें नही आया।

वर्तमान त्रिलोकप्रज्ञप्तिके आधारपर यतिवृषभ महावीर-निर्वाणके एक हजार वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० ४७३ से पूर्व नही हो सकते, क्योकि उसमे महावीर-निर्वाणसे एक हजार वर्ष तकके प्रमुख राजवशोकी कालगणना दी हुई है और वह इस रूपमें है कि सहसा उसे प्रक्षिप्त भी नही कहा जा सकता। उनके चूर्णिसूत्रोसे भी कोई बात ऐसी प्रकट नही होती, जिससे उनकी अर्वाचीनता प्रमाणित हो सके। उन्होने अपने चूर्णिसूत्रोमें 'एसा कम्मपवादे' और 'एसा कम्मपयडीसु' लिखकर कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका उल्लेख किया है।

---

१. "एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम लोहज्ज-जबु-सामियादिआइरियपरपराए आगतूण गुणहराइरिय पाविय गाहासरूवेण परिणमिय अज्जमखुणागहत्थीहिंतो जइवसहमुहणमिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे।" —क० पा०, भा० ५, पृ० ३८८।

कसायपाहुडके चारित्रमोहोपशामना नामक अधिकारमें यतिवृपभने उपशामना-के दो भेद किये है—एक करणोपशामना और दूसरा अकरणोपशामना। तथा करणोपशामनाके भी दो भेद किये है—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। और लिखा है कि अकरणोपशामनाका कथन कर्मप्रवादमें और देशकरणोपशामना-का कथन कर्मप्रकृतिमें है। कर्मप्रवाद आठवे पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पञ्चम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत चतुर्थ प्राभृतका नाम है। अब प्रश्न यह होता है कि यतिवृषभने इन दोनो ग्रन्थोका निर्देश स्वय उन्हें देखकर किया है या अन्य किसी आधारपर किया है? दिगम्बर उल्लेखोके अनुसार पूर्वोका ज्ञान तो वीर निर्वाणसे ३४५ वर्ष पर्यन्त ही प्रचलित रहा है। उसके पश्चात् तो विश-कलित ज्ञान ही रह गया था। श्वेताम्वर उल्लेखोंके अनुसार वीरनिर्वाणसे लगभग छ सौ वर्ष पश्चात् स्वर्गगत हुए आर्यरक्षितसूरि साढे नौ पूर्वोके ज्ञाता थे। उन्ही-के वंशज नागहस्ती थे। वे आठवें कर्मप्रवादके ज्ञाता हो सकते है। नन्दिसूत्रमें उन्हें कर्मप्रकृतिमें प्रधान तो वतलाया ही है। इसलिए उनके द्वारा यतिवृपभको कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृति दोनोका अनुगम होना शक्य है। इन्ही दो का निर्देश चूर्णिसूत्रोमें पाया जाता है। अनएव चूर्णिसूत्रकार यतिवृपभ आर्यमगुके न सही तो कम-से-कम नागहस्तीके तो लघु समकालीन होने ही चाहिये। विवुध श्रीधरके श्रुतावतारमें आर्यमगुका नाम नही है। गुणधरने नागहस्तीको कसायपाहुडके सूत्रोका व्याख्यान किया। और गुणधर नागहस्तिके पास यतिवृषभने उनका अध्ययन किया। इसमें गुणधरके पास अध्ययन करने वाली वातका समर्थन अन्यत्रसे नही होता, अत उसे छोड देने पर भी नागहस्तीके समीप अध्ययन करनेकी ही बात पुष्ट होती है। एक अन्य बात यह भी है कि[1] त्रिलोकप्रज्ञप्तिकी उपलब्ध प्रतिमें हम वहुत-सी ऐसी गाथाए पाते है जो कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमें पाई जाती है और उनसे ली गई प्रतीत होती है। यद्यपि इससे यतिवृषभकी प्राचीनताको विशेप क्षति नही पहुँचती, क्योकि कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी माना गया है तथापि यतिवृपभमें यदि इस प्रकारका सग्रह करनेकी प्रवृत्ति होती तो उसका कुछ आभास उनके चूर्णिसूत्रोमें भी परिलक्षित होता। अत हमारा अनुमान है कि इन प्राचीन गाथाओका कोई एक मूलस्रोत रहा है, जहाँसे कुन्दकुन्द और यतिवृषभ दोनोने ही उन गाथाओको ग्रहण किया होगा। दूसरे, धरसेनने महाकर्मप्रकृतिप्राभृतके विच्छेदके भयसे ही भूतवलि-पुष्पदन्तको उसका ज्ञान दिया था। उन्होने उसके आधारपर षट्खण्डागमकी रचना की और इस तरह महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान उनके साथ समाप्त हो गया। तब यतिवृषभको कर्मप्रकृतिका

१. त्रि प भा २ की प्रस्तावना तथा अनेकान्त वर्ष २, पृ. ३।

ज्ञान किससे मिला ? अत. यतिवृषभ ऐसे समयमें होने चाहिये जब कर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था।

तीसरे, यह आगे बतलायेंगे कि छक्खडागम और कसायपाहुडमें अनेक बातोको लेकर मतभेद है, अत उन दोनोको तन्त्रान्तर कहा गया है। जो मतभेद बतलाया जाता है उसका आधार कसायपाहुड पर रचित चूर्णिसूत्र है। वही उस मतभेदका प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्ही परसे धवला व जयधवलामें भूतबलि और यतिवृषभके मतभेदकी चर्चा देखनेमें आती है। उस चर्चापरसे यतिवृषभका व्यक्तित्व भूतवलिके समकक्ष प्रतीत होता है। दोनोके सूत्रोकी भी तुलनासे यही बात प्रमाणित होती है। अत यतिवृषभ भूतवलि पुष्पदन्तसे विशेष अर्वाचीन प्रतीत नही होते। और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे। चूंकि धरसेन और नागहस्ती लगभग समकालीन प्रमाणित होते हैं, क्योकि दोनोका समय वीर-निर्वाणकी सातवी शताब्दीमें थोडा आगे-पीछे आता है। अत यतिवृषभ भी उसी समयके लगभग होने चाहिये।

यतिवृषभकी रचनाएं

आचार्य यतिवृषभकी कृतिरूपसे दो ग्रन्थ प्रसिद्ध है—एक प्रकृत चूर्णिसूत्र[1] और दूसरी तिलोयपण्णत्ती[2]। दोनो उपलब्ध हैं और हिन्दी अर्थके साथ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं। तिलोयपण्णत्तीका विषय लोकरचनासे सम्बद्ध है, अत उसका परिचय आदि इस ग्रन्थके लोकरचना विषयक प्रकरणमें दिया जायगा।

तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम[3] गाथामें तिलोयपण्णत्तीका प्रमाण आठ हजार बतलाते हुए लिखा है कि चूर्णिस्वरूप और षट्करणस्वरूपका जितना प्रमाण है उतना ही तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि षट्करणस्वरूप नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभकृत होना चाहिये।

प० जुगलकिशोर मुख्तारका कहना है कि 'करणस्वरूप' नामक भी कोई ग्रन्थ यतिवृषभके द्वारा रचा गया था जो अभी तक अनुपलब्ध है। बहुत सम्भव है कि वह ग्रन्थ उन करणसूत्रोका ही समूह हो, जो गणितसूत्र कहलाते हैं और जिनका कितना ही उल्लेख त्रिलोकप्रज्ञप्ति, गोम्मटसार, त्रिलोकसार और धवला जैसे ग्रन्थोमें पाया जाता है। चूर्णिसूत्रोकी सख्या चूंकि छ हजार है अत: करणस्वरूप ग्रन्थकी संख्या दो हजार श्लोक परिमाण समझनी चाहिये,

---

१. श्री वीरशासन सघ, कलकत्तासे प्रकाशित।

२ जीवराज ग्रन्थ माला, शोलापुरसे प्रकाशित।

३. चुण्णिसरूवछक्करणसरुपपमाण होइ कि ज तं। अटठसहस्सपमाण तिलोयपण्णत्ति-णामाए ॥७७॥ ति, प., भा २, पृ. ८८०।

तभी दोनोंकी संख्या मिलकर आठ हजार परिमाण इस ग्रन्थ (तिलोयपण्णत्ती) का बैठता है (जै० सा० इ० वि० प्र०, पृ० ५८९)।

किन्तु सिद्धान्तशास्त्री पं० हीरालालने कसायपाहुडसुत्तकी प्रस्तावनामें उक्त अन्तिम गाथाके उक्त अर्थसे भिन्न अर्थ किया है। उन्होंने गाथा उद्धृत करके लिखा है—'इसमें बतलाया गया है कि आठ करणोंके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली कम्मपयडीका और उसकी चूर्णिका जितना प्रमाण है उतने ही आठ हजार प्रमाण इस तिलोयपण्णत्तीका परिमाण है।'

गाथाके प्रथम चरण 'चुण्णिसरूव-ट्ठकरणसरूव' में 'ट्ठ' के स्थान पर 'त्थ' पाठभेद भी मिलता है। पण्डितजीने 'त्थ' के स्थानमें 'ट्ठ' मानकर 'अट्ठकरण' शब्द निष्पन्न किया है। चूंकि कर्मप्रकृतिमें आठ करणोंके स्वरूपका कथन है अतः 'अट्ठकरण' नाम कर्मप्रकृतिके लिए ही प्रयुक्त किया है, ऐसा पं० जीका विचार है। और यत आप कर्मप्रकृतिकी चूर्णिका रचयिता आचार्य यतिवृषभको मानते हैं, इसलिये आपने उक्त प्रकारका अर्थ किया है।

कर्मप्रकृतिकी चूर्णिके कर्ताका विचार करते समय इस बात पर प्रकाश डाला जायेगा कि यतिवृषभ उसके कर्ता नहीं हो सकते। यहाँ तो हम इतना ही लिखना उचित समझते हैं कि पण्डितजीने ति० प० की उक्त अन्तिम गाथाका जो अर्थ किया है वह अपनी उक्त कल्पनाके आधार पर उतावलीमें कर डाला है। यह ठीक है कि कर्मप्रकृतिमें आठ करणोंके भी स्वरूपका कथन है। किन्तु आठ करणोंके सिवाय उदय और सत्ताका भी कथन है और पहली गाथामें ही आठ करणोंके साथ उदय और सत्त्वके भी कथनकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है। अत ऐसे ग्रन्थका नाम 'अट्ठकरणसरूव' नहीं हो सकता।

दूसरे, प्रकृत कम्मपयडी या कर्मप्रकृतिका 'अट्ठकरणसरूव' ।नाम भी था, इसका एक भी समर्थक प्रमाण मेरे देखनेमें नहीं आया। जिस चूर्णिको पडितजी यतिवृषभकृत मानते हैं उसमें भी प्रथम गाथाकी उत्थानिकारूपसे 'कम्मपयडी-संगहणी' नामका निर्देश करते हुए उसे सार्थक बतलाया है।

तीसरे, 'चुण्णिसरूवट्ठकरणसरूव'का अर्थ 'कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णि' करना भी कष्टसाध्य ही है। उसका सीधा-सा अर्थ होता है चूर्णि और अट्ठकरण (कर्मप्रकृति)। अट्ठकरणकी चूर्णि यह अर्थ तो नहीं होता। फिर कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थका परिमाण बतलानेके लिए अपनी कृतियोंके सिवाय अन्य कृतिका निर्देश क्यों करेगा। अत पं० जीने तिलोयपण्णत्तीकी अन्तिम गाथाके स्वकल्पित अर्थके आधारपर जो कर्मप्रकृतिचूर्णिको यतिवृषभकी कृति बतलाया है वह ठीक नहीं है। इसी तरह सत्तरीचूर्णि तथा शतकचूर्णि भी यतिवृषभकृत नहीं हैं। इस पर विशेष प्रकाश चूर्णियोंके कर्तृत्वके विवेचनके समय डाला जायेगा।

चूर्णिसूत्रोकी विषयवस्तु

आचार्य गुणधररचित गाथासूत्रोपर आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोकी रचना की है। अत चूर्णिसूत्रोका भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय वही है, जो कषायपाहुडका है। किन्तु आचार्य गुणधरने अपने पृच्छात्मक गाथासूत्रोमें जो जिज्ञासाए मात्र व्यक्त की थी या जिन विषयोकी सूचनामात्र की थी उन सबको चूर्णिसूत्रकारने भी सक्षेपमे ही कहनेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिए आचार्य गुणधरने एकमात्र गाथा (२२) के द्वारा आदिके चार अधिकारोका निर्देशमात्र किया है। किन्तु यतिवृषभने उस एक गाथाका अवलम्बन लेकर चारो अधिकारोका कथन किया है। सबसे प्रथम उन्होने गाथाका पदच्छेद किया है—'पयडीए मोहणिज्जा विहत्ति' इस पदमे प्रकृतिविभक्ति नामक पहला अर्थाधिकार है। 'तह ट्ठिदी' से स्थितिविभक्ति दूसरा अर्थाधिकार है। 'अणुभागे' मे अनुभागविभक्ति तीसरा अर्थाधिकार है। 'उक्कस्समणुक्कस्स'से प्रदेशविभक्ति चतुर्थ अर्थाधिकार है। 'क्षीणाक्षीण' पाचवां अर्थाधिकार है और 'स्थित्यन्तक' छठा है। प्रकृतिविभक्तिके दो भेद है—मूलप्रकृतिविभक्ति और उत्तरप्रकृतिविभक्ति। मूलप्रकृतिविभक्तिके आठ अनुयोगद्वार है—स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचय, काल, अन्तर, भागाभाग, अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोका कथन करनेपर मूलप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है। इसके पश्चात् उत्तरप्रकृतिविभक्ति दो प्रकारकी है-—एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति और प्रकृतिस्थानउत्तरप्रकृतिविभक्ति। उनमेंसे एकैकउत्तर प्रकृतिविभक्तिके ये अनुयोगद्वार है—एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भगविचयानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, सन्निकर्ष और अल्पबहुत्व। इन अनुयोगद्वारोके कहने पर एकैकउत्तरप्रकृतिविभक्ति समाप्त होती है।

इस तरह चूर्णिसूत्रकारने गुणधराचार्यके द्वारा सूचित आद्य अधिकारोका विवेचन किया है। उक्त अनुयोगद्वार आगमिक परम्पराकी देन है। उनके द्वारा किसी भी वर्ण्य वस्तुका विवेचन करनेसे उसके विषयमें पूरी जानकारी प्राप्त हो जाती है।

प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिसूत्रकारने पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार। आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है। नामके छह भेद, प्रमाणके सात भेद, वक्तव्यताके तीन भेद और अर्थाधिकार केपन्द्रह भेद है।

तिलोयपण्णत्तिके प्रारम्भमें कहा है—

जो ण पमाण-णएहि णिक्खेवेण णिरक्खदे अत्थ ।
तस्साजुत्त जुत्त जुत्तमजुत्त च पडिहादि ॥८२॥

अर्थात् जो नय, प्रमाण, निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नही करता, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त प्रतीत होता है ।

इस आचार्यपरम्परासे आगत न्यायको दृष्टिमें रखकर चूर्णिसूत्रोमें भी तदनुसार कथन किया है । प्रथम गाथामें आगत 'कसायपाहुड' शब्दपर चूर्णिसूत्र द्वारा कहा गया है—उस पाहुडके दो नाम हैं—पेज्जदोसपाहुड और कसायपाहुड । पेज्जदोसपाहुडनाम अभिव्याहरण निष्पन्न है और कसायपाहुडनाम नयनिष्पन्न है । पेज्जका निक्षेप करते हैं—नामपेज्ज, स्थापनापेज्ज, द्रव्यपेज्ज, भावपेज्ज । नैगम, सग्रह, व्यवहारनय सब निक्षेपोको स्वीकार करते है । ऋजसूत्रनय स्थापना-को छोडकर शेप तीनको स्वीकार करता है । शब्दनय नामनिक्षेप और भावनि-क्षेपको स्वीकार करता है ।

इसी तरह दोस कसाय और पाहुडमें भी निक्षपोकी योजना करके उनमें नयकी योजना की है ।

पाहुडशब्दकी निरुक्ति 'पदेहि पुद' की है अर्थात् पदोसे स्फुट होनेसे प्राभृत कहते हैं ।

प्रकृतिविभक्तिका कथन करते हुए विभक्तिका निक्षेप किया है—नामविभक्ति, स्थापनाविभक्ति, द्रव्यविभक्ति, क्षेत्रविभक्ति, कालविभक्ति, गणनाविभक्ति सस्थानविभक्ति और भावविभक्ति । विभक्तिका अर्थ करते हुए कहा हैं—तुल्य-प्रदेशी द्रव्य तुल्यप्रदेशी द्रव्यका अविभक्ति है और वही द्रव्य असमानप्रदेशी द्रव्यका विभक्ति हैं अर्थात् विभक्तिका अर्थ असमानता हैं ।

प्रकृतिविभक्तिके अन्तर्गत प्रकृतिस्थानविभक्तिका कथन करते हुए मोहनीय कर्मके पन्द्रह प्रकृतिसत्वस्थान कहे है—२८, २७, २६, २४, २३, २२, २१, १३, १२, ११, ५, ४, ३, २ १ । चूर्णिसूत्रकारने इनका कथन एकसे किया है । किन्तु यहाँ हम मोहनीयकर्मके इन सत्वस्थानोको इसी क्रमसे लिख रहे जिस क्रमसे ऊपर कहे हैं । उससे पाठक यह जान सकेंगे कि मोहनीयकर्मका क्षय किस क्रमसे होता है ।

मोहनीयकर्मकी उत्तरप्रकृतियाँ अठाईस है । जिसके सव प्रकृतियोकी सत्ता है वह अट्ठाईस प्रकृतिस्थान विभक्तिवाला है । ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्या-दृष्टि या मिथ्यादृष्टि होता है । उनमेंसे सम्यक्त्वप्रकृतिकी उद्वेलना करने वाला जीव मिथ्यादृष्टि होता है । उसके सत्ताईस प्रकृतियोकी सत्ता होती है । उनमेंसे सम्यक्मिथ्यात्वकी उद्वेलना करने वाला सादिमिथ्यादृष्टिजीव या

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव छब्बीस प्रकृतियोकी सत्ता वाला होता है। अठाईस प्रकृतियोमेसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका विसंयोजन करने वाला सम्यग्दृष्टि चौबीस प्रकृतियोकी सत्ता वाला होता है। मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृति तथा सम्यमिथ्यात्वप्रकृतिके शेष रहने पर मनुष्य सम्यग्दृष्टि तेईस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। मिथ्यात्व तथा सम्यक् मिथ्यात्वका क्षय होने पर और सम्यक्त्वप्रकृतिके शेष रहने पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य बाईस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। दर्शनमोहनीयका क्षय करने वाला जीव इक्कीस प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। नौवें गुणस्थानमे अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभका क्षपण करने वाला सयमी मनुष्य तेरह प्रकृतियोकी विभक्ति वाला होता है। फिर उसी गुणस्थानमें नपुंसकवेदका क्षय करनेपर बारह प्रकृतियोंकी, स्त्रीवेदका क्षय करने पर ग्यारह प्रकृतियोकी, छह नोकपायोका क्षय करनेपर पांच प्रकृतियोकी, पुरुषवेदका क्षय करनेपर चार प्रकृतियोकी, तथा क्रमसे सज्वलन क्रोध, मान और मायाका क्षय करनेपर तीन, दो और एक विभक्ति वाला होता है। एक विभक्ति वालेके केवल एक सज्वलनलोभकपाय शेष रहती है। इसका विनाश कृष्टिकरणके द्वारा किया जाता है।

चूर्णिसूत्रकारने इन्ही प्रकृतियोके स्थितिसत्व, अनुभागसत्व, प्रदेशसत्व आदिका कथन अनुयोगद्वारोसे किया है। किन्तु उन्होने सभी अनुयोगद्वारोका कथन नही किया। जहाँ जिनका कथन आवश्यक समझा वहाँ उनका कथन किया है। समस्त कथन इतना अधिक परिभाषाबहुल है कि कर्मसिद्धान्तके अभ्यासी पाठकके लिये भी दुरूह है। उस सबका परिचय कराना भी कष्टसाध्य है। फिर भी कुछ कम दुरूह विषयोका परिचय कराते है—

बन्धक अधिकारमें आगत सक्रम-अधिकारमें मोहनीयके उक्त २८ आदि प्रकृतिस्थानोके सक्रम पर भी विचार किया गया है। प्रत्येक प्रकृतिसत्वस्थानकी प्रकृतिया बतलानेके साथ किस स्थानका सक्रम होता है और किसका नही होता इसका स्पष्टीकरण किया है।

इस सक्रम-अधिकारको आचार्य गुणधरने भी विस्तारसे लिखा है और चूर्णिसूत्रकारने भी उसे यथानुरूप स्पष्ट किया है। इसके स्पष्टीकरणके लिये उन्होने स्थानसमुत्कीर्तन, सर्वसक्रम, नोसर्वसक्रम, उत्कृष्टसक्रम, अनुत्कृष्टसक्रम, जघन्यसंक्रम, अजघन्यसक्रम, सादिसक्रम, अनादिसक्रम, ध्रुवसक्रम, अध्रुवसक्रम, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्व, काल, अन्तर, नाना जीवोकी अपेक्षा भंगविचय, काल, अन्तर, सन्निकर्ष, अल्पबहुत्व, भुजकार, पदनिक्षेप और वृद्धि अनुयोगद्वार सूचित किये है। किन्तु विवेचन केवल स्थानसमुत्कीर्तन, काल अन्तर और अल्पबहुत्व-

का ही किया है। प्रकृतिसंक्रमकी तरह ही स्थितिसंक्रम, अनुभागसक्रम, और प्रदेशसक्रमका कथन किया है।

सक्रमके पश्चात् वेदक अधिकार है। इसमें आचार्य गुणधरने जो आशकासूत्र उपस्थित किये है उन सबका विवेचन चूर्णिसूत्र द्वारा किया गया है। वेदकके दो अनुयोगद्वार हैं—उदय और उदीरणा। पहली गाथा प्रकृति-उदीरणा और प्रकृति-उदयसे सम्बद्ध है। आगेकी गाथाएँ उदीरणासे सम्बद्ध होनेसे चूर्णिसूत्रकारने उदीरणाका ही कथन विस्तारसे किया है। अनुयोगद्वारोका क्रम आवश्यकतानुसार परिवर्तनसे सर्वत्र चलता है।

आगे उपयोगाधिकारमें आशङ्कासूत्रोको स्पष्ट करते हुए प्रत्येक कषायका उपयोगकाल अन्तर्मुहूर्त कहा है अर्थात् क्रोध आदिकी ओर उपयोग अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है। गाथामें पूछा गया है कि किस कषायका उपयोग काल किस कषायके उपयोगकालसे अधिक है? इसके समाधानमें चूर्णिसूत्रकारने कहा है कि क्रोध कषायका काल मानकषायसे अधिक है। मायाकषायका काल क्रोध-कषायसे अधिक है। लोभकषायका काल मायाकषायसे अधिक है। यह कथन गतिको लेकर भी किया है। जैसे नरक गतिमें लोभकषायका काल सबसे कम है। देवगतिमें क्रोधका काल नरकगतिके लोभके कालसे अधिक हैं आदि। कषायोंके अध्ययनके लिये यह अधिकार बहुत उपयोगी है।

सम्यक्त्व-अधिकारमें चूर्णिसूत्रकारने अध करण अपूर्वकरण, और अनिवृत्ति-करणका कथन किया है। इनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नही होती। दर्शनमोह-क्षपणामें उसके प्रस्थापकका स्वरूप विस्तारसे कहा है। उसमें सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थितिकी सत्ताके सम्बन्धमें दो मतोका भी निर्देश चूर्णिकारने किया है। कहा है कितने ही आचार्य कहते है कि उस समय (अर्थात् सम्यक्मिथ्यात्वके एक आवली प्रमाण स्थितिसत्व शेष रहने पर) सम्यक्त्वप्रकृतिकी स्थिति सख्यात हजार वर्ष शेष रहती है। किन्तु प्रवाह्यमान उपदेशसे आठ वर्ष प्रमाण शेष रहती है। अन्तिम दो अधिकारोमें चारित्रमोहकी उपशमना और क्षपणाके सम्बन्धमें विपुल सामग्री भरी हुई है। लिखा है—वेदक सम्यग्दृष्टि जीव अनन्तनुबन्धी कषायका विसयोजन किये बिना शेष कषायोका उपशम करनेमें प्रवृत्त नही हो सकता। अनन्तानुबन्धीका विसयोजन करने पर अन्तर्मुहूर्त काल तक अधःप्रवृत्त रहता है। फिर दर्शनमोहनीयका उपशम करके कषायोका उपशम करनेके लिये अध प्रवृत्तकरण करता है। चूर्णिसूत्रमें प्रश्न किया गया है कि उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ अवस्थित परिणामवाला होने पर भी क्यो गिरता है। उत्तर दिया है कि उपशमकालका क्षय हो जानेसे गिरता है। आगे उसका विस्तारसे कथन किया है।

इसी तरह चारित्रमोहक्षपणा नामक अन्तिम अधिकारमें सर्वप्रथम उसके प्रस्थापकका कथन किया है। फिर उसकी विशेष क्रियाका कथन किया है। अन्तमें कृष्टिवेदकक्रियाका कथन है। पुन कृष्टिक्षपणक्रियाका कथन है।

चूर्णिसूत्रोके अन्तमें उक्त पन्द्रह अर्थाधिकारोसे अतिरिक्त एक पश्चिम स्कन्धाधिकार विशेष है। इसमें कहा है कि सयोगकेवली अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर पहले आवर्जित करण करते है, उसके बाद केवली समुद्घात करते है। इस तरह इसमे केवलीसमुद्घातका कथन है। केवलीसमुद्घातके अनन्तर सयोग-केवली सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानको करते है। फिर अयोगकेवली होकर समुच्छिन्नक्रियाअनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानको ध्याकर एक समयमें मुक्ति स्थान पहुच जाते हैं।

नीचे हम चूर्णिसूत्रोकी सख्या अधिकारानुसार देते हैं—

अधिकारके क्रमसे चूर्णिसूत्रोकी सख्या

१	पेज्जदोसविहत्ती	११२
२	प्रकृतिविभक्ति	१३०
३	स्थितिविभक्ति	४०७
४	अनुभागविभक्ति	१८९
५	प्रदेशविभक्ति	२९२
	झीणाझीण	१४२
	स्थित्यन्तिक	१०६
६	बन्धक	११
	सक्रम	७४०
७	वेदक	६६८
८	उपयोग	३२१
९	चतुस्थान	२५
१०	व्यञ्जन	०
११	सम्यक्त्व	१४०
	दर्शनमोहक्षपणा	१२८
१२	सयमासयमलब्धि	९०
१३	सयमलब्धि	६६
१४	चारित्रमोहोपशमना	७०६
१५	चारित्रमोहक्षपणा	१५७२
	पश्चिमस्कन्ध	५२

तृतीय अध्याय

मूलागम-टीकासाहित्य

प्रथम परिच्छेद

धवला-टीका

कसायपाहुड और छक्खंडागम पर विशाल टीकाएँ लिखी गयी हैं। यह टीका-साहित्य अपने गुण और परिमाण दोनो ही दृष्टियोसे इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसे ग्रन्थोकी सज्ञाएँ प्राप्त हैं। किसी भी विषयका टीका-साहित्य तब लिखा जाता है जब मूल ग्रन्थोका ज्ञान लुप्त होने लगता है और आगमकी वशवर्तिता अनिवार्य हो जाती है। दिगम्बर परम्परामें उक्त दोनो मूलागमोपर आचार्य कुन्दकुन्दसे ही टीकाएँ लिखी जाने लगी थी। शामकुण्ड, तुम्बूलराचार्य, वप्पदेव वीरसेन आदि अनेक आचार्योंने टीकाएँ लिखी।

इन्द्रनन्दिने[1] अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि वप्पदेवके पश्चात् कुछ काल बीत जानेपर सिद्धान्तोके रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूटके निवासी थे। इनसे आचार्य वीरसेनने सकल सिद्धान्तका अध्ययन किया। तत्पश्चात् गुरुकी अनुज्ञासे वाटकग्रामके आनतेन्द्र जिनालयमें षट्खण्डसे पहले व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त कर आगेके बन्धन आदि अठारह अधिकारोके द्वारा 'सत्कर्म' नामक छठे खण्डकी रचना की। और इसको पहलेके पाँच खण्डोमें मिलाकर छह खण्ड किये।

धवला-टीका नामकरण

वीरसेनने पूर्वोक्त छह खण्डो पर बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण सस्कृतमिश्रित प्राकृत-भाषामें 'धवला' नामक टीका लिखी। इस टीकाके नामकरणका कारण यह प्रतीत होता है कि अमोघवर्षकी उपाधि 'धवल' होनेके कारण इस टीकाका नाम उनकी स्मृतिमें रखा गया है। दूसरी बात यह है कि यह टीका अत्यन्त विशद और स्पष्ट है, इसी कारण इसे 'धवला' कहा गया ज्ञात होता है। तीसरी बात यह है कि यह टीका कार्त्तिक मासके धवल—शुक्ल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी, अतएव सम्भव है कि इसी निमित्तसे उक्त नामकरण हुआ है।

---

१ श्रुतावतार, पद्य १७७—१८४।

महत्त्व

जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेनके शिष्य जिनसेनने लिखा[1] है—'टीका तो वीरसेनकृत है बाकी तो या तो पद्धति कहे जानेके योग्य है या पंजिका कहे जानेके योग्य है' जिनसेनाचार्यका उक्त कथन कोरा श्रद्धा-भक्ति मूलक नहीं है किन्तु उसमें यथार्थता है। और उसका अनुभव सिद्धान्तके पारगामी ही नहीं साधारण ज्ञाता भी धवला और जयधवला टीकाके अवलोकनसे सरलता पूर्वक कर सकते हैं। इतनी बृहत्काय और शुद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओंसे परिपूर्ण अन्य टीका जैन परम्परामें तो दूसरी है नहीं, भारतीय साहित्यमें भी नहीं है। फिर ये टीकाएँ तो प्राकृत-गद्यमें निबद्ध हैं, जिनके बीचमें कहीं-कहीं संस्कृत[2] की भी पुट है और वह ऐसी शोभित होती है जैसे मणियोंके मध्यमें मूंगे-के दाने।

जिनसेनके अनुसार सम्पूर्ण श्रुतकी व्याख्याको अथवा श्रुतकी सम्पूर्ण व्याख्याको टीका[3] कहते हैं। यह लक्षण वीरसेनकृत टीकाओंमें पूरी तरहसे घटित होता है। सम्भवतया वीरसेनकी टीकाको देखकर ही जिनसेनने टीकाका उक्त लक्षण बनाया जान पड़ता है। सचमुचमें धवला और जयधवला जैन सिद्धान्त-की चर्चाओंका आकर है। महाकर्मप्रकृतिप्राभृत और कषायप्राभृत सम्बन्धी जो ज्ञान वीरसेनको गुरुपरम्परासे तथा उपलब्ध साहित्यसे प्राप्त हो सका वह सब उन्होंने अपनी दोनों टीकाओंमें निबद्ध कर दिया है और इस तरह-से उनकी ये दोनों टीकाएँ एक प्रकारसे दृष्टिवादके अंगभूत उक्त दोनों प्राभृतोंका ही प्रतिनिधित्व करती हैं। वे मूल षट्खण्डागम तथा चूर्णिसूत्र सहित कसायपाहुडका ऐसा अंग बन गईं और उन्होंने उन्हें ऐसा आत्मसात् कर लिया कि उन्होंने अपना २ स्त्रीलिंगत्व छोड़कर सिद्धान्तका पुल्लिंगत्व स्वीकार कर लिया और षट्खण्डागम सिद्धान्त धवलसिद्धान्तके नामसे तथा कसायपाहुड सिद्धान्त जयधवलसिद्धान्त के नामसे ख्यात हो गया। और इन्हीं नामोंसे उनका[4] उल्लेख किया जाने लगा। इतना ही नहीं, किन्तु जो धवलटीकाके साथ षट्खण्डागम सिद्धान्तका पारगामी होता था उसे सिद्धान्तचक्रवर्तीके पदसे भी भूषित किया जाने लगा। ऐसी महत्त्वपूर्ण ये दोनों वीरसेनीया टीकाएँ हैं।

---

१. 'टीका श्रीवीरसेनीया शेषा पद्धति पंजिका ॥३९॥'—ज० ध० प्रश०

२. 'प्राय. प्राकृतभारत्या क्वचित्संस्कृतमिश्रया। मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽयं ग्रन्थ-विस्तर ॥३७॥' ज० ध० प्र०

३. 'कृत्स्नाकृत्स्नश्रुतव्याख्ये ते टीकापञ्जिके स्मृते ॥४०॥ ज० ध० प्रश०।

४. 'णउ बुज्झिउ आयमसद्दधामु। सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥'—म० पु० प्रा०।

प्रामाणिकता

इन टीकाग्रन्थोको इतना महत्त्व मिलनेका कारण वीरसेनका बहुश्रुत होना तो है ही, जिसका परिचय धवला तथा जयधवलाकी प्रत्येक पक्तिसे मिलता है, साथ ही वीरसेनकी प्रामाणिकता भी उसका एक कारण है। वीरसेन स्वामीको जो कुछ प्राप्त हुआ उसे उन्होने अपनी शैलीमें ज्यो-का-त्यो निवद्ध कर देना ही उचित समझा। जिन विषयो पर उन्हें दो प्रकारके मत मिले, उनपर उन्होने दोनो परस्पर विरोधी मतोको ज्यो-का-त्यो दे दिया और किसी एक पक्षमें अपना मत अथवा झुकाव व्यक्त नही किया। इस तरहके उदाहरण दोनो टीकाओमें वहुतायतसे मिलते है। यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—उससे ग्रन्थकारकी निर्मलताके साथ-ही-साथ जैनपरम्पराको प्रामाणिक बनाये रखनेकी प्रकृति पर भी प्रकाश पडता हैं।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवर्ती जीव सतकम्मपाहुडके अनुसार पहले सोलह कर्मप्रकृतियोका क्षय करके तव आठ कषायोका क्षय करता हैं और कसाय-पाहुडके अनुसार पहले आठ कपायोको क्षय करके पश्चात् सोलहका क्षय करता है। इसके सम्बन्धमें वीरसेन स्वामीने जो लिखा है, सम्वद्ध सैद्धान्तिक चर्चाको छोडकर उसका संक्षिप्त आशय यहा दिया जाता है—

"[1]शङ्का—दोनो वचनोमेंसे कोई एक वचन ही सूत्ररूप हो सकता है क्योकि जिन अन्यथावादी नही होते। अत उनके वचनोमें विरोध नही होना चाहिये ?

समाधान—आपका कहना ठीक है किन्तु ये दोनो जिनेन्द्रके वचन न होकर उनके पश्चात् हुए आचार्योंके वचन हैं। इसलिये उनमें विरोध होना सभव है।

शका—तो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सतकम्मपाहुड और कसायपाहुड सूत्र कैसे हुए ?

समाधान—तीर्थङ्करोके द्वारा अर्थरूपसे प्रतिपादित और गणधरोके द्वारा ग्रन्थरूपमें रचित बारह अग आचार्यपरम्परासे निरन्तर चले आते थे। परन्तु कालके प्रभावसे वुद्धिके उत्तरोत्तर क्षीण होने पर और उन अगोको धारण करने वाले योग्य पात्रके अभावमें वे उत्तरोत्तर क्षीण होते गये। इसलिये आगे श्रेष्ठ बुद्धि वाले पुरुषोंका अभाव देखकर, अत्यन्त पापभीरू और गुरु-परम्परासे श्रुतार्थको ग्रहण करने वाले आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे अवशिष्ट वचे श्रुतको पोथियोमें लिपिवद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना होनेका विरोध है।

---

१ षट्ख० पु० १, पृ० २१७–२२२।

शका—यदि ऐसा है तो उक्त दोनो ही कथनोको द्वादशागका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त होता है ?

समाधान—उन दोनोमेंसे कोई एकको सूत्रपना भले ही प्राप्त हो, किन्तु दोनोको सूत्रपना नही प्राप्त हो सकता, क्योकि उन दोनोमे परस्पर विरोध पाया जाता है।

शका—तव सूत्रविरुद्ध लिखनेवाले आचार्यको पापभीरु कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—यह आपत्ति ठीक नही है, क्योकि उक्त दोनो कथनोमेंसे किसी एक ही कथनका सग्रह करनेपर पापभीरुता नही रहती। किन्तु उक्त दोनो कथनोका सग्रह करने वाले आचार्योके पापभीरुता नष्ट नही होती।

शका—उक्त दोनो वचनोमेंसे कौन वचन सत्य है ?

समाधान—इस बातको तो केवली अथवा श्रुतकेवली ही जान सकते है, दूसरा कोई नही जान सकता। अत उसका निर्णय न होनेसे वर्तमान कालके पाप भीरू आचार्योको दोनो ही वचनोका सग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा।

इस प्रकारके पापभीरू आचार्यके कथनमें अप्रामाणिकताकी अशका नही की जा सकती।

व्याख्यान शैली

षट्खण्डागमके सूत्र अल्पाक्षर होने पर भी असन्दिग्ध है—पढते ही शब्दार्थ-का वोध हो जाता है। किन्तु उनमें जो सार भरा हुआ है उसका तो आभास भी साधारण पाठकको नही हो पाता। अत. वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकाके द्वारा सूत्रोके शब्दार्थको न कहकर उनमें भरे हुए सारको ही प्रकट किया है। किन्तु वह सार-उद्घाटन भी ऐसा है कि उससे सूत्रगत प्रत्येक शब्दकी स्थिति स्वत स्पष्ट हो जाती है और यदि क्वचित् कदाचित् किसी सूत्रमें कोई शब्द भूलसे छूट गया हो तो विचारशील पाठकको यह प्रतिभास हुए विना नही रहता कि अमुक शब्द यहाँ छूट गया है। इसका एक उदाहरण दे देना उचित होगा।

धवलासहित षट्खण्डागमकी जो प्रतिलिपि मूडविद्रीसे बाहर गई उसमें जीवट्ठाणके सतप्ररूपणा अनुयोगद्वारके ९३ वें सूत्रमे 'सजद' शब्द लिखनेसे छूट गया। किन्तु वीरसेन स्वामीकी टीकाके अनुशीलनसे वह बराबर प्रकट होता है कि सूत्रमें 'सजद' शब्द छूटा हुआ है। बादको जब मूडविद्री

की ताडपत्रीय प्रतिसे मिलान करनेकी सुविधा प्राप्त हुई तो उसमें 'सजद' शब्द पाया गया।

धवलाकी व्याख्यानशैलीपर प्रकाश डालनेकी दृष्टिसे यहाँ उस[1] तिरानवे सूत्रकी टीकाका अर्थ दिया जाता है। वह टीका सस्कृतमें है। यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि यद्यपि धवलाटीका सस्कृतमिश्रित प्राकृत-भापामें निवद्ध है तथापि सत्प्ररूपणाके सूत्रोका व्याख्यानसस्कृतभाषा प्रधान है। अस्तु,

'सम्यक्‌मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, सयतासयत और सयत गुण-स्थानोमें मानुषी नियमसे पर्याप्तक होती है ॥९३॥ यह सूत्रार्थ है। इसकी टीकाका अर्थ इस प्रकार है—

शका—हुण्डावसर्पिणी कालमें सम्यग्दृष्टी जीव स्त्रियोमें क्या नही उत्पन्न होते ?

समाधान—नही उत्पन्न होते।

शका—यह किस प्रमाणसे जाना ?

समाधान—इसी आर्पसे जाना।

शका—इसी आर्पसे तो द्रव्यस्त्रियोका मोक्ष जाना भी सिद्ध हो जायेगा ?

समाधान—नही, क्योकि वस्त्रसहित होनेसे उनके सयतासयत गुणस्थान होता है अतएव उनके सयम उत्पन्न नही होता।

शका—वस्त्रसहित होते हुए भी उन द्रव्यस्त्रियोके भावसंयमके होनेमें कोई विरोध नही होना चाहिये ?

समाधान—उनके भावसयम नही है, यदि उनके भावसयम होता तो भावअसयमके अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण करना सभव नही था।

शका—स्त्रियोमें चौदह गुणस्थान कैसे हो सकते है ?

१—'सामामिच्छाइट्ठी-असजदसम्माइट्ठि-सजदासजदट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥९३॥

हुण्डावसर्पिण्या स्त्रीपु सम्यग्दृष्टय किन्नोत्पद्यन्ते इति चेत्, नोत्पद्यन्ते। कुतोऽवसीयते ? अस्मादेवार्पात्। अस्मादेवार्पात् द्रव्यस्त्रीणा निर्वृ॑ति सिद्धयेदिति चेन्न, सवासत्वादप्रत्याख्यानगुणास्थिताना सयमानुपपत्तें। भावसयमस्तासा सवाससामप्य-विरुद्ध इति चेत्, न तासा भावसयमोऽस्ति भावासयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानु-पपत्तेः। कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेन्न, भावस्त्रीविशिष्टमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। भाववेदो वादरकषायान्नोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानाना सम्भव इति चेन्न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात्। गतिस्तु प्रधाना न साराद् विनश्यति। वेदविशेपणाया गतौ न तानि सभवतीति चेन्न, विनष्टेऽपि विशेपणे उपचारेण तद्व्यपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्। मनुष्यापर्याप्तेष्वपर्याप्तिप्रतिपक्षाभावत सुगमत्वान्न तत्र वक्तव्यमस्ति ॥ षट्‌ख, धव० पु० १, पृ ३३२–३३३।

समाधान—भावस्त्री अर्थात् स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोका सत्त्व माननेमे कोई विरोध नही है।

शका—नौवें गुणस्थानके ऊपर भावभेद नही पाया जाता, अत स्त्रीवेदके उदयसे युक्त मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थान सभव नही है ?

समाधान—यहाँ वेदकी प्रधानता नही है। गतिकी प्रधानता है और वह पहले नष्ट नही होती।

शका—फिर भी वेदविशिष्ट गतिमें तो चौदह गुणस्थान सभव नही हुए ?

समाधान—वेदविशेषणके नष्ट हो जाने पर भी उपचारसे स्त्री पुरुष आदि सज्ञाको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें चौदह गुणस्थानोके होनेमें कोई विरोध नही आता।

उक्त चर्चा जैन सिद्धान्तकी मान्यताओसे सम्बद्ध होनेके साथ-ही-साथ दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्वके मूलकारण वस्त्र और स्त्रीमुक्ति सम्बन्धी विवादसे सम्बद्ध है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको मोक्ष मानता है, दिगम्बर सम्प्रदाय नही मानता है। किन्तु उक्त सूत्रमें मानुषीके चौदह गुणस्थान वतलाये है। इसीपरसे उसकी टीकामें उक्त विवादको स्थान दिया गया है। चौदह गुणस्थान होनेका मतलब ही मोक्षलाभ है क्योकि चौदहवें गुणस्थानको प्राप्त करनेके पश्चात् ही मुक्तिलाभ होता है।

इसीसे टीकामें शंका की गई है कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रियोको भी मोक्ष सिद्ध हो जायेगा, क्योकि मानुषीके चौदह गुणस्थान ९३ वें सूत्रमें वतलाये है। किन्तु गुणस्थानोकी तरह मार्गणाएं भी भावप्रधान है उनमें भी भावकी मुख्यता है। अत मानुषीसे आशय उस मनुष्यसे है जिसके शरीरसे पुरुष होते हुए भी अन्तरगमें स्त्रीवेदका उदय है। उसे ही भावस्त्री कहते है और स्त्री-शरीरधारीको द्रव्यस्त्री कहते है। भावस्त्रीके ही चौदह गुणस्थान होते है, द्रव्यस्त्रीके नही।

श्वेताम्वरीय शास्त्रोके अनुसार भी सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रीपर्यायमें जन्म नही लेता। जैन कर्मसिद्धान्तका यह एक सर्वसम्मत नियम है। किन्तु वाइसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथको श्वेताम्वर परम्परामें स्त्री माना है। तीर्थङ्कर प्रकृतिका वन्ध सम्यग्दृष्टिके ही होता है तथा तीर्थङ्कर होने वाला जीव सम्यक्त्वके साथ ही जन्म लेता है। अत इस सिद्धान्तके अनुसार कोई तीर्थङ्कर स्त्री नही हो सकता। किन्तु श्वेताम्वर परम्परामें ऐसा मान लिया गया और उसे हुण्डावसर्पिणी कालका दोष[1] माना है। उसीको लक्ष्में रखकर वीरसेन स्वामीने

[1] 'दसअच्छेरा पण्णत्ता–उवसग्ग गब्भहरण इत्थी तित्थं'। स्था १० ठा।

प्रारम्भमें ही यह शका उठाई है कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियं
उत्पन्न नही होता।

श्वेताम्वरीय[1] टीकाकारोने भी कर्मसिद्धान्तके उक्त
अपनी उक्त मान्यताके साथ वैठानेके लिए उसमें अपवाद
सम्यग्दृष्टि स्त्रीनपुंसकोमें उत्पन्न नही होता, यह वहुत
कदाचित् हो भी जाता है। किन्तु पञ्चसग्रहकारने इस तथोक्त
नहीं की। यह उल्लेखनीय है। अस्तु,

इस तरह श्री वीरसेन स्वामीने अपनी धवलाटीकामें प्रत्ये
करते हुए उससे सम्वद्ध सैद्धान्तिक चर्चाओका उपपादन कर
किया है और गूढ-से-गूढ विपयको सरलरूपसे स्पष्ट किया है

विषय-परिचय

यों तो पट्खण्डागमके विपय-परिचयसे धवलाका विप
जाता है क्योकि वह उसकी टीका है तथापि सात हजार सूत्रों
श्लोक प्रमाण टीकामें ऐसी भी वहुत-सी प्रासगिक चर्चा
ग्रन्थके विपय-परिचयमें आभास नही हो मकता। साथ ही जि
का प्रारम्भ किया गया है उसका परिचय कराना भी उचित है

जिन, श्रुतदेवता, गणधरदेव, घरसेन, पुष्पदन्त और भूत
करनेके पश्चात् प्रथम सूत्रकी उत्थानिकाके रूपमें वीरसेनने ए

> मगल-णिमित्त-हेऊ परिमाण णाम तह य कत्त
> वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइ

इसमें कहा है कि मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम
वातोका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका
चाहिये। इसे वीरसेनस्वामीने आचार्य परम्परासे आगत
इसलिए सवसे प्रथम उक्त छै वातोका कथन अपनी धवला
किया है। वीरसेन स्वामीसे पहले तिलोयपण्णत्ति में ही उक्त

---

१ 'मणुस्सेसु सम्मद्दिट्ठी इत्थीनपु सगेसु न उववज्जइ त्ति प्राचुर्यवच
भवति'-सि चू, पृ ४३।

'तिर्यग् मनुष्येपु स्त्रीवेद-नपु सकवेदिपु मध्येऽविरतसम

सूत्रोमें ही उस प्रकारका कथन है। उन्होने जो गाथा उद्धृत की है वह दि० प्राकृत पञ्चसग्रहके जीवसमासनामक प्रथम प्रकरणकी दूसरी गाथा है। और जीवससासप्रकरणमें वीसो प्ररूपणाओका कथन है। सम्भवतया उसीके अवलम्बनसे वीरसेन स्वामीने बीस प्ररूपणाओका विस्तारसे निरूपण किया है। यह विस्तार अवश्य ही उनकी प्रतिभाका चमत्कार हो सकता है।

जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणनामक अनुयोगद्वारके व्याख्यानको आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने जो मंगलाचरण किया है उसमें 'दव्वणिओग गणियसारं' लिखकर द्रव्यानुयोगको गणितसार कहा है। चूंकि इस अनुयोगद्वारमें जीवोकी सख्याका वर्णन है अत' इसमें गणितकी प्रधानता है। स्व० डा० अवधेश नारायण-सिंहका एक अंग्रेजी निबन्ध षट्खण्डागमकी चतुर्थ पुस्तकके आदिमें प्रकाशित हुआ है और पाँचवी पुस्तककी आदिमें उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उसमे गणितके उक्त अधिकारी विद्वान्ने लिखा है—

'वीरसेन तत्त्वज्ञानी और धार्मिक दिव्य पुरुष थे। वे वस्तुत. गणितज्ञ नही थे। अत जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवलाके अन्तर्गत है वह उनसे पूर्ववर्ती लेखकोकी कृति कही जा सकती है और मुख्यतया पूर्वगत टीकाकारोकी। जिनमेंसे पाँचका इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें उल्लेख किया है। ये टीकाकार कुन्द-कुन्द, शामकुन्ड, तुंबुलूर, समन्तभद्र और वप्पदेव थे, जिनमेंसे प्रथम लगभग सन् २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुये। अत धवलाकी अधिकाश गणितशास्त्रीय सम्बन्धी सामग्री सन् २०० से ६०० तकके बीचके समयकी मानी जा सकती है। इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्रके इतिहासकारोके लिए धवला प्रथमश्रेणीका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हो जाता है क्योकि उसमें हमें भारतीय गणितशास्त्रके इतिहासके सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण समय, अर्थात् पाचवी शताब्दीसे पूर्वकी बातें मिलती है। विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि धवलाकी गणितशास्त्रीय सामग्री सन् ५०० से पूर्वकी है। उदाहरणार्थ, धवलामें वर्णित अनेक प्रक्रियाए किसी भी अन्य ज्ञात ग्रन्थमें नही पायी जाती तथा इसमें कुछ ऐसी स्थूलताका आभास भी है जिसकी झलक पश्चात्के भारतीय गणितशास्त्रसे परिचित विद्वानोको सरलतासे मिल सकती है। धवलाके गणितभागमें वह परिपूर्णता और परिष्कार नही है जो आर्यभटीय और उसके पश्चात्के ग्रन्थोमें है।'

विद्वान् लेखकने धवलान्तर्गत गणितशास्त्रके सम्बन्धमें अपने लेखमें विस्तारसे प्रकाश डाला है। अत यहा उसकी विशेष चर्चा नही की है।

क्षेत्रप्रमाणका कथन करते हुए कहा है कि जगतश्रेणीके घनको लोक

कहते हैं और सात राजु प्रमाण आकाशके प्रदेशोकी लम्बाईको जगतश्रेणी कहते है। तथा तिर्यग्लोकके मध्यम विस्तारको राजू कहते है। इस पर यह शका की गई है कि तिर्यग्लोकका अन्त स्वयभुरमण समुद्रकी वेदिकासे उस ओर कितना स्थान जाकर होता है ? तो उत्तर दिया गया है कि असख्यात द्वीपो और समुद्रोके व्याससे जितने योजन रुके हुए है उनसे सख्यातगुणा जाकर तिर्यग्लोकका अन्त आता है और उसका समर्थन तिलोयपण्णत्तिसे किया गया है। यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रकार अर्थ करनेसे परिकर्मसे भी विरोध नही आता है। तब पुन शका की गई है कि अन्य व्याख्यानोसे तो विरोध आता है ? तो कह दिया कि वे सब व्याख्यानाभास है। उन्हें व्याख्यानाभास सिद्ध करके तथा अन्य एक-दो आपत्तियोका निरसन करके अपने अर्थका समर्थन करनेके पश्चात् वीरसेनने लिखा[1] है—'यद्यपि यह अर्थ पूर्वाचार्योंके सम्प्रदायके विरुद्ध है तथापि आगमके आधार पर और युक्तिके बलसे हमने उसका प्ररूपण किया है। इसलिये इस विपयमें यह इसी प्रकार है ऐसा आग्रह न करते हुए अन्य अभिप्रायका असग्रह नही करना चाहिये क्योकि अतीन्द्रिय पदार्थोंके विपयमें छद्मस्थ जीवोके द्वारा कल्पित युक्तियोको निर्णायक नही माना जा सकता।

इसी तरह क्षेत्रानुगमद्वारमें लोकके आकारको लेकर वीरसेन स्वामीने अपने एक नये अभिप्रायका सयुक्ति स्थापन किया है। लोकका आकर अधोभागमें वेत्रासन, मध्यमें झल्लरी और ऊर्ध्व भागमें मृदगके समान माना गया है। किन्तु धवलाकारने उसे स्वीकार नही किया, क्योकि लोकको सात राजुका घन प्रमाण कहा है और ऐसा आकार माननेसे वह प्रमाण नही आता। इस बातको प्रमाणित करनेके लिये उन्होने अपने गणितज्ञानकी विविध और अश्रुतपूर्व प्रक्रियाओके द्वारा उक्त आकारवाले लोकका क्षेत्रफल निकाला है जो जगतश्रेणीके घन ३४३ राजूसे बहुत कम बैठता है। अत उन्होने लोकका आकार पूर्व पश्चिम दिशामें तो उक्त प्रकारसे घटता-बढता हुआ माना है किन्तु उत्तर दक्षिण दिशामें सर्वत्र सात राजू ही माना है। इस तरह माननेसे उसका क्षेत्रफल ३४३ राजू बैठ जाता है तथा दो दिशाओसे उसका आकार वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके आकार भी दिखाई देता है।

उक्त लम्बी चर्चाका उपसहार करते हुए उन्होने कहा है कि लोकका बाहुल्य सात राजू मानना करणानुयोगसूत्रके विरुद्ध नही है, क्योंकि उसकी न तो

[1] 'एसो अत्थो जइवि पुव्वाइरियसपदायविरुद्धो तो वि तत-जुत्तिबलेण अम्हेहिं परूविदो। तदो इदमित्थ वेत्ति णेहासगहो कायव्वो, अइदियत्थविसए छदुवेत्थवियप्पिदजुत्तीण णिण्णयहेउत्ताणुववत्तीदो।' —षट्ख० पु० ३, पृ० ३८।

विधि है और न निषेध ही है। अत॰ लोकका ऐसा ही आकार मानना चाहिये।[1] स्पर्शनानुगमद्वारमें सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोका स्पर्शक्षेत्र बतलाते हुए प्रसग-वश असंख्यात-द्वीप समुद्रोंके ऊपर फैले हुए ज्योतिष्क देवोका (चन्द्र और उसके परिवाररूप गृह, नक्षत्र आदिका) प्रमाण भी गणितशास्त्रके अनेक करणसूत्रोके द्वारा निकाला गया है। कहावत प्रसिद्ध है कि तारोको कौन गिन सकता है ? उन्ही तारोकी गणना गणितके अनुसार की गई है। (पृ १५०-१६०)

इसी प्रकरणमें द्वीपो और समुद्रोका क्षेत्रफल अनेक गणितसूत्रोके द्वारा पृथक्-पृथक् और सम्मिलित रूपसे निकालनेकी प्रक्रियाएँ दी गई है और यह भी सिद्ध किया है कि इस मध्यलोकमें कितना भाग समुद्रोसे अवरुद्ध है। (भा० ४, पृ० १९४-२०३) इस तरह द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम और स्पर्शनुगम अधिकार गणितशास्त्रकी दृष्टिसेभी महत्त्वके है।

इसी तरह कालानुगममें कालविषयक अनेको शकाओका अपूर्व समाधान किया गया है। जीवस्थानके शेष अनुयोगद्वारोमें भी जैन सिद्धान्त विषयक अनेको चर्चाए चर्चित है। उन सबका सकेत करना भी यहाँ शक्य नही है। चूलिकाके सम्यक्त्वोपत्ति चूलिका नामक अधिकारके सूत्र ११ में कहा है कि अढाई द्वीप समुद्रोमें स्थित पन्द्रह कर्मभूमियोमें जहाँ जिस कालमें जिन केवली और तीर्थङ्कर होते है वहाँ जीव दर्शनमोहनीय कर्मका क्षपण करता है। इस सूत्रकी व्याख्यामें वीरसेन स्वामीने कहा है[2] यहाँ पर 'जिन' शब्दको दुबारा ग्रहण करके, जिन दर्शनमोहनीयकर्मका क्षपण करते है ऐसा कहना चाहिये, अन्यथा तीसरी पृथिवीसे निकले हुए कृष्ण आदिके तीर्थकरत्व नही बन सकता है, ऐसा किन्ही आचार्योंका व्याख्यान है। इस व्याख्यानके अनुसार दुषमा, अति दुषमा सुषमा और सुषमा कालोमे उत्पन्न हुए जीवोके दर्शन मोहनीयकी क्षपणा नही होती, शेष दोनो कालोंमें उत्पन्न हुए जीवोके दर्शनमोहकी क्षपणा होती है। इसका कारण यह है कि एकेन्द्रिय पर्यायसे आकर तीसरे कालमें उत्पन्न हुए वर्द्धनकुमार आदिके दर्शनमोहकी क्षवणा देखी जाती है। यहाँ यह व्याख्यान प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह मतलब हुआ कि जो उसी भवमें जिन या तीर्थङ्कर होनेवाले होते है वे तीर्थङ्करादिकी अनुपस्थितिमें तथा तीसरे कालमें भी दर्शनमोहका क्षपण करते है। यह अपवाद कथन धवलाके सिवाय अन्यत्र नही देखा जाता।

चूलिका का यह अधिकार व्याख्यानकी दृष्टिसे बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

---

१ षट्खं० पु० ४, पृ० १०-२२।

२ षट्खं पु० ६, पृ० २४६-२४७।

इसके १६ वें सूत्रके व्याख्यानमें धवलाकारने कसायपाहुडचूर्णिसूत्रोके अनुसार सकलचारित्रकी प्राप्तिका कथन करते हुए औपशमिक चारित्रकी प्राप्तिके विधानमें-अनन्तानुबन्धी विसयोजना और दर्शनमोहनीयके उपशमका कथन, कषायोपशमनाका कथन, उपशान्तकषायके पतनका क्रम, फिर क्षायिक चारित्रकी प्राप्तिका विधान आदि कथन वहुत ही विशद रीतिसे किया है, जो अन्यत्र नही पाया जाता।

कृति-अनुयोगद्वारके आदिमें मगलके निमित्तसे निमित्त, हेतु, परिमाण, कर्ता आदिका पुन विवेचन धवलाकारने किया है, जिसमें कर्ताके निमित्तसे भगवान् महावीर, उनके समवसरण आदिका वर्णन उल्लेखनीय है। उनमें भगवान् महावीर-की सर्वज्ञताको भी सिद्ध किया है।

भगवान् महावीरकी आयु मोटे रूपसे वहत्तर वर्ष मानी जाती है तथा मोटे रूपसे ही नौ मास गर्भस्थकाल, तीस वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष छद्मस्थकाल (तपस्या काल), और ३० वर्ष केवलिकाल कहा जाता है। किन्तु धवलाकारने 'अण्णे के वि आइरिया' करके अन्य आचार्योंके मतसे उक्त कालका प्रतिपादन किया है। वह अन्य आचार्योंका मत गर्भमे आनेके दिनसे लेकर निर्वाण प्राप्त करनेके दिन तककी गणनाके आधार पर स्थापित है। उसे हम ठीक-ठीक कालगणना कह सकते है। उसके अनुसार भगवान्[1] महावीरकी आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन थी। उसका हिसाव इस प्रकार है—आसाढ शुक्ल षष्ठीके दिन भगवान् महावीर त्रिशलाके गर्भमें आये। और वहाँ नौ माह आठ दिन रहकर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीके दिन उन्होने जन्म लिया। चैत्र मासके दो दिन, वैसाखको आदि लेकर २८ वर्ष, पुन वैसाखसे लेकर कार्तिक पर्यन्त सात मास कुमाररूपसे विताकर मगसिर कृष्णा दसमीके दिन उन्होने प्रव्रज्या धारण की। अत २८ वर्ष ७ मास, १२ दिन पर्यन्त वह घरमें रहे। अव छद्मस्थकाल लीजिये—मगसिर कृष्णपक्षकी एकादशीसे लेकर मगसिरकी पूर्णिमा तक २० दिन, फिर पौप माससे लेकर वारह वर्ष, फिर उसी माससे लेकर चार मास, चू कि उन्हे वैसाख शुक्ला दशमीके दिन केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई, अत वैसाखके पच्चीस दिन, इस तरह बारह वर्ष पाच मास, पन्द्रह दिन तक भगवान् महावीर छद्मस्थ रहे। अब केवली काल लीजिए—वैसाख शुक्ल पक्षकी एकादशीसे लेकर पूर्णिमा तक पाच दिन, फिर ज्येष्ठसे लेकर २९ वर्ष, फिर ज्येष्ठसे ही लेकर आसोज पर्यन्त पाच मास, फिर कार्तिक मासके कृष्ण पक्षके चौदह दिन बिताकर मुक्त हो गये। अमावस्याके दिन सब देवेन्दोने मिलकर निर्वाणपूजा की, इसलिये उस दिनको भी सम्मिलित

---

१ षट्ख०, पु० ९, पृ० १२१-१२६।

कर लेनेपर १५ दिन होते है। अत २९ वर्ष ५ मास, २० दिन तक भगवान् महावीर केवली रहे।

९ मास ८ दिन + २८ व० ७ मा० १२ दि० + १२ व०, ५ मा०, १५ दि० + २९ व० ५ मा०, २० दि० इस सब कालका जोड ७१ वर्ष, ३ मास, २५ दिन होता है। इतनी ही महावीर भगवान्की आयु बैठती है। किन्तु जब चौथे कालमें ७५ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष थे तब भगवान् महावीर गर्भमें आये थे और उनके निर्वाणके पश्चात् तीन वर्ष, ८ माह, १५ दिन बीतनेपर श्रावण कृष्णा पडवाके दिन पाचवें दुषमा कालका प्रवेश हुआ। इस हिसावसे भगवान् महावीरकी आयु बहत्तर वर्ष ठहरती है। इस तरहसे दोनोमें ८ माह ५ दिन का अन्तर पडता है।

इन दोनो उपदेशोमेंसे कौन ठीक है[1] ? इस प्रश्नके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इस विषयमें एलाचार्यका वत्स्य (वीरसेन) अपनी जबान निकालना नही चाहता, क्योकि न तो इस विषयमें कोई उपदेश प्राप्त है और न उक्त दोनो कथनोमें ही कोई बाधा है किन्तु दोनोंमेंसे सत्य एक ही होना चाहिए।' (पु० ९, पृ० १२६)।

तिलोयपण्णत्ति (अ० ४) में भगवान् महावीरकी आयु ७२ वर्ष बतलाई है और गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और निर्वाणकी तिथिया उक्त प्रकारसे ही दी है। इसी तरह श्वेताम्बरी[1] आगमिक साहित्यमें भी आयु ७२ वर्ष और तिथिया उक्त ही है। केवल मोक्ष-दिवसमें एक दिनका अन्तर है। कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रात्रिमें मुक्ति बतलाई है। तथा महावीरके गर्भमें आनेका काल भी वही दिया है जो ऊपर धवलामें दिया है अर्थात् चतुर्थ कालमे ७५ वर्ष ८॥ माह शेष रहने पर महावीर भगवान् गर्भमें आये। अत. मोटी कालगणनामें और दिन मासकी काल गणनामें ८ मास ५ दिनका अन्तर रह जाता है।

वीरसेन स्वामीने अपनी जयधवला[2] टीकाके आरम्भमें भी उक्त मतभेदकी चर्चा बिल्कुल इसी रूपमें की है।

अर्थकर्ताके पश्चात् ग्रन्थकर्ताका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—भगवान् महावीरकी वाणी तो बीजपदरूप होती है। जिसकी शब्दरचना सक्षिप्त हो, और जो अनन्त अर्थोंका ज्ञान करानेमें हेतुभूत अनेक चिन्होसे सयुक्त हो उसे बीजपद कहते है। इन बीजपदोमें जो अर्थ निहित रहता है उसका प्ररूपण

---

१. 'पचहत्तरिए वासेहि अद्धनवमेहि य मासेहि सेसेहि...त्ति, पञ्चसप्ततिवर्षेषु सार्द्धाष्टमासाधिकेषु शेषेषु श्रीवीरावतार। द्वासप्ततिवर्षाणि च श्रीवीरस्यायु। श्रीवीरनिर्वाणाच्च त्रिभिर्वर्षैः सार्द्धाष्टमासैश्चतुर्थारकसमाप्ति।'—कल्पसूत्र सुबो०।

२. क० पा०, भा० १, पृ० ७६–८२।

गणधर करते है। अत वीजपदोके व्याख्याता होनेके कारण गणधर ग्रन्थकर्ता कहे जाते है।

गणधरका कथन करते हुए लिखा[1] है—'वे अक्षर-अनक्षररूप सव भापाओमें कुशल होते है। समवसरणमें स्थित सव जनोको 'यह हमारी भापामें हमको समझाते है, इस प्रकार सवको विश्वासकारक होते है। और अपने मुखसे निकली हुई अनेक भापाओमेंसे जो श्रोता जिस भापाका भापी होता है उसके कान उसी भाषाका प्रवेश कराते तथा अन्य भापाओका निवारण करते है।'

किन्तु धवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने भगवान् महावीरके अतिशयोका वर्णन करते हुए उनकी भापाकी यह विशेपता वतलाई है कि एक योजन क्षेत्रमें बैठे हुए और अठारह महाभाषाओ तथा सात सौ लघुभापाओके भाषी प्राणियो-की भाषाके रूपमें परिणत होनेवाली उनकी भापा होती है। तिलोयपण्णत्ति[2] आदिमें भी ऐसा ही कहा है। किन्तु उक्त कथनमें इससे अन्तर प्रतीत होता है। उसमें कहा है कि भगवान्के द्वारा कहे गये वीजपदोको, जो अवश्य ही अनेक भाषा गर्भित होती है, गणधरदेव उपस्थित प्राणियोको समझाते है और वे प्राणी उन्हें अपनी-अपनी भापामें समझते है। अर्थात् गणधरकी भापा भी भगवान्‌की भापाकी तरह सर्वभापात्मक होती है तथा गणधर जो जिस भापाका भापी है उसके कानमें वही भापा जाने देते है। शेपको रोक देते है। गणधरकी इस विशेषताका समर्थन अन्यत्रसे नही होता। श्वे० साहित्यके समवायागमें[3] तीर्थङ्करके चौतीस अतिशयोमें एक अतिशय यह है कि भगवान् अर्द्धमागधी भापाके द्वारा

---

१. सखितसद्दरयणमणतत्थावगमहेदुभूदाणेगलिंगसगयं वीजपद णाम। तेसिमणेयाण वीजपदाण दुवालसगप्पयाणमट्ठारससत्तसयकुभाससरूवाण परूवओ अत्थकत्तारो णाम। वीजपदणिलीणत्थपरूवयाण दुवालसगाण कारओ गणहरभडारओ गथकत्तारो, अब्भुवगमादो। पट्ख. पु० ९, पृ० १२७। 'परोवदेसेण विणा अक्खराणक्खर-सरूवासेसभासाकुसलो समवसरणजणमेत्तरूवधारित्तणेण अम्हम्हाण भासाहि अम्हम्हाण चेव कहदित्ति सव्वेसिं पच्चउप्पाअओ, समवसरणजणसोदिंदएसु सगमुहविणिग्गयाणेय-भासाण सकरेण पवेसस्स विणिवारओ गणहरदेवो गथकत्तारो।'—पृ० १२८।
२ पट्ख., पु० १, पृ० ६१।

२. अट्ठरसमहाभासा खुल्लयभासासयाइ सत्त तहा। अक्खर-अणक्खरप्पयसण्णीजीवाण सयलभासाओ ॥९०१॥ एदासु भासासु तालुवदतो ट्ठक्कठवावारे। परिहरिय एक्ककाल भव्वजणे दिव्वभासित्त ॥९०२॥। ति. प ४,। 'एकतयोऽपि च सर्वनृभापा सोन्तरनेष्ट-वहूश्च कुभापा । अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्त्व वोधयति स्म 'जिनस्य महिम्ना ॥७०॥'
—म० पु १३ पर्व।

३ 'भगव च ण अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ। सा वि ण अद्धमागही भासा भासि-ज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आइरियमणाइरियाण दुपय-चउप्पय मिय-पसु-पक्खि-सरिसिवाणा अप्पप्पणो हियसिवसुहदाए भासत्ताए परिणमइ।' समव०, ३५।

धर्मका उपदेश देते है और वह अर्धमागधी भाषा समस्त आर्य-अनार्योंके दुपाये-चौपाये, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृपोके अपनी-अपनी भाषारूपसे परिणमन करती है। अर्थात् ये तीर्थङ्करका ही अतिशय है।

किन्तु[1] तीर्थङ्कर गणधरकी अपेक्षा थोडा ही कथन करते है उसका द्वादशागरूपमें विस्तार तो गणधर ही करते है। इसीसे गणधरके अभावमें भगवान् महावीरकी वाणी केवल ज्ञान होनेके पश्चात ६६ दिन बाद खिरी। इसका कथन जयधवलाके[2] प्रारम्भमें वीरसेन स्वामीने किया है।

ग्रन्थकर्ता गणधर तथा उत्तरोत्तरतन्त्रकर्ता आचार्योंका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने प्रकृत षट्खण्डागमकी उत्पत्तिका पुन सक्षिप्त कथन किया है। फिर आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारके भेदसे पाँच उपक्रमोका कथन करके निक्षेप, नय आदिका कथन किया है, जैसा कि ग्रन्थके आदिमें कथन करनेकी आगमिक परम्परा रही है। इस सबके पश्चात् कृति-अनुयोगद्वारका व्याख्यान आरम्भ होता है।

वेदना खण्डके[3] वेदनाकालविधानमें आयुकर्मकी उत्कृष्ट वेदना सूत्रकारने देवायु और नरकायुका उत्कृष्ट बध करनेवाले स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी अथवा नपुसकवेदी कर्मभूमिया पचेन्द्रिय सज्ञी जीवके बतलाई है। उसका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि यहाँ भाववेद लेना चाहिये। ऐसा न लेनेसे द्रव्यस्त्रीवेदके साथ भी नरकायुके उत्कृष्ट बन्धका प्रसग आयेगा, किन्तु स्त्रिया छठे नरक तकका ही आयुबन्ध कर सकती है।'

श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार भी स्त्री यद्यपि मोक्ष जा सकती है किन्तु मरकर सातवें नरकमें उत्पन्न नही हो सकती।

वर्गणाखण्डके कर्म-अनुयोगद्वारमें ईर्यापथकर्म[4] और तप. कर्मका व्याख्यान करते हुए वीरसेन स्वामीने दोनोके सम्बन्धमें बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। तथा प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अध कर्म, ईर्यापथकर्म, तप कर्म और क्रियाकर्म, इन छह कर्मोंका सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगोके द्वारा ओघ और आदेशोसे कथन[5] किया है। उसमें बतलाया है कि देवो और नारकियोमें प्रयोगकर्म, समवदानकर्म तथा क्रियाकर्म होते है।

---

१. 'जिणभणिइ च्चिय सुत्त गणहरकरणम्मि को विसेसोत्थ ?। सो तदविक्ख भासइ न उ वित्थरओ सुयं किंतु ॥११११८॥ 'स तीर्थङ्करस्तदपेक्ष गणधरप्रज्ञापेक्षमेव किञ्चिदल्प भाषते, न तु सर्वजनसाधारण विस्तरत समस्तमपि द्वादशाङ्गश्रुतम्, विशे० भा०

२. क पा०, भा १, पृ० ७५।

३, षट्खं., पु. ११, पृ. ११४।

४, वही, पु. १३, पृ. ४८-८८।

५. वही, पु. १३, पृ. ९१-१९६।

तिर्यञ्चोमें ईर्यापथकर्म और तप कर्म नही होता, शेप चार कर्म होते है। मनुष्योमें छहो कर्म होते है। इसका कारण यह है कि प्रयोगकर्म तेरहवें गुणस्थान तक सब जीवोके होता है क्योकि यथासम्भव मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति तेरहवें गुण-स्थान पर्यन्त सब जीवोके पाई जाती है। समवदानकर्म दसवें गुणस्थान तकके सब जीवोके होता हैं क्योकि यहाँ तकके सब जीवोके किसीके आठ, किसीके सात और किसीके छ कर्मोंका निरन्तर वन्ध होता रहता है। अध कर्म केवल औदारिक शरीरके आलम्वनसे होता है इसलिये उसका सद्भाव मनुष्य और तिर्यञ्चोके होता हैं। ईर्यापथकर्म उपशान्तकपाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवलीके होता है अतः वह भी मनुष्योके ही सभव है। क्रियाकर्म चौथे अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे होता है इसलिए वह चारो गतियोमें सम्भव है। तप कर्म छठे प्रमत्तसयत गुणस्थानसे होता है अतः यह भी मनुष्योके ही सभव है। इस प्रकार काफी प्रकाश डाला है।

इसी खण्डके प्रकृति[1] अनुयोगद्वारमें प्रसगवश शब्दकी गतिका वर्णन करते हुए दो-एक ऐसी बातें कही है जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नही आई। धवलाकारने लिखा है—'शब्दपुद्गल अपने उत्पत्तिप्रदेशसे उछलकर दसो दिशाओंमें जाते हुए उत्कृष्टरूपसे लोकके अन्त भाग तक जाते है। यह वात सूत्रके अविरुद्ध व्याख्याता आचार्यवचनोसे जानी जाती है। तथा सभी शब्द लोकपर्यंत नही जा पाते, थोडे जा पाते हैं। धीरे-धीरे वे घटते जाते है। तथा सभी शब्द एक समयमें ही लोक पर्यन्त नही जाते हैं। कुछ शब्दपुद्गल दो समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त कालमें लोक पर्यन्त जाते है। शब्दोके इस प्रकार [2]गमनके तथा उनके [3]सुनाई देनेके समर्थनमें धवलाकारने दो प्राचीन गाथाए भी उद्धृत की हैं। दोनो ही गाथाए शब्दके सम्बन्धमें वर्तमान आविष्कारोकी दृष्टिसे अपना विशेप महत्त्व रखती है।

षट्खण्डागममें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी उतनी ही प्रकृतियाँ बतलाई है जितने मूल अक्षर और उनके सयोगसे निष्पन्न अक्षरोका प्रमाण होता है। सयोगी अक्षरोका प्रमाण साधनेके लिये सूत्रकारने जो गणित-गाथा दी है उसका[4] व्याख्यान करते हुए धवलाकारने सत्ताईस स्वर, तेतीस व्यजन और चार योगवाह

---

१ षट्ख. पु. १३, पृ. २२२–२२४।

२. 'पभवच्चुदस्स भागा वट्ठाण णियमसा अणता दु। पढमागासपदेसे विदियम्मि अणतगुणहीणा॥२॥'—वही, पृ० २२३।

३. 'भासागदसमसेढिं सद जदि सुणादि मिस्सय सुणदि। उस्सेढिं पुण सद्द सुणेदि णियमा पराघादे॥३॥'—पृ० २२४।

४. षट्. प. १३, पृ. २४९-२६०।

इन चौंसठ मूलवर्णोके संयोगी अक्षरोको निष्पन्न करके वतलाया है। तथा उनकी संख्या निकालनेके सम्बन्धमे कई गणित-गाथाएं उद्धृत की है।

श्रुतज्ञानावरणके भेदोके सम्बन्धसे श्रुतज्ञानके बीस भेदोका निरूपण भी महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानका कथन भी अपना महत्त्व रखता है।

वर्गणाप्ररूपणा अनुयोगद्वारमे २३ वर्गणाओंका[1] कथन भी महत्त्वपूर्ण है। वर्गणाओके सम्बन्धमे इतना ठोस कथन अन्यत्र नही पाया जाता। उनमे भी प्रत्येकशरीरद्रव्यवर्गणा, बादरनिगोदद्रव्यवर्गणा, और सूक्ष्मनिगोदद्रव्यवर्गणा विशेष उल्लेखनीय है।

वर्गणाद्रव्यसमुदाहारके चौदह अनुयोगद्वारोमेसे सूत्रकारने केवल दो ही अनुयोगद्वारोका कथन किया है। शेष बारहका कथन धवलाकारने किया है।

इन तेईस वर्गणाओमे एक आहारवर्गणा भी है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके योग्य पुद्गलस्कन्धोकी आहार द्रव्यवर्गणा संज्ञा है।[2] इसी खण्डके [3]चूलिका नामक अधिकारमे सूत्रकारने आहारद्रव्यवर्गणाका उक्त लक्षण कहा है। उसका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने लिखा है—आहारशरीरवर्गणा-के भीतर कुछ वर्गणाए औदारिक शरीरके योग्य है, कुछ वर्गणाए वैक्रियिक-शरीरके योग्य है और कुछ वर्गणाए आहारक शरीरके योग्य है। इस प्रकार आहारशरीरवर्गणा तीन प्रकार की है। इस पर यह शका की गई कि यदि इन तीनो शरीरोकी वर्गणाए अवगाहनाभेदसे और सख्याभेदसे अलग-अलग है तो आहारद्रव्यवर्गणा एक ही क्यो कही? इसका उत्तर धवलाकारने यह दिया है कि उन तीनोके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर नही है। अर्थात् जैसे आहार-वर्गणा और तेजोद्रव्यवर्गणा, तेजोद्रव्यवर्गणा और भाषावर्गणा आदिके बीचमें अग्राह्यवर्गणाके द्वारा अन्तर है वैसा अन्तर औदारिकशरीरवर्गणा, वैक्रियिक शरीरवर्गणा और आहारकशरीरवर्गणाके बीचमें नही है इसलिए आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है। कर्मप्रकृति, और कर्मचूर्णिमें भी उक्त तीनो शरीरोके प्रायोग्य वर्गणाओके बीचमे अग्राह्यवर्गणा नही बतलाई है। किन्तु विशेषावश्यकमें बतलाई है। उसके पश्चात्से श्वेताम्बर परम्पराके पचसग्रह आदिमें तथा टीका-ग्रन्थो और चूर्णियोमें विशेषावश्यकभाष्यकी परम्परा[4] प्रवर्तित देखी जाती है।

---

१. षट्. पु. १३ पृ. २६१–२७९

२ षट्ख, पु, १४, पृ. ५४ १३४।

३. षट्ख, पु. १४, पृ. ५४७।

४. 'इह चूर्णिकृदादय औदारिकवैक्रियाहारकशरीरप्रायोग्याणां वर्गणानामपन्तरालेऽग्रहण-वर्गणा नेच्छन्ति पर जिनभद्रगणिक्षमश्रमणादिभिरिष्यन्त इति तन्मतेनोक्ता।

—कर्मप्र. टी., बन्ध-, पृ. ४५।

प्रत्येकशरीरवर्गणा और वादरनिगोदवर्गणाके सम्बन्धमें कुछ मोटी वातें इस प्रकार है—

एक जीवके एक शरीरमें जो कर्म-नोकर्म स्कन्ध सचित होता है उसकी प्रत्येकशरीरवर्गणा सज्ञा है। यह प्रत्येकशरीर, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, देव, नारकी आहारकशरीरवाले प्रमतसयत और केवलीजिनके होता हैं। इनको छोडकर वाकी जितने ससारी जीव हैं उनका शरीर या तो निगोदजीवोसे प्रतिष्ठित होनेके कारण सप्रतिष्ठित प्रत्येकरूप होता है या स्वय निगोद रूप होता हैं। हाँ, जो प्रत्येकवनस्पति निगोद रहित होती है वह इसका अपवाद है। यहाँ प्रश्न होता है कि जव मनुष्योका शरीर निगोदिया जीवोसे प्रतिष्ठित माना है तो आहारकशरीरी, सयोगकेवली और अयोगकेवली अवस्थामें मनुष्यका शरीर निगोदिया जीवोसे रहित कैसे हो जाता हैं ?

इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रमत्तसयत मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसका जो औदारिक शरीर है वह तो निगोदिया जीवोसे युक्त ही होता है किन्तु उसके जो आहारक शरीर उत्पन्न होता है उसमें निगोदिया जीव नही रहते। इसी प्रकार जव वह मनुष्य वारहवें गुणस्थानमे पहुँचता है तो उसके शरीरमें जो निगोदिया जीव रहते है उनका क्रमसे अभाव होता जाता है क्योकि ध्यानसे निगोदिया जीवोकी उत्पत्ति और स्थितिके कारण हट जाते है। इसपर यहाँ शका की गई है कि जो व्यक्ति ध्यानके द्वारा अपने शरीरमें बसनेवाले निगोदिया जीवोका सहार कर डालता हैं वह मोक्ष कैसे प्राप्त करता है ? इस प्रसगसे सक्षेपमें जैनो अहिंसाका स्वरूप धवलाकारने[1] बतलाया है। और प्रमाण रूपसे कुछ उद्धरण भी दिये हैं।

वादरनिगोदवर्गणाका व्याख्यान करते हुए धवलाकारने एक सेचीयवक्खाणाइरिय[2] प्ररूपित कथनका उल्लेख किया है। सेचीयव्याख्याचार्य कौन थे, यह जाना नही जा सका। शायद 'सेचीय' शब्द अशुद्ध हो।

इस तरह वर्गणाखण्डके अन्त भागमें वर्गणाओका व्याख्यान अनेक दृष्टियोसे मौलिक है। और जो यहाँ है वह अन्यत्र नही।

सत्कर्मान्तर्गत शेष अट्ठारह अनुयोगोका परिचय—

यह हम पहले लिख आये है कि भूतवलि प्रणीत षट्खण्डागमका छठा खण्ड महावन्ध है। धवलाकारने उसपर कोई टीका नही लिखी। केवल आदिके पाच खण्डो पर ही धवला-टीका लिखी है। मगर षट्खण्डागम नामको सार्थक रखनेके

१. षट्० पु. १४, पृ. ८९–९०।
२. ट्ठाणपरूवण सेचीयवक्खाणाइरियपरूविद वत्तइस्सामो—पृ. १०१।

लिये उन्होने महाबन्धके स्थानमे एक सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचकर शेप पाँच खण्डोमे शामिल कर दिया । पट्खण्डागमके परिचयमे यह बतलाया है कि महा-कर्मप्रकृतिप्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोमेसे आदिके छै अनुयोगद्वारोको लेकर पट्खण्डागमकी रचना की गई है । अत शेप अठारह अनुयोगद्वारोका साधारण परिचय वीरसेनस्वामीने अपने इस सत्कर्म नामक खण्डमें किया है और उसका आधार वप्पदेवकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठा खण्ड था । इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[1] ऐसा ही लिखा है ।

सत्कर्मका आरम्भ करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है कि 'भूतबलि भट्टारकने यह सूत्र देशामर्शक रूपसे लिखा है, अत. इस सूत्रसे सूचित शेप अठारह अनियोग-द्वारोका कुछ सक्षेपसे प्ररूपण करता हूँ । शेप अठारह अनुयोगद्वारोके नाम इस प्रकार हैं—निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, सक्रम, लेश्या, लेश्याकर्म, लेश्यापरिणाम, सातासात, दीर्घह्रस्व, भवधारणीय पुद्गलात्म, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित, अनिकाचित, कर्मस्थिति, पश्चिम स्कन्ध और अल्पबहुत्व ।

७ निबन्धन—इस अनुयोगद्वारकी आवश्यकता बतलाते हुए लिखा है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके द्वारा कर्मोका कथन किया जा चुका है और उनके कारणभूत मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगका भी कथन किया जा चुका है । अब उन कर्मोका व्यापार बतलानेके लिये निबन्धन अनुयोगद्वार आया है ।

इसमें बतलाया है कि ज्ञानावरणकर्म सब द्रव्योमें निबद्ध है क्योकि उसका एक भेद केवलज्ञानावरण केवलज्ञानका विरोधी है और केवलज्ञान त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायोसे पूर्ण छै द्रव्योको जानता है । किन्तु ज्ञानावरण सब पर्यायोमें निबद्ध नही है क्योकि ज्ञानावरणके भेद मतिज्ञानावरणादि सब द्रव्योको नही जानते और न सब पर्यायोको जानते है ।

दर्शनावरणकर्म आत्मामें ही निबद्ध है । यदि ऐसा नही माना जायगा तो दर्शन और ज्ञान एक हो जायेंगे । वेदनीयकर्म सुख व दु खमें निबद्ध है । मोहनीय-कर्म आत्मामें निबद्ध है क्योकि जीवके सम्यक्त्व और चारित्र गुणको घातना उसका स्वभाव है । आयुकर्म भवसे निबद्ध है क्योकि भवधारण करना उसका लक्षण है । नामकर्मका विपाक पुद्गलनिबद्ध भी है, जीवनिबद्ध भी है और क्षेत्रनिबद्ध भी है । इसलिये वह तनसे निबद्ध है । गोत्रकर्म आत्मासे निबद्ध है और अन्तराय

---

१. श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेप वप्पदेवगुरु ॥१७३॥ अपनीय महाबन्ध पट्खण्डाच्छेष-पन्चखण्डे तु । व्याख्याप्रज्ञप्ति च पष्ठ खण्ड च तत सक्षिप्य ॥१७४॥ षण्णां खण्डानामिति निष्पन्नाना । व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वपट्खण्डतस्ततस्त-स्मिन् । उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पै ॥१८०॥ सत्कर्मनामधेय पष्ठ खण्ड विधाय सक्षिप्य । इति षण्णां खण्डाना ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥'—श्रुताव० ।

कर्म दानादिसे निबद्ध है। इसी प्रकार उत्तरप्रकृतियोंमें भी निबद्धताका विचार किया है।

अन्तमें वीरसेन स्वामीने लिखा[1] है—'इस अनियोगद्वारमें इतनी ही प्ररूपणा की गई है क्योकि शेष अनन्त पदार्थ विषयक निबन्धनके उपदेशका अभाव है।'

८ प्रक्रम—यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि प्रत्येक अनुयोगद्वारके आरम्भमें प्रथम निक्षेप-योजना की गई है। जैसे प्रक्रमके छै भेद किये है—नाम प्रक्रम, स्थापना प्रक्रम, द्रव्य प्रक्रम, क्षेत्र प्रक्रम, काल प्रक्रम और भाव प्रक्रम। फिर प्रत्येकका स्वरूप बतलाकर यह स्थिर किया है कि यहाँ कर्म प्रक्रमका प्रकरण है अत वही लेना चाहिये। अत यहाँ कार्मणपुद्गलप्रचयको प्रक्रम कहा है।

शकाकारने शका की है कि कर्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति होती है अकर्मसे कर्म की उत्पति नही हो सकती ? धवलाकारने इसका विरोध करते हुए साख्यके सत्कारणवादका खण्डन किया है। और अन्तमें सप्तभगकी योजना की है। पश्चात् वस्तुको विनाशस्वभाव मानने वाले बौद्धका खण्डन करके वस्तुको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध किया है। फिर मूर्त कर्मोका अमूर्त जीवके साथ सम्बन्ध कैसे होता है, इसका समाधान करते हुए प्रक्रमके तीन भेद किये है—प्रकृति प्रक्रम स्थिति प्रक्रम और अनुभाग प्रक्रम। फिर उनका वर्णन किया है। अन्तमें अल्प-बहुत्वका कथन करके लिखा है, यह निक्षेपाचार्यका[2] उपदेश है।

९. उपक्रम—प्रक्रम और[3] उपक्रममें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि प्रक्रम अनुयोगद्वार प्रकृति, स्थिति और अनुभाग रूपसे बन्धको प्राप्त होनेवाले प्रदेशाग्रोका कथन करता है। परन्तु उपक्रम अनुयोगद्वार बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर सत्व रूपसे स्थित कर्मपुद्गलोके व्यापारका कथन करता है।

उपक्रमके चार भेद किये है—प्रकृतिबन्धनउपक्रम, स्थितिबन्धन-उपक्रम, अनुभागबन्धनउपक्रम और प्रदेशबन्धनउपक्रम। और लिखा[4] है कि 'सतकम्मपयडिपाहुड' में जैसा कथन किया है वैसा कर लेना चाहिए। इसपर

---

१. 'एवमेत्थ अणिओगद्दारे एत्तिय चेव परूविद, सेसअणतत्थविसयउवदेसाभावादो।' —षट्ख. पु १५, पृ १४।

२. 'एसो णिक्खेवाइरियउवएसो—पु १५, पृ ४०।

३. 'पक्कम उवक्कमाण को भेदो ? पयडि ट्ठिदि-अणुभागेसु ढुक्कमाणपदेसग्गपरूवण पक्कमो कुणइ, उवक्कमो पुण बध विदिय-समयहुडिसतसरूवेण ट्ठिदकम्मपोग्गलाण वावार परूवेदि।'—पु. १५, पृ. ४२।

४. 'एत्थ एदेसिं चदुण्णमुवक्कमाण जहा सतकम्मपयडिपाहुडे परूविद तहा पारूवेयव्वं। जहा महाबंधे परूविद तहा परूवणा एत्थ किण्ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबधम्मि चेव वावारादो'—पु. १५, पृ. ४३।

यह शका की गई कि महाबन्धमें जैसा कथन किया गया है वैसा कथन यहाँ क्यो नही करना चाहिए ? उसके समाधानमें कहा गया है कि महाबन्ध तो प्रथम समयमें होनेवाले बन्धमात्रका कथन करता है। उसका कथन करना यहाँ योग्य नही है। चूकि उपक्रम बन्धनके प्रथम समयके पश्चात् सत्वरूपसे स्थित कर्मपुद्गलोमें होनेवाले व्यापारका कथन करता है। अत यहाँ उदीरणा और उपशमका कथन किया है। उदयावलीको छोडकर आगेकी स्थितियोमें अवस्थित कर्मप्रदेशोको उदयावलीमें निक्षिप्त करनेको उदीरणा कहते है। इसका बहुत विस्तारसे कथन किया है।

इसमें एक[1] बात उल्लेखनीय यह है कि क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा-प्रचलाका उदय न माननेवालोंके मतका निर्देश किया है। कर्मप्रकृतिकार[2] इसी मतको माननेवाले है।

उदीरणाके पश्चात् उपशामनाका कथन है, जो यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोकी अनुकृति है। लिखा[3] है—कर्म-उपशामनाके दो भेद है—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम है—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। कर्मप्रवादमें उसका विस्तारसे कथन किया है। करणोपशामनाके भी दो भेद है—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। सर्वकरणोपशामनाके दो नाम और भी हैं—गुणोपशामना और प्रशस्तोपशामना। इस सर्वकरणोपशामनाकी प्ररूपणा 'कसायपाहुड' में करेंगे। देशकरणोपशामनाके अन्य भी दो नाम है—अगुणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। उसीका यहा प्रकरण है। अप्रशोस्तोपशामनाके द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त होता है उसमें उत्कर्षण भी हो सकता है, अपकर्षण भी हो सकता है तथा अन्य प्रकृतिरूप सक्रमण भी हो सकता है किन्तु उसका उदय नही हो सकता। इस अप्रशस्त उपशामनाका कथन स्वामित्व, काल आदि अनुयोगोके द्वारा किया गया है।

१० उदय—इस अनुयोगद्वारमें कर्मोके उदयका कथन है। उदयके चार भेद किये है—प्रकृति उदय, स्थिति उदय, अनुभाग उदय और प्रदेश उदय। फिर प्रत्येकके मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृतिकी अपेक्षा दो-दो भेद करके उनका कथन अनुयोगोके द्वारा किया है।

११ मोक्ष—कर्मद्रव्यमोक्षके चार भेद किये है—प्रकृति मोक्ष, स्थिति

---

१. 'खीणकसायम्मि णिद्दापयलाणमुदीरणा णत्थि त्ति भणताणमभिप्पाएण' पु. १५, पृ ११०।

२ 'इ दियपज्जत्तीए दुसमयपज्जत्तगाए [उ] पाउग्गा। णिद्दापयलाण खीणरागखवगे परिच्चज्ज ॥१८॥—क. प्र, अ ४।

३ पु. १५, पृ. २७५—२७६।

मोक्ष, अनुभाग मोक्ष और प्रदेश मोक्ष। प्रकृति मोक्षके दो भेद हैं—मूलप्रकृति मोक्ष और उत्तरप्रकृति मोक्ष। उनमें भी प्रत्येकके दो भेद हैं—देशमोक्ष और सर्वमोक्ष। किसी कर्मप्रकृतिका निर्जराको प्राप्त होना अथवा अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रान्त होना प्रकृति मोक्ष हैं। इसका अन्तर्भाव प्रकृति उदय और प्रकृति सक्रममें होता है। अपकर्षणको प्राप्त हुई, उत्कर्षणको प्राप्त हुई, अन्य प्रकृतिमें सक्रान्त हुई और अध स्थितिके गलनेसे निर्जराको प्राप्त हुई स्थितिका नाम स्थितिमोक्ष है। इसी तरह अपकर्षणको प्राप्त हुए, उत्कर्षणको प्राप्त हुए, अन्य प्रकृतिमें सक्रान्त हुए अध स्थिति गलनसे निर्जराको प्राप्त हुए अनुभागको अनुभाग मोक्ष कहते है। अध स्थिति गलनके द्वारा प्रदेशोकी निर्जरा होनेको और प्रदेशोका अन्य प्रकृतियोमें सक्रमण होनेको प्रदेश मोक्ष कहते है। जीव और कर्मका पृथक् हो जाना मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये मोक्षके कारण है। समस्त कर्मोसे रहित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, चारित्र, सुख, सम्यक्त्व आदि गुणोसे पूर्ण, निरामय, नित्य, निरजन और कृत कृत्य जीवको मुक्त कहते है। इनका कथन निक्षेप, नय, निरुक्ति और अनुयोगद्वारोसे करना चाहिये।

१२ सक्रम—इस अनुयोगद्वारमें कर्म सक्रमका कथन है। उसके चार भेद हैं—प्रकृति सक्रम, स्थिति सक्रम, अनुभाग सक्रम और प्रदेश सक्रम। एक प्रकृति-का अन्य प्रकृतिरूपमें सक्रमण होनेको प्रकृतिसक्रमण कहते हैं। यह सक्रम मूल-प्रकृतियोमें नही होता। तथा वन्धके होने पर सक्रम होता है। वन्धके अभावमें सक्रम नही होता। इत्यादि रूपसे सक्रमका कथन विस्तारसे किया है क्योकि कसायपाहुड और उसके चूर्णिसूत्रोमें सक्रमका विस्तृत वर्णन मिलता है।

१३. लेश्या—इस अनियोगद्वारमें लेश्याका कथन है। लेश्याके मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। चक्षुके द्वारा ग्रहण करने योग्य पुद्गल-स्कन्धोके रूपको द्रव्यलेश्या कहते है। उसके छै भेद है—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। भ्रमर आदिके कृष्ण लेश्या है, नीम, केला, आदिके पत्तोके नीललेश्या है। कबूतर आदिके कापोत लेश्या है। जपाकुसुम आदिकी पीतलेश्या है। कमल आदिके पद्म लेश्या है और हस वगैरहके शुक्ल लेश्या है क्योकि इनका रग इसी प्रकारका होता है।

मिथ्यात्व, असयम, और कषायसे अनुरक्त मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको भावलेश्या कहते हैं। इसी लेश्याके कारण जीव कर्मपुद्गलोसे बद्ध होता है। उसके भी द्रव्यलेश्याकी तरह ही छै भेद है। इन्हीका सक्षिप्त कथन है।

१४ लेश्या कर्म—इस अनियोगद्वारमें प्रत्येक लेश्यावाले जीवका कर्म-क्रिया

बतलाई है। यथा—कृष्णलेश्या वाला प्राणी निर्दय, झगडालु, चोर, व्यभिचारी आदि होता है। नीललेश्या वाला विवेकरहित, बुद्धिहीन घमंडी, मायाचारी आदि होता है। कापोतलेश्यावाला दूसरोका निन्दक, अपना प्रशंसक तथा कर्त्तव्य अकर्त्तव्यके ज्ञानसे रहित होता है। तेजोलेश्यावाला अहिंसक, सत्यभाषी, और स्वदारसन्तोषी होता है। पद्मलेश्यावाला तेजोलेश्यावालेसे और शुक्ललेश्यावाला पद्मलेश्यावालेसे भी अधिक सच्चा, अहिंसक और संयमी जीवन वाला होता है। यह भावलेश्याकी अपेक्षा जानना चाहिए।

१५ लेश्यापरिणाम—कौन लेश्या, कितनी वृद्धि अथवा हानिके द्वारा किस लेश्यारूप परिणमन करती है इसका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। जैसे कृष्णलेश्यावाला जीव यदि और भी संक्लेशरूप परिणामोको करता है तो वह अन्यलेश्यारूप परिणमन न करके कृष्णलेश्यामें ही रहता है। इसी तरह शुक्ल-लेश्या वाला जीव यदि और भी अधिक विशुद्ध परिणामोको करता है तो वह शुक्ल लेश्यामें ही रहता है, अन्यरूप परिणमन नही करता। किन्तु मध्यकी चार-लेश्या वाले जीव हानि या वृद्धिके होनेपर अन्य लेश्यारूप भी परिणमन कर सकते है। इन्ही बातोका कथन इस अनुयोगद्वारमें है। यह सब कथन भाव-लेश्याकी अपेक्षासे है।

१६. सातासात—सात और असातका कथन समुत्कीर्तना, अर्थपद, पद-मीमासा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारोंसे किया गया है। सात और असातके दो भेद किये है—एकान्तसात, अनेकान्त सात, एकान्त असात अने-कान्त असात। सातारूपसे बाधा गया जो कर्म सक्षेप और प्रतिक्षेपसे रहित होकर साता रूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त सात कहते है। इससे विपरीत अनेकान्त सात है। इसी तरह जो कर्म असाता स्वरूपसे बाधा जाकर सक्षेप व प्रतिक्षेपसे रहित होकर असातरूपसे वेदा जाता है उसे एकान्त असात कहते है। इससे विपरीत अनेकान्त असात है। आगे इन्हीके स्वामित्व आदिका कथन किया है।

१७ दीर्घह्रस्व—इस अनुयोगद्वारमें दीर्घ और ह्रस्वका कथन करते हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षा प्रत्येकके चार भेद किये है। यथा-प्रकृति दीर्घ, स्थिति दीर्घ, अनुभाग दीर्घ, प्रदेश दीर्घ। आठो प्रकृतियोंका बन्ध होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका बन्ध होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। सत्त्वकी अपेक्षा, आठ प्रकृतियोका सत्त्व होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमका सत्त्व होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। उदयकी अपेक्षा आठ प्रकृतियोकी उदीर्णा होनेपर प्रकृतिदीर्घ और उससे कमकी उदीर्णा होनेपर नोप्रकृतिदीर्घ होता है। इसी तरह जिस-जिस कर्मकी जितनी उत्कृष्ट स्थिति है उसका बन्ध होनेपर स्थितिदीर्घ और उससे कम स्थितिका बन्ध होनेपर नोस्थितिदीर्घ है। इसी

तरह अनुभाग और प्रदेशमें भी जानना चाहिये। ह्रस्वमें उससे विपरीत समझना चाहिये। अर्थात् एक-एक प्रकृतिका वन्ध करनेवालेके प्रकृतिह्रस्व है और उससे अधिकका वन्ध करनेवालेके नोप्रकृतिह्रस्व है। इस प्रकार दीर्घ और ह्रस्वका कथन किया है।

१८. भवधारणीय—भवके तीन भेद वतलाये हैं—ओघ भव, आदेस भव और भवग्रहण भव। उनमेंसे इस अनुयोगद्वारमें भवग्रहण भवका कथन कुछ पंक्तियोमें किया है। भुज्यमान आयुको निर्जीण करके जिसके नवीन आयु कर्मका उदय हुआ है उस जीवके प्रथम समयमें होनेवाले परिणामको अथवा पुराने शरीर-को त्यागकर नया शरीर धारण करनेको भवग्रहण भव कहते है। भवका धारण केवल आयुकर्मके द्वारा होता है। अन्य कर्मोका यह काम नही है।

१९. पोग्गल अत्त-(पुद्गलात्त)—'आत्त' का अर्थ है 'गृहीत'। अत गृहीत पुद्गलोको 'पुद्गलात्त' कहा है। वे पुद्गल छै प्रकारसे गृहीत किये जाते हैं—ग्रहणसे, परिणामसे, उपभोगसे आहारसे, ममत्वसे और परिग्रहसे। हाथ अथवा पैरसे जो पुद्गल ग्रहण किये जाते है वे ग्रहणसे आत्त पुद्गल है। मिथ्यात्व आदि परिणामोसे गृहीत पुद्गल परिणामसे आत्त पुद्गल हैं। उपभोग रूपसे अपनाये गये सुगध, ताम्बूल आदि पुद्गल उपभोगसे आत्त पुद्गल है। खान-पान-के द्वारा अपनाये गये पुद्गल आहारसे आत्त पुद्गल है। अनुरागसे गृहीत पुद्गल ममत्वसे आत्त पुद्गल है। और आत्माधीन जो पुद्गल है वे परिग्रहसे आत्त पुद्गल है। यही इसमें कथन हे।

२० निधत्त-अनिधत्त—जो प्रदेशाग्र उदय, सक्रमके अयोग्य है किन्तु उत्कर्पण और अपकर्षणके योग्य होता है उसको निधत्त कहते है। शेपको अनिधत्त कहते हैं। कहाँ किस कर्मसे प्रदेशाग्र निधत्त और अनिधत्त है, इसका कथन कुछ पक्तियोके द्वारा किया है।

२१ निकाचित-अनिकाचित—जो प्रदेशाग्र उत्कर्पण, अपकर्पण, सक्रम और उदयके अयोग्य होता है उसे अनिकाचित और शेषको निकाचित कहते हैं। इसीका कथन इस अनुयोगद्वारमें कुछ पक्तियोके द्वारा किया है।

२२ कर्मस्थिति—इस अनुयोग द्वारमें कर्मस्थितिके लक्षणमें नागहस्ती और आर्यमक्षुका[1] मतभेद वतलाया है। नागहस्ती क्षमाश्रमणके मतसे जघन्य

---

१ कम्मट्ठिदि त्ति अणियोगद्दारम्हि भण्णमाणे वे उवदेसा होंति—जहण्णुक्कस्सटिठदीण पमाणपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति णागहत्थिखमासमणा भणति। अज्जमखु-खमासमणा पुण कम्मट्ठिदिसंचिदसतकम्मपरूवणा कम्मट्ठिदिपरूवणे त्ति भणति। एव दोहि उवऐसेहि कम्मट्ठिदिपरूवणा कायव्वा। एव कम्मट्ठिद त्ति समत—मणिओगद्दार।'—पट्खं०, पु० १६, पृ० ५१८।

और उत्कृष्ट स्थितियोके प्रमाणकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते है। और आर्यमक्षु क्षमाश्रमणका कहना है कि कर्मस्थित सचित सत्कर्मकी प्ररूपणाको कर्मस्थितिप्ररूपणा कहते है। वीरसेनस्वामीने दोनों ही मतोसे कर्मस्थितिप्ररूपणा करनेकी सम्मति देकर ही अनुयोगद्वार समाप्त कर दिया है।

२३ पश्चिम भवस्कन्ध—इसके सम्वन्धमें वीरसेनस्वामीने इतना ही लिखा है कि जीवका जो अन्तिम भव है, उस अन्तिम भवमें उस जीवके सव कर्मोंकी वन्ध मार्गणा, उदय मार्गणा, उदीरणा मार्गणा, सक्रम मार्गणा और सत्कर्म मार्गणा ये पाच मार्गणाएँ पश्चिम स्कन्ध अनयोगद्वारमें की जाती है। इन पाच मार्गणाओकी प्ररूपणा करनेके पश्चात् उस जीवके अन्य प्ररूपणा करनी चाहिये।' अतः उन्होने केवलिसमुद्घातका वर्णन करके पश्चात् मुक्तिप्राप्ति पर्यन्त क्रियाओका साधारण-सा कथन किया है।

मोक्ष-अनुयोगके पश्चात् एक सक्रमका ही वर्णन विस्तारसे किया गया है। शेष अनुयोगद्वारोका तो वहुत ही साधारण-सा कथन किया है। सम्भवतया उनके सम्वन्धमें उस समय अधिक जानकारी प्राप्त नही थी।

२४ अल्पबहुत्व—इस अन्तिम अनुयोगद्वारका कथन कुछ विस्तारसे किया है, क्योकि उसके सम्वन्धमें नागहस्ती और आर्यमक्षु दोनोके उपदेश प्राप्त थे। अनुयोगद्वारका आरम्भ करने हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'नागहस्ती भट्टारक अल्पवहुत्व अनियोगद्वारमें सत्कर्मकी मार्गणा करते है। यह उपदेश 'पवाइज्ज' परम्परासे प्राप्त है।

उक्त सब अनुयोगद्वारोमें अल्पवहुत्वका कथन करते हुए वीरसेनस्वामीने निकाचित-अनिकाचितमें महावाचक[1] क्षमाश्रमणके उपदेशका निर्देश किया है। यह महावाचक क्षमाश्रमण शायद आर्यमक्षु हो। कर्मस्थिति अनियोगद्वारमें महावाचक[2] आर्यनन्दिके द्वारा सत्कर्मका कथन करनेका निर्देश है, इनके सम्बन्धमें नागहस्तीपर प्रकाश डालते हुए विचार कर आये है।

पश्चिम स्कन्ध सम्वन्धी अल्पबहुत्वका कथन करते हुए लोकपूरण समुद्घातके पश्चात् केवली समुद्घातसे होनेवाले कार्यके सम्वन्धमे दो मत[3] दिये है। महावाचक

---

१. 'महावाचयाण खमासमणाण उवदेसेण।'—पु. १६, पृ ५७७।

२ 'कम्मट्ठिदित्ति अणियोगद्दारे एत्थ महावाचया अज्जणदिणो सतकम्मं करेति। महावाचया ट्ठिदिसतकम्म पयासति।'—पु. १६, पृ. ५७७।

३. 'महावाचयाणमज्जमखुसमणाणमुवदेसेण लोगे पुण्णे आउअसमं करेदि। महावाचयाणमज्जणन्दीण उवदेसेण अतोमुहुत्त ठवेदि सखेज्जगुणमाउआदो।'

—पु. १६, पृ. ५७८।

आर्यमक्षु क्षमाश्रमणके उपदेशके अनुसार लोकपूरण समुद्घात होनेपर शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुकर्मके समान करता है और महावाचक आर्यनन्दीके उपदेशसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण करता है जो आयुकर्मकी स्थितिसे संख्यातगुणी होती है। सर्वत्र आर्यमंक्षुके मतके विरोधके रूपमें नागहस्तीका मत पाया जाता है। किन्तु यहाँ वीरसेन स्वामीने आर्यनन्दीका मत दिया है जो उल्लेखनीय है।

अल्पबहुत्व अनुयोगद्वारके साथ ही छठा सत्कर्म खण्ड तथा धवला टीका समाप्त हो जाती है।

वीरसेन स्वामी परिचय

धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें वीरसेन स्वामीने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

'अज्जज्जणदिसिस्सेणुज्जुवकम्मस्स चदसेणस्स।
तह णत्तुवेण पचत्थुहण्णयभाणुणा मुणिणा॥४॥
सिद्धत-छद-जोइस-वायरण-पमाणसत्थणिवुणेण।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण॥५॥

अर्थात् आर्य आर्यनन्दिके शिष्य और चन्द्रसेनके प्रशिष्य, पञ्चस्तूपान्वयभानु, सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण मुनि वीरसेन भट्टारकने यह टीका लिखी।

इससे स्पष्ट है कि उनके गुरुका नाम आर्यनन्दी था और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन था। सम्भवतया ये उनके दीक्षागुरु थे और वे पचस्तूप नामके अन्वयमें हुए थे।

वीरसेन अपने समयके महान् आचार्य थे। उन्होने जो अपनेको सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्रमें निपुण लिखा है, उसका समर्थन धवला-जयधवला टीकाओके अवलोकनसे भी होता है। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें उनके शिष्य जिनसेनने अपने गुरुका स्मरण करते हुए कहा है—'भट्टारक[1] श्री वीरसेन विद्याओके पारगामी थे और वे साक्षात् केवलीके तुल्य

---

१ 'श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथ।
पारदृश्वाधिविद्याना साक्षादिव स केवली॥१९॥
प्रीणितप्राणिसपत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत्॥२०॥
यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाता सर्वज्ञसद्भावे निरारेका मनीषिण॥२१॥
य प्राहु प्रस्फुरद्बोधदीधितिप्रसरोदयम्।
श्रुतकेवलिन प्राज्ञा - प्रज्ञाश्रमणसत्तमम्॥२२॥

थे। जैसे भारती—भरत चक्रवर्तीकी-आज्ञा भरत क्षेत्रके षट्खण्डोमें कभी स्खलित नही हुई वैसे ही वीरसेनकी भारती षट्खण्डरूप आगममें कभी स्खलित नही हुई। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर मनीषीजन सर्वज्ञके अस्तित्वमें सन्देह रहित हो गये। उन्हे पण्डितजन श्रुतकेवली और प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ कहते थे। प्रसिद्ध सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे प्रक्षालित होनेके कारण उनकी बुद्धि निर्मल हो गई थी और इसलिये वह बुद्धि-ऋद्धिसे सम्पन्न प्रत्येकबुद्धोसे स्पर्धा करते थे। वह प्राचीन पुस्तकोंके तो मानो गुरु थे। उन्होने प्राचीन पुस्तकोका अध्ययन करके अपनेसे पहलेके सभी पुस्तकशिष्यकोको अतिक्रमण किया था।'

केवली, श्रुतकेवली, प्रज्ञाश्रमण, प्रत्येकबुद्ध ये पद जैन परम्परामें ज्ञानकी दृष्टिसे अति उच्च माने गये हैं। वीरसेनको उनके समकक्ष बतलाना उनके महनीय व्यक्तित्व और सर्वोच्च ज्ञानगरिमाको प्रकट करता है।

इन्ही जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें उन्हें वादिमुख्य, लोकवित्, कवि और वाग्मी बतलाया है। जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने उन्हें समस्त वादियोको त्रस्त करनेवाला कहा है तथा पुन्नाटसघीय जिनसेनने कवियोका चक्रवर्ती कहा है। इन सब विशेषणोसे तथा स्वयं वीरसेनकी टीकाओके अवगाहनसे वीरसेनकी विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभाका यथोचित आभास मिल जाता है।

वीरसेनके गुरु : एलाचार्य

धवलाकी प्रशस्तिकी पहली गाथामें वीरसेनस्वामीने एलाचार्यका स्मरण करते हुए लिखा[1] है—'जिसके आदेशसे मैंने यह सिद्धान्त लिखा वे एलाचार्य मुझ वीरसेन पर प्रसन्न हो। इसके सिवाय धवला और जयधवलामें वीरसेनने अपनेको एलाचार्यका[2] वत्स (बच्चा) भी लिखा है। जयधवलामें[3] एक स्थान

प्रसिद्धसिद्धसिद्धान्तवार्धिवार्धौतशुद्धधी ।
सार्धं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीद्धबुद्धिभि ॥२३॥
पुस्तकाना चिरन्तानां गुरुत्वमिह कुर्वता ।
येनातिशायिता पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यका ॥२४॥
यस्तपोदीप्तकिरणैर्भव्याम्भोजानि बोधयन् ।
व्यद्योतिष्ठ मुनिनेनः पञ्चस्तूपान्वयाम्बरे ॥२५॥
प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य य शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् ।
कुल गण च सन्तान स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥ —ज० ध० प्र०

१. 'जस्साएसेण मए सिद्धन्तमिद हि अहिलहुद। महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीर-सेणस्स ॥१॥'

२. 'दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ।' —षट्ख., पु० ९, पृ. १२६। कसा. पा., भा. १, पृ. ८१।

३. 'एदेण वयणेण सुत्तस्स देसामासियत्त जेण जाणाविद तेण चउण्ह गइ'ण उच्चारणा-बलेन एलाइरिय पसाएण य सेसकम्माण परूवणा कीरदे।'—क. पा., भा.४, पृ. १६९।

पर चूर्णिसूत्रका व्याख्यान करते हुए यह भी लिखा है कि चूकि यह सूत्र देशामर्षक है अत उच्चारणाके वलसे और एलाचार्यके प्रसादसे चारो गतियोमें शेष कर्मोंकी प्ररूपणा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि वीरसेनने सिद्धान्तग्रन्थोका अध्ययन एलाचार्यसे किया था और उन्हीके आदेशसे टीका-ग्रन्थोकी रचना की थी।

अत एलाचार्य सिद्धान्तग्रन्थोके अपने समयके अधिकारी विद्वान थे, यह बात उनके शिष्य वीरसेनके द्वारा रचित दोनो टीकाओके देखनेसे ही स्पष्ट हो जाती है।

कसायपाहुडका परिचय कराते हुए हम यह लिख आये है कि कसायपाहुड के अधिकारोको लेकर मतभेद था। गाथासख्या ५ की जयधवला-टीकामें 'के वि आइरिया' कहकर एक मतभेदकी चर्चा है। उन किन्ही आचार्योके मत-का निराकरण करके स्वकृत व्याख्यानका समर्थन करते हुए वीरसेनस्वामीने लिखा[1] है—'अत भट्टारक एलाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पूर्वोक्त व्याख्यान ही यहा प्रधानरूपसे ग्रहण करना चाहिये। उपदिष्ट व्याख्यानसे आशय उस व्याख्यानसे है, जिसका उपदेश एलाचार्यने वीरसेनको दिया था। अत यह स्पष्ट है कि एलाचार्य सिद्धान्तग्रथोके अधिकारी व्याख्याता थे। चूकि वीरसेनस्वामीने धवलाकी समाप्ति शक स० ७३८ (८१६ ई०) में की थी, अत यह निश्चित है कि एलाचार्य ईसाकी ८ वी शतीके उत्तरार्धमें विद्यमान थे। परन्तु उनकी गुरु-परम्पराके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात नही होता।

वीरसेन स्वामीकी बहुज्ञता

जयधवलाकी प्रशस्तिमें जो वीरसेन स्वामीको प्राचीन पुस्तकोके अध्ययनका अनुपम प्रेमी होनेके कारण चिरन्तन पुस्तकशिष्यकोका गुरु और उनकी प्रज्ञाको सर्वार्थगमिनी कहा है वह उचित ही है। अपनी धवला और जयधवला टीकामें उन्होने जो अनेको ग्रन्थोके नाम तथा उद्धरण दिये है उससे ही उक्त दोनो बातोकी पुष्टि हो जाती है। उद्धरणोका बहुभाग ऐसा है, खोजने पर भी जिसके मूल स्थानोका पता नही लग सका। उनमेंसे कुछ उद्धरण ऐसे भी है जो हरिभद्रसूरि[2] के अनेकान्तवादप्रवेशमें, बौद्धग्रन्थ तत्त्वोपप्लवमें[3] सिंहगणि[4] क्षमाश्रमणकृत नयचक्रवृत्तिमें तथा भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें भी उद्धृत है। धवला-जयधवलामें निर्दिष्ट ग्रन्थो तथा जिन उद्धरणोके स्थलोका पता लग सका है उनके अनुसार वीरसेनस्वामीने नीचे लिखे ग्रन्थोका उपयोग अपनी टीकाओमें किया है ?

---

१ 'तदो पुव्वुत्तमेलाइरियभडारएण उवइट्ठवक्खाणमेव पहाणभावेण एत्थ घेतव्व ॥ —क पा, भा १, पृ १६२।

२ क. पा भा. १, पृ. ७५५।

३ क. पा. भा. १ पृ. २५६।

४. क पा. भा १ पृ २२७।

१ सतकम्मपाहुड

२. गोनिप्राभृत—धरसेनाचार्य विरचित।

३. गुणधराचार्य विरचित—कसायपाहुड

४. भूतबली विरचित—जीवट्ठाण, खुद्दाबन्ध, बन्धस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबन्ध।

५. कुन्दकुन्दरचित—परिकर्म, प्रवचनसार, समयसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड।

६. यतिवृषभरचित—चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ति।

७. उच्चारणाचार्यविरचित—उच्चारणावृत्ति।

८. वट्टकेराचार्यरचित—मूलाचार।

९. शिवार्यरचित—भगवती आराधना।

१०. व्याख्याप्रज्ञप्ति

१. गृद्धपिच्छाचार्यरचित—तत्त्वार्थसूत्र

२ पिंडिया (?)

३. समन्तभद्ररचित—आप्तमीमासा, बृहत्स्वयम्भू०, युक्त्यनुशासन,

४. सिद्धसेनरचित—सन्मतिसूत्र

५ पूज्यपादरचित—सारसग्रह।

६. प्राकृत-पचसग्रह

७ अकलकदेवरचित—तत्त्वार्थभाष्य, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय

१७ प्रभाचन्द्ररचित—कोई ग्रन्थ।

१८ धनजयकविकृत नाममाला कोश।

१९ वाप्पभट्टरचित—उच्चारणा।

२०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अगपण्णत्ति आदि

उक्त ग्रन्थोमेंसे पिंडिया तथा पूज्यपादकृत सारसंग्रहका कोई पता नही चल सका है। कुछ उद्धृत गाथाए नीचे लिखे श्वेताम्बरीय आगमिक साहित्यमें पाई गई है। अत सभवतया इन ग्रन्थोका भी उपयोग वीरसेन स्वामीने अपनी टीकाओमें किया था। आधवश्यकनिर्युक्ति, आचारागनिर्युक्ति, अनुयोगद्वारसूत्र, दशवैकालिक, स्थानागसूत्र, नन्दिसूत्र, और ओघनिर्युक्ति।

एक छेदसूत्रका भी उल्लेख है। लिखा है—द्रव्यस्त्री और नपुसक वस्त्र त्याग नही कर सकते, छेदसूत्रसे विरोध आता है।[1]

---

१ 'ण च दव्वत्थीण णिग्गथत्तमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गथत्ताभावादो। ण च दव्वथिणवु'सयवेदाण चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो'—षट्ख, पु. ११, ११४–११५।

अन्य दर्शनोके ग्रन्थोमेंसे बौद्धकवि अश्वघोषके सौदरानन्दकाव्य, धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक, ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका और कुमरिलभट्टके मीमासाश्लोकवार्तिकसे भी एक दो उद्धरण दिये गये है।

जयधवलामें[1] पाहुडशब्दकी व्युत्पत्तिके प्रसगसे कई प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की है जो प्राकृतव्याकरणके नियमोसे सम्बद्ध है। उसपरसे ऐसा अनुमान होता है कि सम्भवतया प्राकृतभाषाका कोई गाथाबद्ध व्याकरण भी था। धवला और जयधवलाके प्रथम भागमे भगवान महावीरके जीवनसे सम्बद्ध अनेक प्राकृत गाथाए उद्धत की है जिनपरसे अनुमान होता है कि प्राकृतगाथाओमें भगवान् महावीरका कोई सुन्दर चरित-ग्रन्थ अवश्य था।

समय-विमर्श

वीरसेनस्वामीने अपनी धवला-टीकाके अन्तमें उसकी समाप्तिका काल दिया है। किन्तु गाथाओके अशुद्ध होनेसे उनमे दिये हुए कालके सम्बन्धमें विवाद है। अत उसे छोडकर जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिये गये कालको लेना उचित होगा। उसमे बतलाया है[2] कि कसायपाहुडकी टीका जयधवला श्रीमान् गुर्जरार्यके द्वारा पालित वाटकग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यकालमें फाल्गुन शुक्ला दशमीके पूर्वाह्नमें, जबकि नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जा रहा था, शकराजाके सात सौ उनसठ वर्ष (७५९) बीतने पर समाप्त हुई। इससे स्पष्ट है कि शकसवत् ७५९, विक्रम सवत् ८९४ और ईस्वी सन् ८३७ के फाल्गुन मासकी सुदी दशमीको जयधवला समाप्त हुई थी।

वीरसेन स्वामीने जयधवलाका केवल पूर्वार्ध ही रचा था, यह बात जयधवलाकी प्रशस्तिसे[3] प्रकट होती है। उसमें जिनसेनने लिखा है कि गुरुके द्वारा निर्मित पूर्वभागको देखकर मैंने उत्तर भागको रचा। यदि वीरसेन जीवित होते तो ऐसा प्रसग उपस्थित न होता। इसके सिवाय प्रशस्तिमें वीरसेनके लिए

---

१ क० पा०, भा० १, पृ० ३२६–३२७

२ इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपलिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वान्हे दशम्या शुक्लपक्षके।
प्रवर्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदय।
निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥ ८ ॥
एकोन्नषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥ ११ ॥

३. गुरुणार्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये सप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्य. पश्चार्धस्तेन पूरित. ॥३६॥

और तदनुसार धवलाकी समाप्तिका काल शक सम्वत् ७३८ निर्धारित किया था। इस पर डा० ज्योतिप्रसाद जैनने आपत्ति की। वास्तवमें 'पासे'का 'वासे', 'भाव'का भाणु, 'वरणिवुत्ते'का तरणिपुत्ते और 'मेंढिचदम्मि'का 'मीणे चंदम्मि' सुधार तो सम्भव प्रतीत होता है किन्तु 'सासिय'का 'सतसए' और 'विक्कमरायम्हि एसु सगरमो'का 'विक्कमरायकिए सुसगणामे' सुधार कष्टसाध्य ही प्रतीत होता है। गाथा छैके मूल पाठसे इतना तो स्पष्ट है कि सवत् विक्रम-राजाके नामसे सम्वद्ध है और उसके अकोमें एक अक ३८ है। विक्रमराजाके नामसे सम्वद्ध सम्वत् तो विक्रम सम्वत् है ही। किन्तु जैनपरम्परामें शक सम्वत्का उल्लेख भी विक्रमाक शकके नामसे मिलता है। जैसे त्रिलोकसारकी टीकामें टीका-कार माधवचंद त्रैविद्यने लिखा है—'श्रीवीरनाथनिवृंते. सकाशात् पचोत्तर-षट्शतवर्षाणि (६०५)पचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमाकशकराजो जायते'। अर्थात् वीरनिर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् विक्रमाक शक राजा हुआ।

यहाँ पर विक्रमाकशकसे तात्पर्य स्पष्ट रूपसे शक सम्वत्के सस्थापकसे है, क्योकि त्रिलोकसारकी जिस [1]गाथा ८५० की यह टीका है उसमें शकका ही निर्देश है। तथा वीरसेन[2] स्वामीने भी अपनी धवला टीकामें वीर निर्वाण और शक राजाके मध्यमें ६०५ वर्ष पाच मासका अन्तर वतलाया है। यद्यपि उन्होने इस विषयमें अन्य आचार्योके मत भी दिये है किन्तु उनका अपना मत यही था।

अकलकचरित्र[3]में अकलकके बौद्धोके साथ शास्त्रार्थका समय विक्रमार्क शक सम्वत् ७०० दिया है। यहा ग्रन्थकारने विक्रमार्क शक नामसे विक्रम सम्वत्का उल्लेख किया है, या शक सम्वत्का, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तथापि इतना निश्चित प्रतीत होता है कि यह शक सम्वत् ७०० नही हो सकता, क्योकि शक सम्वत् ७०५ में रचे गये हरिवशपुराणमें वीरसेन और जिनसेनको स्मरण किया गया है और वीरसेनने अपनी धवलाके आरम्भमें ही अकलकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकसे वहुतसे उद्धरण दिये है। तथा अकलकका उल्लेख करनेवाले धनजय कविके कोश[4]से भी धवला[5]में उद्धरण दिया गया है। अस्तु,

---

१. 'पणछस्सयवस्स पणमासजुद गमिय वीरणिव्वुइदो सगराजो'

२ 'एसो वीरजिणिंदणिव्वाणगददिवसादो जाव सगकालस्स आदी होदि तावदियकालो। कुदो? (६०५/५) एदम्हि काले सगणरिंदकालम्मि पक्खित्ते वड्ढमाणजिणणिव्वुदकाला-गमणादो।'—षट्खंत० पु ९, पृ. १३२।

३ 'विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि। कालेऽकलकयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत॥' अक० च०।

४ 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षण।' ध० ना० मा० श्लो० २०३।

५ षट्ख०, पु ९, पृ २३७।

ऐसी स्थितिमें यह विचारणीय हो जाता है कि वीरसेन स्वामीने धवलाकी उक्त प्रशस्तिमें यदि विक्रमाक शकका ही उल्लेख किया है तो विक्रम सम्वत्के अर्थमें किया है या शक सम्वत्के अर्थमें ? और ३८ के अकमे पहले कौन-सा अक होना सभव है ?

प्रथम विचारणीय विपयके सम्वन्धमें प्रो० हीरालालजीका कहना[1] है कि 'वीरसेनस्वामीने जहां-जहां वीरनिर्वाणकी कालगणना दी है वहा शककालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्राय समस्त जैन लेखकोने शक-कालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामे आश्चर्य नही जो यहा भी लेखकका अभिप्राय शककालसे हो'।

प्रोफेसर साहवका कथन उचित है। किन्तु वीरसेनने जहा कही शकका निर्देश किया है, उसके साथ विक्रमाक विशेपणका कही भी प्रयोग नही किया। यदि वह या उनके शिष्य जिनसेन शकके साथ एकाध जगह भी विक्रमाक विशेपणका प्रयोग करते तो प्रोफेसर साहवकी उक्त युक्तिया वलवती होती। ऐसी स्थितिमें प्रशस्तिके छठे श्लोकमें आगत विक्कमराय शब्द विचारणीय हो जाता है।

दूसरे विचारणीय विपयके सम्वन्धमें प्रोफेसर साहवका कथन है कि—'गाथा[2] में 'शत' सूचक शब्द गडवडीमें है। किन्तु जान पडता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्प विक्रम सम्वत्के कहनेका है। किन्तु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुग का राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अत. उसके अनुसार ३८ के अक की कुछ सार्थकता नही वैठती। × × × यदि हम उक्त सख्या ३८ के साथ सात सौ और मिला दें और ७३८ शक सम्वत्को लें तो यह काल जगतुगके ज्ञातकाल अर्थात् शक सम्वत् ७३५ के वहुत समीप आ जाता है'।

इस तरह जहां डा० हीरालालजी धवलामें प्रयुक्त सम्वत्को शक सम्वत् मानकर ३८ से पहले सात अक रखना उचित समझते है, वहा डा० ज्योति-प्रसादजी उसे विक्रम सम्वत् मानकर ३८ से पहले ८ का अक रखना उचित समझते है। अर्थात् उनके मतसे धवलाकी समाप्ति वि० स० ८३८ में (शक स. ७०३) में हुई।

ऐसी स्थितिमें इन दोनो कालो पर अब दूसरे प्रकारसे विचार करना उचित होगा। धवलाकी प्रशस्तिकी गाथासख्या ७ में 'जगतुंगदेवरज्जे' पद है। अर्थात् जगतुगदेवके राज्यमें जयधवला समाप्त हुई। और गाथासख्या ९ में कहा है, कि उस समय नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणरायनरेन्द्र राज्यका उपभोग करते थे।

---

१. पट्ख., भा. १ प्रस्ता०, पृ ४५।
२ पटख, भा. १, प्रस्ता०, पृ. ४०।

प्रथम तो एक ही प्रशस्तिमें दो राजाओका निर्देश कुछ विचित्र-सा ही प्रतीत होता है। दूसरे, राष्ट्रकूट नरेशोमें जगतुगदेव नामक एक ही राजा नही हुआ तथा वोद्दणराय नामक राजा कौन था, इसमें भी विवाद है।

इस उलझनके विपयमे प्रो० हीरालालजीने लिखा[1] है—'शक स० ७३८में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुगके उत्तराधिकारी अमोघवर्पके राज्यका उल्लेख है। यही नही, किन्तु शक सम्वत् ७८८के सिरूरसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२वें वर्षका उल्लेख है। जिससे ज्ञात होता है कि अमोघ-वर्पका राज्य ७-७से प्रारम्भ हो गया था। तव फिर शक ७३८में जगतुगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गा० न ७में 'जगतुगदेवरज्जे' के अनन्तर आये हुए 'रियम्हि' शब्द पर जाती है, जिसका अर्थ होता है 'ऋते' या 'रिक्ते'। सभवत· उसीसे कुछ पूर्व जगतुगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ हुए थे। इस कल्पना-से आगे गाथा न० ९में जो वोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। वोद्दणराय सम्भवत अमोघवर्पका ही उपनाम होगा। या यह 'वड्डिग'का ही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्पका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वद्दिग या वड्डिग मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होने धवला टीका शक सम्वत् ७३८में समाप्त की जब जगतुगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और वोद्दणराय राजगद्दी पर वैठ चुके थे।'

जिस तरह ३८में ७के अकको कल्पना करके प्रोफेसर साहब ने ७३८ शक सम्वत् निर्धारित किया उसी तरह उक्त कल्पनाके आधार पर ही उन्होने जगतुग और वोद्दणरायकी समस्या को सुलझानेकी चेष्टा की है।

अमोघवर्प प्रथम छै वर्षकी अवस्थामें शक स ७३६में राज्यगद्दी पर वैठा था। अतः ८ वर्पके वालकको 'नरेन्द्रचूडामणि' जैसे विशेषणसे अभिहित किया जाना खटकता है। हमारा विचार है, कि धवला प्रशस्तिकी अन्तिम गाथा सभवत· पीछेसे किसीने उसमें जोड दी है। उसमें आगत शब्द 'विगत्ता' भी अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'कृत' धातुसे प्राकृत रूप 'विगत्ता' वनता है, जिसका अर्थ होता है छेदी गई या काटी गई। इस अर्थका वहाँ कोई सम्बन्ध नही है। अत 'विअत्ता' पाठ उचित प्रतीत होता है, जिसका अर्थ है स्पष्ट की गई। अर्थात् 'जब नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नरेन्द्र पृथ्वीका उपभोग करते थे उस समय सिद्धान्तग्रन्थका मथन करने वाले गुरुके प्रसादसे उस धवलाको व्यक्त किया गया

१ वही, पृ ४१।

उसकी कोई टीका टिप्पणी लिखी गई। समाप्तिसूचक 'समाणिया' पाठ तो उससे पूर्वकी गाथा ८में ही आ चुका है। अतः यह समस्या उलझी हुई है।

रचनाएं

वीरसेन स्वामीने सपूर्ण धवला और जयधवलाका पूर्वभाग रचा था। ये दोनो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। षट्खण्डागम सूत्रोके साथ हिन्दी अनुवाद सहित धवला[1]-टीका १६ भागोमें छपकर प्रकाशित हो गई है तथा कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रो के साथ हिन्दी अनुवाद सहित जयधवलाका[2] प्रकाशन कार्य चालू है। जयधवलामे एक जगह श्रीवीरसेन स्वामीने स्वलिखित[3] उच्चारणावृत्तिका भी निर्देश किया है। यदि वहाँ लिखितसे उनका आशय रचितसे है तो कहना होगा कि उन्होने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर उच्चारणावृत्ति भी रची थी।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्यने उनकी एक अन्य रचनाका निर्देश किया है उसका नाम[4] प्रेमीजोने सिद्धभूपद्धति टीका दिया है और लिखा है कि नामपरसे ऐसा अनुमान होता है कि यह क्षेत्रगणित सम्बन्धी ग्रन्थ होगा। किन्तु गुणभद्रके उत्तरपुराणका जो सस्करण ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है उसमें 'सिद्धिभूपद्धति' पाठ है और श्लोकके भावको देखते हुए यही पाठ ठीक प्रतीत होता है। श्लोक इसप्रकार है—

> सिद्धिभूपद्धतिं यस्य टीका सविक्ष्य भिक्षुभि.।
> टीक्यते हेलयाऽन्येषा विषमादि पदे पदे ॥६॥-उ पु प्र

अर्थ—दूसरोकेलिए पद-पदपर विषम भी सिद्धिभूपद्धति, जिसकी टीकाको देखकर भिक्षुओके द्वारा सरलतासे प्रवेश योग्य हो गई।

उक्त कथन श्लेषात्मक है। जो सिद्धिभू-मोक्षभूमिकी पद्धति-मार्ग दूसरोके लिए पद-पदपर विषम है वह भिक्षुओके लिए सुगम है। इसपरसे ज्ञात होता है कि सिद्धिभूपद्धति नामक ग्रन्थ बडा कठिन था, जो वीरसेनकी टीकासे सरल हो गया तथा उसमें मोक्षमार्गका विवेचन था।

इस ग्रन्थके सम्बन्धमें उक्त उल्लेखके सिवाय अन्य कोई उल्लेख नही मिलता। फिर भी यह स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ तथा उसकी टीका दोनो ही बहुत महत्त्वपूर्ण थे।

इस तरह वीरसेनस्वामीने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रन्थोकी रचना प्राकृत-

---

१. प्रकाशक श्रीमन्त सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द, भेलसा (म प्र.)।

२. भारतीय दिगम्बर जैन सघ, चौरासी, मथुरासे प्रकाशित।

३ 'अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण ।'—क पा, भा.३, पृ. ३९८।

४ जै. सा इ, २ रा. स., पृ, १३१।

सस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषामें की थी। और वे सिद्धान्तग्रन्थोके अनुपम व्याख्याता थे। उन्होने अपनी टीकाओमें प्रकृत विषयोका स्पष्टीकरण और सम्बद्ध प्रासंगिक विषयोका विवेचन इस रीतिसे किया है कि बादके टीकाकारोके लिखनेके लिए कुछ शेष नही रहा और सम्भवतया इस कारण भी धवला और जयधवलाके पश्चात् सिद्धान्तग्रन्थोपर कोई टीका नही लिखी गइ। इतना ही नही, किन्तु इन टीकाओके सुविस्तृत परिमाणमें और उनमें चर्चित विषयोकी प्राञ्जलतामें उनकी मूलाधार कृति ऐसी समा गई कि षट्खण्डागमसूत्र धवल-सिद्धान्तके नामसे और कषायपाहुड जयधवलसिद्धान्त नामसे ही प्रख्यात हो गये।

ईसाकी १०वी शताब्दीके ग्रन्थकार अपभ्रशकवि पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें[१] उनका उल्लेख इसी नामसे किया है। वास्तवमें दोनो टीकागन्थ जैन सिद्धान्त-विषयक चर्चाओके भण्डार है।

वीरसेनस्वामीकी किसी स्वतन्त्र ग्रन्थरचनाका कोई संकेत नही मिलता।

●

१' 'णउ बुज्झिउ आयमसद्दधामु, सिद्ध तु धवलु जयधवलु णाम।—म, पु'।

तृतीय अध्याय

द्वितीय परिच्छेद

जयधवला-टीका

नामकरण

धवला-टीकाके पश्चात् दूसरी महत्त्वपूर्ण टीका 'जयधवला' है। यह टीका 'कपायपाहुड' पर लिखी गयी है। टीकाकारने इस टीकाकी प्रथम मङ्गल-गाथाके आदिमें ही 'जयइ धवलगतेए' पद देकर इसके नामकी सूचना दी है। अन्तमें तो इसके नामका स्पष्ट उल्लेख किया है—

एत्थ समप्पइ धवलियतिहुवणभवणा पसिद्धमाहप्पा।
पाहुडसुत्ताणमिमा जयधवलासण्णिया टीका ॥१॥

'तीनो लोकोको धवलित करनेवाली और प्रसिद्ध माहात्म्यवाली कपाय-पाहुडसूत्रोकी यह 'जयधवला' नामकी टीका यहाँ समाप्त होती है।'

उपर्युक्त पद्यसे यह तो स्पष्ट है कि इस टीकाका नाम 'जयधवला' है। पर इस नामकरणका क्या कारण है, यह ज्ञात नही होता। टीकाकारने टीकाके आरम्भमें चन्द्रप्रभस्वामीकी जयकामना करते हुए उनके धवल वर्ण शरीरका उल्लेख किया है। अत: यह निष्कर्प निकाला जा सकता है कि चन्द्रप्रभ स्वामीके धवलवर्णके आधारपर इस टीकाका नामकरण जयकामनाको मिश्रित कर 'जय-धवला' किया गया हो।

इसके पूर्व छक्खडागमपर धवला-टीका रची जा चुकी थी। इसीके आधारपर कपायपाहुडकी इस टीकाका नाम 'जयधवला' रखा गया होगा। और दोनोमें भेद करनेके लिए 'जय' विशेपण नियोजित किया होगा।

'जयधवला' टीका भी 'धवला' टीकाके समान ही विशद, स्पष्ट और गम्भीर है। सम्भव है कि इस कारणसे भी इसे 'जयधवला' नाम दिया गया हो। एक अन्य हेतु यह भी सम्भव है कि इन टीकाओकी उज्ज्वल ख्यातिने तीनो लोकोको धवलित कर दिया है। अतएव इनका सार्थक नाम धवला और जयधवला है।

जयधवला टीका शैली और महत्त्व

इस टीकाकी शैली व्याख्यानात्मक होने पर भी नये तथ्योंसे सम्बद्ध है। टीकाकार जिस किसी आचार्यका मत देते हैं, उसे दृढताके साथ अधिकारपूर्वक

लिखते है। उनके किसी भी व्याख्यानसे विषय सम्बन्धी कमजोरी प्रकट नही होती। वर्णनकी प्राजंलता और युक्तिवादिताको देखकर पाठक आश्चर्य चकित हुए विना नही रहता। टीकाकार प्रत्येक तथ्यकी पुष्टिके लिए प्रमाण प्रस्तुत करते है। उनके प्रत्येक कथनमें 'कुदो' लगा रहता है। वे इस 'कुदो' द्वारा प्रश्न करते है और तत्काल ही हेतुपरक उत्तर उपस्थित कर देते है। इस टीकामें टीकाकारने आगमिक परम्पराकी पूरी रक्षा की है और एक ही विषयमें प्राप्त विभिन्न आचार्योंके विभिन्न उपदेशोका उल्लेख किया है।

इस टीकाग्रन्थकी रचनाशैलीके सम्बन्धमें निम्नलिखित प्रशस्तिपद्यसे प्रकाश प्राप्त होता है—

प्राय प्राकृतभारत्या क्वचित् सस्कृतमिश्रया।
मणिप्रवालन्यायेन प्रोक्तोऽय ग्रन्थविस्तर ॥ —ज० प्र० प० ३७

इससे स्पष्ट है कि इस विस्तृत टीकाग्रन्थकी रचना प्राय. प्राकृत-भाषामें की गयी है। बीचमें इसमें कही-कही सस्कृतका भी मिश्रण है। इसी कारण यह टीका भी 'धवला' के समान 'मणिप्रवाल' कहलाती है।

निस्सन्देह 'धवला' की अपेक्षा जयधवला प्राकृतबहुल है। इसमें दार्शनिक चर्चाएँ और व्युत्पत्तियाँ तो सस्कृत-भाषामें निवद्ध है, पर सैद्धान्तिक चर्चाओके लिए प्राकृतका प्रयोग उपलब्ध होता है। कही-कही तो कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते है, जिनमें एक साथ दोनो भाषाओका उपयोग किया गया है। टीकाकी भाषा प्रसादगुणयुक्त और प्रवाहपूर्ण है। अध्ययन करते समय पाठककी जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है।

टीकाकारका भाषाके साथ विषय पर भी असाधारण प्रभुत्व है। जिस विषयका प्रतिपादन करते है। उसका शका-समाधान पूर्वक अत्यन्त स्पष्टीकरण कर देते है। चर्चित विषयको अधिक-से-अधिक स्पष्ट करनेकी कला इस टीका-ग्रन्थमें विद्यमान है। जयधवलाके अन्तके निम्न पद्यसे शैलीगत वैशिष्ट्य पर प्रकाश पडता है—

होइ सुगमं पि दुग्गममणिवुणवक्खाणकारदोसेण।
जयधवलाकुसलाण सुगमं वि य दुग्गमा वि अत्थगई ॥ —ज०अ०प० ७

अनिपुण व्याख्याताके दोषसे सुगम वात भी दुर्गम हो जाती है, किन्तु जय-धवलामें जो कुशल है, उनको दुर्गम अर्थका भी ज्ञान सुगम हो जाता है।

इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकी व्याख्यान शैली अत्यन्त सुगम है और इस टीकामें दुर्गम विषयको भी सुगम बनाया है।

जयधवला टीकाका महत्त्व विषयकी गम्भीरता और प्रतिपादनशैली-की सुगमताकी दृष्टिसे जितना है, उससे कहीं अधिक प्रमेयोंके अधिक समाविष्ट करनेकी दृष्टिसे भी है। यह टीका अपनी विशालता और प्रमेयाधिक्य-के कारण ही स्वतन्त्र ग्रन्थ 'जयधवल सिद्धान्त' कही जाती है। इसमें केवल चूर्णिसूत्रोंमें आये हुए अनुयोगद्वारोंके अनुसार ही विषयका व्याख्यान नहीं किया है, अपितु 'उच्चारणावृत्ति'में आये हुए अनुयोगद्वारोंके आधार पर विषय-का निरूपण किया है। इस प्रकार मूलग्रन्थ 'कसायपाहुड' और चूर्णिसूत्रोंमें निहित विषयका विवेचन 'उच्चारणावृत्ति' के अनुयोगद्वारोंके अनुसार विस्तार-पूर्वक किया है। अतएव इस ग्रन्थमें विषयका कथन दृढता, बहुज्ञता और आत्मविश्वास पूर्वक किया गया है।

चूर्णिसूत्रोंके व्याख्यान प्रसंगमें किसी भी अंशको दृष्टिसे ओझल नहीं होने दिया है। पदोंकी तो बात ही क्या, आचार्यने अंकोंकी भी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ अर्थाधिकार प्रकरणमें प्रत्येक अर्थाधिकारसूत्रके आगे पड़े अंकोंकी सार्थकताको लिया जा सकता है।

इस टीकाका एक अन्य महत्त्व विभिन्न विषयक अनेक दार्शनिक और सैद्धान्तिक मतोंकी जानकारी भी है। टीकाकारने उपदेशोंका कथन आचार्योंके नामोंके उल्लेख पूर्वक करके अपनी प्रामाणिकता सिद्ध की है।

जयधवलाका एक दूसरा महत्त्व ज्ञान, जीव, कर्म और कर्म सम्बन्धको विस्तृत रूपसे प्रस्तुत करना भी है।

रचना स्थान और काल

पहले धवलाका रचना काल निबद्ध किया जा चुका है। अत. इस सम्बन्ध-में विशेष प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नही। सक्षेपमें जयधवला टीका शक-सवत् ७५९ (वि० स० ८९४) में पूर्ण हुई।

यह जयधवला टीका वाटकग्रामपुरमें रची गयी है। इसके शासक गुर्जरार्य बताये गये है। आचार्य जिनसेनने प्रशस्ति-पद्य १२–१५ में गुर्जरार्य नरेन्द्रकी बडी प्रशसा की है और चन्द्र-तारा पर्यन्त उसकी कीर्तिके स्थिर रहनेकी भावना व्यक्त की है।

यह वाटकग्रामपुर कहाँ अवस्थित था और इसका आधुनिक नाम क्या सम्भव है, यह विचारणीय है। बडौदाका पुराना नाम वटपद्र, वटपद्रक या वट-पल्ली है। कोषोमें पद्रका अर्थ ग्राम मिलता है। अत वाटकग्राम बडौदा ही होना चाहिए। वहाँके कुछ राष्ट्रकूट राजाओंके कुछ ताम्रपत्र भी मिले है।

राष्ट्रकूट नरेश कर्कके शक सवत् ७३४ के ताम्रपत्रके अनुसार भानुभट्ट नामक ब्राह्मणको अकोटक चौरासी ग्राम विपयक वटपद्रक गाव दानमें दिया गया था। कर्क सुवर्णवर्षके दानपत्रमें भी कर्क और गोविन्द दोनो भाईयोके द्वारा वटपद्रक गाव दानमें देनेका उल्लेख है। इसमें भी वटपद्रकको अकोटक चौरासी गावके अन्तर्गत लिखा है।

अकोटक आज भी बडौदासे ५-६ मीलपर दक्षिणकी ओर वर्तमान है। कुछ समय पहले वहासे खुदाईमें कासेकी प्राचीन जैन मूर्तियाँ मिली है।

उक्त वटपद्र या वाटग्रामको गुर्जरार्य अथवा गुर्जरनरेन्द्र द्वारा अनुपालित बतलाया है। यह गुर्जरनरेन्द्र राष्ट्रकूट अमोघवर्प ही है। अमोघवर्प जिनसेनका परम भक्त शिष्य था। गुणभद्राचार्यने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा अमोघवर्प स्वामी जिनसेनके चरणोमें नमस्कार करके अपनेको पवित्र हुआ मानता था।

राष्ट्रकूटोकी राजधानी मान्यखेट थी। अमोघवर्पके पिता गोविन्दराज तृतीयके समयके श० स० ७३५ के एक ताम्रपत्रसे ज्ञात होता है कि उसने लाटदेश-गुजरातके मध्य और दक्षिणी भागको जीतकर अपने छोटे भाई इन्द्रराज-को वहाका राज्य दे दिया था। इसी इन्द्रराजने गुजरातमें राष्ट्रकूटोकी दूसरी शाखा स्थापित की थी। शक स० ७५७ का एक ताम्रपत्र बडौदासे मिला है। यह गुजरातके राजा महा सामन्ताधिपति राष्ट्रकूट ध्रुवराजका है। इससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्पके चाचाका नाम इन्द्रराज था और उसके पुत्र कर्कराजने बगावत करने वाले राष्ट्रकूटोसे युद्ध करके अमोघवर्षको राज्य दिलवाया था। कुछ विद्वानोका मत है कि लाटके राजा ध्रुवराज प्रथमने अमोघवर्पके विरुद्ध बगावत की थी। अत अमोघवर्षको उसपर चढाई करनी पडी और गुजरात उसके राज्यमें आ गया। यह घटना जयधवलाकी समाप्तिसे कुछ ही समय पहले-की होनी चाहिये, क्योकि ध्रुवराज प्रथमका ताम्रपत्र श० स० ७५७ का है और जयधवलाकी समाप्ति श० स० ७५९ में हुई थी। अत. बाटग्रामके गुजरातमें होने तथा गुजरातका प्रदेश उसी समयके लगभग अमोघवर्षके राज्यमें प्रोतके कारण अमोघवर्पका गुणगान किया है। अतः जयधवलाकी रचना वाटग्रामपुरमें राजा अमोघवर्षके राज्यमें शक स० ७५९ में पूर्ण हुई थी।

जयधवलागत विषय वस्तु

जयधवला कसायपाहुड और उसपर रचित चूर्णिसूत्रोकी विवरणात्मक विस्तृत व्याख्या है। अत उसका प्रतिपाद्य मूल विषय वही है जो उसके मूलभूत ग्रन्थोका है। किन्तु उसमें व्याख्याका रूप कैसा है और क्या विशेप कथन किया गया है, यही बतलाना यहाँ अभीष्ट है।

यह हम पहले लिख आये है कि कसायपाहुडके अधिकारोकी संख्या यद्यपि पन्द्रह है तथापि नामोमें मतभेद है और उसका निर्देश करके वीरसेन स्वामीने जयधवलाके अधिकारोका निर्देश स्वय अपनी दृष्टिसे किया है।

सबसे प्रथम जयधवलाकारने मंगलकी चर्चा करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि आचार्य गुणधरने कसायपाहुडके और यतिवृषभने चूर्णिसूत्रोके आदिमें मंगल क्यो नही किया ? समाधानमें कहा है कि प्रारम्भ किये गये कार्यमें विघ्न विनाशके लिये मगल किया जाता है। किन्तु परमागममें उपयोग लगानेसे ही वे विघ्न नष्ट हो जाते है, इसीसे उक्त दोनो ग्रन्थकारोने मगल नही किया।

चूर्णिसूत्रकारने प्रथम गाथाकी वृत्तिमें पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है। किन्तु जयधवलाकारने दोनोकी सगति वतलाते हुए कहा है कि गाथामें केवल एक नामोपक्रमका ही निर्देश है शेपकी सूचना 'दु' शब्द से की है। इसीसे यतिवृषभ ने पाँच उपक्रमोका निर्देश किया है।

यत इसका निकास ज्ञानप्रवाद नामक पूर्वसे हुआ है अत' टीकाकारने मंगलके पश्चात् मति आदि पाँच ज्ञानोका कथन करते हुए पाँच उपक्रमोका विस्तारसे कथन किया है। तथा केवलज्ञानका अस्तित्व तर्क और युक्तिके आधारसे सिद्ध किया है। इसी प्रसगसे कर्मवन्धनकी भी चर्चा है। तत्पश्चात् केवलज्ञानी भगवान महावीरके जीवनकालकी चर्चा करते हुए विपुलाचलपर उनकी प्रथम धर्मदेशनाका समय वतलाया है तथा किस प्रकार आचार्यपरम्परासे आता हुआ उपदेश गुणधराचार्य तथा आर्यमक्षु और नागहस्तीको प्राप्त हुआ, यह वतलाया है। द्वादशागरूप श्रुत और अगवाह्यश्रुतके विषयका परिचय करानेके वाद पन्द्रह अधिकारोकी चर्चा विस्तारसे की है और उस विषयक मतभेदको भी स्पष्ट किया है।

चूर्णिसूत्रकारने कसायपाहुड नाम नयनिष्पन्न कहा है। इस प्रसगसे नयोके स्वरूपकी चर्चा बहुत विस्तारसे करते हुए नयोमें निक्षेपोंकी योजना की है। जो नयोके अध्ययनके लिये उपयोगी है।

चूर्णिसूत्रोके विषय-परिचयमें कहा है कि आचार्य यतिवृषभने विवेचनके लिये अनुयोगद्वारोका निर्देश किया है तथा उनमेंसे कुछ अनुयोगद्वारोका सामान्य कथन भी किया है। जयधवलामें सभी अनुयोगद्वारोका विवेचन चौदह मार्गणाओमें किया है। तथा यह विवेचन चूर्णिसूत्रो पर निर्मित उच्चारणावृत्तिका आलम्बन लेकर किया गया है। जयधवलाकारने इस बातका निर्देश, कि हम यह कथन उच्चारणाका आश्रय लेकर कर रहे है, स्थान-स्थानपर किया है।

यहाँ प्रथम अधिकारमें आगत सतरह अनुयोगद्वारोका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है क्योकि सब अधिकारोमें प्राय इनका कथन आता है।

१ समुत्कीर्तना—इसका अर्थ है कथन करना इसमें गुणस्थान और मार्गणाओमें मोहनीयकर्मका आस्तित्व और नास्तित्व बतलाया गया है। ग्यारहवें गुणस्थान तक सभी जीवोके मोहनीय कर्मकी सत्ता पायी जाती है आगेके सभी जीव उससे रहित है। इसी तरह जिन मार्गणाओमें बारहवाँ आदि गुणस्थान संभव नही है उन मार्गणाओमें मोहनीय कर्मका आस्तित्व ही बतलाया है और जिन मार्गणाओमें सभी गुणस्थान सभव है उनमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनो बतलाये है।

सादि, अनादि, ध्रुव, अध्रुव—इसमे बतलाया है कि मोहनीय विभक्ति किसके सादि है, किसके अनादि है, किसके ध्रुव (अनन्त) है और किसके अध्रुव (सान्त) है।

स्वामित्व—इसमें बतलाया है कि जिसके मोहनीयकर्मकी सत्ता है वह उसका स्वामी है जो उसे नष्ट कर चुका है वह उसका स्वामी नही है।

काल—इसमें बतलाया है कि किस जीवके मोहनीयकर्यकी सत्ता कितने काल तक रहती है और असत्ता कितने काल तक रहती है। किसी जीवके मोहनीयकी सत्ता अनादि-अनन्त है और किसके अनादि-सान्त है।

अन्तर—इसमें बतलाया है कि एक बार मोहनीयकी सता नष्ट होने पर पुन कितने बाद प्राप्त होती है। किन्तु मोहनीयकर्म एक बार नष्ट हो जाने पर पुन' नही बधता और बन्ध हुए बिना सता नही हो सकती अत मोहनीयका अन्तरकाल नही है।

भगविचयानुगम—इसमें नाना जीवोकी अपेक्षा मोहनीयकर्मके आस्तित्व और नास्तित्वको लेकर भगोका विचार किया है।

भागा-भागानुगम—इसमें बतलाया है कि सब जीवोके कितने भाग जीव मोहनीय कर्मकी सत्तावाले है और कितने भाग जीव मोहनीयकर्मकी असत्ता वाले है।

परिमाण—इसमें मोहनीय कर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोंका परिमाण कहा है।

क्षेत्र—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्यकी सत्ता और असत्तावाले जीव लोकके कितने भागमें रहते है।

स्पर्शन—इसमें उक्त जीवोका त्रिकाल विषयक क्षेत्र कहा है।

काल—पहला कालका वर्णन किसी एक जीवकी अपेक्षासे है और यह नाना जीवोकी अपेक्षासे है। इसमें नाना जीवोकी अपेक्षा मोहनीयकर्मकी सत्ता और

असत्तावाले जीवोका काल बतलाया है। दोनो ही प्रकारके जीव सदा रहते है इसलिए उनका काल सर्वदा कहा है।

अन्तर—यह अन्तर भी नाना जीवोकी अपेक्षा है अत मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्तावाले जीव सदा पाये जाते है अत उनमें सामान्यसे अन्तर नही है।

भाव—इसमें बतलाया है मोहनीयकर्मकी सत्ता और असत्ता वाले जीवोके पाँच भावोमें से कौन भाव होते हैं। सत्तावालेके पारिणामिकके सिवा शेष चार भाव होते है और असत्तावालेके केवल क्षायिकभाव होता हैं।

अल्पबहुत्व—इसमें बतलाया है कि मोहनीयकर्मकी सत्ता वाले और असत्तावाले जीवोमें कौन अधिक है और कौन अल्प है।

इन अनुयोग द्वारोके साथ मूल प्रकृति विभक्तिका कथन समाप्त होता है।

आगे हम जयधवला टीकामें आगत कुछ विशेष विवेचनोकी ही चर्चा करेंगे—

१ प्रकृति-विभक्ति—इसमे कहा है कि उच्चारणाचार्यने मूल प्रकृति विभक्तिके सतरह अनुयोगद्वार कहे है और आचार्य यतिवृषभने आठ अनुयोगद्वार कहे हैं। किन्तु इसमें कोई विरोध की बात नही है क्योकि एकने पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन लिया है तो दूसरेने द्रव्यार्थिक नयका अवलम्बन लिया है। वीरसेन स्वामीने उच्चारणाचार्यके द्वारा कथित विवरणका आश्रय लेकर सतरह अनुयोगद्वारोका विवेचन किया है।

इसी तरह एकैक उत्तर-प्रकृति विभक्तिके ग्यारह अनुयोगद्वार यतिवृषभने कहे है और उच्चारणार्यने चौवीस कहे है। जयधवलाकारने उच्चारणाचार्यके अनुसार चौवीस अनुयोगद्वारोका ही कथन किया है। इस तरह जयधवला केवल चूर्णिसूत्रोंका व्याख्या-ग्रन्थ नही हैं किन्तु उसमें विषयगत प्रतिपादन भी विशेष हैं।

आचार्य यतिवृषभने चूर्णिसूत्रमें कहा है कि मोहनीय कर्मकी बाइस प्रकृतियोकी सत्ताका स्वामी मनुष्य ही होता है। इसकी टीकामें वीरसेनने कहा है कि आचार्य यतिवृषभके इस विषयमे दो उपदेश हैं। उनमेंसे कृतकृत्यवेदक जीव मरण नही करता, इस उपदेशको लेकर उक्त कथन किया है। उच्चारणाचार्यके अनुसार कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टी जीव नही मरता ऐसा नियम नही है क्योकि उच्चारणाचार्यने चारो ही गतियोमें बाईस प्रकृतिक विभक्ति स्थानका सत्त्व स्वीकार किया है।

अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना सम्यग्दृष्टी जीव ही करता है। अनन्तानुबन्धीके स्कन्धोको अन्य प्रकृति रूपसे परिणमानेको विसंयोजना कहते है।

विसयोजनासे क्षपणामें यह भेद है कि जिन कर्मोंकी क्षपणा होती है उनकी पुन उत्पत्ति नही होती । किन्तु अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना करने के बाद सम्यग्दृष्टी यदि मिथ्यात्वको प्राप्त होता है तो प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्म-स्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते है । इसीसे मिथ्यात्वमें मोहनीयकी २४ प्रकृतियोकी सत्ता न पायो जाकर अट्ठाईसकी सत्ता पायी जाती है । उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुवन्वी चतुष्ककी विसयोजनाके होनेमें भी मतभेद है । उच्चारणाके अनुसार तो निषेध है ।

इसपरसे यह शङ्का की गयी कि जिन आचार्योके कथनके अनुसार उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुवन्धीकी विसयोजना होती है उनसे उक्त कथनका विरोध क्यो नही आता । इसके उत्तरमें वीरसेन स्वामीने कहा है कि यदि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुबन्धीकी विसयोजनाका कथन करनेवाला वचन सूत्र वचन होता तो यह कथन सत्य होता क्योकि सूत्रके द्वारा व्याख्यान वाधित होता है परन्तु एक व्याख्यानके द्वारा दूसरा व्याख्यान वाधित नही होता इसलिए उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुवन्धीकी विसयोजना नही होती, यह वचन अप्रमाण नही है । फिर भी यहाँ दोनो उपदेशोका कथन करना चाहिये । क्योकि दोनोमें अमुक कथन सूत्रानुसारी है इसके ज्ञान कराने का कोई साधन नही है ।

उपशमसम्यक्त्वके कालकी अपेक्षा अनन्तानुवन्धी चतुष्ककी विसयोजनाका काल अधिक है अथवा वहाँ अनन्तानुबन्धी चतुष्ककी विसयोजनाके कारणभूत परिणाम नही होते । इससे प्रतीत होता है कि उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानु-वन्धी चतुष्ककी विसयोजना नही होती । फिर भी यहाँ उपशम सम्यग्दृष्टीके अनन्तानुवन्धी चतुष्ककी विसयोजना होती है यह पक्ष ही प्रधान रूपसे स्वीकार करना चाहिये क्योकि परम्परासे यह उपदेश चला आता है ।

(क० पा० याग २, पृ० ४१७-१८)

इससे वीरसेन स्वामीकी या जयधवलाकी प्रामाणिकतापर प्रकाश पडता है ।

२ स्थितिविभक्ति—

चूर्णिसूत्रमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण सत्तर कोडाकोडी सागर कही है । इसकी व्याख्यामें जयधवलामें कहा है कि यह कथन एक समय-प्रबद्धकी अपेक्षा है, नाना समयप्रवद्धकी अपेक्षा नही है यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है इसका प्रमाण यह है कि जो कार्मण वर्गणास्कन्ध अकर्म-रूपसे स्थित है वे मिथ्यात्व आदि कारणोसे मिथ्यात्व कर्मरूपसे एक साथ परिणत होकर जव सम्पूर्ण जीव प्रदेशोसे सम्वद्ध हो जाते हैं तव उनकी एक समय अधिक

सात हजार वर्षसे लेकर क्रमसे सत्तर कोडाकोडी सागर प्रमाण स्थिति देखी जाती है इससे जाना जाता है कि यह स्थिति एक समय प्रबद्धकी है।

क्योंकि महाबन्धमें कहा है कि मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट आवाधा सात हजार वर्ष है और आवाधासे हीन कर्मस्थिति प्रमाण कर्म निषेक है।

(क पा, भाग ३, पृ १९४-१९५)

इस तरह जयधवलामें चूर्णिसूत्रगत कथनका आशय सप्रमाण उद्घाटित किया है।

जयधवलाका पूर्वार्ध ही वीरसेन स्वामीके द्वारा रचित है। उत्तरभाग जिसमे करीव दस अधिकार आते है वीरसेन स्वामीके शिष्य जिनसेन स्वामीने रचा है। अत' पूर्वभागमें जितना प्रमेय चर्चित है उत्तरभाग विपय वहुल होते हुए भी सैद्धान्तिक गुत्थियोके रहस्य के उद्घाटन से प्राय वैसा परिपूर्ण नही है। स्वामी जिनसेनने सम्वद्ध विपयका जो कपायपाहुड और चूर्णिसूत्रोमें चर्चित है, वरावर खुलासा किया है, किन्तु गुरु जैसी वात नहीं है। अत आगेके विपय-परिचयकी जानकारी कषायपाहुड और चूर्णिसूत्रोके विपय परिचयसे कर लेना चाहिये उसीका व्याख्यान और उपादान उसमें है।

रचयिता : वीरसेन और जिनसेन

धवलाके पश्चात् जयधवलाकी रचना हुई है, यह वात जयधवलाकी प्रशस्तिसे तो प्रमाणित होती है, साथ ही जयधवलासे भी प्रमाणित है। जयधवलाके प्रारम्भमें ही मतिज्ञान और अवधिज्ञानका कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने लिखा है—'इनके लक्षण जिस प्रकार वर्गणा[1] खण्डमें या उनके अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वारमें कहे है, वैसा ही कथन कर लेना चाहिये। वर्गणाखण्ड पाँचवाँ खण्ड है। पाँच ही खण्डोंपर वीरसेनने जयधवलाकी रचना की थी। अत उक्त उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि धवलाकी रचना कर चुकनेके पश्चात् ही वीरसेनने जयधवलाकी रचनामें हाथ लगाया था, किन्तु उसे वह अधूरी ही छोड कर स्वर्गवासी हो गये। उसकी पूर्ति उनके अन्यतम सुयोग्य शिष्य जिनसेनने की। जयधवलाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्वन्धमें श्रद्धावनत हृदयसे लिखते हुए जिनसेनने भूतकालकी क्रिया 'आसीत'का प्रयोग किया है, जो इस बातका

---

१. 'खिप्पोग्गहादीणमत्थो जहा वग्गणाखडे परूविदो तहा एत्थ वि परूवेदव्वो'

—क. पा., भा. १, पृ. १४

'एदेसिं तिण्हं णाणाण लक्खणाणि जहा पयडि अणुओगद्दारे परूविदाणि तहा परूवेदव्वाणि।'—पृ. १७।

सूचक है कि उनके गुरुका स्वर्गवास हो चुका था। अपने को उनका शिष्य घोषित हुए जिनसेनने अपने सम्बन्धमें भी थोडा प्रकाश डाला[1] है जिससे ज्ञात होता है कि जिनसेन अविद्धकर्ण थे अर्थात् कानछेदन का सस्कार होनेसे पहले ही उन्होने गृहवास छोड दिया था और गुरुके पास रहकर विद्याध्ययनमें लग गये थे अतः उनके कान ज्ञान शलाकासे वीधे गये थे। वह बाल-ब्रह्मचारी थे। उन्होने बाल्यावस्था से ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया था। वे न तो अति सुन्दर थे और न अति चतुर ही फिर भा सरस्वतीने अनन्य शरण होकर उनका आश्रय ग्रहण किया। बुद्धि, शम और विनय ये तीन उनके नैसर्गिक गुण थे। वे शरीरसे अवश्य कृश थे, किन्तु तपसे कृश (कमजोर) नही थे। शारिरिक कृशता कृशता नही है। जो गुणो से कृश है वही वास्तवमें कृश है।'

जिनसेनके शिष्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणकी[2] प्रशस्तिमें लिखा है कि जैसे हिमालयसे गगाका, सर्वज्ञसे दिव्यध्वनिका और उदयाचलसे भास्करका उदय होता है, वैसे ही वीरसेनसे जिनसेन का उदय हुआ।

इन्ही जिनसेनने वीरसेनके द्वारा प्रारब्ध जयधवलाको पूर्ण किया।

जयधवला टीकाके अन्त परीक्षण से भी यह निर्णय नही किया जा सका, कि गुरु और शिष्यमेंसे किसने कितना भाग रचा था। इसीसे जिनसेनाचार्यके वैदुष्य और रचना चातुर्यका अनुमान किया जा सकता है। उन्होने ज० ध०की प्रशस्तिमें लिखा[3] है कि 'गुरुके द्वारा बहुवक्तव्य पूर्वार्धके लिखे जानेपर, उसको

---

१ 'तस्यशिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेन समिद्धधी।
अविद्धावपि यत्कर्णौ विद्धौ ज्ञानशलाकया ॥२७॥
यस्मिन्नासन्नभव्यत्वान्मुक्तिलक्ष्मी समुत्सुका।
स्वयवरीतिकामेव श्रौति मालामयूयुजत् ॥२८॥
येनानुचरिता बाल्याद्ब्रह्मव्रतमखण्डितम्।
स्वयवर विधानेन चित्रमूढा सरस्वती ॥२९॥
यो नाति सुन्दराकारो न चातिचतुरो मुनि।
तथाप्यनन्यशरणा यं सरस्वत्युपाचरत् ॥३०॥
धी शमोविनयश्चेति यस्य नैसर्गिका गुणा।
सूरीनाराधयन्ति स्म गुणैराराध्यते न क ॥३१॥
य कृशोऽपि शरीरेण न कृशोऽभूत्तपोगुणै।
न कृशत्व हि शारीर गुणैरेव कृश कृश ॥३२॥'

२ 'अभवदिव हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो, ध्वनिरिव सकलज्ञात् सर्वशास्त्रैकमूर्ति।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानो, मुनि खु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात् ॥'
—उ० पु० प्र०।

१ 'गुरुणाऽर्धेऽग्रिमे भूरिवक्तव्ये सप्रकाशिते।
तन्निरीक्ष्याल्पवक्तव्य पश्चार्धस्तेन पूरित ॥३६॥'

देखकर इस अल्पवक्तव्य उत्तरार्धको उसने [जिनसेनने] पूरा किया।'

इससे केवल इतना ही व्यक्त होता है कि पूर्वार्धकी रचना गुरुने की और उत्तरार्धकी रचना शिष्यने। किन्तु ग्रन्थका पूर्वभाग कहाँ तक माना जाये, यह निर्णीत नही होता। जिनसेनने अपनी प्रशस्तिमे जयधवला टीकाको ६० हजार श्लोक प्रमाण बतलाया है तथा उसे तीन स्कन्धोमे विभाजित किया[1] है—प्रदेश-विभक्तिपर्यन्त प्रथम स्कन्ध है, सक्रम, उदय और उपयोग दूसरे स्कन्धमें सम्मिलित हैं। और शेष भाग तीसरा स्कन्ध है।

मोटे तौरपर ६० हजार श्लोक प्रमाणको तीन भागोमे विभाजित किया जाये, तो एक-एक स्कन्ध बीस-बीस हजार प्रमाण होता है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतार[2] में लिखा है कि प्रारम्भकी चार विभक्तियोकी बीस हजार श्लोक प्रमाण रचना करनेके पश्चात् वीरसेन स्वामीका स्वर्गवास हो गया। अत शेष भागकी ४० हजार श्लोक प्रमाण टीकाकी रचना जयसेन (जिनसेन)ने की। अत इन्द्रनन्दिके कथनानुसार संक्रमसे पहलेका विभक्ति पर्यन्त भाग वीरसेन स्वामीने रचा था। यद्यपि गणना करनेपर विभक्तिपर्यन्त ग्रन्थका परिमाण साढे छब्बीस हजार श्लोक प्रमाण बैठता है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दिने जयधवलाकी प्रशस्तिके उक्त कथनके आधारपर ही मोटे तौरपर स्कन्धोके प्रमाणकी परिगणना की है।

सक्रमसे पहलेका विभक्तिपर्यन्त भाग बहुवाच्य भी है अत' जिनसेन स्वामीके कथनानुसार उसे पूर्वार्ध भाग माना जा सकता है। उक्त दोनो आचार्योंके उल्लेखोका समन्वय करनेसे यह निष्कर्ष निकलता है।

अन्य व्याख्यानाचार्योका उल्लेख एव उपसहार

जयधवलामें कुछ अन्य व्याख्यानाचार्योंके भी व्याख्यान उल्लिखित हैं। एक स्थानपर लिखा है—'यह उच्चारणाचार्य' अभिप्राय है, परन्तु अन्य व्याख्याना-

---

१ 'षष्ठिरेवसहस्राणि ग्रन्थाना परिमाणत ।
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वश ॥३९॥
विभक्ति प्रथमस्कन्धो द्वितीय सक्रमोदयो ।
उपयोगश्च शेपस्तु तृतीय स्कन्ध इष्यते ॥४०॥'
—ज० ध० प्र०।

२ 'जयधवला च कपायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम्। १८२।
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनाया सयुताविरच्य दिवम् ।
यातस्तत पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥१८३॥
तच्छेप चत्वारिंशता सहस्रै समापितवान् ।
जयधवलैव षष्ठिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥१८४॥—श्र ताव०।

चार्य इस प्रकार कहते हैं[1]।

इन व्याख्यानाचार्योंका मत किन्ही विपयोमें यतिवृपभ और उच्चारणाचार्य-से भिन्न था। लिखा है—'यह सच है कि पूर्वोक्त व्याख्यान इस सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त होता है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अद्धाच्छेदमें तथा जघन्यस्थिति और जघन्य अद्धाच्छेदमें भेद कथन करनेके लिए व्याख्यानाचार्योने यह व्याख्यान किया है।[2]

आगे लिखा है कि यह उच्चारणाचार्यके द्वारा कहे गये अल्पबहुत्वकी सदृष्टि है। अब चिरन्तन व्याख्यानाचार्यके अल्पबहुत्वको कहते है[3]।

उपर्युक्त उल्लेखोसे स्पष्ट होता है कि जयधवलाकारके समक्ष अनेक उच्चा-चार्योंके व्याख्यान उपस्थित थे। इनमें कई उच्चारणाचार्योकी व्याख्याएँ अति-प्राचीन भी थी। सम्भवतया उनका नाम ज्ञात न होनेसे उनमेंसे कुछको चिरन्तन व्याख्यानाचार्यकी सज्ञा दी गयी है।

इस प्रकार जयधवला-टीकामें अनेक प्राचीन व्याख्याओके समाविष्ट होनेसे मूल्य विषयसे भी अधिक विषय अकित करनेका प्रयास किया गया है।

तृतोय परिच्छेद

छक्खंडागमकी अन्य टीकाएँ

वीरसेन स्वामीकी प्रसिद्ध धवलाटीकाके अतिरिक्त 'छक्खडागम' पर अन्य टीकाएँ भी लिखी गयी है। आचार्य इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें इन समस्त टीकाओका उल्लेख किया है। कुन्दकुन्दने परिकर्मटीका, शामकुण्डने पद्धत्तिटीका, तुम्बलूराचार्यने चूडामणिटीका, वप्पदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति और सुप्रसिद्ध तार्किक [4]समन्तभद्रने सस्कृतटीका लिखी है। इन्द्रनन्दिने बताया है—

इस प्रकार व्याख्यान क्रमको प्राप्त होता हुआ छक्खडागम रूप सिद्धान्त

---

१ 'एसो उच्चारणाइरियाणमहिप्पाओ। अण्णे पुणवक्खाणाइरिया एव भणति।'—क० पा०, भा० ३, पृ० २१३।

२ भा० ३, पृ० २९१।

३ 'एसा उच्चारणप्पाबहुअस्स सदिट्ठी। सपहि चिरन्तनवक्खाणाइरियाणमप्पाबहुअं वत्तइस्सामो।'—भा० ३, पृ० ५३२।

१ कालान्तरे तत पुनरासन्ध्या पर्लार (?) तार्किकार्कोऽभूत ॥१६७॥
श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीत्य सोऽप्यधीत्य त द्विविधम् ।
सिद्धान्तमत पट्खण्डागमगतखण्डपञ्चकस्य पुन ॥१६८॥
अष्टौ चत्वारिंशत सहस्रमद्ग्रन्थरचनया युक्तम् ।
विरचितवानति सुन्दरमृदुसस्कृतभाषया टीकाम ॥१६९॥—श्रुतावतार

गुरुपरम्परासे आता हुआ अति तीक्ष्णबुद्धिशाली शुभनन्दि और रविनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ। भीमरथि और कृष्णमेला नामकी नदियोके मध्यदेशमें सुन्दर उत्कलिका ग्रामके समीप मगणवल्ली नामक विख्यात ग्राममे वप्पदेव गुरुने उन दोनो मुनियोके समीप उस समस्त सिद्धान्तका विशेष रूपसे श्रवण किया। अनन्तर वप्पदेव गुरुने छ खण्डोमे-से महाबन्धको छोडकर शेष पांच खण्डोपर व्याख्या-नामक टीका लिखी।

'छक्खडागम' की व्याख्या पूर्ण होनेके पश्चात् 'कसायपाहुड' पर साठ हजार श्लोक प्रमाण टीका प्राकृतभाषामें लिखी।

इस प्रकार उक्त दोनो मूलागम ग्रन्थो पर विभिन्न टीकाओंका उल्लेख केवल श्रुतावतारो मे प्राप्त होता है। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य और उनकी टीकाका निर्देश नही किया है। तथा इन्द्रनन्दिने महाबन्ध पर रचित जिस सात हजार श्लोक प्रमाण पजिकाको तम्बुलूराचार्यकी कृति कहा है, उसे उन्होने शामकुण्डाचार्यकी ही कृति बतलाया है।

अब इन टीकाओके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचार प्रस्तुत किया जाता है—

कुन्दकुन्दकृत 'परिकर्म' नामक ग्रन्थ

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोंको जान कर कुण्डकुन्दपुरमें श्रीपद्मनन्दि मुनिने छ खण्डोमें-से आदिके तीन खण्डोपर बारह हजार प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा। कुण्डकुन्दपुरके यह [1]श्रीपद्मनन्दि मुनि प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द ही ज्ञात होते है कुन्दकुन्दपुर ग्रामके निवासी होनेसे वह इसी नामसे विख्यात हुए। इनके द्वारा रचित समयपाहुड, पवयणसार, पंचात्थिकाय, णियमसार, अट्ठपाहुड आदि अनेक ग्रन्थ सुप्रसिद्ध है, किन्तु छक्खडागम पर उनके किसी व्याख्या ग्रन्थका अन्यत्र सकेत प्राप्त नही है।

वीरसेन स्वामीकी धवला टीकामें अनेक स्थानो पर परिकर्म नामक ग्रन्थका उल्लेख बहुतायतसे मिलता है और उससे अनेक उद्धरण भी दिये गये है। किन्तु यह परिकर्म नामक ग्रन्थ किसके द्वारा रचा गया था, इसका कोई निर्देश धवलामें नही है और न उसे आगम ग्रन्थकी टीकारूप ही बतलाया गया है। धवलाटीका-में उसके उल्लेखोकी बहुलता देखकर यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि शायद वह परिकर्म इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट टीका ग्रन्थ ही तो नही है अत हम धवला

---

१ श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्द ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्र संजातसुचारणर्द्धि ॥'

—शिलालेख न० ४२, ४३, ४७, ५०

टीकासे उन सब उद्धरणो को दे देना उचित समझते है जिनसे परिकर्म प्रतिपादित विषयका आभास मिलता है।

परिकर्मका सबसे अधिक उल्लेख जीवट्ठाणके द्रव्यप्रमाणानुयोग अनुयोगद्वार की धवलाटीकामें मिलता है। इस अनुयोगमें जीवोकी सख्याका कथन है।

'जम्हि जम्हि अणताणंतयं मगिज्जदि तम्हि तम्हि
अजहण्णमणुक्कस्स अणंताणतस्सेवगहण''
इदि परियम्म वयणादो जाणिज्जदि अजहण्णमणुक्कस्स
अणताणतस्सेव गहण होदित्ति [पट्ख०, पु० ३ पृ०१९]

'जहाँ जहाँ अनन्तानन्त देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तका ही ग्रहण होता है', परिकर्मके इस वचनसे जाना जाता है कि प्रकृतमें अजघन्यानुत्कृष्ट अनन्तानन्तका ही ग्रहण है।'

'जहण्ण अणताणतणग्गिज्जमाणे जहण्ण अणंताणतस्स हेट्ठिमवग्गणट्ठाणेहिंतो उवरि अणतगुणवग्गट्ठाणाणि गतूण सव्वजीवरासिवग्गसलागा उप्पज्जदि' त्ति परियम्मे वुत्त।' [पु० ३, पृ० २४]

' जघन्य अनन्तानन्तका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर जघन्यअनन्तानन्तके नीचेके वर्गस्थानोसे ऊपर अनन्तगुणे वर्गस्थान जाकर समस्त जीवराशिकी वर्गशालाका उत्पन्न होती है', ऐसा परिकर्ममें कहा है।

अणताणतविसये अजहण्णमणुक्कस्स अणताणतेणेव गुणगारेणभागहारेणविहोदव्व' इति परियम्म वयणादो। (पु०३ पृ० २५)

अनन्तान्तके विषयमें गुणकार और भागहार अजघन्यानुत्कृष्ट अर्थात् मध्यम अनन्तानन्तरूप ही होना चाहिये, इस प्रकार परिकर्मका वचन है।

ण च एद वक्खाण 'जत्ति याणि दीवसायररूवाणि जम्बूदीव छेदणाणि च रूवाहियाणि' त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झदित्ति।—पु० ३, पृ० ३६।

और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपो और सागरोकी सख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने 'छेद है उतने रज्जुके अर्धच्छेद है, परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नही होता।'

'ज त गणणास खेज्जय त परियम्मे वुत्त।'—पु०३, पृ० १२४।

वह जो गणनासख्यात है उसका कथन परिकर्ममें है।

'जम्हि जम्हि असख्खेज्जासखेज्जय मागीज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्ण मणुक्कस्स-असंखेज्जासज्जस्सेव गहण भवदि' इदि परियम्मवयणादो।—पृ० १२७

'जहाँ जहाँ असख्यात देखा जाता है वहाँ वहाँ अजघन्यानुत्कृष्ट असख्याता

सख्यात अर्थात् मध्यम असंख्यातासख्यातका ही ग्रहण होता है ऐसा परिकर्मका वचन है।

'अट्ठरूव वग्गिज्जमाणे वग्गिज्जमाणे असखेज्जाणि वग्गट्ठाणाणि गतूण सोहम्मीसाण विक्खभ सुई उप्पज्जदि। सा सुई वग्गिदा णरइय विक्खभसुई हवदि। सा सई वग्गिदा भवणवासिय विक्खभसूई हवदि। सा सई वग्गिदा घणगुलो हवदि' त्ति परियम्मवयणादो णव्वदे घणपदरं गुलाण वग्गमूलस्स गहण ण हवदि किंतु सूचि अगुलवग्गमूलस्सेव गहण होदि त्ति अण्णहा घणगुलविदिय वग्गमूलस्स अणुप्पत्तीदो' ।—पृ० १३४ 'आठका उत्तरोत्तर वर्ग करते हुए असख्यात वर्गस्थान जाकर सौधर्म और ऐशान सम्बन्धी विष्कम्भ सूची उत्पन्न होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर नारकसम्बन्धी विष्कम्भ सूची होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर भवनवासी देवों सम्बन्धी विष्कम्भ सूची प्राप्त होती है। उसका एक बार वर्ग करनेपर घनागुल होता है' परिकर्मके इस कथनसे जाना जाता है कि प्रकृतमे घनागुल और प्रतरागुलके वर्गमूलका ग्रहण नही किया है किन्तु सूच्यगुलके वर्गमूलका ही ग्रहण किया है।'

'रज्जू सत्त गुणिदा जगसेढी, सा वग्गिदा जगपदरं, सेढीए गुणिदजगपदरं घणलागो होदि' त्ति परियम्म सुत्तेण सव्वाइरियसम्मदेण विरोहप्पसगादो च।—पु० ४, पृ० १८४। 'राजूको सातसे गुणा करने पर जगश्रेणी होती है, जगश्रेणीको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर जगप्रतर होता है और जगप्रतरको जगश्रेणीसे गुणा करनेपर घनलोक होता है' इस सर्व आचार्योंमे सम्मत परिकर्म सूत्रसे विरोधका भी प्रसग प्राप्त होता है।

'सव्वोहि उक्कस्सखेत्तुप्पायणट्ठं परमोहि उक्कस्सखेत्त तिस्से चेव चरिमअणवट्ठिद गुणगारेण आवलियाए असखेज्जदि भाग पदुप्पणेण गुणिज्जदित्ति के वि भणति। तण्ण घडदे, परियम्मे वुत्त ओहिणिवद्ध खेत्ताणुप्पत्तीदो।'—पु० ९, पृ० ४८।

सर्मावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रको उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न करानेके लिए परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रको आवलीके असख्यातवें भागसे उत्पन्न उसके ही अन्तिम अनवस्थित गुणकारसे गुण किया जाता है, ऐसा कोई आचार्य कहते है। किन्तु यह घटित नही होता, क्योकि ऐसा मानने पर परिकर्म में कहे हुए अवधिसे निवद्ध क्षेत्र नही बनते।'

'जदि सुदणाणिस्स विसओ अणतसखा होदि तो जमुक्कस्स सखेज्जं विसओ चोद्दसपुव्विस्से त्ति परियम्मे वुत्तं त कध घडदे ?—पु० ९, पृ० ५६।

यदि श्रुतज्ञानका विषय अनन्त सख्या है तो चौदह पूर्वोका विषय उत्कृष्ट संख्यात है। ऐसा जो परिकर्ममें कहा है, वह कैसे घटित होगा।

'एदे जोगाविभागपडिच्छेदा च परियम्मे वग्गसमुद्विदात्ति परूविदा'—पु० १०, पृ० ४८३।

परिकर्ममें इन योगोके अविभागी प्रतिच्छेदोंको वर्गसमुत्थित वतलाया है।

'अपदेस णेव इदिए गेज्झ इदि परमाणूण णिखयवत्त परियम्मे वुत्तमिदि णासकणिज्ज पदेसो णाम् परमाणु सो जम्हि परमाणुम्हि समवेद भावेणणत्थि सो परमाणुअयदे सओत्ति परियम्मे वुत्तो। तेण ण णिखयवत्त तत्तो गम्मदे।'—पु० १३ पृ०१८।

'परमाणु अप्रदेशी होता है और उसका इन्द्रियो द्वारा ग्रहण नही होता' इसप्रकार परमाणुओका निरवयनपना परिकर्ममें कहा है।' ऐसी आशका नही करना चाहिये, क्योकि प्रदेशका अर्थ परमाणु है। वह जिस परमाणुमें समवेत भावसे नही है वह परमाणु अप्रदेशी है ऐसा परिकर्ममें कहा है। अत परमाणु निर्-अवयव है यह बात परिकर्मसे नही जानी जाती।'

सव्वजीवरासिदो लद्धिमक्खरमणतगुणमिदि कुदो णव्वदे ? परियम्मादो। त जहा—सव्वजीवरासी वागीज्जमाणा अणत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वपोग्गलदव्व पावदि। पुणो सव्वपोग्गालदव्व वग्गिज्जमाण वाग्गिज्जमाण अणत लोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वकाल पावदि। पुणो सव्वकाला वग्गिज्ज-माणा वाग्गिज्जमाणा अणतलोगमेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण सव्वागाससेढि पावदि। पुणो सव्वागाससेढी वाग्गिज्जमाणा वग्गिज्जमाणा अणतलोगमेत्त वग्गण-ट्ठाणाणि उवरि गतूण धम्मात्थिय अधम्मत्थियदव्वाणमगुरुअलहुअगुण पावदि। पुणो धम्मात्थिय-अधम्मत्थियअगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणो अणत-लोकामेत्तवग्गणट्ठाणाणि उवरि गतूण एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुण पावदि। पुणो एगजीवस्स अगुरुअलहुअगुणो वग्गिज्जमाणो वग्गिज्जमाणोअणत लोगमेत्तवग्गणट्ठा-णाणि उवरि गतूण सुहुमणिगोद अपज्जत्तयस्स लद्धिक्खर पावदित्ति परियम्मे भणिदा' —पु० १३, पृ० २६२-६३।

'सव जीव राशिसे लब्ध्यक्षर ज्ञान अनन्तगुणा है यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है। परिकर्ममें कहा है—'सव जीव राशिका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर सर्व पुद्गल-द्रव्योंका प्रमाण प्राप्त होता। पुन सर्व पुद्गल द्रव्यके प्रमाणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेपर अनन्त लोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सर्व काल का प्रमाण आता है। पुन सर्वकालके प्रमाणका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान आगे जाकर समस्त आकाश श्रेणी प्राप्त होती है। पुन सर्व आकाश श्रेणीका वर्ग करते-करते अनन्तलोक प्रमाण वर्ग स्थान जानेपर आगे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

द्रव्यके अगुलघुगुण प्राप्त होते हैं। पुन धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायके अगुरु-लघुगुणोंका उत्तरोत्तर वर्ग करने पर अनन्त लोक प्रमाण वर्गस्थान आगे जाकर एक जीवका अगुरुलघु गुण प्राप्त होता है। पुन' एक जीवके अगुरुलघुगुणका उत्तरोत्तर वर्ग करनेवर अनन्तलोकमात्र वर्गस्थान आगे जाकर सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है।'

'सखेज्जावलियाहि एगो उस्सासो, सत्तुस्सासेहि, एगो थोवो होदित्ति परि-यम्मवमणादो।' —पु० १३, पृ० २९९।

'सख्यात आवलियोका एक उछ्वास होता और सात उछ्वासका एक स्तोक होता है, ऐसा परिकर्मका वचन है।

'असखेज्जमेत्त कुदो णव्वदे ? परियम्मादो।' त जहा ...... परियम्मे भणिदं।

यहां गुणकारका प्रमाण असख्यात लोक है, यह (पु० १४, पृ० ३७४-७५।)

किस प्रमाणसे ज.ना जाता है ? परिकर्मसे जाना जाता है।

धवलाटीकामें पाये जानेवाले परिकर्मके उक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परिकर्मका प्रधान प्रतिपाद्य विषय जैन गणित है, इसीसे उसके प्राय सभी उद्धरण गणनासे सम्बद्ध पाये जाते है। सम्भवतया गणनाके प्रसगसे ही उसमें ज्ञानोंकी भी चर्चा आयी है, क्योंकि श्रुतज्ञान और उसके एक भेद लब्ध्यक्षर श्रुत ज्ञानके प्रमाणका भी उसमें वर्णन है। तथा वह प्राकृत गद्य रूपमें रचा गया था किन्तु 'अपदेसं णेव इदिए गेज्झ' उद्धरणसे यह भी व्यक्त होता है कि उसमें गाथा भी होनी चाहिये। और द्रव्योंका वर्णन भी होना चाहिए।

जैसा कि हम लिख आये है कि परिकर्मके अधिकतर उद्धरण जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोगद्वारकी धवला टीकामें हैं। द्रव्य प्रमाणमें गुण स्थानो और मार्गणास्थानोमें जीवोकी सख्या बतलायी गयी है। उद्धरणोंसे प्रकट होता है कि उसमें भी गति आदिकी अपेक्षा जीवोकी संख्याका प्रतिपादन होना चाहिये।

किन्तु 'परिकर्म' षट्खण्डागमकी व्याख्या है, इसका कोई निर्देश धवलाकारने नहीं किया है। बल्कि एक दो स्थानो पर 'परिकर्मसूत्र' करके उसका निर्देश किया है,जिससे ऐसा आभास आता है कि वह कोई स्वतत्र ग्रन्थ था। किन्तु कुछ निर्देश ऐसे भी मिलते है जिनसे विपरीत भावना व्यक्त होती है।

वेदना खण्डके वेदना भाव विधान नामक अधिकार के सूत्र नम्बर २०८ की व्याख्या दृष्टव्य है। सूत्रमे कहा गया है कि 'एक कम जघन्य असंख्यातकी वृद्धिसे सख्यात भाग वृद्धि होती है।' इसकी धवलामें लिखा है कि एक कम जघन्य असख्यात कहनेसे उत्कृष्ट सख्यातका ग्रहण करना चाहिये। इसपर शंका की गयी कि सीधेसे उत्कृष्ट सख्यात न कहकर और सूत्रको बडा करके 'एक कम जघन्य

असख्यात' ऐसा क्यो कहा ? तो उत्तर दिया गया—'उत्कृष्ट सख्यातके प्रमाणके साथ सख्यात भाग वृद्धिका प्रमाण बतलानेके लिए वैसा कहा गया है' । इससे आगे धवलाकरने लिखा है—

'परिकम्मादो उक्कस्ससखेज्जयस्स पमाण मवगदमिदि ण पच्चवट्ठाण कादु जुत्त तस्स सुत्तत्ता भावादो । एदस्स णिस्सेस्स आइरियाणुग्गहणेण पद वि णिग्गयस्स एदम्हादो पुधत्तविरोहादो वा ण तदो उक्कस्ससखेज्जयस्स पमाण सिद्धी ।'
—पु० १२, पृ० ५४ ।

'यदि कहा जाये कि उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण परिकर्मसे ज्ञात है तो ऐसा प्रत्यवस्थान करना उचित नही है क्योकि उसमें सूत्र रूपताका अभाव है । अथवा आचार्यके अनुग्रहसे पदरूपसे निकले हुए इस समस्त परिकर्मके चूंकि इससे पृथक् होनेका विरोध है इसलिए भी इससे उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण सिद्ध नही होता ।' इस कथनमें प्रथम तो परिकर्मको सूत्र नही बतलाया है, दूसरे उसे इससे (षट्खण्डागम) भिन्न होनेका विरोध किया है । किन्तु परिकर्म इससे भिन्न क्यो नही है उक्त कथनसे स्पष्ट नही हो पाता । 'आचार्यके अनुग्रहसे पदरूप निकले हुए' इस शब्दार्थका भाव स्पष्ट नही होता । वे कौन आचार्य थे जिनके अनुग्रहसे परिकर्म की निष्पत्ति हुई, फिर 'पद विनिर्गत' शब्दसे क्या अभिप्राय धवलाकारको इष्ट है, सो सब अस्पष्ट ही रह जाता है । किन्तु फिर भी इतना तो स्पष्ट होता है कि परिकर्मका पट्खण्डागम सूत्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । अन्यथा सूत्र २०८की व्याख्या में यह क्यो कहा जाता कि उत्कृष्ट सख्यातका प्रमाण तो परिकर्मसे अवगत है तब यहाँ उत्कृष्ट सख्यात न कहकर 'एक कम जघन्य असख्यात' क्यो कहा । और क्यो उसके इससे भिन्न होनेका विरोध किया । इसी तरहकी चर्चा जीवट्ठाणके द्रव्य प्रमाणानुगम अनुयोग द्वारके सूत्र ५२ की धवलामें भी है । सूत्रमें क्षेत्रकी अपेक्षा लब्ध्यपर्याप्त मनुष्योका प्रमाण जगत श्रेणीके असख्यातवें भाग बतलाकर यह भी बतला दिया है कि 'जगश्रेणीके असख्यातवें भागरूप श्रेणी असख्यात करोड योजन प्रमाण होती है ।'

धवलामें इस पर यह शकाकी गयी है इसके कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? इसका उत्तर दिया गया कि इस सूत्रसे इस बातका ज्ञान नही हो सकता था कि जगश्रेणिके असख्यातवें भागरूप श्रेणीका प्रमाण असख्यात करोड योजन है । तो फिर शका की गयी कि परिकर्मसे इस बातका ज्ञान हो जाता है तब फिर सूत्रमें ऐसा कहनेकी क्या आवश्यकता है तो उत्तर दिया गया कि इस सूत्रके बलसे परिकर्मकी प्रवृत्ति हुई है ।'

परिकर्म षट्खण्डागम सूत्रोका व्याख्यान ग्रन्थ है, उक्त दोनो उद्धरणोसे बराबर ऐसा लगता है कि परिकर्म अवश्य ही षट्खण्डागम सूत्रो का व्याख्यान ग्रन्थ था ।

खुद्दाबन्धके कालानुगम अनुयोग द्वारमें वादर पृथिवी-कायिक आदि जीवोंकी उत्कृष्ट ? स्थिति बतलानेके लिए एक सूत्र आता है—'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' अर्थात् अधिक से अधिक से अधिक कर्मस्थिति प्रमाण काल तक जीव वादर पृथिवी-कायिक, आदिमें रहता है ।

इस सूत्रकी धवलामें लिखा है—'सूत्रमें जो 'कम्मट्ठिदी' शब्द आया है उससे सत्तर कोडा-कोडी सागरोपम मात्र कालका ग्रहण करना चाहिये। फिर लिखा है—'के वि आइरिया सत्तरि सागरो इम कोडाकोडिमावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादर पुढवि कायादीण कायट्ठिदी होदित्ति भणंति। तेसिं कम्म-ट्ठिदि ववएसो कज्जे कारणोवयरादो। एद वक्खाणमत्थित्ति कधं णव्वेदं ? कम्म-ट्ठिदिमावालियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादरट्ठिदि होदि त्ति परियम्म वयणण्णहा-णुववत्तीदो। तत्थ सामण्णे वादरट्ठिदी होदि त्ति ज वि उत्त तो वि पुढविकायदीणं वादराण पत्तेयकायट्ठिदी घेत्तव्वा, असखेज्जाखेज्जाओ ओसप्पिणी-उस्सप्पिणीओत्ति सुत्तम्मि वादरट्ठिदि परूवणादो।"—पु० ७, पृ० १४५।

'किन्ही आचार्योका ऐसा कहना है कि सत्तर सागरोपम कोडा-कोडीको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणा करने पर वादर पृथिवीकायिक आदि जीवोकी कायस्थितिका प्रमाण होता है। किन्तु उनकी कर्मस्थिति यह सज्ञा कार्यमें कारणके उपचारसे ही सिद्ध होती है।

शङ्का—ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना ?

समाधान—'कर्मस्थितिको आवलीके असंख्यातवें भागसे गुणित करनेपर वादर स्थिति होती है, परिकर्मके ऐसे वचनकी अन्यथा उपपत्ति बन नही सकती है। वहाँ पर (परिकर्म में) यद्यपि सामान्यसे 'वादर स्थिति होती है, ऐसा कहा है तो भी प्रत्येक वादर पृथिकायादिकी काय स्थिति ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि सूत्रमें (षट्ख०) वादर स्थितिका कथन असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी प्रमाण किया है।'

इस उद्धरणमें जो खुद्दाबन्धके ७७वें सूत्रके विषयमें यह शका की गयी है कि ऐसा व्याख्यान है यह कैसे जाना और उसके समाधानमें जो यह कहा है कि यदि ऐसा व्याख्यान न होता तो परिकर्मका इस प्रकारका कथन नही बन सकता था उससे प्रकृत विषय पर थोडा विशेष प्रकाश पडता है। और ऐसा प्रतीत होता है कि परिकर्म सूत्रोंके व्याख्यानसे सम्बन्ध अवश्य था।

उक्त चर्चा जीवट्ठाणके कालानुगमकी धवला टीकामें प्रकारान्तरसे आई है उसमे लिखा है—

'के वि आइरिया कम्मट्ठिदीदो वादरट्ठिदी परियम्मे उप्पण्णा त्ति कज्जे कारणोवयार-मवलंबिय वादरट्ठिदीए चेय कम्मट्ठिदि सण्णमिच्छंति, तन्न घटते,

'गौणमुख्ययो मुख्ये सप्रत्यय इति न्यायात् । ण च वादगणं गामण्णेण वुत्तकालो वादरेगदेगाण वादर पुढविकाइयाण पि सोचेव होदि त्ति, विरोहा ।'—पु० ४, पृ० ४०३ ।

कोई आचार्य 'कर्मस्थितिसे वादर स्थिति परिकर्ममें उत्पन्न हुई है' इसलिए कार्यमे कारणका उपचार करके वादर स्थिति की ही कर्मस्थिति सज्ञा मानते है । किन्तु यह घटित नही होता, क्योकि 'गौण और मुख्यमें मे मुख्यका ही ज्ञान होता है' ऐसा न्याय है । तथा वादरोका सामान्य रूपसे कहा हुआ काल वादरोंके एक देश वादर पृथिवीकायिको का भी, वही ही नही हो सकता, क्योकि इसमें विरोध आता है ।''

खुद्दावन्धमें भी उक्त चर्चा 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥७७॥' सूत्रकी व्याख्यामें आयी है । और जीवट्ठाणके कालानुगममें भी 'उक्कस्सेण कम्मट्ठिदी ॥१४४॥ सूत्रकी व्याख्यामें उक्त चर्चा निवद्ध है । उक्त चर्चासे प्रकट होता है कि परिकर्ममें वर्णित वादरस्थिति 'कर्मस्थिति' से उत्पन्न हुई है । अर्थात् पट्खण्डागमके सूत्रमें आगत 'कर्मस्थिति' शव्दसे ही परिकर्मगत वादरस्थिति उत्पन्न हुई है । अत यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि पट्खण्डागम सूत्रोके आधार पर ही परिकर्म रचा गया किन्तु एक उद्धरणसे पट्खण्डागमसे परिकर्ममें कही कुछ मतभेद भी प्रतीत होता है ।

यही चर्चा जीव ट्ठाणके कालानुगममें एक जीवकी अपेक्षा वादर एकेन्द्रियकी उत्कृष्ट स्थिति वतलानेवाले सूत्र ११२ की धवलामें भी आयी है । लिखा है—

कम्मट्ठिदी मावलियाए असखेज्जदि भागेण गुणिदे वादरट्ठिदी जादा त्ति परियम्म वयणेण सह एद सुत्त विरुज्झदि त्ति णेदस्स ओवखत्तं, सुत्ताणुसारि परियम्म-वयण ण होदि त्ति तस्सेव ओवखत्तप्पसगा ।'—पु० ४, पृ० ३९० ।

'कर्मस्थितिको आवली के असख्यातवे भागसे गुणा करनेपर वादर स्थिति उत्पन्न हुई है परिकर्मके इस वचनके साथ यह सूत्र विरुद्ध पडता है इसलिए इस सूत्रको अवक्षिप्तताका प्रसग नही आता । किन्तु परिकर्मका वचन सूत्रानुसारी नही है इसलिए परिकर्मकी ही अवाक्षिप्तताका प्रसग आता है ।'

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते है कि उक्त चर्चामें जो परिकर्मके वचनको सूत्रानुसारी नही होनेके कारण अवक्षिप्तताका प्रसग दिया है । इसीका परिहार खुद्दावन्धकी धवलाके उक्त उद्धरणके अन्तमें वीरसेनस्वामीने ही स्वय कर दिया है । उन्होने लिखा है—

'वहाँ (परिकर्ममें) यद्यपि सामान्यसे 'वादरस्थिति होती है ऐसा कहा है तथापि पृथिवीकायादि बादरोमेंसे प्रत्येककी कायस्थिति लेनी चाहिये क्योकि सूत्र

(षट्खण्ड०) में असंख्यात उत्सार्पणी-अवसर्पिणी प्रमाण वादर स्थिति कही है। अर्थात् परिकर्ममें जो बादरस्थिति कही है, वह पृथिवीकायिक, आदि प्रत्येक बादर-कायिक जीवकी है और जीवट्ठाण के कालानुगम अनुयोगद्वारके सूत्र ११२ में जो वादर स्थिति, कही है वह वादर एकेन्द्रिय सामान्यकी उत्कृष्ट स्थिति है अस्तु। किन्तु धवलामें ही परिकर्मको लेकर एक चर्चा और भी है जो इस प्रकार है—

'जत्तियाणि दीवसागर रूवाणि जबूदीवछेदणाणि च रुवाहियाणि तत्तियाणि रज्जुछेदणाणि' त्ति परियम्मणण एद वक्खाण किण्ण विरुज्झदे ? एदेण सह विरुज्झदि, किंतु सुत्तेण सहृण विरुज्झदि। तेणेदस्स वक्खाणस्स गहण कायव्व ण परियम्मस्स, तस्स सुत्तविरुद्धत्तादो। ण सुत्त विरुद्ध वक्खणं होदि, अइप्पसग्गादो।'—पु० ४, पृ० १५६।

शका—'जितनी द्वीप और सागरोकी सख्या है तथा जितने जम्बूद्वीपके अर्धच्छेद होते हैं, एक अधिक उतने ही राजुके अर्धच्छेद होते हैं' इस परिकर्मके साथ यह उपर्युक्त व्याख्यान क्यो नही विरोधको प्राप्त होता ?

समाधान—भले ही परिकर्मके साथ उक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता हो, किन्तु प्रस्तुत सूत्रके साथ विरोधको प्राप्त नही होता। इस कारणसे इस व्याख्यानको स्वीकार करना चाहिए, परिकर्मको नही, क्योकि परिकर्मका व्याख्यान सूत्रविरुद्ध है। और जो व्याख्यान सूत्र विरुद्ध हो उसे व्याख्यान नही माना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है।'

उक्त उद्धरणमें परिकर्मको जो सूत्र विरुद्ध व्याख्यान कहा है। इससे भी उसके षट्खण्डागम सूत्रोके व्याख्यान रूप होनेका ही समर्थन होता है। प्रश्न केवल सूत्र विरुद्धताका रह जाता है। किन्तु जीवट्ठाणके ही द्रव्य प्रमाणानुगमकी धवलामें उक्त सूत्र विरुद्धताका परिहार भी किया है। लिखा है—

'ण च एद वक्खाण जत्तियाणि दीवसागररूवाणि जबूदीवच्छेदणाणि च रूवाहि-याणि त्ति परियम्म सुत्तेण सह विरुज्झइ, रूवेण अहियाणि रूवाहियाणि त्ति गहु-णादो।'—पु० ३, पृ० ३६।

'और यह व्याख्यान 'जितने द्वीपो और सागरोंकी सख्या है और जम्बूद्वीपके रूपाधिक जितने अर्धच्छेद हैं' इस परिकर्म सूत्रके साथ भी विरोधको प्राप्त नही होता क्योकि वहाँ 'रूपाधिकका' अर्थ रूपसे अधिक रूपाधिक नही लिया किन्तु रूपोसे अधिक रूपाधिक लिया है।'

उक्त उद्धरणोसे जो तथ्य प्रकाशमें आते है उनसे यही प्रमाणित होता है कि परिकर्मकी उत्पत्ति पट्खण्डगमके सूत्रोसे ही हुई थी और वह वहुत करके उनका व्याख्यात्मक ग्रन्थ होते हुए भी केवल व्याख्यारूप नही था। तथा 'सर्वाचार्य-

सम्मत' था अनेक व्याख्याकारोने अपनी व्याख्याओका उसे आधार बनाया था अथवा उसकी साहायता लेकर अपनी व्याख्याएँ लिखी थी। धवलाकार श्रीवीरसेन स्वामीके सम्मुख वह मौजूद था और उन्होने भी उसका सहाय्य ग्रहण किया था। अत. इन्द्रनन्दिने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोपर परिकर्म नामक ग्रन्थकी रचना करनेका निर्देश किया है वह यथार्थ प्रतीत होता है यहाँ एक बात विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इन्द्रनन्दिने परिकर्म ग्रन्थको पद्धति, व्याख्या, टीका आदि शब्दोंसे नही कहा है जबकि अन्य व्याख्यात्मक ग्रन्थोंको इन शब्दोसे अभिहित किया है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि परिकर्म ग्रन्थोका आधार षट्खण्डागम सूत्र थे किन्तु वह केवल एक व्याख्यारूप ग्रन्थ नही था। धवलाके उद्धरणोसे भी इसी बातका समर्थन होता है।

इन्द्रनन्दिने परिकर्मका रचयिता पद्मनन्दि अपर नाम कुन्दकुन्दको वतलाया है। आचार्य कुन्दकुन्द दि० जैन परम्पराके एक ख्यात नाम प्राचीन आचार्य थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोकी भाषा प्राकृत है और परिकर्म भी प्राकृत भाषामें ही रचा गया था यह बात उसके उद्धरणोसे प्रमाणित होती है। किन्तु कुन्दकुन्दके सभी उपलब्ध ग्रन्थ गाथावद्ध है, जवकि परिकर्म गद्य प्राकृतमें रचा गया प्रमाणित होता है। इसका कारण परिकर्मका व्याख्यात्मक होना सम्भव है। जैसे आचार्य यतिवृषभने कसायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोंकी रचनाकी थी शायद उसी तरह कुन्द कुन्दने षट्खण्डागमके आधारपर परिकर्मसूत्र नामक ग्रन्थकी रचना की थी। उससे धवलाकारने एक उद्धरण इसप्रकार दिया है

'अपदेस णेवइंदिए इंदिए गेज्झ' इदि परमाणूण णिरवयवत्त परियम्मे वुत्ता' पु १३, पृ १८ अपदेसणेव इदिए गेज्झ' यह उद्धरण गाथाका अश प्रतीत होता है। कुन्दकुन्दके नियमसारकी एक[1] गाथाका जो परमाणुका स्वरूप वतलाती है द्वितीय चरण 'णेव इंदिए गेज्झ' है किन्तु उसके पहले जो 'अपदेस' शब्द है वह उसमें नही है। अत सम्भव है कि जिस गाथाका उक्त अश है वह गाथा नियमसार वाली गाथासे भिन्न हो। किन्तु उससे दो बातें प्रमाणित होती हैं, प्रथम परिकर्ममें गाथाओका अस्तित्व और दूसरे परिकर्मका कुन्दकुन्द रचित होना।

पचास्तिकायके अंग्रेजी अनुवादकी अपनी प्रस्तावनामें डा० चक्रवर्तीने तथा प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावनामें डा० ए० एन० उपाध्यायेने कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शती सुनिश्चित किया और नन्दिसघकी पटट्वलीके आधार पर

---

१ 'अत्तादि अत्तमज्झ अत्त त णेव इंदिए गेज्झ।
अविभागी ज दव्व त परमाणु विजाणीहि ॥२६॥'

पुष्पदन्तका समय ईसाकी दूसरी शतीका पूर्वार्द्ध प्रमाणित होता है ऐसी स्थितिमें कुन्द-कुन्दका समय ईसाकी दूसरी शतीके मध्यसे पहिले नही होना चाहिए।

शामकुण्डकृत 'पद्धति'—

इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका षट्खण्डागमके पाच खण्डोपर तथा कसाय-पाहुडपर रची गयी थी। यह टीका पद्धति रूप थी। जयधवलाके अनुसार सूत्र-वृत्ति इन तीनोके विवरणको 'पद्धति कहते हैं। तदनुसार वह पद्धति नामक टीका कसायपाहुडके गाथा सूत्रो और वृत्तिका विवरण रूप होनी चाहिये इसी षट्खण्डागमके भी किन्ही सूत्रो और वृत्तिको लेकर यह रची गया होगी। शायद वह वृत्ति परिकर्म सूत्र ही हो। इन्द्रनन्दिके अनुसार यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गयी थी। और उसकी भाषा प्राकृत, सस्कृत और कन्नडी तीनो मिश्रित थी।

जयधवलामें वृत्तिसूत्र, टीका, पजिका, और पद्धतिका लक्षण है तथा जय-धवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें एक श्लोक द्वारा कषाय-प्राभृत विषयक साहित्यका विभाग इस प्रकार किया है—'सूत्र[2] तो गाथा सूत्र है, चूर्णिसूत्र वार्तिक अथवा वृत्तिरूप है टीका श्री वीरसेन रचित जयधवला है और शेष या तो पद्धति रूप है या पजिकारूप है।' यहां बहुवचनान्त 'शेषा' शब्दसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि कषाय-प्राभृत पर अन्य भी अनेक विवरणात्मक ग्रन्थ थे जिन्हें जयधव-लाकारने पद्धति या पजिका कहा है। उन्हीमें शामकुण्डाचार्य रचित 'पद्धति' भी हो सकती है। किन्तु धवला या जयधवलामें इस टीकाका कोई उल्लेख नही मिलता।

साथही सामकुण्ड नामक किन्ही आचार्यका पता भी अभी तक नही लग सका है। शामकुण्ड नाम कुन्दकुन्दका ही प्रतिपक्षी ज्ञात होता है। दोनोके अन्तमें कुण्ड या कुन्द शब्द आता है। और साम (श्याम) कुन्दका विपरीत है—कुन्द सफेद होता है और श्याम कालेको कहते हैं। अतः कुन्दकुन्द नामको सामने रख कर ही 'सामकुण्ड' नामकी उपज होना सम्भव है।

तुम्बुलूराचार्य कृत 'चूड़ामणि'—

इन्द्रनन्दिने शामकुण्डाचार्य रचित पद्धतिके पश्चात् तुम्बुलूराचार्य रचित 'चूडामणि' नामकी व्याख्याका उल्लेख किया है और बतलाया है कि यह व्याख्या षट्खण्डागमके प्रथम पाचखण्डोपर तथा कसाय-पाहुड पर रची गयी थी और उसका प्रमाण चौरासी हजार था। उसकी भाषा कनडी थी। इसके अतिरिक्त

---

१. सुत्तवित्ति विवरणाए पद्धई ववएसादो।'—क० पा०, भा० २, पृ० १४।

२. 'गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्र तु वार्तिकम्।
टीका श्रीवीरसेनीया शेषा. पद्धति पजिका. ॥२९॥'

उन्होने छठवें महाबन्ध पर सात हजार श्लोक प्रमाण पंजिका भी लिखी थी। इस प्रकार उनकी कुल रचनाओका प्रमाण ९१ हजार था। धवला और जय धवलामें इनका कोइ उल्लेख हमारे दृष्टिगोचर नही हुआ।

भट्टाकलक नामक एक विद्वान्ने अपने कर्नाटक 'शब्दानुशासनमें कनडी भाषामें रचित चूडामणि नामक महाशास्त्रका उल्लेख किया है। किन्तु उसे तत्त्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान बतलाया है तथा उसका परिणाम भी ९६ हजार बतलाया है। इससे इतना तो प्रमाणित होता है कि कनड़ी भाषामें एक चूडामणि नामक वृहत्काय व्याख्या थी। किन्तु वह व्याख्या इन्द्रनन्दिके कथनानुसार दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोकी या भट्टाकलकके निर्देशानुसार तत्त्वार्थ महाशास्त्रकी थी, यह विचार-ग्रस्त है।

तत्त्वार्थ महाशास्त्र[2] तत्त्वार्थ सूत्रको कहा गया है। विद्यानन्दि[3]ने 'तत्त्वार्थशास्त्र' नामसे उसका उल्लेख किया है। किन्तु आदरणीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तारने लिखा[4] है—तत्त्वार्थ सूत्रका अर्थ तत्त्वार्थ विषयक शास्त्र होता है और इसीसे उमास्वातिका तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-शास्त्र और तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र कहलाता है किन्तु आपने यह भी लिखा है कि पुष्पदन्त भूतबल्यादि आचार्यो द्वारा विरचित सिद्धान्त शास्त्रको भी तत्त्वार्थ शास्त्र या तत्त्वार्थ महाशास्त्र कहा जाता है। इन सिद्धान्त शास्त्रो पर तुम्बुलूराचार्यने कनडी भाषमें चूडामणि नामकी टीका लिखी है जिसका परिमाण इन्द्रनन्दिकृत 'श्रुतावतारमें ८४ हजार और कर्नाटक शब्दानुशासमें ९६ हजार श्लोकोका बतलाया है।'

कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको उद्धृत करके मुख्तारसाहबने लिखा है—'इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि चूडामणि जिन दोनो (कर्मप्राभृत और कषाय प्राभृत) सिद्धान्त शास्त्रोकी टीका कहलाती है, उन्हें यहाँ तत्त्वार्थ महाशास्त्रके नामसे उल्लेखित किया गया है। इससे सिद्धान्तशास्त्र और तत्त्वार्थ दोनोकी एकार्थताका समर्थन होता है। और साथ ही यह पाया जाता है कि कर्मप्राभृत कषाय प्राभृत ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र कहलाते थे। तत्त्वार्थ विषयक होनेसे उन्हें तत्वार्थशास्त्र या तत्वार्थसूत्र कहना कोई अनुचित भी प्रतीत नहीं होता।'

---

१ 'न चैषाभाषा शास्त्रानुपयोगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्रव्याख्यानस्य षण्णवतिसहस्रप्रमित ग्रन्थसन्दर्भरूपस्य चूडामण्यभिधानस्य महाशास्त्रस्य।'
—'इन्सक्रिपशन्स ऐट श्रवणबेलगोला' से उद्धृत।

२ 'प्रमाणनयैरधिगम ' इति महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रम्।'—न्या० दी०।

३ ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्र'—त० श्लो० वा०, पृ० ४।
'इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ'—आ० प० अन्तिम श्लोक।

४ जै० सा० इ० वि० प्र०।

षट्खण्डागम पुस्तक[१] की अपनी प्रस्तावनामें प्रोफेसर हीरालालजीने भी लिखा—'इन ग्रन्थोकी भी तत्वार्थ महाशास्त्र नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योकि, जैसा हम ऊपर कह आये है, तुम्बुलूराचार्यकृत इन्ही ग्रन्थोकी चूडामणि टीकाको अकलकदेवने तत्वार्थ-महाशास्त्र-व्याख्यान कहा है' (पृ ५१)।

जैसा कि हम ऊपर लिख आये है, 'तत्वार्थसूत्र' नाम लाक्षणिक होते हुए भी उस तत्वार्थसूत्रके लिए ही रूढ हुआ है जिसको उमास्वामीकी कृति माना जाता है। उसे ही तत्वार्थशास्त्र या तत्वार्थ-महाशात्र कहा गया है। एक भी उल्लेख ऐसा नही मिलता जिसमें उक्त दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोको तत्वार्थसूत्र या तत्वार्थ-महाशात्र कहा गया हो। अतएव; चूँकि इन्द्रनन्दिने उक्त सिद्धान्तग्रथो पर तुम्बुलूराचार्यकी चूडामणिनामक टीकाका निर्देश किया है जो कनडीमें थी। और शब्दानुशासनमें तत्वार्थ महाशास्त्रकी चूडामणि नामक कनडी टीकाका निर्देश किया गया है, अतः सिद्धान्त-ग्रन्थोको तत्वार्थ-महाशास्त्र कहते थे, यह निष्कर्ष निकालना हमें उचित प्रतीत नही होता।

कर्नाटक शब्दानुशासनकी रचना १६०४ ई० में हुई है। और उक्त दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोके ऊपर धवला-जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा उनके आधार पर श्री गोम्मटसारकी रचना होनेपर हम सिद्धान्त-ग्रन्थोकी चर्चाका अवरोध पाते है जबकि तत्वार्थ सूत्रकी ख्याति उत्तरोत्तर बढती गयी है। कर्नाटक शब्दानुशासनकी तरह न्यायदीपिका में भी तत्वार्थसूत्रको महाशास्त्र कहा है। न्यायदीपिका ईसाकी १५ वी शतीके लगभग रची गयी थी अत. उस कालमें तत्वार्थ-महाशास्त्रके रूपमें तत्वार्थसूत्रकी ही ख्याति थी, सिद्धान्त ग्रन्थोका तो नाम भी उसकाल में सुनायी नही देता। अत' कर्नाटक शब्दानुशासनके रचयिताने चूडामणिको तत्वार्थ महाशास्त्रका व्याख्यान समझा हो, ऐसा भ्रम होना सम्भव है। अस्तु कर्नाटक शब्दानुशासनके उक्त उल्लेखसे यह प्रमाणित होता है, कि कनडी भाषामें एक व्याख्या-ग्रन्थ था और उस व्याख्या-ग्रन्थका इन्द्रनन्दिके द्वारा निर्दिष्ट व्याख्या-ग्रन्थ होना सम्भव है।

किन्तु श्रीयुत् गोविन्द[१] 'पै' का मत है कि भट्टाकलकके द्वारा कर्नाटक शब्दानुशासनमें स्मृत चूडामणि तुम्बुलूराचार्य कृत चूडामणि नही हो सकता, क्योकि पहलेका परिणाम ९६ हजार बतलाया गया है और दूसरेका ८४ हजार। अत पै महाशयका कहना है कि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारकी 'कर्णाट भाषया कृत महती चूडामणि व्याख्याम्' पक्ति अशुद्ध प्रतीत होती है। इसमें आये हुए 'चूडामणि

---

१ 'श्रीमद्धदेव एण्ड तुम्बुलूराचार्य'—जैन एण्टि०, जि० ४ न० ४।

पदको अलग न पढकर आगेके व्याख्या' पदके साथ मिलाकर 'चूडामणि व्याख्या' पढना चाहिए। तब उस पक्तिका अर्थ होगा—तुम्बलूराचार्यने कनडीमें चूडामणिकी एक बडी टीका बनायी।'

तब प्रश्न होता है कि चूडामणि ग्रन्थ किसका था जिसकी व्याख्या तुम्बुलूराचार्यने बनायी[1] ? श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथ-बसदिके स्तम्भपर अकित [1]शिलालेखमें चूडामणि नामक काव्यके रचयिता श्री वर्द्धदेवका स्मरण किया है और उनकी प्रशंसामें दण्डीकविके द्वारा कहा गया एक श्लोक भी उद्धृत किया है। यथा—

"चूडामणि कवीना चूडामणि नाम सेव्य काव्य कवि ।
श्रीवर्द्धदेव एव हि कृतपुण्य कीर्ति माहर्तुम् ॥

य एव मुपश्लोकितो दण्डिना—

जह्नो कन्या जटाग्रेण बभार परमेश्वर ।
श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वती ॥

शिलालेखके इस कथनके साथ कर्नाटक शब्दानुशासनके उल्लेखको मिला कर श्री पैने यह निष्कर्ष निकाला है कि श्रीवर्द्धदेवने तत्वार्थ-महाशास्त्रपर ९६००० श्लोक प्रमाण चूडामणि नामक टीका कन्नड भाषामें रची। और तुम्बुलूराचार्यने चूडामणिके ऊपर ८४ हजार प्रमाण कन्नड टीका और ७००० प्रमाण पंजिका लिखी।

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके तुम्बुलूराचार्य विषयक श्लोक कर्णाटक-कविचरिते में उद्धृत है और श्री पै ने अपने लेखमें उन्हें वहीसे उद्धृत किया है।

अत प्रतीत होता है कि श्रीयुत पै ने इन्द्रनन्दिका श्रुतावतार नही देखा। अन्यथा वे 'चूणामणि-व्याख्या'को समस्त पद न बनाकर उसका 'चूडामणिकी व्याख्या' ऐसा अर्थ न करते। क्योंकि श्रुतावतारमें सिद्धान्त ग्रन्थोके व्याख्यानोका कथन किया गया है, जिसमें से एक चूडामणि नामक व्याख्या भी है फिर शिलालेखमें श्री वर्द्धदेवको चूडामणि नामक काव्यका कर्ता कहा है। चूडामणि नामक कन्नड टीकाका कर्ता नही कहा। तभी तो वर्द्धदेवका शिलालेखमें 'कवीना' चूडामणि लिखा है और प्रसिद्ध कवि दण्डीके द्वारा उनकी प्रशसा किये जानेसे यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वर्द्धदेवका चूडामणि काव्य सस्कृतका गौरव रूप था। अत श्री पै महाशयका उक्त कथन भ्रामक है।

तुम्बुलूर ग्रामके वासी होनेके कारण चूडामणि व्याख्याकार तुम्बुलूराचार्य कहलाते थे उनका असली नाम क्या था यह अज्ञात है। गगराजके मन्त्री तथा सेनापति चामुण्डरायने अपने चामुण्डपुराणमें, जो ९७८ ई में कन्नड गद्यमें रचा

१, जै०शि०स०, प्र० भा०, पृ० १०३।

गया था, अन्य महान जैनाचार्योंमें तुम्बुलूराचार्यका भी स्मरण किया है अत. यह निश्चित है कि वह ईसाकी दसवी शतीसे पूर्वमें हुए है। इन्द्रनन्दिने उन्हें शामकुण्डाचार्य और समन्तभद्रके मध्यमें रखा है।

समन्तभद्रकृत सस्कृत टीका—

इन्द्रनन्दिके कथनानुसार तार्किकार्क आचार्य समन्तभद्रने भी पट्खडागमके प्रथम पांच खण्डोपर ४८ हजार श्लोक प्रमाण टीका रची थी यह टीका अति सुन्दर मृदु सस्कृत भापामें थी। तार्किकार्क विशेपणसे यह स्पष्ट है कि इन्द्र-नन्दिका अभिप्राय आप्तमीमासा के स्वयभूस्तोत्र आदिके रचयिता प्रखर तार्किक आचार्य समन्तभद्र से ही है लघु-समन्तभद्रने अष्ट सहस्रीके टिपण्णमें समन्त भद्रको तार्किकार्क विशेपणसे ही अभिहित किया है। यथा—

'तदेव महा महभागैस्तार्किकार्करूपज्ञाता श्रीमता वादीभसिंहेनो पलालिता मासमीमासा।' वीरसेन स्वामीने अपनी धवला टीकामें समन्त भद्रके नामो-ल्लेख पूर्वक उनके आप्तमीमासा[1] तथा वृहत्स्वयभूस्तोत्रसे[2] उद्धरण दिये है। किन्तु ऐसा एक भी उल्लेख नही मिलता, जिससे उक्त टीकाका सकेत मिलता हो।

समन्तभद्र कृत गन्धहस्ति-महाभाष्य[3]के भी उल्लेख मिलते है जिनमें उसे तत्वार्थसूत्र अथवा तत्वार्थका व्याख्यान कहा है। उसका परिमाण कही ८४ हजार तो कही छियानवे हजार बतलाया है। गन्धहस्ति-महाभाष्य विपयक उल्लेख प्राय' विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके और उसके बादके है। अतः जैसे तुम्बुलूराचार्यकी टीकाको भ्रमसे तत्वार्थसूत्रकी टीका समझ लिया गया, कही इसी तरह समन्तभद्रकी पट्खडागम सूत्रोपर रचित टीकाको भी तत्वार्थ सूत्रकी टीका तो नही समझ लिया गया। ८४ और ९६ हजार सख्या किसी न किसी रूपमें ४८ हजारसे सम्बद्ध है एक उसके अकोका व्यतिक्रम रूप है तो दूसरी उसका द्विगुणित रूप है। किन्तु यह सब तो अनुमान मात्र है। यथार्थमें तो उक्त उल्लेखोके सिवाय ऐसे पुष्ट प्रमाणोका अभाव है जिनके आधार पर उक्त टीका तथा गन्धहस्ति-महाभाष्यका अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता हो।

---

१. 'तथा समन्तभद्रस्वा मिनाप्युक्तम्—'स्याद्वाद प्रविभक्तार्थ विशेप व्यन्जको नय.।'

२. 'तहा समन्तभद्द समाणि वि उत्त—विधिर्विपक्त प्रतिवोधरूप । पट्ख, पु० ७, पृ ९९।

३ तत्त्वार्थ सूत्रव्याख्यान गन्धहस्ति प्रवर्तक । स्वामी समन्तभद्रो ऽभूद्देवागम निदेशक।' —वि० कौरव 'तत्त्वार्थ व्याख्यान पण्णवति सहस्र गन्धहस्तिमहाभाष्य विधायक देवागम कवीश्वर स्याद्वादविद्यापति समन्तभद्र ' जै. सा. इ वि प्र ७ पृ २७७।

बप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्ति—

इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके जिन श्लोकोमें वप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख है उनका अर्थ समझनेमें कुछ भ्रम हुआ है। श्लोक इस प्रकार है—

श्रुत्वा तयोश्च पार्श्वे तमशेष वप्पदेवगुरू ॥१७३॥
अपनीय महावन्ध षट्खण्डाच्छेष पञ्चखण्डे तु।
व्याख्या प्रज्ञप्ति च षष्ठ खण्ड च तत सक्षिप्य ॥१४७॥
षण्णा खण्डानामिति निष्पन्नाना तथा कषायाख्य—
प्राभृतकस्य च षष्ठि सहस्रग्रन्थ प्रमाण युताम् ॥१७५॥
व्यलिखत् प्राकृत भाषा रूपा सम्यक् पुरातनव्याख्याम्।
अष्टसहस्रग्रन्था व्याख्या पञ्चाधिका महावन्धे ॥१७६॥

पहली पक्तिका अर्थ स्पष्ट है—'शुभनन्दि और रविनन्दिके समीप में समस्त सिद्धान्तको सुन कर वप्पदेवगुरूने'।

दूसरी पक्तिका अर्थ—छैखण्डमेंसे महावन्धको पृथक् करके, शेष पाँच-खण्डोमें।

तीसरी पक्तिका अर्थ—व्याख्या प्रज्ञति नामक छठे खण्डोको मिलाकर

चौथी तथा पाँचवी पक्ति—इस प्रकार निष्पन्न हुए छहो खण्डोकी तथा कषाय-प्राभृतकी साठ हजार ग्रन्थ प्रमाणवाली।

छठी-सातवी पक्ति—प्राकृत भापारूप प्राचीन व्याख्याको लिखा और महा-बन्ध पर आठ हजार पाँच ग्रन्थ प्रमाण व्याख्या लिखी।

अत वप्पदेव टीकाका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति नही था। किन्तु भूतवली-पुष्पदन्त प्रणीत पाँच खण्डोमें वप्पदेवने जो छठा खण्ड मिलाया उसका नाम व्याख्या-प्रज्ञप्ति था। इसी व्याख्या-प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठा खण्ड रचा था। श्रुतावतारमें लिखा है—

"व्याख्या प्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खण्डतस्तत स्तस्मिन्।
उपरितमबन्धनाद्यधिकारै रष्टादश विकल्पै ॥१८०॥
सत्कर्म नाम ध्येय षष्ठ खण्ड विधाय सक्षिप्य।
इति षण्णा खण्डाना ग्रन्थ सहस्रै द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत सस्कृत भाषामिश्रा टीका विलिख्य धवलाख्याम्"

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने आगेके निवन्धन आदि अट्ठारह अधिकारोंके भेदसे सत्कर्म नामक छठें खण्डकी रचना की और उसे पहले के षटखण्डमें मिलाया इस तरह छै खण्डोंकी वहात्तर हजार ग्रन्थ प्रमाण प्राकृत सस्कृत मिश्रित धवला नामक टीका लिखी।'

उक्त दोनो उद्धरणोकी दो पक्तियाँ विशेप रूपसे ध्यान देने योग्य है—

"व्याख्या प्रज्ञप्ति च पष्ठ खण्ड च तत. साक्षिप्प"

और

'सत्कर्मनामधेय पष्ठ खण्ड विधाय साक्षिप्य'

जैसे वप्पदेव गुरुने पाँच खण्डोमें व्याख्या प्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये और फिर उन पर टीका रची। वैसे ही वीरसेन स्वामीने व्याख्या प्रज्ञप्तिके आधारपर सत्कर्म नामक छठे खण्डका निर्माण करके उसे पाँच खण्डोमें मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये तव उनपर धवला नामक टीका लिखी।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे और उन्होने भूतवलि पुष्पदन्तको पढाया था। महाकर्म-प्रकृतिप्राभृतमें चौवीस अनुयोगद्वार थे, उनमेंसे आदिके छै अनुयोगद्वारोके आधारपर भूतवलीने पट्खण्-गमकी रचनाकी थी। किन्तु वीरसेन स्वामीने पट्खण्डागमके पाँच खण्डोमें एक सत्कर्म नामक स्वरचित छठा भाग मिलाकर छै खण्ड निष्पन्न किये है और इस सत्कर्म नामक छठें खण्डमें महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके अठारह अनुयोगद्वारोका संक्षिप्त कथन है जिन्हें महाकर्मप्रकृति-प्राभृत-ज्ञाता भूतवलीने भी छोड दिया था ऐसी स्थितिमें यह जाननेका कौतूहल होना स्वाभाविक है कि वीरसेन स्वामीने उन अट्ठारह अनुयोगोका परिचय किस आधारसे दिया क्या ? उनके समय तक महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका ज्ञान अवशिष्ट था। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारसे उस जिज्ञासाका समाधान हो जाता है। व्याख्या-प्रज्ञप्तिको पा करके उन्होने अपने 'सत्कर्म'की रचनाकी थी। अत व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें अवश्य ही शेप अट्ठारह अनुयोगोका कथन होना चाहिए।

धवला टीकामें दो स्थानोंपर उद्धरण देते हुए व्याख्या-प्रज्ञप्तिका उल्लेख किया है एक[1] स्थानपर यह शंका की गयी है कि तिर्यग्लोकका अन्त कहाँ होता है ? उत्तर दिया गया है कि तीनो वातवलयो के बाह्य भागमें तिर्यग्लोकका अन्त होता है। इसपर पुन शकाकी गयी कि यह कैसे जाना ? तो उत्तर दिया गया कि 'लोक वातवलयोसे प्रतिष्ठित है, इस व्याख्या-प्रज्ञप्तिके वचन से जाना।

दूसरी जगह एकलम्वा उद्धरण इस प्रकार दिया है—

'जीवा ण भते! कदि भागावसेसियसि याउगसि परभविय आउग कम्म णिवधता वधति? गोदम! 'जीवा दुविहा पण्णत्ता सखेज्जवस्साउआ चेव असखेज्जवस्साउआ चेव।

---

१ कम्हि तिरिय लोगस्स पज्जवसाण ? तिण्ह वादवल याण वहिर भागे। त कध जाणिज्जदि 'लोगो वादपदिट्ठदो' त्ति वियाह पण्णत्ति वयणादो।—पट्ख०, पु० ३'१।

तथ्थ जे ते असखेज्जवस्साउआ ते छम्मासावसेसयसि याउगसि परभवियं आउग णिवधता वधति । तत्थ जे ते सखेज्जवस्साउआ ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउआ णिरुवक्कमाउआ चेव । तत्थ जे ते णिरूवक्कमाउआ ते तिभागावसेसियसि याउगसि परभविय आयुग कम्म णिवधता वधति । तत्थ जे ते सोवक्कमाउआ ते सिया-तिभागत्ति भागावसेसियसियायुगसि परभविय आउग कम्म णिबधता बंधति ।' एदेण वियाह-पण्णत्ति सुत्तेण सह कध ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुध भूदस्स आइरिय भेएण भेदभावण्णस्स एयत्ता भावादो ।'—षट्ख० पु०, १० पृ २३७-२३८ ।

शका—'हे भगवन् ! आयुमें कितने भाग शेष रहनेपर जीव पर-भविक आयु कर्मको बाधते हुए बाधते है ? हे गौतम जीव दो प्रकारके कहे गये हैं—सख्यात् वर्पायुष्क और असंख्यात् वर्पायुष्क । उनमें जो असख्यात् वर्षायुष्क है वे आयुके छै मास शेष रहने पर-भविक आयुको बाधते हुए बाधते है । और जो सख्यात् वर्षायुष्क जीव है वे दो प्रकारके कहे गये हैं—सोपक्रमायुष्क और निरूपक्रमा-युष्क । उनमें जो निरूपक्रमायुष्क हैं वे आयुमें त्रिभाग शेष रहनेपर परभविक आयुकर्म को बाधते है । और जो सोपक्रमायुष्क जीव है, वे कथचित् त्रिभाग कथचित् त्रिभागका त्रिभाग और कथचित् त्रिभाग-त्रिभागका शेष रहनेपर परभव सम्बन्धी आयुकर्मको बाँधते है ।' इस व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्रके साथ विरोध क्यो नही आता ?

समाधान—नही, क्योकि इस सूत्रसे व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र भिन्न है, आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त है अत इन दोनोंमें एकत्वका अभाव है । धवलाके उक्त दोनो उद्धरण यद्यपि व्याख्या-प्रज्ञप्ति विषयक है तथापि दोनो दो विभिन्न दृष्टिकोणोको उपस्थित करते है । पहले उद्धरणमें वीरसेन स्वामी व्याख्याप्रज्ञप्तिके वचनको अपनी वातके समर्थनमें प्रमाण रूपसे उपस्थित करते है । दूसरे विस्तृत उद्धरणके सम्बन्धमें वे व्याख्या-प्रज्ञप्तिको षट्खण्डागम सूत्रसे भिन्न और आचार्य भेदसे भेदको प्राप्त कहते है । आचार्य भेदसे मतलव वहाँ आचार्य परम्पराका भेद ज्ञात होता है क्योकि यो तो भिन्न आचार्यों के द्वारा रचित सभी शास्त्रोमें आचार्य भेद पाया जाता है । अत उनका यह कथन सम्भवतया श्वेताम्वरीय पचम अग व्याख्या-प्रज्ञप्तिके विषयमें जान पडता है क्योकि उसमें उक्त प्रकारसे भगवान् महावीर और गौतमके मध्य हुए प्रश्नोत्तरोके रूपमें विवेचन मिलता है । साथ ही उक्त उद्धरणकी शैली और भाषा भी श्वेताम्बरीय आगमोके अनुरूप अर्धमागधी है । अर्धमागधीमें सप्तमीका एकवचन 'स्सि' होता है यथा—'छम्मा-सावसेयसि आउगमि ।' किन्तु महाराष्ट्रीमें जो दिगम्बर जैनागमोकी भाषा है 'म्मि' होता है ।

किन्तु उक्त उद्धरण उपलब्ध व्याख्या-प्रज्ञप्तिमें नही पाया जाता। हाँ इससे मिलता जुलता उद्धरण श्वेताम्बरीय [1]प्रज्ञापना सूत्रमें अवश्य मिलता है।

अकलकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दो स्थानोपर व्याख्या-प्रज्ञप्ति दण्डकका निर्देश किया है। श्वेताम्बरीय व्याख्या-प्रज्ञप्ति[2]में उन दोनो निर्देशो जैसा कथन तो नही मिलता किन्तु अन्य रूपमें इस प्रकारके कथनका आभास मिलता है।

ऐसी स्थितिमें व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी स्थिति चिन्तनीय है।

धवलाका दूसरा उद्धरण तो अवश्य ही ऐसे व्याख्या-प्रज्ञप्तिसे सम्बद्ध है, जो भिन्न परम्पराका होना चाहिये। किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूपसे उद्धृत किया गया वाक्य उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिका होना चाहिये जिसे वह मान्य करते थे और वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति शायद वही हो जिसे पाकर उन्होने सत्कर्मकी रचना की। और जिसे पाँच खण्डोमें मिलाकर वप्पदेवगुरुने छै खण्ड निष्पन्न किये। शायद उस व्याख्या-प्रज्ञप्तिकी रचना वप्पदेवने की हो। किन्तु वह व्याख्या प्रज्ञप्ति षड्खण्डागमकी टीका नही थी।

एक वात और भी चिन्तनीय है। इन्द्रनन्दिने लिखा है—

'व्यलिखत प्राकृत भाषा रूपा सम्यक् पुरातन व्याख्याम्'

इसका सीधा सा अर्थ होता है—'प्राकृत भाषा रूप प्राचीन व्याख्याको सम्बद्ध रूपमें लिखा' लिखानेका अर्थ रचा भी हो सकता है किन्तु व्याख्याके साथ लगा 'पुरातन' विशेषण बतलाता है कि वप्पदेवगुरुने किसी प्राकृत भाषा रूप

---

१. 'पंचिंदियतिरिक्खजोणिया ण भते! कइ भागावसेसाउया पर भवियाउय पकरति? गोयमा! पचिंदियतिरिक्ख जोणिया दुविहा पन्नत्ता त जहा—सखेज्जवस्साउया असखेज्ज वस्साउया। तत्थ ण जे ते असखेज्जवस्साउया ते नियमाच्छम्मासावसेसाउया पर भवियाउय पकरति। तत्थ ण जे ते सखिज्जवस्साउया ते दुविहा पण्णत्ता सोवक्कमाउया य निरुववक्कमाउया य। तत्थ ण जे ते निरुवक्कमा ते नियमा ति भागावसेसाउया पर भवियाउय पकरति। तत्थ ण जे ते सोवक्कमाउया ते ण सिय ति भागावसेसा परभवियाउय पकरति सिय तिभागा तिभागे परभवियाउय पकरति। सिय तिभाग तिभागावसेसाउया परभवियाउय पकरति। एव मणुस्सा वि।'

—प्रज्ञा०, पद ६।

२ 'व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेपु शरीरभगे वाप्पोरौदारिक वैक्रियिक तैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि'—पृ० १५३-१५४ 'एव हि व्याख्या-प्रज्ञप्ति दडण्केपूक्तम्—विजयादिषु देवा मनुष्य भवमास्कन्दन्त. कियतीर्गत्यागति. विजयादिपु कुर्वन्ति इति गौतम प्रश्ने भगवतोक्त जघन्येनैको भव आगत्या उत्कर्पेण गत्यागतिभ्या द्वौ भवौ।'

—त वा, पृ २४५।

प्राचीन व्याख्याको सम्यक्रूपसे लिखा था। इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है।

इद्रनन्दिने जहाँ अन्य टीकाकारोके लिये 'रचितानि' रचिता, 'व्याख्यामकृत्' 'विरचितवान्', जैसे रचनापरक शब्दोका प्रयोग किया है वहाँ अकेले वप्पदेवके लिये 'व्यलिखत्' शब्दका प्रयोग किया है।

यह भी अभिप्राय निकल सकता है कि वप्पदेवने किसी पुरातन व्याख्याको प्राकृत भाषामें लिखा हो और ऐसी स्थितिमें तुम्बुलूराचार्यके द्वारा कर्नाटक भाषामें रची गयी महती चूडामणि व्याख्या की ओर ही दृष्टि जाती है। क्योकि वही सबसे विशाल टीका थी और पुरातन भी थी।

धवला टीकामें तो वप्पदेव और उनकी किसी टीकाका संकेत तक नही है। किन्तु जयधवलामें वप्पदेवके द्वारा लिखित उच्चारण-वृत्तिका निर्देश मिलता है। यह उच्चारण-वृत्ति यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर थी। वीरसेन[1] स्वामीने भी वप्पदेवके साथ 'लिहिद' (लिखित) शब्दका ही प्रयोग किया है, साथ ही उन्होने अपने द्वारा लिखी हुई उच्चारणाका निर्देश किया है। किन्तु वीरसेन स्वामीने यतिवृषभके चूर्णिसूत्रोपर कोई उच्चारण-वृत्ति रची थी, इसका कोई उल्लेख नही मिलता ऐसी स्थितिमें 'रचित'के स्थानमें 'लिखित' शब्दका प्रयोग अवश्य ही कुछ विशेष अर्थ रखता है।

धवला टीकासे इस बातका कोई आभास नही मिलता कि वीरसेन स्वामीके सामने धवला टीका लिखते समय षट्खण्डागम सूत्रोकी कोई टीका उपस्थित थी। परिकर्मका उपयोग तो उन्होने किया है। किन्तु यह नही लिखा कि यह सूत्रोका व्याख्या-ग्रन्थ है। इस परिकर्मके सिवाय अन्य किसी ऐसे ग्रन्थका या ग्रन्थसम्बन्धी सकेतका विवरण नही मिलता जिसे व्याख्या ग्रथ कहा जा सकता है।

दो स्थलोपर उन्होने 'केसु वि सुत्तपोत्थएसु'[2] लिखकर यह सूचित किया है कि उनके सामने षट्खण्डागम सूत्रोकी अनेक प्रतियाँ थी, जिनमें कुछ पाठ भेद थे। किन्तु व्याख्या पुस्तकोके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नही आया।

हाँ, अपने कथनकी पुष्टि करते हुए उन्होने 'आचार्य परम्परासे आगत उपदेशसे ऐसा जाना' या 'सूत्रसे अविरुद्ध आचार्यवचनसे ऐसा जाना' इस प्रकार

---

१ 'चुण्णि सुत्तम्मि वप्पदेवाइरियालिहिदुच्चारणा ए च अतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हे लिहिदुच्चारणाए पुण—।' क पा, भा. ३, पृ. ३९८।

२ षट्ख, पु ८, पृ ६५। पु. १४, पृ १२७।

अनेक स्थलोपर कहा है। एक [1]स्थानपर ऐसा भी लिखा है कि 'आचार्य परम्परा से आगत सूत्रसे अविरुद्ध व्याख्यानसे ऐसा जाना।'

सत्कर्मपजिका—

धवलागत षट्खण्डागमके अतिम खंड सत्कर्मपर एक[2] पजिका है जिसका पूरा नाम सत्कर्म-पजिका। यह पंजिका मूडविद्रीके उसी सिद्धान्तवसति मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे प्राप्त हुई है, जिससे धवला, जयधवला और महावधकी ताडपत्रीय प्रतियाँ उपलब्ध हो सकी। वहाँ महावन्धकी जो ताडपत्रीय प्रति है उसके प्रारम्भके २७ पत्र इसी सत्कर्म पंजिकाके है। यह पजिका सत्कर्मके अन्तर्गत अट्ठारह, अनुयोग-द्वारोमें से केवल आदिके चार ही अनुयोगद्वारो पर है। चौथे उदय अनुयोग द्वारके अन्तमें 'समाप्तोयमुद्ग्रन्थ' ऐसा लिखा है। फिर कन्नडी पद्योमें एक छोटी सी प्रशस्ति है।

यह पजिका किसने कब रची थी इसका कोई सकेत अभी तक प्राप्त नही हो सका। यह भी ज्ञात करनेका कोई साधन नही मिला कि रचयिताने इतना ही अश रचा था या पूरे सत्कर्मपर अपनी पजिका-वृत्ति रची थी।

पजिकाके आदिमें जो गाथा है उसका भी केवल उत्तरार्द्ध ही प्राप्त हो सका है—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचि (जि) यरूवेण विवरण सुमहत्थ ॥१॥'

इसमें सत्कर्मपर पजिका रूपसे 'सुमहत्थं' विवरण लिखनेकी प्रतिज्ञाकी गयी है। यहाँ विवरणका 'समुहत्थ'' विशेषण उल्लेखनीय है। सप्ततिका-की प्रथम गाथामें भी सप्तप्तिकाकारने सिद्धयएहि महत्थ' लिखकर अपनी कृतिको 'महार्थ' बतलाया है। और चूर्णिकारने महार्थका अर्थ—'निपुर्ण, गम्भीरं दुरवगाह पयत्थ वित्थार विसय' किया है। अर्थात् जिसमें दु.खसे अवगाहित करने योग्य पदार्थोका विस्तार हो उसे महत्थ या महार्थ कहते है।

चन्द्रर्षिने भी अपने पञ्चसग्रहकी प्रथम गाथाके उत्तरार्धमें उसे 'महत्थ' कहा है और उसका अर्थ किया है—'जिसमें महान् अर्थ हो उसे महार्थ कहते है।' उक्त गाथाशसे चन्द्रर्षिकी गाथाका उत्तरार्ध मेल खाता है—

'वोच्छामि पचसग्रहमेय महत्थ जहत्थं च ॥१॥'

अत. पजिकाकारने जो अपने पजिकारूप विवरणको 'महार्थ' ही नही सुमहार्थं

---

१ 'कुदो णव्वदे ? आइरियपरपरा गय सुत्ताविरुद्धवक्खाणादो'—पु १३, पृ ३१० ।

२ इसका उपलब्ध भाग षट्खण्डागमके १५ के खण्डके साथ उकके अन्तमे मुद्रित हो गया है।

कहा है उससे प्रकट होता है कि उनका यह पजिका रूप विवरण दुर्-अवगाहित पदार्थोके विस्तार को लिये हुए हैं। और उससे यह भी प्रकट होती है कि पंजिका काम पूरे सत्कर्म पर उसे रचनेके विचारसे ही आरम्भ किया था। वह अपने ईस महान कार्यको पूर्ण करनेमें सफल हुए अथवा मध्यमें ही किसी दैवी विघ्नके कारण उनका यह कार्य अधूरा ही रह गया, यह भी निर्णयात्मक रूपसे कह सकना संभव नही है। किन्तु इतना निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि यदि यह पजिका पूर्ण उपलब्ध हो सके तो वह भी एक महत्वकी कृति मानी जाये गी।

वीरसेनस्वामीके अनुसार वृत्तिसूत्रोके विषम पदोको खोलनेवाले विवरणको पजिका कहते है। पजिका रूप विवरणमें पूरे ग्रन्थोका व्याख्यान नही होता किन्तु उसके कठिन और गम्भीर स्थल होते है, उनका खुलासा होता है। तदनुसार पजिकाकारने वीरसेन स्वामी कृत सत्कर्मके वाक्योको ले कर उनका खुलासा किया है। वह खुलासा केवल शब्दार्थरूपमें अथवा पदच्छेद रूपमें नही किया है किन्तु वाक्यसे सम्बद्ध विपयके सम्बन्धमें विवेचन भी किया है और उसके अवलोकनसे प्रकट होता है कि पजिकाकार अपने विपयके अधिकारी विद्वान थे और उन्हें एतत्सम्वद्ध प्राप्त विपयका अच्छा अनुगम था।

उनकी यह पजिका धवलाकी तरह ही प्राकृत गद्य में है। और उसीकी शैलीको लिये हुए है यथा स्थान मतान्तरोका भी निर्देश है और मतान्तर तो मौलिक प्रतीत होते है।

पजिकाको आरम्भ करते हुए लिखा है—

महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके कृति, वेदना, आदि चौबीस अनुयोगद्वारोमें से कृति और वेदना अधिकारका वेदना-खण्डमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और वन्धन अनुयोग-

---

१ 'वित्तिसुत विसम पय भाजियाए पजिय ववएसादो।'—क० पा० ष्ठ० १४।

२ महाकम्म पयडिपाहुडस्स कदि-येदणाओ (इ) चउव्वीस मणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणात्ति जाणि आणियोद्दाराणि वेदणाखडम्मि, पुणो प [पस्स-कम्म-पयडि-वधणत्ति] चत्तारि अणिओगद्दरेसु तत्थवधावधणिज्जणामाणि योगेर्हिसह वग्गणाखडम्मि, पुणो वधविधाण णामाणियोगद्दारो महावधम्मि, पुणो वधगाणियोगो खुद्दावधम्मि च सप्पव-चेण परू विदाणि। पुणो तेहिंतोसेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सतकम्मे सव्वाणि परू विदाणि। तोवि तस्साइ गभारत्तादो अत्थ विसम पदाणमत्थे थोरत्थयेणपजियसरूवेण भणिस्सामो। त जहा—

तत्थ पढमाणिओगद्दारस्स णिबधण [स्म] परूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेओ छव्विह सरूवेण परूविदो। तत्थ तदियस्सदव्वणिक्खेवस्स सरूव परूवणट्ठ आईरियो एवमाह—'—पट्ख०, पु० १५, स० प० पृ० १।

द्वारोंमेंसे बन्ध तथा बन्धनीय अनुयोगद्वार वर्गणाखण्डमें, बन्ध-विधान नामक अनुयोगद्वार महाबन्धमें और बन्धक-अनुयोगका खुद्दाबन्धमें विस्तारसे प्ररूपण किया। इनके सिवाय शेष सब अठारह अनुयोगद्वारोंका कथन सत्कर्ममें किया। फिर भी उसके अत्यन्त गम्भीर होनेसे विषम पदोंका अर्थ पंजिका रूपसे कहेंगे।'

इस प्रकार पंजिकाकारने पूरे षट्खण्डागमके छहों खंडोंमें महाकर्मप्रकृतिके चौबीस अनुयोगद्वारोंमें से किस खण्डमें किन-किन अनुयोगद्वारका कथन किया गया यह बतलाते हुए, अपनी पंजिकाका आरम्भ किया है जो इस प्रकार है—

उनमेंसे, प्रथम अनुयोगद्वार निबन्धका कथन सुगम है। किन्तु उसका निक्षेप छ प्रकारसे कहा है उनमें से तीसरे द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपका कथन करनेके लिए आचार्यने ऐसा कहा है। उसका अर्थ कहते हैं।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है।

इस तरह सत्कर्मके व्याख्येय वाक्यको उत्थानिकाके साथ उद्धृत करके व्याख्यान किया है। सत्कर्मके उपक्रम अनुयोगमें वीरसेन स्वामीने लिखा है कि इन चारों ही बन्धनोपक्रमोंका अर्थ जैसा संतकम्म-पाहुडमें कहा है वैसा ही कहना चाहिये। इस वाक्यमें आगत सतकम्म-पाहुडपर प्रकाश डालते हुए पंजिकामें लिखा है—संतकम्म-पाहुड[1] कौन सा है? महाकर्मप्रकृति-प्राभृतके चौबीस अनु-योगद्वारोंमेंसे दूसरा अधिकार वेदना है। उसके सोलह अनुयोगद्वारोंमें से चौथे, छठे और सातवें अनुयोगद्वार द्रव्य-विधान, काल-विधान और भाव-विधान हैं। तथा महाकर्मप्रकृति-प्राभृतका पांचवां अधिकार प्रकृति नामक है। उसमें चार अनुयोग द्वार हैं उसमें आठों कर्मोंके प्रकृति-सत्व, स्थिति-सत्व, अनुभाग सत्व और प्रदेश सत्वका कथन करके उत्तर प्रकृति सत्व, उत्तर स्थिति सत्व, उत्तर अनुभाग-सत्व और उत्तर प्रदेश-सत्वको सूचित किया है। इनको संत कम्मपाहुड कहते हैं। तथा मोहनीयकी सत्ताका कथन करनेवाला कसायपाहुड भी है। इस तरह धवलामें निर्दिष्ट सतकम्म-पाहुडका भी खुलासा पंजिकाकारने किया है।

---

१ सत कम्मपाहुडं णाम कथ (द) मं ? महाकम्मपयडिपाहुडस्स चउवीसमणियोगद्दारेसु विदियाहियारो वेदणा णाम। तस्स सोलस अणियोगद्दारेसु चउत्थ-छट्ठम सत्तमाणि-योगद्दाराणि दव्वकाल भावविहाण णामधेयाणि। पुणो तहा महाकम्म पयडी-पाहुडस्स-पचमो पयडी णामहियारो। तत्थ चत्तारि अणियोगद्दाराणि अट्ठ कम्माण पयडि ट्ठिदि; अणुभागप्पदेस सत्ताणि परूविय सूचिदुत्तर पयडि ट्ठिदि-अणुभागप्पदेस-सत्तत्तादो। एवाणि सत्त (सत) कम्मपाहुडं णाम। मोहनीय पडुच्च कसाय पाहुड पि होदि।'—स० पं०, पृ० १८।

'एत्थ चोदगो भणादि' 'ण एस दोसो' जैसे वाक्यो के द्वारा पंजिकाकारने आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र शका-समाधान भी किया है। और 'केइ एव भणति' तत्थ एक्कुवदेसेण' 'अण्णेक्कुवदेसेण' जैसे पदो और वाक्योंके द्वारा विवक्षित चर्चाओके सम्बन्धमें विभिन्न आचार्यो के मत दिये है। तथा उन मतोमें कौन ठीक है? इसका उत्तर भी धवलाकारकी तरह ही दिया है—'उपदेश[1] प्राप्त करके दोनोमें से एकका निर्णय कर लेना चाहिए। एक जगह लिखा[2] है—'इन दोनो उपदेशोमें कैसे वैशिष्टय नही है? नही जानता, उसे श्रुतकेवली जानते है। किन्तु मुझे वुद्धिसे ऐसा प्रतिभासित होता है'।

एक जगह लिखा[3] है—'ये परस्परमें विरोधी दो प्रकारका स्वामित्व क्यों कहा? अभिप्रायान्तर बतलानेके लिए कहा है और फिर उस अभिप्रायान्तरको स्पष्ट भी किया है।

एक जगह लिखा[4] है कि—'भोगभूमिमें कदलीघात होता है एक मतसे ऐसा है। और भोगभूमिमें आयुका घात नही होता ऐसा कहनेवाले आचार्योंके मतसे पूर्वप्रकार है।' यहाँ भोगभूमिमें कदली-घात मरणवाला हमारे देखनेमें अन्यत्र नही आया सत्कर्मके उदयानियोगद्वारमें प्रदेशोदयके स्वामित्वका कथन करते हुए धवलाकारने लिखा है—'उत्कृष्ट[5] स्वामित्वमें पाँचो सहननोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय किसके होता है? सयमासयम-गुणश्रेणि, सयम-गुणश्रेणि और अनन्तानुबन्धी विसयोजन गुणश्रेणि, इन तीनोको एकत्र करके स्थित सयतके जब पूर्वोक्त तीनो गुणश्रेणि शीर्ष उदयको प्राप्त होते है तब पाँचो सहननोका उत्कृष्ट प्रदेशोदय होता है।'

---

१ 'तदो उवदेस लद्धूण दोण्हमेक्कदर णिण्णवो कायव्वो,'—स० ५, पृ० ४। २ एदेसिं दोण्ह मुवदेसेसु कध मविसिट्ठमिदि चेण्णेव जाणिज्जदे, त सुदकेवली जाणिज्जदि। किंतु पढमतर परूवणाए विदियतर परूवण अत्थविवरणमिदि मम मइणा पडिभासदि।'—पृ० २४।

३ 'किमट्ठं दुप्पयार सामित्तमण्णोण विरोध परूविद? अभिप्पायतरपयासणट्ठ परूविदत्तादो'—पृ० ८०।

४ 'भोगभूमीए कदली घातमत्थि त्ति अभिप्पायेण। त चेद। पुणो भोग भूमीए आउगस्स घाद णत्थि त्ति भणताइरियाण अभिप्पाएण पुव्व।'—पृ० ७८।

५. 'पचण्ह सहडणाण' उक्कस्स पदेसोदयो कस्स? सजमासजम सजम अणताणुबधि विसयोजण गुणसेढीओ तिण्णि वि एगट्ठ कादूण ट्ठिदसजदस्स जाहे पुव्वत गुणसेढि सीसयाणि तिण्णि वि उदयभागदाणि ताहे पचण्ह सहडणाण उक्कस्सो पदेसोदओ।'—पृ० ३०१।

इसकी पंजिकामें लिखा[1] है—'इससे पाँचो सहननो के उदयवाले जीवोंके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नही है, ऐसा कथित होता है। तथा वज्रनाराच और नाराच सहननके उदयवाले जीवोको भी उपशमश्रेणि चढना सभव नही है यह भी इसने ज्ञापित कर दिया। यदि ऐसा है तो पूर्वापर विरोध क्यो नही आता ? नही आता, यह आचार्योके अभिप्रायोका सूचक होनेसे ग्रन्थान्तर (मतान्तर) है। वह अभिप्राय' कहते है—इनका उदय पुद्गल-विपाकी है। वे पुद्गल जीवोके रागद्वेपोके उत्पादनमें निमित्तभूत शक्तिको उत्पन्न करते है। जैसे वाह्य पुद्गलोके........वैसे उपशम श्रेणीमें रागद्वेपको उत्पन्न करानेमें समर्थ नही है। अत' उनके फलके अभावकी अपेक्षासे उपशमश्रेणिमें उनका उदय नही है, यह सूचित किया। अन्य ग्रन्थोंमें प्रदेश-निर्जरा मात्रकी विवक्षा करके उदय कहा है। अथवा वज्रनाराच और नाराच संहननवालोंके उपशमश्रेणि चढनेकी शक्ति नही है, ऐसा अभिप्राय कहना चाहिये।'

आगे एक जगह पुन इसी वातको दूसरे प्रसगसे इस प्रकार लिखा है—'अन्तिम पाँच सहनन असंख्यात गुने हैं। दो प्रकारके सयम गुणश्रेणि शीर्ष और उनसे गुणित अनन्तानुवन्धी विसंयोजन गुणश्रेणिशीर्ष, इन तीनोको एकत्र करके नामकर्म सम्वन्धी अट्ठाईस अथवा तीस प्रकृतिक स्थानसे भाग देनेपर होता है। दर्शनमोहक्षपक-गुणश्रेणिका ग्रहण क्यो नही किया ? इन सहननोंके उदयसहित जीवोके दर्शनमोहको क्षपण करनेकी शक्ति नही है। इस अभिप्रायसे उसका ग्रहण नही किया। दूसरे और तीसरे सहननवालोकी उपशान्त-कपाय गुण श्रेणिका ग्रहण क्यो नही किया ? जिनके दर्शन मोहको क्षपण करनेकी शक्तिका अभाव है उनके उपशम श्रेणिपर चढनेकी शक्तिके होनेका विरोध है इस अभिप्रायसे नही किया। यदि ऐसा है तो अनन्तर ही वीती उदीरणास्थान प्ररूपणामें विरोध' क्यो नही आता ? विरोध तो आता है किन्तु ग्रन्थान्तरका अभिप्राय

---

१. 'एदेण पचण्हं संहडणाणमुदइल्लाण पि उवसमसेडिचडण सभव णत्थि त्ति जाणाविद। जदि एवं [तो] पुव्वावरविरोहो (हो) किं ण भवे ? ण वा भवे, गंथातर माइरियाणमभिप्पायाण सूचयत्तादो ; तं कथ ? अभिप्पाय उच्चदे—एदेसि मुदयो पोग्गल विवाग करेदि। ते पोग्गला जीवाण रागदोसागमुप्पयागणिमित सत्तिमुप्पादयति। जहा वाहिर पोग्गलाणं सत्ते वियप्पो (?) तहा उवसमसेढ़ए राग-दोसमुप्पाएदु ण सक्किज्जदि त्ति। तदो तप्फलाभ (भा) वावेक्खाए उदओ उवसम सेदिए णत्थि त्ति सूचिद। इदरगथेसु पदेसणिज्जरामेत्त विवक्खिय भणिद। अहवा उवसमसेढि चडणसत्ती एदेसिं णत्थि त्ति एदमभिप्पायमिद म (भा) विदव्व ॥'

—सं० प०, पृ० ७६।

होनेसे दोनोका ग्रहण करना चाहिये, ऐसा परिहार पहले ही कर दिया है।"[1]

गोम्मटसार[2] कर्मकाण्डके उदय प्रकरणमें नेमिचन्द्राचार्यने भूतवलि तथा यतिवृपभ दोनो आचार्योंके मतसे जो प्रत्येक गुणस्थानमें उदयसे व्युच्छिन्न होनेवाली कर्म प्रकृतियाँ वतलायी हैं दोनो ही मतोके अनुसार उनमें वज्रनाराच सहनन और नाराच सहननका उदय ग्यारहवें उपशान्तकषाय गुणस्थान तक वतलाया है। अत पट्खण्डागम और कसायपाहुड दोनोंके मतोसे उक्त दोनो सहनन वाले जीव उपशम-श्रेणी चढ सकते है और जव उपशम-श्रेणी चढ सकते है तो दर्शनमोहनीयका क्षपण भी कर सकते है। अत पजिकाकारके द्वारा निर्दिष्ट उक्त मत इन दोनो ग्रन्थोका तो नही जान पडता। यह ग्रन्थान्तर कोई दूसरा ही होना चाहिये। श्वेताम्बर[3] सम्प्रदायमें यद्यपि उक्त दोनों मत मिलते हैं। किन्तु वहुमान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे संहननवाले उपशमश्रेणि नही चढ सकते, दिगम्वर परम्पराको जो मत मान्य है उसका उल्लेख वहाँ मतान्तरके रूपमें किया गया है। किन्तु चन्द्रर्पिने पञ्चसग्रहकी[4] स्वोपज्ञ टीकामें केवल इसी मतको मान्य किया है कि दूसरे तीसरे सहननवाला उपशमश्रेणि चढ सकता है। उसीके दूसरे टीकाकार मलयगिरि ने ग्रन्थकार चन्द्रर्षिको मान्य मतका निर्देश 'अन्ये' कर के किया है और नही चढनेवालो' के मत को मान्य स्थान दिया है। इसीसे यह प्रकट होता है कि सम्प्रदाय-मान्य मत यही है कि दूसरे तीसरे सहननवाले उप-

---

१. "पुणोवि अंतिम पत्तसहडणाणि असखेज्ज गुणाणि। कुदो ? दुविह सजमगुणसेढिसीसएणब्भहियमणताणुवधि विसयोजयण गुणसेढिसीसयाणित्ति तिण्णिवि एगट्ठ काऊण णामकम्मसवधीण अट्ठावीसेण वा तीसेण वा भजिदमेत होदि त्ति। किमट्ठ दंसणमोहक्खवण गुणसेढीण वेप्पदे ? ण, त खवण(तक्खवण) सत्ती पदेसिं संहडणाण उदयसहिदजीवाण णत्थि त्ति अभिप्पयादो। विदिय-तदियमिदि दोण्ह सहडणाण उवसतकसायगुणसेढि किं ण गहिदा ? ण, दसणमोहक्खवणा सत्तिविरहिदाण उवसमसेढि चडणसत्तीण संभव विरोहो होदि त्ति अभिप्पाएण। जदि एव (तो) अणंतएदिक्कत उदीरणट्ठाणपरूवणाए ण मियूणेण (?) च विरोहो किं ण भवे ? होदि विरोहो, गथतराभिप्पाएण दोण्ह पि गहण कायव्व इदि पुव्व चेव परिहार दिण्णत्तादो।"—स० प०, पृ० ७९।

२. 'सते वज्ज णारायणाराय' ॥२६९॥'—गो० क०

३—'अण्णे भणंति ति सयणो उवसमसेढिं पडिवज्ज इत्ति'—सि० चू०, पृ० ४९। 'अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसहननत्रयान्यतमसहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणी प्रतिपद्यन्ते।' सप्त० टी० पृ० २३३।

४ 'अपूर्वकरण वादर सूक्ष्मोप शान्तेपु प्रत्येक त्रिंशदुदयो भवति, द्वासप्तति भङ्गा, यतस्तेषु सहननत्रस्यैवोदयः। प०स० स्वो० टी० पृ० ३१८। अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते—आद्यसहननत्रयान्यतम सहनन युक्ता अपि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते, तन्मतेन भङ्गा द्विसप्तति।'—प० स० टी०, भा० २, पृ० ३२५।

शम श्रेणि नही चढ सकते। पजिकारको भी यही मत मान्य प्रतीत होता है।

रचनाकाल—

जैसा कि प्रारम्भमें लिखा है, पजिकाके इस अन्त'-निरीक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसके रचयिताको पट्खण्डागम सिद्धान्तका तो अच्छा ज्ञान था ही, साथ ही सत्कर्ममें वीरसेनस्वामी के द्वारा सगृहीत किये गये शेष अनुयोगोका तथा कसायपाहुडका भी अच्छा ज्ञान था और उनकी लेखन शैली भी वीरसेन स्वामीसे निम्न स्तरकी नही थी। फिर भी उसे हम वीरसेनस्वामीकी समकक्षता तो नही ही दे सकते। हाँ, जयधवलाको पूर्ण करनेवाले जिनसेन की समकक्षता अवश्य दे सकते है। इससे ऐसा लगता है कि यह पंजिका वीरसेनके ही किसी शिष्य या प्रशिष्यके द्वारा रचित हो सकती है।

पंजिकामे उद्धरण भी दो तीनसे अधिक नही है। उनमें तीन गाथाएँ तो कसायपाहुडकी है उनके साथमें 'कसायपाहुडगाथासुत्त' लिखा हुआ है। एक गाथा ऐसी है जो दिगंबर प्राकृत पचसंग्रह की है। अत' इन उद्धरणोसे भी हमरे उक्त अनुमानको कोई बाधा नही आती है।

प्रक्रम अनुयोगके अंत में अल्प-वहुत्वका प्रतिपादन कर के वीरसेन स्वामीने 'एसो-णिक्खेवाइरिय उवएसो' लिखकर उसे निक्षेपाचार्य उपदेश वतलाया है उसकी पजिकामें पजीकारने लिखा है—[2]'स्थिति-अनुभागोमें प्रक्रमित कर्मद्रव्यका अल्प-बहुत्व तो ग्रन्थ सिद्ध होनेसे सुगम है इसलिए उसका कथन न कर के स्थितिनिषेक प्रति प्रक्रमित अनुभागका अल्पवहुत्व निक्षेपाचार्यने ऐसा कहा है।' और लिख-कर निक्षेपाचार्यका कथन वतलाया है फिर उसकी उपपत्ति भी पजिकाकारने दी है उनका यह सव प्रतिपादन दो पृष्ठसे भी अधिक है। अन्तमें लिखा है—[3]इसप्रकार स्थितिके अनुसार अनुभाग अनतगुण हीन रूपसे वधको प्राप्त होते है यह निक्षेपाचार्यके वचन सिद्ध हुए' पश्चात् 'सेसाइरियाणमभिप्पायेण' लिखकर शेष आचार्योका अभिप्राय वतलाया है।' इससे प्रकट होता है कि वीरसेनस्वामीने जिस निक्षेपाचार्यके उपदेशका उल्लेख किया है, पजिकाकार उसके उपदेशसे भी अच्छी तरह सागोपाग परिचित थे। जगह-जगह पजिकामें अपने कथनके समर्थनमें

---

१. पु १५, पृ ४०।

२ 'पुणो ट्ठिदि-अणुभागेसु पक्कमिदकम्मदव्वस्स अप्पावहुग गंथसिद्ध सुगममिदि तमरू विय पुणो ठिदिणिसेयप्पडि पक्कमिगाणुभागस्सघावहुग णिक्खेवाइरियेण एव परूविदं'-- स प, पृ १४।

३. 'एव ठिदिअणुसरेण अणुभागा अणत गुणहीणसरूवेण वज्झंति त्ति णिक्खेवाइरियवयण सिद्ध'—सं पं, पृ १७।

'आर्ष' और 'आर्षवचन'का निर्देश किया गया। बातोसे भी हमारे उक्त अनुमान-का ही समर्थन होता है। वह व्यक्ति कौन हो सकता है, यद्यपि यह कहना शक्य नही है। किन्तु धवलाकी प्रशस्तिके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार है—

वोद्दणराय णरिंदे णरिंद चूडामणिम्हि भुजते।
सिद्धतगथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥९॥

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि धवला प्रशस्तिकी इससे पूर्वकी गाथाओमें 'कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिया धवला' लिखकर धवलाकी समाप्तिका काल और जगत्तुगदेवके राज्यमें धवलाकी समाप्तिका कथन किया जा चुका है। इसीसे उसके पश्चात् ही दूसरे राजाके राज्यका उल्लेख बडा अटपटा लगता है और उसकी सगति बैठानेके लिए यह कल्पना की जाती है। कि जगत्तु ग[1] के राज्यमें धवलाका प्रारम्भ हुआ और नरेन्द्रचूडामाणि वोद्दणराय (अमोघवर्ष प्र०)के राज्यमें उसकी समाप्ति हुई। किन्तु यह सब उक्त अन्तिम गाथाके आये हुए अतमें 'विगत्ता' शब्दपर ध्यान न देनेका फल है। 'विगत्ता' शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है। 'वि' उपसर्ग पूर्वक कृत् धातुसे कृदतमें 'विगत्ता' बनता है। उसका अर्थ होता काटा हुआ या छिन्न उससे यहा कोई प्रयोजन नही है। अतः 'विगत्ता'के स्थानमें 'विअत्ता' पाठ शुद्ध प्रतीत होता है। उसका अर्थ होता है—व्यक्ता अर्थात् स्पष्ट की गयी। अत नरेन्द्रचूडामणि वोद्दणराय नरेन्द्रके राज्यकालमें धवला या उसके किसी अशको जिसने व्यक्त किया उसीके द्वारा यह पद्य रचा जान पडता है। और पीछेसे वह मूल प्रशस्तिके अन्तमें जोड दिया गया है। इस तरहकी यह घटना नई नही है। ऐसे और भी उदाहरण मिलते है।

वीरसेनके शिष्य गुण[2]भद्रके उत्तरपुराणकी अन्तिम प्रशस्तिमें गुणभद्र शिष्य लोकसेनकी प्रशिस्त जुड गयी है। जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयका निर्देश हरिवंश-पुराण[3]में है जो शक स० ७०५ रचा गयाथा और पार्श्वाभ्युदय[4]के अन्तमें अमोघ-वर्षका उल्लेख है जो शक स० ७३५ के पश्चात् गद्दीपर बैठे। अत स्पष्ट है, कि अमोघवर्षके उल्लेखवाले पद्य उसमें पीछेसे जोडे गये। इसी तरह धवलाकी

---

१. जै० सा० इ०, पृ० १४७।
२. जै० सा० इ०, पृ० १४२।
३. 'या मिताभ्युदये पार्श्वजिनेन्द्र गुणस्तुति। स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्ति सकीर्तं यत्यसौ ॥४०॥ ह० पु० १० प्र०।
४. 'इति विरचित मेतत् काव्यमावेष्ट्य मेघ बहुगुण मपदोषं कालिदास्य काव्यम्। मलिनित परकाव्य तिष्ठता दशशाङ्क' भुवनमवतु देव सर्वदाऽमोघवर्ष ॥'—पार्श्वा०

प्रशस्तिकी उक्त गाथा भी पीछेसे उसमें जोडी गयी जान पडती है। यदि वोद्दणराय यथार्थमें अमोघवर्ष प्रथम है तो कहना होगा कि पजिकाकी रचना वीरसेनके सामने अथवा उनके स्वर्गवासके पश्चात् तत्काल ही हो गयी थी। जयधवलाकी अन्तिम प्रशस्तिमें[3] वीरसेनके शिष्य जिनसेनने श्रीपाल, पद्मसेन, और देवसेन नाम के तीन विद्वानोका उल्लेख किया है। उनमेसे श्रीपालको तो उन्होने अपनी टीका जयधवलाका सम्पालक कहा है ये तीनो उनके गुरुभाई जान पडते है सम्भवतया उन्हीमें से किसीने पजिकाका निर्माण किया हो।

चतुर्थ अध्याय

अन्य कर्मसाहित्य

छक्खडागम, कसायपाहुड आदि मूल आगमग्रन्थोके अतिरिक्त कर्मविषयक अन्य प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध है। यह साहित्य मूल आनुगमानुसारी है और इसका रचनाकाल विक्रमकी पाँचवी शताब्दीसे लेकर विक्रमकी नवम शताब्दीतक है। यद्यपि कर्म-विषयक मूल और टीका ग्रन्थों का निर्माण विक्रमकी १५ वी—१६वी शताब्दीतक होता रहा है। पर इस अध्यायमें प्राचीन कर्म-साहित्य का ही इतिवृत्त प्रस्तुत है। यहाँ पर कर्म-प्रकृति, बृहत्कर्म-प्रकृति, शतकचूर्णि, सित्तरी, कर्मस्तव और प्राकृत-पचसग्रह आदि ग्रन्थोपर विचार किया जारहा है।

कर्म-प्रकृति ग्रन्थको सर्वाधिक प्राचीन कहा जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस ग्रन्थपर कई चूर्णि और टीकाएँ भी उपलब्ध है। इसमें सन्देह नही कि कर्म-प्रकृति प्राचीन ग्रन्थ है और इसका उपयोग दोनो ही परम्पराओंमे होता रहा है।

कर्मप्रकृति—

इस ग्रन्थमें ४७५ गाथाएँ है। प्राकृत चूर्णिके साथ मलयगिरिकी संस्कृत टीका भी उपलब्ध है। ग्रन्थपर एक अन्य टीका उपाध्याय यशोविजयजी ने भी लिखी है।

नाम—ग्रन्थाकारने ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[1] कहा है कि मैंने कर्म-प्रकृतिसे इसका उद्धार किया है। किन्तु स्वय उन्होंने अपनी इस कृतिको कोई नाम नही दिया' उसीपरसे इसग्रथका नाम कर्मप्रकृति प्रवर्तित हुआ जान पडता है। किंतु चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें[2] लिखा है कि विच्छिन्न-कर्मप्रकृति महाग्रन्थके अर्थका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने सार्थक नामवाला 'कर्मप्रकृति-सग्रहणी' नामक प्रकरण रचा है। उससे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कर्मप्रकृति-सग्रहणी था। शतकचूर्णिमें[3]तथा सित्तरीचूर्णि[4] इसी नामसे इसका निर्देश मिलता है।

१.—'इय कम्मप्पअडीओ जहा सुय नीय मप्प मइणा वि। सोहियणा भोग कयं कहनु वर दिट्टी वायन्त्र ॥५६॥—कर्म प्र०, मत्ता०।

२—'विच्छिन्न कम्मपयडिमहागंत्थत्थ संवोहणत्थ आरद्ध आयरिण्ण तग्गुणणामग कम्मपयडी सगहणी णाम पगरण। क० प्र० चू०।

३—'जहा कम्मपयडिंमगणिए भणियं तहा भणामि,'—पृ ४. ण्याणि जहा कम्मपयटिंमगहणीय ,'—पृ. २६। 'एतासिं अत्थो जहा कम्मपयडि सगहणीए'—पृ० ४३।—श० चू०।

४.—'उव्वट्टणोविही जहा कम्मपयटी सगहणीए'—पृ० ६१। 'विंमेसपवचो जहा कम्म-

देवेन्द्रसूरिने अपने नवीन कर्मग्रन्थोकी स्वोपज्ञ टीकामे यद्यपि कर्मप्रकृतिके नामसे ही उसका उल्लेख किया है। तथापि एक स्थल[1] पर कर्मप्रकृति-संग्रहणी नामसे ही उसका निर्देश किया है। अत ग्रन्थका प्राचीन नाम कर्मप्रकृति-सग्रहणी है। उसीका सक्षिप्त रूप कर्मप्रकृति है।

वृहत्कर्म-प्रकृति—

नव्य कर्म-ग्रन्थाकार श्रीदेवेन्द्रसूरिने स्वोपज्ञ टीकामें एक स्थल पर वृहत्कर्मका निर्देश किया है। कर्म विपाक नामक प्रथम ग्रन्थकी सातवी गाथामें उन्होने श्रुत-ज्ञानके यद्यपि पर्याय पर्याय-समास, आदि वीस भेदोको गिनाया है। शतकचूर्णिमें भी विल्कुल ऐसी ही एक गाथा उद्धृत है जिसमें श्रुतज्ञानके ये वीस भेद गिनाये गये। श्वेताम्वर सम्प्रदायमें श्रुतज्ञानके ये वीस भेद केवल कार्मिकोमें ही मिलते हैं, सैद्धान्तिक पक्ष इनसे भिन्न श्रुतज्ञानके चौदह भेद मानता है और वे ही भेद श्वेताम्वर साहित्यमें वहुतायतसे मिलते है। अस्तु,उक्त गाथा ७ की स्वोपज्ञ[2] टीकामें श्रुतज्ञानके वीस भेदोको संक्षेपसे वतला कर लिखा है कि विस्तारसे जाननेके इच्छुक को 'वृहत्कर्मप्रकति' अन्वेपण करना चाहिये।

वर्तमान कर्मप्रकृतिमें श्रुतज्ञानके वीस भेदोकी गन्ध भी नही है तथा इस कर्मप्रकृतिका तो देवेन्द्रसूरिने कर्मप्रकृति नामसे ही उल्लेख किया है। अत यह 'वृहत्कर्मप्रकृति' इस कर्मप्रकृतिसे भिन्न होनी चाहिये। उसकी भिन्नता और महत्ताकी सूचना करनेके लिए ही देवेन्द्रसूरिने उसके नामके साथ 'वृहत्' शब्द जोडा जान पडता है।

किन्तु विक्रमकी १३-१४वी शतीके ग्रन्थकारके द्वारा वृहत्कर्म-प्रकृतिका उल्लेख देखकर उसका आधार खोजते हुए हमें 'शतक' ग्रन्थकी मलधारी हेमचद विरचित टीकामें इस तरहका उल्लेख मिला। उन्होने श्रुतज्ञानके वीस भेदोका सामान्य कथन करके विस्तारार्थीको 'वृहत्कर्म चूर्णिका अन्वेषण[3] करनेकी प्रेरणा की है।

पयडीसगहणीए—पृ० ६३। 'अन्तर करणविट्टी जहा कम्मपयडीसग्रहणीए—पृ० ६४।—सित० चू०।

१.—यदुक्त कर्मप्रकृति संग्रहण्याम्—आहारतित्थगहा भज्जति।—शतक टीका० पृ० ११

२—'विस्तारार्थिना वृहत्कर्म प्रकृतिरन्वेपणीया—स० च० क०, पृ० १९।

३,—'एवमेते सक्षेपत. श्रुतज्ञानस्य विंशतिर्भेदा दर्शिता विस्तारार्थिना तु वृहत्कर्म-प्रकृतिं चूर्णिरन्वेषणीया।—शतक टी० गा० ३८।

मिलान करनेसे यह तो हमें स्पष्ट हो गया कि देवेन्द्रसूरिका उक्त कथन मलधारी जीकी टीकाका ऋणी है। किन्तु चूँकि वर्तमान कर्मप्रकृतिकी तरह उसकी चूर्णिमें भी श्रुतज्ञानके बीस भेदोकी चर्चा नही है अत. या तो उन्होने उसमें सशोधन करके 'वृहत्कर्म-प्रकृति' कर दिया या 'चूर्णि' शब्द लेखक वगैरहके प्रमादसे छूट गया। अत हम नही कह सकते कि श्री हेमचन्द्रके उक्त उल्लेखका क्या आधार है और उसमें कहाँ तक तथ्य है।

यदि वृहत्कर्म-प्रकृतिसे मतलब अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत कर्मप्रकृति प्राभृतसे है तो उसमें उक्त बीस भेदोका वर्णन अवश्य था, यह बात पट्खण्डागमसे[1] स्पष्ट है क्योकि उसके वेदनाखण्डमें श्रुतज्ञानावरणीय कर्मकी बीस प्रकृतियोको बतलाते हुए श्रुतज्ञानके बीस भेदोंका कथन किया है।

कर्मप्रकृति

विपय परिचय—

कर्मप्रकृति[2]की पहली पहली गाथामें सिद्धोको नमस्कार करते हुए ग्रन्थकारने आठो कर्मोंके आठ करणो तथा उदय और सत्त्वके कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अत इस ग्रन्थमे क्रमसे वन्धनकरण, सक्रमकरण, उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणाकरण, उपशमनाकरण, निधत्ति, निकचना, उदय और सत्त्व इन दस करणोका कथन है।

कर्मोंके आत्माके साथ बधनेकी क्रियाका नाम बधन-करण है। वन्धके दो कारण है योग और कपाय। अत प्रथम योगका कथन किया है। वीर्यान्तराय कर्मके क्षय अथवा क्षयोपशमसे वीर्यलब्धि होती है उस वीर्यलब्धिसे वीर्य होता। उसे ही योग कहते हैं। उसके द्वारा जीव औदारिक आदि शरीरोके योग्य पुद्गलोको ग्रहण कर|के उन्हें औदारिक आदि शरीर रूप परिणमाता है। तथा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनके योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हें श्वासोच्छ्वास आदि रूप परिणमाता है। योगका कथन दस अधिकारोके द्वारा किया गया है—अविभागप्रतिच्छेद-प्ररूपणा, वर्गणाप्ररूपणा, स्पर्धकप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा, स्थानप्ररूपणा, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, वृद्धिप्ररूपणा, समयप्ररूपणा और अल्पवहुत्व-प्ररूपणा पट्खण्डागमके वेदना खण्डमें बारह अनुयोगद्वारोसे अनुभाग वन्धाध्यवसाय स्थानका कथन करते हुए उक्त कथन कर आये है उक्त दसो अधिकार उसीमें गर्भित है अत उनका यहाँ पुन कथन करने से पिष्टपेषण ही होगा। कसायपाहुडके अनुभागविभक्ति और

१.—पट्खं०, पु० १३, पृ० २६०।

२. कर्मप्रकृति, चूर्णि तथा दोनों टीकाओंके साथ है। सन् १९१७ मे जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से तथा सन् १९३७ में मुक्तावाई ज्ञान मन्दिर डभोइ (गुजरात)से प्रकाशित।

विशेषतया प्रदेशविभक्ति नामक अधिकारोके चूर्णिसूत्रोमें भी उक्त विषयोंकी चर्चा है।

गाथा १८-२० के द्वारा जीवके द्वारा ग्रहण योग्य और अग्रहणयोग्य वर्गणाओका निरूपण किया है षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत वन्धन अनुयोगद्वारमें इन वर्गणाओ का कथन आया है।

बन्ध योग्य वर्गणाओका कथन करनेके बाद वद्ध समयप्रवद्धका विभाग आठो मूलकर्मोकी उत्तर-प्रकृतियोमें किस प्रकारसे होता है इसका विवेचन किया है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें प्रत्येक उत्तर-प्रकृतिके विभागका कथन विस्तारसे किया है।

प्रदेशबन्ध के बाद अनुभागवन्धका कथन है। चूर्णिकारने चूर्णिमें वे सब अपने[1] अनुयोगद्वार कुछ व्यतिक्रमसे गिनाये है जो षट्खण्डागमके वेदनाखण्ड[2] के अन्तर्गत वेदना-भाव-विधानका कथन करते हुए वतलाये है। कर्मप्रकृति में चूर्णि निर्दिष्ट क्रमानुसार कथन किया है। तत्पश्चात् षट्खण्डागम के वेदनाभाव-विधानके अन्तर्गत जीव समुदाहारके अनुसार ही आठ अनुयोगोके द्वारा जीव समुदाहारका कथन है।

गाथा ६७ का व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिमें उत्कृष्ट और जघन्य अनुभागके अल्पवहुत्वका विचार विस्तारसे किया है। अन्तमें लिखा है—'आदि[3] अनादि प्ररूपणा, स्वामित्व, घातिसज्ञा, स्थानसज्ञा, शुभाशुभ-प्ररूपणा, बन्धप्ररूपणा, विपाकप्ररूपणाका कथन जैसा शतकमें कहा है वैसा कह लेना चाहिए।' तत्पश्चात् स्थितिबन्धका कथन किया है। जो जीव स्थान चूलिकाके ही अनुरूप है।

---

१ 'अनुभाग बन्धज्झवसाणस्स परूवणा कीरति। तस्स इमे अणुतोगद्दारा। त जहा- अविभागपलिच्छेद परूवणा, वग्गणपरूवणा, (फड्डगपरूवणा), अतरपरूवणा, ठाणपरूवणा, कडगपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाण-परूवणा, समयपरूवणा, जवमज्यपरूवणा उयजुम्णपरूवणा, पज्जवसाणपरूवणा, अप्पाबहुगपरूवणत्ति।'

क० प्र० चू०, पृ० ८५।

२ एत्तो अणुभागबधज्झवसाणट्ठाणदाए परूवणदाए तत्थ इमाणि बारस अणियोगद्दाराणि ॥१९७॥ अविभागपडिच्छेद परूवणा, ट्ठाणपरूवणा, अतरपरूवणा कदयपरूवणा, ओजजुम्मपरूवणा, छट्ठाणपरूवणा, हेट्ठाट्ठाणपरूवणा, समयपरूवणा, वड्ढिपरूवणा जवमज्भपरूवणा पज्जवसाणपरूवणा अप्पाबहुए त्ति ॥१९८॥—षट्ख, पु० १२ पृ० ८८॥

३. इदार्णि सादि अणादि परूवणा, सामित्त घातिसन्ना ट्ठाणसन्ना सुभासुभपरूवणा बधतो विवागो य जहा सयगे तहा भाणियव्वा —क० प्र० चू पृ० २४६।

वन्धनकरणमें १०२ गाथाएं हैं।

एक कर्मप्रकृतिके दलिकोका सजातीय अन्य प्रकृतिरूप सक्रान्त होनेकी क्रिया-को सक्रमण कहते हैं। किन्तु जैसे मूल प्रकृतियोमें परस्परमें सक्रमण नही होता वैसे ही दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयमें परस्परमें सक्रमण नही होता और न आयु कर्मकी चार उत्तर प्रकृतियोमें परस्पर सक्रमण होता है। इस सक्रमण-के भी वन्धके चार भेदोकी तरह चार भेद है—प्रकृतिसक्रम, स्थितिसक्रम, अनुभागसक्रम और प्रदेशसक्रम। प्रकृतिसक्रमके भी दो मूल भेद है एकैक प्रकृति-संक्रम और प्रकृति-स्थान सक्रम। जव एक प्रकृति एक प्रकृतिमें सक्रान्त होती है तो उसे एकैक प्रकृति संक्रम कहते है। और जव वहुत-सी प्रकृतियो में परस्परमें सक्रमण होता है तो उसे प्रकृतिस्थान सक्रम कहते हैं। कसायपाहुडमें केवल मोह-नीय कर्मका ही कथन है, जव कि कर्मप्रकृतिमें आठो कर्मोके सम्वन्धमें कथन है। अत कसायपाहुडके वन्धक महाधिकारके अन्तर्गत संक्रम नामक अधिकारकी २७ से ३९ नम्बर तककी तेरह गाथाएँ अनुक्रमसे कर्मप्रकृतिके सक्रम करण नामक अधिकारमें पायी जाती है। यह कहनेकी आवश्यकता नही कि ये गाथाएँ मोहनीय कर्मके प्रकृति स्थानसक्रम से सम्वद्ध हैं। यहाँ हम तुलना के लिए दोनो ग्रन्थोसे उक्त गाथाओको उद्धृत कर देना उचित समझते हैं इससे दोनोमें जो पाठ भेद है वह भी स्पष्ट हो जायेगा।

> अट्ठावीस चउवीस सत्तरस सोलसेव पण्णरसा।
> एदे खलु मोत्तूण सेसाण संकमो होइ।।२७।। क० पा०
> अट्ठ चउरहियवीस सत्तरस सोलस च पन्नरस।
> वज्जिय सकमट्ठाणाई होंति तेवीसइ मोहे ।।१०।। क० प्र०

दोनो गाथाओमें कहा है कि अट्ठाईस, चौबीस, सतरह, सोलह और पन्द्रह प्रकृतिक स्थानोको छोडकर मोहनीय कर्मके शेष स्थानोमें जिनकी सख्या २३ है, सक्रमण होता है। दोनो गाथाओकी चूर्णियोमें कोई ऐसी उल्लेखनीय समानता नही है जिसपरसे कोई कल्पना की जा सके।

> सोलसग वारसट्ठग वीस <u>वीसं तिगादि गाधिगा य</u>।
> एदे खलु मोत्तूण सेसाणि पडिग्गहा होंति ।।२८।। क पा०
> सोलस वारसगट्ठग वीसग तेवीस गाइगे छच्च।
> वज्जिय मोहस्स पडिग्गहा उ अट्ठारस हवंति ।।११।। क० प्र०।

दोनो गाथाओके अर्थमें कोई अन्तर नही हैं। रेखांकित पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है कर्मप्रकृतिका पाठ ठीक है। दोनोमें कहा है कि सोलह, वारह, आठ, बीस और तेईस आदि छै स्थानोको छोड कर शेष मोहनीयके पतद्ग्रह होते हैं। जिन

प्रकृति स्थानोमें कोई प्रकृति स्थान सक्रान्त होता है उन्हें पतद्ग्रह कहते है । कसायपाहुड गाथा न २९-३०-३१ में कर्म-प्रकृति गा० न० १२-१३-१४ में कोई अन्तर नही है, क्वचित् शब्दोका अन्तर है।

चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे च णियम वावीसा ।
णियमा मणुस गईए विरदे मिस्से अविरदे य ॥ ३२॥ क० पा०
चोद्दसग दसग सत्तग अट्ठारसगे य होइ वावीसा ।
णियमा मणुय गईए णियमा दिट्ठीकए दुविहे ॥१५॥ क० प्र०

दोनो गाथाओके चतुर्थ चरणमें अन्तर होनेपर भी दोनोके अभिप्रायमें अन्तर नही है । ऊपर की गाथामें बतलाया है कि चौदह, दस, सात और अट्ठारहमें वाईस प्रकृतियो का संक्रमण होता है । वह सक्रमण नियमसे मनुष्य गतिमें, और संयतासयत और असायत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोमें होता है । कर्म प्रकृतिकी गाथामें गुणस्थानोंका निर्देश न करके यह निर्देश किया है कि यह बाईस प्रकृतिक स्थान नियमसे दर्शनमोहनीय की सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्व रूप प्रकृतियोंका ही अस्तित्व होने पर होता है । किंतु कषायपाहुड निर्दिष्ट गुणस्थानोका कथन सभीको मान्य है । उसमें कोई मतभेद नही है ।

तेरसय णवय सत्तय सत्तारस पणय एगवीसाए ।
एगाधिगाए वीसाए सकमो छप्पि सम्मत्ते ॥३३॥ क० पा०

तेरसग णवग सत्तग सत्तरसग पणग एक्कवीसासु ।
एक्कावीसा संकमइ सुद्ध सासाण मीसेसु ॥ १६ ॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोंके चतुर्थ चरणमें अन्तर है तथा अभिप्रायमें भी थोडा अतर है । दोनों में कहा है कि तेरह, नौ, सात, सतरह, पाँच और इक्कीस॰ इन छै स्थानों में इक्कीस का संक्रमण होता है । कसायपाहुडमें कहा है कि यह सक्रमण सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोमें ही होता है । कर्मप्रकृतिमें कहा है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदिमें तथा ससादन और मिश्र गुणस्थानमें होता है । उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए जयधवलामें सम्यक्त्व गुण विशिष्ट गुणस्थानोमें सासादनका तो ग्रहण किया है किन्तु मिश्र गुणस्थान का ग्रहण नही किया । इन गाथाओपर दोनो ग्रन्थोमें चूर्णियाँ नही है अतः कुछ विशेष कह सकना शक्य नही है ।

एत्तो अवसेसा सजमम्हि उवसावगे च खवगे च ।
वीसाय सकमदुगे छक्के पयाए च वोद्धव्वा ॥३४॥ क० पा०

एत्तो।अविसेसा सकमंति उवसामगे व खवगे वा ।
उवसामगेसु वीसा य सत्तगे छक्क पणगे वा ॥१७॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोके उत्तरार्द्धमें अन्तर है और थोडा-सा मतभेद भी है। दोनोमें कहा है कि उक्तसे अवशिष्ट प्रकृतिस्थान-सक्रम उपशमश्रेणि और क्षपकश्रेणिमें सक्रान्त होते हैं। किन्तु कसायपाहुडमें आगे कहा है कि वीसका सक्रम केवल छै और पाँच इन दो ही स्थानोमे होता है और कर्मप्रकृतिमें कहा है कि सात, छै और पाँचमें वीसका सक्रमण होता है। यह अन्तर है।

> पचसु च ऊणवीसा अठ्ठारस चदुसु होति बोद्धव्वा।
> चोद्दस छसु पयडीसु य तेरसय छक्क पणगम्हि ॥३५॥ क० पा०
> पचसु एगुण वीसा अट्ठारस पचगे चउक्के य।
> चोद्दस छसु पगडीसुं तेरसग छक्कपणगम्मि ॥१८॥ क० प्र०

यहाँ भी दोनोमें थोडा अन्तर है। कसायपाहुडके अनुसार १८ का सक्रमण चार प्रकृतियोमें होता है और कर्मप्रकृतिके अनुसार चार और पाँचमें होता है।

शेष चार गाथाओमें कोई अन्तर नही है। इस तरह संक्रमण प्रकरणमें १३ गाथाएँ ऐसी पायी जाती है जो कसायपाहुडकी है। इस प्रकरणकी गाथासख्याका प्रमाण एक सौ ग्यारह है।

सक्रम-करणके पश्चात् उद्वर्तना-अपवर्तनाकरणका कथन है। ये दोनो करण स्थिति और अनुभागसे सम्बन्ध रखते है। स्थिति और अनुभागके बढानेको उद्वर्तना और घटानेको अपवर्तना कहते हैं। उद्वर्तना तो बन्धकाल पर्यन्त ही होती है किन्तु अपवर्तना बन्धकालमें भी होती है और अबन्धकालमें भी होती है। दस गाथाओके द्वारा इन दोनो करणोंका कथन है।

पश्चात् उदीरणा-करण का कथन है। विशुद्ध अथवा सक्लेश परिणामोके द्वारा उदयावलि-बाह्य निषेकोको अपवर्तनाके द्वारा बलात् उदयावलीमें ला कर उनका वेदन करनेको उदीरणा कहते है। जैसे आमोको तोडकर भूसे आदिमें दबाकर जल्दी पका कर खाते है। उसी तरह जो कर्मको अपने समयसे पहले भोग किया जाता है उसे उदीरणा कहते हैं। उसके भी चार भेद है—प्रकृति-उदीरणा, स्थिति-उदीरणा, अनुभाग-उदीरणा और प्रदेश-उदीरणा। प्रकृति-उदीरणा और प्रकृतिस्थान-उदीरणाका कथन करते हुए उनके स्वामियोका कथन किया है कि अमुक-प्रकृतिकी उदीरणा कौन करता है। इसी प्रकार स्थिति-उदीरणा आदिका भी कथन किया है। इस प्रकरण की गाथा सख्या ८९ है।

उपशमना-करण का कथन करते हुए इन अधिकारोके द्वारा उसका कथन किया है—प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी उत्पादना, देश विरति की प्राप्ति, अनन्तानुबन्धी काषाय का विसयोजन, दर्शनमोहकी क्षपणा, दर्शनमोहकी उपशामना, चारित्रमोहकी उपशमना।

पहली गाथाके द्वारा उपशामनाके दो भेद बतलाये है—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाका दूसरा नाम अनुदीर्णोपशमना भी है। (यथा प्रवृत्त, अध प्रवृत्त), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोके द्वारा जो कर्मोका उपशम किया जाता है उसे तो करणोपशमना कहते है। और इन करणोके विना जो उपशमना होती है उसे अकरणोपशमना कहते है। वैसे उपशमनाके दो भेद है—देशोपशमना और सर्वोपशमना। उक्त दो भेद देशोपशमनाके ही है। (सर्वोपशमना तो उक्त करणो के द्वारा ही होती है)। उपशमनाके उक्त दो भेद करके कर्म-प्रकृतिकारने अकरणोपशमनाके अनुयोगधरोंको नमस्कार किया है।[1] चूर्णिकारने उसका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अकरणोपशमनाका अनुयोग विच्छिन्न हो गया। अत. उसको नही जानने वाले कर्म-प्रकृतिकारने उसके जानने वाले आचार्यको नमस्कार किया है।

दूसरी गाथामें कहा है कि सर्वोपाशमनाके दो नाम है—गुणोपशमना और प्रशस्तोपशमना। देशापशमनाके भी दो नाम है अगुणोपशमना और अप्रशस्तोपशमना। सर्वोपशमना केवल मोहनीय कर्मकी ही होती है। इस प्रकरणमें भी चार गाथाए ऐसी है जो कसायपाहुडमें भी पायी जाती है। कर्मप्रकृतिमें उनका नम्बर-२३, २४, २५, २६ है। और ये गाथाएं कसायपाहुडके दर्शन मोहोपशमना नामक अधिकारके अन्तमें आती है। चारमें से अन्तकी दो में तो कोई अतर नही है। प्रारम्भकी दो में अन्तर है उसमेंसे भी भी दूसरीमें केवल शब्दोका व्यक्तिक्रम है। हा, पहलीमें उल्लेखनीय अन्तर है। कर्म-प्रकृति (उपशमना) की गाथा इस प्रकार है—

सम्मत्त पढम लम्भो सव्वोवसमा तहा विगिट्ठो य।
छालिगसेसा पर आसाण कोइ गच्छेज्जा ॥२३॥

इसमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्व की प्रथम प्राप्ति मोहनीय कर्मके सर्वोपशमसे होती है तथा प्रथम स्थितिकी अपेक्षा उसके अन्तर्मुहुर्त कालका प्रमाण बडा होता है। जब उस सम्यक्त्वके कालमें कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छैं आवली काल शेष रहता है तो कोई कोई जीव गिर कर सासादन गुणस्थानके चले जाते है और वहासे पुन मिथ्यात्वमें आ जाते है।

यह गाथा कसायपाहुडमें इस प्रकार पायी जाती है—

सम्मत्त पढम लभो सव्वोपसमेण तह वियट्ठेण।
भजियव्वो य अभिक्ख सव्वोवसमेण देसेण ॥१००॥

---

१. 'सा अकरणोपसामणा ताते अणुओगो वोछिन्नो, तो त अजाण तो आयरिओ जाणतस्स नमोक्कार करेति' कर्म प्र उप, गा. १ च.

इस गाथाके भी पूर्वार्द्धमें बतलाया है कि औपशमिक सम्यक्त्वका प्रथम लाभ मोहनीयके सर्वोपशमसे होता है। किन्तु आगे 'वियट्ठेण' का अर्थ भिन्न किया है, यद्यपि पिपट्ट और 'विगिट्ठ' शब्दोमें वैसा भेद प्रतीत नही होता। जयधवलाकारने उसका अर्थ किया है—'जो मिथ्यात्वमें जा कर बहुत काल बीतने पर पुन सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी सर्वोपशमसे ही प्राप्त करता है।' और जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी पुन सम्यक्त्वके अभिमुख होता है वह सर्वोपशमसे अथवा देशोपशमसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

कर्म-प्रकृतिके उपशमना-करणकी २६ वी गाथा और कसायपाहुडकी १०५वी गाथामें कोई अन्तर नही है किन्तु दोनोके टीकाकारोके अर्थमें अन्तर है गाथा इस प्रकार है—

> सम्मामिच्छद्दिट्ठी सागारे वा तहा अणागारे।
> अह वजणोग्गहम्मि य सागारे होई नायव्वो ॥२६॥

कषायपाहुडमें सागारे और 'अणागारे'के स्थानमें 'सागारो' और 'अणागारो पाठ है। कर्म प्रकृतिकी चूर्णिमें पूर्वार्धका अर्थ किया है—'सम्यग्मिथ्यादृष्टि या तो साकार उपयोगमें वर्तमान होता है अथवा अनाकार उपयोगमें वर्तमान होता है।' जयधवलाके अनुसार अर्थ है—सम्यग्मिथ्यादृष्टि साकारोपयोगी होता है अथवा अनाकारोपयोगी होता है। दोनो अर्थोमें कोई अन्तर नही है। किन्तु उत्तरार्धके अर्थ में अन्तर है—

कर्म प्रकृति चूर्णिमें अर्थ किया है—

'यदि साकार उपयोगमें वर्तमान होता है' तो व्यजनावग्रहमें होता है अर्थावग्रहमें नही। क्योकि सशयज्ञानी अव्यक्त-ज्ञानी होता है।' और जयधवलामें अर्थ किया है—'वजणोग्गहम्मि दु' यदि विचार पूर्वक अर्थ ग्रहण करनेकी अवस्थामें होता है तो सकारोपयोगी होता है।

इन गाथाओ पर कसायपाहुडमें चूर्णि सूत्र नही है। कसायपाहुड और कर्मप्रकृति दोनोको दर्शन-मोहोपशमना नामक प्रकरण उक्त गाथाके साथ समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् कर्मप्रकृतिमें चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। इसमें ७४ गाथाएँ है अन्तमें २-३ गाथाओ द्वारा निधत्ति और निकाचनाका कथन है।

आठो करणो का कथन समाप्त होने के पश्चात् कर्मों के उदय का प्रकरण प्रारम्भ होता है। उत्कृष्ट प्रदेशोदयके स्वामी का कथन करने से पूर्व दो गाथाओ

---

१. 'सम्मतुप्पत्ति सावयविरएसजोयणा विणासे य।
दसणमोह क्खगे कसाय उवसामगुवसते ॥८॥

के द्वारा ग्यारह[1] गुण-श्रेणिया गिनायी है। ये गुण-श्रेणिया जैन सिद्धान्तमें दोनो परम्पराओ में अति प्रसिद्ध है। षटखण्डागम्के वेदना-खण्डमें भी दो गाथाओके द्वारा ग्यारह गुणश्रेणिया गिनायी है। दोनो ग्रन्थो की गाथाओमें तो शब्दभेद है ही, आशय में भी किञ्चित अन्तर है। कर्मप्रकृतिमें 'जिणे दुविहे' पाठ है। चूर्णिमें उसका अर्थ सयोग-केवली और अयोग-केवली किया है। किन्तु षट्-खण्डागम में केवल 'जिणेय' पाठ है। और गाथाओं का विवरण करने वाले षट्खण्डागम के सूत्रो में जिनसे केवल अध प्रवृत्त-केवली और योग निरोध करने वाला सयोग-केवली लिया है। अयोग-केवलीको नही लिया।

तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्यायमें भी ये गुण श्रेणिया गिनायी है। और दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनो परम्पराओके टीकाकारोने जिनसे सामान्य जिन ही लिया है और इस तरह वहा उनकी सख्या दस ही, है ग्यारह नही।

उदय-प्रकरणमें कर्मोके उदय का वर्णन है। कर्मों के फल देने को उदय कहते है। उदय के पश्चात् सत्ता का कथन है। किन स्थानोमें किन-किन कर्म प्रकृतियो का सत्त्व रहता है इसका विस्तारसे कथन है। उदय और सत्व दोनोके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश की अपेक्षा चार,चार भेद कर के उनके जघन्य और उत्कृष्ट भेदो के स्वामियो का कथन किया है। प्रदेश सत्कर्ममें योग-स्थान और स्पर्धको का निर्देश करके भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्य भेदो का कथन है।

कर्म प्रकृति के इन प्रकरणोमें क्रमसे १०२ + १११ + १० + ८९ + ७१ + ३- + ३२ + ५७ = ४७५ गाथाए है।

कर्ता—

इसमें तो सन्देह नही कि कर्म-प्रकृति एक प्राचीन ग्रन्थ है और उसकी प्राकृति चूर्णि भी प्राचीन प्रतीत होती है। किन्तु इन दोनो के रचयिताओ का नाम ज्ञात नही है और इसीलिए उनके रचनाकाल का भी कोई निश्चित समय

---

[1] खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असखगुणसेढी ।
उदओ तव्विवरीओ कालो सखेज्जगुण सेढी ॥९॥ कर्मप्र०, उदय
सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय विरदे अणत कम्म सें ।
दसणमोह क्खवए कसाय उवसामए य उवसते ॥७॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असखेज्जा ।
तीव्विवरीदो कालो सखेज्ज गुण य सेडीओ ॥८॥' षट्स० पु० १२, पृ०, ७८ ।
'समग्दृष्टि श्रावक विरता नन्त वियोजक दर्शन मोह क्षपकोपशमकोपशान्त मोहक्षपक क्षीणमोह जिना. क्रमशोऽसख्येयगुण निर्जरा ॥४५॥' तत्त्वा० सू० ।

निर्धारित नही है। परम्पराके आधार पर कर्म-प्रकृति को शिवशर्म सूरि की कृति माना जाता है।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित कर्म-प्रकृति की संस्कृत प्रस्तावना में लिखा है कि पूर्वधर भगवान श्री शिवशर्म सूरिने कर्म-प्रकृति नामक मूलग्रन्थ को रचा था। इतिहास का अभाव होनेसे इनका समय अभी तक निश्चित नही हो सका। इनके गुरु कौन थे और ये कितने पूर्वोके धारी थे यह भी निश्चित नही है। तथापि नन्दी-सूत्रके आदि पाठ को देखनेसे यह निश्चय किया जाता है कि ये आगमोद्धारक देवर्धिगणिके पूर्ववर्ती थे। ऐसी संभावना है कि ये दशपूर्वधर थे।"

जैन साहित्य का इतिहास (पृ० १३९)में लिखा है कि शिव शर्म सूरि नामके एक महान आचार्य हो गये हैं। उनका समय अनिश्चित है। उन्होने ४७५ गाथाओ में कर्म-प्रकृति नामक ग्रन्थ दृष्टिवादके अन्तर्गत दूसरे पूर्व में से उद्धार कर रचा है। अतः उनका समय वि स० ५००के आस पास रखा जा सकता है।'

कल्पसूत्रस्थस्थविरावली, नन्दीसूत्रस्थस्थविरावली आदि किसी प्राचीन पट्टावली में हमें शिवशर्म सूरि नाम देखने को नही मिला। चूर्णिकार को भी यह ज्ञात नही था कि इस कर्म-प्रकृति के रचयिता कौन हैं क्योकि उन्होने भी ग्रन्थकार का नाम नही दिया। चूर्णिकारकी तरह १२-१३ वी शताब्दीके टीकाकर मलयगिरिने भी यह नही लिखा कि कर्म-प्रकृति के कर्ता असुक नामके आचार्य हैं। हाँ, १८ वी शताब्दीके दूसरे टीकाकार यशोविजय ने कर्म-प्रकृति की प्रथम गाथा की उत्थानिकामें शिवशर्म सूरि का नाम दिया है। अतः उनके सामने कोई आधार अवश्य होना चाहिये जिसके आधार पर उन्होने कर्मप्रकृतिको शिवशर्म सूरि की कृति बतलाया। खोजने पर देवेन्द्रसूरि रचित नवीन कर्म-ग्रन्थो को स्वोपज्ञ[1] टीका में कर्म-प्रकृति का उद्धरण देते हुए उसे शिवशर्म सूरि रचित लिखा है। तथा उसी में एक स्थान[2] पर शिवशर्म सूरि रचित शतक का उद्धरण दिया है।

कर्म-प्रकृतिकार ने कर्मप्रकृति की रचना करनेसे पहले शतक नामका भी एक ग्रन्थ रचा था वह कर्म-प्रकृतिसे ही ज्ञात होता है। अत देवेन्द्रसूरिके उल्लेखके अनुसार इन दोनोके रचयिता शिवशर्म सूरि थे। देवेन्द्र सूरि का समय १३-१४ वी शताब्दी है और मलयगिरि का समय १२-१३ वी शताब्दी है। दोनोमें एक शताब्दी का अन्तराल है फिर भी मलयगिरि जैसे बहुश्रुत टीकाकार ने कर्म-प्रकृति की अपनी टीकामें उसके रचयिता शिवशर्म सूरिके

---

१. 'यदाह शिवशर्म सूरिवर कर्मप्रकृतौ—स. च क., पृ. १३७। २ यदुक्तं शिवशम सूरिपादै शतके'—स. च. क., पृ. ७९।

नामका उल्लेख क्यो नही किया ? इस विचारवश खोज करने पर देवेन्द्रसूरिके इस उल्लेखका आधार शतकचूर्णिमें मिला । शतकचूर्णिमें लिखा[1] है कि इस शतक नामके ग्रन्थको शब्द, तर्क, न्याय और कर्मप्रकृति सिद्धान्तके ज्ञाता, अनेक वादोमें विजय प्राप्त करनेवाले शिवशर्मा नामक आचार्यने रचा । अत चूर्णिसे यह प्रकट होता है कि शतक और कर्मप्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरि थे । किन्तु शतकचूर्णिके इस उल्लेखका आधार क्या है, यह हम नही जान सके । कर्मप्रकृति-चूर्णिकी तरह ही शतक-चूर्णिके कर्ताका तथा उसका रचनाकाल भी अनिर्णीत है । किन्तु दोनो चूर्णियोकी शैली आदिकी तुलनासे यह स्पष्ट है कि दोनोके कर्ता भिन्न-भिन्न है तथा कर्म-प्रकृतिकी चूर्णिसे शतक चूर्णिवादमें रची गयी है।

समय—

यह शिवशर्मसूरि कब हुए इसके जाननेका कोई प्रामाणिक आधार उपलब्ध नही है । जो कुछ है वह उनके दोनो ग्रन्थ ही है । कर्मप्रकृतिकी उपान्त्य गाथामें उन्होने कहा कि—'इस[2] प्रकार मुझ अल्पबुद्धिने भी जैसा सुना वैसा कर्मप्रकृतिसे उद्धृत किया । जो कुछ स्खलित कथन किया हो, उसे दृष्टिवादके ज्ञाता शुद्ध कर के कहे ।'

चूकि कर्मप्रकृति-प्राभृत दृष्टिवादके अन्तर्गत द्वितीय पूर्वका अश था और श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार भगवान् महावीरके निर्वाणसे एक हजार वर्ष तक दृष्टिवाद रहा । अत कर्म-प्रकृतिके रचयिता शिवशर्म सूरिका समय वि० स० ५०० के लगभग अनुमान किया जाता है ।

प० हीरालालजी शास्त्रीने कसायपाहुड सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामें लिखा है कि वर्तमान कर्मप्रकृति वही कर्मप्रकृति है जिसका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें किया है । कसायपाहुडके चारित्रमोहकी उपशमना नामक अधिकारमें 'उवसामणा कदि विधा' इस गाथाशका व्याख्यान करते हुए कहा है कि 'उपशामनाके[3]

---

१ 'केण कयं ? ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अयोगवायसमालद्धविजएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कय ।'—शत० चू० पृ० १ ।

२. 'इय कम्मपगडीओ जहा सुय नीयमप्पमइणावि। णोहियणा भोगकयं कहतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥५६॥

—कर्म प्र० सता० ।

३ 'उवसामणा कदि विधा त्ति उवसामणा दुविहा करणोवसामणा च अकरणोव सामणा च । जा सअकरणोवसामणा तिस्से दुवे नामधेयाणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा साकरणोवसामणा सा दुविहा त्ति वि देसकरणोवसामणा त्ति वि। सव्वकरणोवसामणाए देसकरणोवसामाणाए दुवे णामणि देसकरणोवसामणाए त्ति वि अप्पसत्य उवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु ।

—क० पा० सू०, द० ।

दो भेद हैं—करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम हैं—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। अकरणोपशामनाका कथन कर्म-प्रवाद में है। करणोपशामनाके भी दो भेद हैं—देशकरणोपशामना और सर्वकरणोपशामना। देशकरणोपशामनाके दो नाम हैं—देशकरणोपशामना और अप्रशस्तोपशामना। इसका कथन कर्म-प्रकृतिमें है।'

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए जयधवलाकारने लिखा[1] है कि द्वितीय पूर्वके पञ्चम वस्तु अधिकारसे प्रतिबद्ध चतुर्थ प्राभृतका नाम कम्मपयडी है। उसमें इस देशकरणोपशामनाका विस्तारसे कथन है। शायद यह शका की जाये कि कर्मप्रकृति प्राभृत तो एक है उसका यहाँ 'कम्मपयडीसु' इस बहुवचन रूपसे निर्देश क्यो किया ?' तो उसका समाधान है कि 'यद्यपि कर्मप्रकृति-प्राभृत एक है किन्तु उसके अन्तर्गत कृति, वेदना, आदि अनेक अवान्तर अधिकार है, उनकी विवक्षासे बहुवचनका निर्देश करनेमें कोई विरोध नही है।'

जयधवलाकारके इस स्पष्ट निर्देशके सामने शास्त्रीजीके उक्त कथनको कैसे मान्य किया जा सकता है। फिर जिस देसकरणोपशामनाके लिए कर्मप्रकृतिका निर्देश यतिवृषभने किया है, प्रस्तुत कर्मप्रकृतिमें उसका केवल ६ (६६-७१) गाथाओमें उल्लेख मात्र है। उनसे पहली गाथामें तो देशकरणोपशामनाके भेद बतलाये हैं। दो में उसके स्वामियोका निर्देश है तथा एक गाथामें प्रकृति उपशामनाका, एकमें स्थिति-उपशामनाका और एकमें अनुभाग और प्रदेश-उपशामनाका उल्लेख है। अत अकरणोपशमनाके लिए कर्मप्रवाद नामक अष्टम पूर्वका निर्देश करनेवाले यतिवृषभ जैसे कसायपाहुडके वेत्ता विद्वान् देशकरणोपशामनाके लिए इस कर्मप्रकृतिका निर्देश नही कर सकते। प्रस्तुत कर्मप्रकृति अवश्य ही उनके उत्तरकालकी रचना होनी चाहिए। फिर जैसा प्रारम्भमें लिख आये है इस कर्मप्रकृतिके सिवाय एक बृहत्कर्म-प्रकृति भी थी। चूर्णिकारने शायद उसी कम्मपयडी महाग्रन्थके विच्छेदकी सूचना दी है। वह बृहत्कर्म-प्रकृति अथवा कम्मपयडी महाग्रथ सम्भवतया अग्रायणी पूर्वके चतुथ वस्तु अधिकारके अन्तर्गत कर्मप्रकृति-प्राभृत ही हो सकता है। जैसा कि जयधवलाकारका मत है। अत उसीका निर्देश यतिवृषभने अपने चूर्णिसूत्रोमें किया हो सकता है।

---

१. 'कम्मपयडीओ णाम विदिय पुव्व पचम वत्थुपवद्धो चउत्थो पाहुड सण्णिदो अहियार अत्थि। तत्थेसा देसकरणोवसामणा दट्ठव्वा, सवित्थरमेदिस्से तत्थ पवधेण परूविदत्तादो। कथमेत्थ एगस्स कम्मपयाडिपाहुडस्स 'कम्मपयडिसु' त्ति वहुवयणणिद्देसो त्ति णासकणिज्ज; एककस्सविदि तस्स कदि, वेदणा अवातराहियार भेदावेक्खाए बहुवयणणिद्देसाविरोहादो।'—ज० ध० प्रे० का, पृ० ६५६७-६८।

नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें नागहस्तीको कर्मप्रकृति प्रधान बतलाया है उसको लेकर शास्त्रीजीने लिखा है, जब यतिवृषभके गुरु कम्मपयडीके प्रधान व्याख्याताओंमें थे तो यतिवृषभके सामने तो उसका होना स्वत सिद्ध है ? बात ठीक है, किन्तु जब यतिवृषभके सामने वर्तमान कर्म-प्रकृति थी तो नागहस्ती भी सभवत. उसीके प्रधान व्याख्याता होगे। और ऐसी दशामें वर्तमान कर्मप्रकृति नागहस्तीसे भी पूर्वरचित होनी चाहिये ? किन्तु यह सब निराधार कल्पना है। शास्त्रीजीने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रो और कर्मप्रकृतिकी कतिपय गाथाओको उद्धृत करके यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा की है कि वर्तमान कर्मप्रकृतिके आधारपर ही चूर्णिसूत्र रचे गये है। किन्तु शास्त्रीजीने जितने तुलनात्मक उद्धरण दोनो ग्रन्थोसे दिये है, वे सब निष्प्राण है, बल्कि उनके देखनेसे तो यही अधिक सभव प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रकारने कर्मप्रकृतिका अनुसरण नही किया बल्कि कर्मप्रकृतिके रचयिताने कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोका अनुसरण किया है। यह सत्य शास्त्रीजीकी लेखनीसे भी प्रकट हुए बिना नही रहा है। दर्शनमोह उपशामकके परिणाम, योग, उपयोग और लेश्यादिका वर्णन करनेवाले चूर्णिसूत्रोको उद्धृत करके शास्त्रीजीने लिखा है—'इन सब सूत्रोंकी तुलना कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिये और देखिये कि किस खूबीके साथ सर्व सूत्रोके अर्थका एक ही गाथामें समावेश किया गया है ? (पृ० ३५)

चूर्णिसूत्र और कर्मप्रकृति-चूर्णि—

कसायपाहुडके चूर्णिसूत्रोमें और कर्मप्रकृतिकी चूर्णिमें यत्र तत्र कुछ साम्य प्रतीत होता है किंतु गहराईसे अवलोकन करनेपर चूर्णिसूत्रोकी शैलीका कर्मप्रकृति की चूर्णिमें आभास नही मिलता। चूर्णिसूत्रोमें कसायपाहुडकी गाथाओके व्याख्यानके लिए विभाषा और पदच्छेदकी जो शैली अपनायी गयी है यहाँ उसका अभाव है। कर्मप्रकृतिकी चूर्णि तो एक टीका प्रकारकी व्याख्या है जिसमें गाथाके अर्थको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। और उस परसे यह भ्रम होता है कि दोनों चूर्णियाँ एक ही की कृति है, किन्तु बात वास्तव में ऐसी नही है। दोनोंमें शैलीभेद और भाषाभेद तो है ही, सैद्धान्तिक-भेद भी परिलक्षित होता है।

---

१. नीचे हम तुलनाके लिए शास्त्रीजीके उद्धरणोंमेसे एक उद्धरण देते हैं—'ज पदेसग्गमण्णपयडि णिज्जदे, जत्तो पयडीदो त पदेसग्ग णिज्जदि तिस्से पयडीए सो पदेससकमो। एदेण अट्ठपदेण तत्थ पचविहो सकमो, त जहा, उव्वेलणसकमो, विज्झादसकमो, अद्धापवत्तसकमो, गुणसकमो, सव्वसकमो च।' (क. पा. सू., पृ० ३१७।
इन चूर्णिसूत्रोंका मिलान कम्मपयडीकी निम्न गाथासे कीजिए—

ज दलियमण्णपगइ णिज्जइ सो सकमो पएसस्स।
उव्वलणो विज्झाओ, अहापवत्तो गुणो सव्वो ॥६०॥—कर्मप्र.

—क० पा० सु० प्रस्तावना पृ० ३३।

उदीरणा[1] प्रकरणमें कर्मप्रकृति-चूर्णिमें उत्तरप्रकृतिके १५८ भेद बतलाये है। उदीरणा प्रकृतियोकी सख्या अभेद विवक्षा से १२२ मानी गयी है। और भेद विवक्षासे १४८। औदारिकि, आदि शरीरोके सयोगी भग पन्द्रह होते है और उनको शामिल कर लेनेसे १५८ प्रकृतियाँ हो जाती है। गोमट्टसार कर्मकाण्ड में उक्त सयोगी भग गिनाये अवश्य है और नामकर्मकी सत्व-प्रकृतियोको गिनाते हुए ९३ या १०३ लिखकर उन्हें सम्मिलित भी किया है किन्तु सत्त्व-प्रकृतियोकी सख्या १४८ ही बतलायी है।

कर्मप्रकृतिके टीकाकार उपाध्याय यशोविजय[2]ने अपनी टीकामें इसपर लिखा है कि यद्यपि उदय प्रकृतियोकी संख्याके तुल्य ही उदीरणा प्रकृतियोकी संख्या होती है और इसलिए कर्मस्तव-टीका आदिमें उनकी सख्या १२२ बतलायी है और यहाँ १५८ बतलायी है। तथापि एकसौ बाईस में बन्धनादिकी पृथक् विवक्षा नही की है और १५८ में पृथक् विवक्षा की है इसलिए कोई दोष नही है। फिर भी १५८ सख्यामें भी मान्यता-भेद तो रहा ही है। मलयगिरि[3]ने गर्गषि आदिके मतमें १५८ प्रकृति संख्या होनेका निर्देश किया है।

२. कर्मप्रकृति[4]में क्षपक-श्रेणीमें क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नही माना है। तदनुसार चूर्णिमें भी लिखा है। इस बातको लेकर श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मतभेद पाया जाता है। किन्तु दिगम्बर धर्मके भूतबलि और यतिवृषभ दोनो ही उक्त गुणस्थानोमें निद्रा और प्रचलाका उदय मानते है। गो०[5] कर्मकाण्डमें उदय व्युच्छित्तिमें जो दोनो आचार्योंके मत दिये है, उससे यह स्पष्ट है। किन्तु इतना सुनिश्चित जान पडता है कि कर्मप्रकृतिकी चूर्णि बनानेवालेके सामने यतिवृषभके चूर्णिसूत्र अवश्य थे और उसने कही-कहीपर तो उनका शब्दशः अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए हम उपशामनाका भाग उद्धृत करते है—

'उवसामणा दुविहा करणोवसामणा अकरणोवसामणा च। जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयणि अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा

---

१. 'उत्तरपगतिउदीरणा अट्ठावण्णुत्तरसतभेदा'—क प्र. चू.।

२ 'यद्यप्युदीरणायामुदयसमकक्षतया प्रकृतीना द्वाविंश शत कर्मस्तवटीकादावुक्तम्, इह तु अष्टपन्चाशं शतं, तथापि तत्र बन्धनादीना पृथग् न विवक्षा, इह तु पृथग् विवक्षेति न दोष।—कर्म प्र., उदी., पृ०

३. गर्गर्षि प्रभृतिमते च बन्धन पन्चदशकग्रहणादष्टपन्चाश शतम्।'—क. प्र. टी, पृ० ८।

४. 'निद्दापयलाण खीणरागखवगे परिच्चज्ज ॥१८॥' 'खीणकसाय खवगखीणकसायखवगे मोत्तुण तेसु उदओ णत्थि त्ति।—कर्म प्र, चू, उदी.।

५ कर्मका०, गा०।

त्ति वि। एसा कम्मपवादे। जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि। देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवसामणा त्ति वि। एसा कम्मपयडीसु। जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि। एदाए एत्थ पयद।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८।

'करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि इयाए।
अकरण अणुइन्नाए अणुओगधरे पढिवयामि ॥१॥

(चू०) 'करणकय' त्ति—करणोवसणा, 'अकरणकय' त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ। 'वितियाए अकरणअणु इन्नाए'त्ति–वितिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोपसमणाते 'अणुओगधरे पणिवयामि' त्ति किं भणिय होति ? करण क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपापाणवट्टससारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभि' कारणैरुपशातता भवति, सो अकरणोवसामणा, ताते अणुओगो वोच्छिन्नो, तो त अजाणतो आयारिओ जाणतस्स नमोक्कार करेति। करणुपसमणाते अहिगारोत्थ ॥१॥' क० प्र०।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये है। करणोपशामना और अकरणोपशामना। अकरणोपशामनाके दो नाम है—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना। इसका कथन कर्मप्रवादमें वतलाया है।

कर्मप्रकृतिमें भी उक्त भेद करके अकरण-उपशामनाके ज्ञाताओको नमस्कार किया है। उसकी चूर्णिमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते है।

आचार्य यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें उसका कथन होनेका निर्देश करते है। किन्तु कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताको नमस्कार करते है। और उनके चूर्णिकार कहते है कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नही था क्योकि वह विच्छिन्न हो चुका था। इन दो प्रकारके कथनोसे दोनो चूर्णियोके कर्ता एक नही हो सकते।

इसके सिवाय दोनो चूर्णियोमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है। दिगम्बर धर्मकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है। किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते है। श्वेताम्बर आगम सूत्रो के भाष्य चूर्णि आदिकी

भाषा महाराष्ट्री प्राकृत हैं । किन्तु उसमे भी कुछ अपनी विशेषताएँ है जिसके कारण उसे जैन-महाराष्ट्री कहा जाता है । दोनोका अन्तर दोनो चूर्णियोमें परिलक्षित होता हैं । प० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा परिवर्तित की गयी हैं । इसके लिए उन्होने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णिसे तथा कर्मप्रकृतिके टीकाकार मलयागिरि एव यशोविजय उपाध्यायकी टीकाओमें उद्धृत चूर्णि-वाक्योको तुलनाके लिए दिया है । यथा—नाम पगडीतो = णाम पगईओ । इस तरहके परिवर्तन अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप है, शौरसेनीके नही । यतिवृषभके चूर्णि सूत्रोमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है । अर्धमागधीके अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते है और जैन-महाराष्ट्रीमें भी परिवर्तन हुए है 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण' की तरह 'न', ये अर्धमागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते है। अनेक स्थलों में महाराष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका सस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक हैं, यह बात कर्मप्रकृति-चूर्णि और कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रोको देखनेसे स्पष्ट हो जाती है । अत टीकाकारोकी टीकाओमें उद्धृत चूर्णिवाक्योमें मूलचूर्णिसे जो कुछ अन्तर पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोके द्वारा उद्धृत वाक्यो पर तत्कालीन प्रभाव है ।

अत कर्मप्रकृति चूर्णि यतिवृषभकी कृति नही है । प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके रचयिताने ही उसकी चूर्णि भी रची हो तो कोई असभाव्य बात नही है क्योकि चूर्णिकारने कई स्थानोपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त सन्देहकी पुष्टि होती है । उदाहरण के लिए, उदीरणा प्रकरणकी गाथा[1] ४७ के 'मणनाण सेससम' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिमें कहा है । 'ये सब बन्धशतकमें कहा है फिर भी असमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है ।' यह बात चूर्णिकार ने चूर्णिमें किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है ।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें 'आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा है । किन्तु हम देखते है कि पचसग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पचसग्रहटीकामें[2] अपना उल्लेख अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है । हम इस सम्बन्धमें विशेष जोर डालनेकी स्थितिमें नही है फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वेषकोके सामने रखना उचित समझते है । हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

---

१ 'एए बधसतगे भणिया तहा वि असमोहत्थ उल्लोइया—क० प्र० चू० ।

२ 'अतोत्यमपि न हि न शिष्ट अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वक प्रवृत्तवान्'—पञ्च०, स०गा १ की उत्थानिका 'भावना सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्व भावयति', 'एतदेव वृत्तिकारो भावयति',–पंचस० ।

त्ति वि । एसा कम्मपवादे । जा सा करणोवसामणा सा दुविहा-देसकरणोवसामणा त्ति वि सव्वकरणोवसामणा त्ति वि । देसकरणोवसामणाए दुवे णामाणि-देसकरणोवसामणा त्ति वि अप्पसत्थोवसामणा त्ति वि । एसा कम्मपयडीसु । जा सा सव्वकरणोवसामणा तिस्से वि दुवे णामाणि—सव्वकरणोवसामणा त्ति वि पसत्थकरणोवसामणा त्ति वि । एदाए एत्थ पयद ।'—क० पा० सु०, पृ० ७०७-७०८ ।

'करणकयाऽकरणा वि य दुविहा उवसामणत्थ वि इयाए ।
अकरण अणुइन्नाए अणुओगधरे पडिवयामि ॥१॥

(चू०) 'करणकय' त्ति—करणोवसणा, 'अकरणकय' त्ति अकरणोवसामणा दुविहा उवसामणत्थ । 'वि तियाए अकरणअणु इन्नाए' त्ति–वितिया अकरणोपसमणा तीसे दुवे नामधिज्जाणि—अकरणोपसमणा अणुदिन्नोपसमणा य, ताते अकरणोपसमणाते 'अणुओगधरे पणिवयामि' त्ति किं भणिय होत्ति ? करण क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा, गिरिनदीपापाणवट्टससारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभि कारणैरुपशातता भवति, सो अकरणोवसामणा, ताते अणुओगो वोच्छिन्नो, तो त अजाणतो आयारिओ जाणतस्स नमोक्कार करेति । करणुपसमणाते अहिगारोत्थ ॥१॥' क० प्र० ।

चूर्णिसूत्रमें उपशामनाके दो भेद किये है । करणोपशामना और अकरणोपशामना । अकरणोपशामनाके दो नाम है—अकरणोपशामना और अनुदीर्णोपशामना । इसका कथन कर्मप्रवादमें बतलाया है ।

कर्मप्रकृतिमें भी उक्त भेद करके अकरण-उपशामनाके ज्ञाताओको नमस्कार किया है । उसकी चूर्णिमें लिखा है कि अकरणोपशामनाका अनुयोग नष्ट हो गया, इसलिए उसको न जाननेवाले कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताओको नमस्कार करते है ।

आचार्य यतिवृषभ उसके विच्छेदकी घोषणा न करके कर्मप्रवाद नामक आठवें पूर्वमें उसका कथन होनेका निर्देश करते है । किन्तु कर्मप्रकृतिकार उसके ज्ञाताको नमस्कार करते है । और उनके चूर्णिकार कहते है कि कर्मप्रकृतिकारको उसका ज्ञान नही था क्योकि वह विच्छिन्न हो चुका था । इन दो प्रकारके कथनोसे दोनो चूर्णियोके कर्ता एक नही हो सकते ।

इसके सिवाय दोनो चूर्णियोमें जो भाषा-भेद पाया जाता है वह भी दोनोकी भिन्नकर्तृकताको ही प्रकट करता है । दिगम्बर धर्मकी मुख्य प्राचीन साहित्यिक भाषा शौरसेनी है । किन्तु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओको लिये हुए होनेसे उसे जैन-शौरसेनी कहते है । श्वेताम्बर आगम सूत्रो के भाष्य चूर्णि आदिकी

हाराष्ट्री प्राकृत हैं । किन्तु उसमें भी कुछ अपनी विशेषताएँ है जिसके
इसे जैन-महाराष्ट्री कहा जाता है । दोनोका अन्तर दोनो चूर्णियोमें परि-
होता है । प० हीरालालजीका कहना है कि कर्मप्रकृति चूर्णिकी भाषा
त की गयी है । इसके लिए उन्होने मुद्रित कर्मप्रकृति चूर्णिसे तथा कर्म-
टीकाकार मलयागिरि एव यशोविजय उपाध्यायकी टीकाओमें उद्धृत
क्योको तुलनाके लिए दिया है । यथा—नाम पगडीतो = णाम पगईओ ।
हके परिवर्तन अर्धमागधी और जैन-महाराष्ट्रीके ही अनुरूप है, शौरसेनी-
। यतिवृषभके चूर्णि सूत्रोमें सर्वत्र 'पयडी' शब्द ही मिलता है । अर्ध-
के अनेक लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते है और जैन-महाराष्ट्रीमें
वर्तन हुए है 'क' के स्थानमें ग, तथा शब्द के आदि और मध्यमें भी 'ण'
ह 'न', ये अर्धमागधीके लक्षण जैन-महाराष्ट्रीमें भी पाये जाते है। अनेक स्थलो
राष्ट्रीकी अपेक्षा शौरसेनीका सस्कृतके साथ पार्थक्य कम और सादृश्य अधिक
बात कर्मप्रकृति-चूर्णि और कसायपाहुड-चूर्णिसूत्रोको देखनेसे स्पष्ट हो
है । अत टीकाकारोकी टीकाओमें उद्धृत चूर्णिवाक्योमें मूलचूर्णिसे जो कुछ
पाया जाता है वह इस बात का सूचक है कि टीकाकारोके द्वारा उद्धृत
पर तत्कालीन प्रभाव है ।

ात कर्मप्रकृति चूर्णि यतिवृषभकी कृति नही है । प्रत्युत यदि कर्म प्रकृतिके
ताने ही उसकी चूर्णि भी रची हो तो कोई असभाव्य बात नही है क्योकि
ारने कई स्थानोपर बन्धशतकका निर्देश इस रूपमें किया है कि उससे उक्त
की पुष्टि होती है । उदाहरण के लिए, उदीरणा प्रकरणकी गाथा[1] ४७ के
ाण सेससम' का व्याख्यान करते हुए चूर्णिमें कहा है । 'ये सब बन्धशतकमें
है फिर भी असमोहके लिए यहाँ उसका कथन किया है ।' यह बात चूर्णिकार
गमें किये गये कथनके सम्बन्धमें कही है ।

चूर्णिके मूलकार रचित होनेमें यह आपत्ति की जा सकती है कि चूर्णिकारने
गाथाकी उत्थानिकामें 'आयरियेण' पदके द्वारा 'आचार्यने रची' ऐसा लिखा
किन्तु हम देखते है कि पचसग्रहकारने अपनी स्वोपज्ञ पचसग्रहटीकामें[2] अपना
त अन्यपुरुषके रूपमें अथवा सूत्रकारके रूपमें किया है । हम इस सम्बन्धमें
जोर डालनेकी स्थितिमें नही है फिर भी हम अपने सन्देहको विद्वान् अन्वे-
के सामने रखना उचित समझते है । हमारा विश्वास है कि कसायपाहुड और

एए बधसतगे भणिया तहा वि असमोहत्थ उल्लोइया—क० प्र० चू० ।
अतोत्यमपि न हि न शिष्ट अत इष्टदेवतानमस्कारपूर्वक प्रवृत्तवान्'—पञ्च०, स०गा १
की उत्थानिका 'भावना सूत्रकार एव करिष्यति'—'एतदेव स्वस्वामित्व भावयति',
एतदेव वृत्तिकारो भावयति',-पंचस० ।

यतिवृषभ के चूर्णिसूत्र कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिके रचयिताके सामने थे।

चूर्णिका समय—

चूर्णिके कर्ताकी तरह चूर्णिका समय भी अनिश्चित है। जिस तरह जिनभद्र गणिके द्वारा कर्मप्रकृतिका उल्लेख मिलता है उसी तरह उसकी चूर्णिका उल्लेख नही मिलता अत. जिनभद्रके सामने कर्मप्रकृतिकी चूर्णि उपस्थित थी या नही, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। किन्तु जिनभद्रगणिके विशेषावश्यक-भाष्यका उद्धरण अपनी पचसग्रह टीकामें देनेवाले चन्द्रर्षि महत्तरके सम्मुख पच-संग्रहका कर्मप्रकृति विभाग रचते समय कर्मप्रकृति की ही तरह उसकी चूर्णि भी उपस्थित थी, यह निश्चित है। चूर्णिमें एक गाथा[1] उद्धृत है जिसमें योग के नामान्तर दिये है। यह गाथा पचसग्रह[2]के मूलमें सम्मिलित कर ली गयी है। यह गाथा आवश्यक[3] चूर्णिमें भी है किन्तु उसके मूलस्थानका पता नही लग सका। गाथा अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिये। एक और गाथा क० चूर्णिमें उद्धृत है जो कुन्कुन्दके समयसार की ८०वी गाथा है, यह समयसार से ही उद्धृत की गयी होनी चाहिये; क्योकि समयसारमें कोई गाथा ऐसी नही है जिसे सग्रह गाथा कहा जा सके। अत कर्मप्रकृति चूर्णिकी रचना समयसारके पश्चात् हुई है। कुन्दकुन्दका समय ईसाकी प्रथम शताब्दी है। कर्मप्रकृति ही जब उसके शताब्दियो पश्चात् रची गयी है तब चूर्णिका तो कहना ही क्या है।

चूर्णिमें एक गद्याश और भी उद्धृत है—'सुट्ठु वि मेहसमुदए होइ' यहाँ 'चदसूराण' (क० प्र० उदी० गा० ४८) यह अश नन्दीसूत्र ४३ में पाया जाता है। यद्यपि वाक्य नन्दीसूत्रमें भी कहीसे लिया गया प्रतीत होता है। तथापि अनेक बातो का ध्यान रखते हुए यही सम्भव प्रतीत होता है कि चूर्णिकारने उसे नन्दी-सूत्रसे लिया है। नन्दीसूत्र[4]वलभी-वाचनाके समय (वि० स० ५१३)की रचना माना जाता है। अत चूर्णिको उसके पश्चात्‌की रचना मानना चाहिए। इसे भी चूर्णिको पूर्वावधि ही समझना चाहिए।

शतक-लघुचूर्णिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि उसके कर्ताके सामने कर्म-चूर्णि थी। उसका कर्ता भी पचसग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तरको माना जाता है और

---

१ 'जोगो विरिय थामो उच्छाह परक्कमो तहा चिट्ठा। सत्ती सामत्थ त्ति य जोगस्स भवति पज्जाया ॥१॥'—क० प्र०, चू० (बध०) गा० ३।

२. पञ्चस०, कर्म प्र०, गा० ४।

३ 'जीवपरिणामहेतो(तू) कम्मत्ता पोग्गला परिणमन्ति। पोग्गलकम्मणिमित्त जीवो वि तहेव परिणमति ॥'—कर्म प्र०, चू०, सक्र० गा० १।

४ जै० सा० इ० (गु०), पृ १४३।

पचसग्रहके दूसरे भाग कर्मप्रकृतिमें चूर्णिका पर्याप्त उपयोग किया गया है अतः कर्म चूर्णि उससे पूर्व रची जा चुकी थी। चन्द्रर्षि महत्तर का समय भी निश्चित नही है। किन्तु उन्होने पचसग्रहकी अपनी टीका[1]में विशे० भाष्य से उद्धरण दिया है। अत. वे विक्रमकी सातवी शती से पहले नही हुए यह निश्चित है। उनकी उत्तराधि अभी अनिश्चित है। फिर भी इतना निश्चित है कि वे बारहवी शतीसे पहले हुए है क्योकि मलयगिरि की वृत्तिके अनुसार तो चूर्णिकी रचनाका समय वि० स० ५५०-७५० के मध्यमें जानना चाहिए।

शतक कर्मग्रन्थ (श्वे०)—

कर्मप्रकृतिमें तथा उसकी चूर्णिमें शतक नामक ग्रन्थका उल्लेख पाया जाता है। जिससे प्रकट होता है कि कर्मप्रकृतिकारने कर्म-प्रकृतिकी रचना करनेसे पूर्व एक शतक नामक ग्रन्थ भी रचा था। कर्म प्रकृतिके बन्धन करण[2]की अन्तिम गाथामें कहा है कि—"इस प्रकार 'बन्धशतक'के साथ बन्धन-करणका कथन करने पर बन्ध-विधानका ज्ञान सुखपूर्वक शीघ्र होता है।' चूर्णिकारने चूर्णिमें कहा है कि शतकको बन्ध-शतक कहा है। मलयगिरिने अपनी टीकामें लिखा है कि इससे शतक और कर्म-प्रकृतिकी एककर्तृकताका आवेदन किया है।

चूर्णिकारने तो अपनी चूर्णिमें अनेक स्थलो पर शतकका निर्देश किया है। उदाहरणके लिए कर्मप्रकृतिके उदीरणाकरण[3]में अनुभागोदीरणाका कथन करते हुए कर्मप्रकृतिकारने कहा है कि 'अनुभाग-उदीरणामें सज्ञा, शुभ, अशुभ तथा विपाकका कथन अनुभागवधमें जैसा कहा है वैसा जानना, जो विशेष है वह कहते है।' उसकी चूर्णिमें गाथाका व्याख्यान करते हुए चूर्णिकारने कहा है कि 'बन्ध-शतकके अनुभागबन्धमें जैसा कहा है वैसा ही कहना चाहिए।' अत यह बात निर्विवाद है कि कर्मप्रकृतिका बडा भाई शतक नामक ग्रन्थ है।

विषय परिचय—

दूसरी और तीसरी गाथामें वर्णनीय विषयोंका निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने

---

१ 'सव्वस्स केवलिस्स वि जुगव दो नत्थि उवओगा। (वि भा. गा ३०९६)।
—प० स० टी० गा० ८।

२ 'एव बधणकरणे परूविए सह हि बधसयगेण। बधविहाणाहिगमो सुहमभिगतु लहु होइ ॥१०२॥ चू०—'एतमि बधकरणेसयगेणा सह परूविते 'बन्धसतग'त्ति सतगमेव भण्णति। टी०—'एतेन किल शतक कर्मप्रकृत्योरेककर्तृकता आवेदिता द्रष्टव्या।'—क० प्र० बन्ध०, पृ० २०३।

३ 'अणुभागुदीरणाए सन्ना य सुभा-सुभा विवागो य। अणुभागवन्ध भणिया नाणत्त पच्चया चेमे ॥४३॥ चू०—'अणुभागवन्ध भणिया' त्ति—बधसयगस्स अणुभागवन्धे भणिया तहेव, भाणियव्वा।'—क० प्र० उदी० पृ० ६३।

कहा है—'जिन जीवस्थानो और गुणस्थानोमें जितने उपयोग और योग होते है उन्हे कहे वन्धके चार प्रत्यय है–मिथ्यात्व, असयम, कपाय और योग। इनमेंसे किस गुणस्थानमें कितने प्रत्यय होते है यह कहेंगे। ज्ञानावरणादि आठो कर्मोके वन्धके विशेप कारणोका कथन करेंगे। जिनगुणस्थानोमे जितने वधस्थान उदयस्थान और उदीरणा स्थान होते हैं उनका तथा उनके सयोगका कथन करेंगे। अन्तमें सक्षेपसे वन्धविधानका कथन करेंगे।'

उक्त विपयसूचीके अनुसार कथन करते हुए ग्रन्थकारने सवसे प्रथम गाथा ४-५ में चोदह जीवस्थानोको कहा है। गाथा ६ में चौदह जीव समासोमें उपयोग (ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोग) का कथन किया है। गाथा ७ में योगका कथन है। गाथा ९ में चौदह गुणस्थानोके नाम गिनाये है। चूर्णिकारने अपनी चूर्णिमें अनेक गाथाए उद्धृत करके गुणस्थानोका स्वरूप समझाया है।

गाथा १०में केवल गतिमार्गणामें गुणस्थानोका निर्देश किया है। किन्तु चूर्णिमें चौदहो मार्गणाओमें गुणस्थानोका कथन सक्षेपसे किया है। गाथा ११ में गुणस्थानोमें उपयोगका कथन किया है। गाथा १२-१३ में गुणस्थानोमें योगका कथन है। यद्यपि गाथा १२ में ही योगका कथन हो जाता है। किन्तु १३ वी गाथा मतान्तरकी सूचक है। उसके सवन्धमें चूर्णिकारने लिखा है कि किन्ही आचार्योके मतसे देशविरत और प्रमत्त-सयत गुणस्थानमें वैक्रियिक काययोग होता है उनके मतसे ऐसा पाठ है। शतककी ये दोनो गाथाएं चन्द्रर्पिकृत पंचसग्रहकी गाथा (अ०-१-१८)की स्वोपज्ञ वृत्तिमें इसी क्रमसे उद्धृत है। गाथा १४-१५में गुणस्थानोमें वन्धके प्रत्ययोका कथन है। गाथा १६-२६तक आठो कर्मोके वन्धके विशेष कारण बतलाये है, जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायके अन्तमें भी बतलाये गये है। किन्तु दर्शन-मोहनीय कर्मके वन्ध-कारणोमें मौलिक अन्तर है। तत्त्वार्थसूत्र[1]में 'केवली श्रुत,सघ, धर्म और देवोके अवर्णवादको दर्शन मोहनीयके वन्धका कारण बतलाया है। और शतक[2]में अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य, तप, श्रुत, गुरु, साधु और सघकी प्रत्यनीकताको बधका कारण बतलाया है। गाथा २७ से ३७ तक आठो कर्मोके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और उदीरणास्थानो तथा उनके सयोगका कथन है। तत्पश्चात् प्रकृतिबन्ध, स्थितिवन्ध, अनुभाग वन्ध और प्रदेशबन्धका कथन है।

शतक नामक एक ग्रन्थ, जिसे प्राचीन कर्मग्रन्थ कहा जाता है, चूर्णि,भाष्य और

---

१ केवलिश्रुतसघधर्मदेववर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥ त सू अ ६।

२. अरहतसिद्द चेइय तवसुय गुरु साधु सघ पड्णीओ। बधइ दसणमोह अणत सारिओजेत ॥१८॥-५। तक

टीकाके साथ छपकर प्रकाशित हो चुका है। उसके दो सस्करण[1] हमारे सामने है। एकमें शतकके साथ चूर्णि भी मुद्रित है। इसपर श्रीशतक प्रकरण नाम मुद्रित है। दूसरे सस्करणमें शतकके साथ मलधारी हेमचन्द्र रचित टीका तथा चक्रेश्वराचार्य विरचित भाष्य मुद्रित है। चूर्णि[2] टीका[3]में उसे कर्म-प्रकृतिकार शिव-शर्म सूरिकी रचना बतलाया है। अत यह मानना होगा कि कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिमें जिस शतक अथवा बन्ध-शतकका निर्देश है वह यही है। उनमें जिन विषयोके लिए शतकका निर्देश किया है वे विषय भी प्रस्तुत शतकमें मिलते है।

चूर्णिकारने 'गाहापरिमाणेण सयमेत्त' तथा टीकाकारने 'गाथाशतपरिमाण-निष्पन्न यथार्थनामक शतकाख्य प्रकरणम्' लिखकर यह सूचन किया कि प्रस्तुत प्रकरणकी गाथा सख्या सौ है इसीसे इसका शतक नाम सार्थक है। किन्तु वास्तवमें दोनो ही सस्करणोमें गाथा परिमाण १०६ है। उन १०६ गाथाओपर चूर्णि और टीका दोनो है। फिर भी शतक नाम रखनेका और तदनुसार सौ गाथा सख्या बतलानेका कारण यह जान पडता है कि आदिकी तीन तथा अन्तकी तीन गाथाएं आरम्भ-परक और उपसहार-परक है। प्रतिपाद्य विषय मध्यकी सौ गाथाओमें ही पाया जाता है। अत 'शतक' नाम उचित ही है। इसका दूसरा नाम बन्धशतक भी है। कर्मप्रकृतिमें इसका उल्लेख बन्धशतक के नामसे है। चूर्णिकारने इसका खुलासा कर दिया कि शतकको ही बन्धशतक कहा है। अत चूर्णिकारके समयमें शतक नामसे ही इसकी ख्याति थी ऐसा प्रतीत होता है। शतकके उत्तरार्धमें बन्धका वर्णन होनेसे उसे बन्ध-शतक नाम दिया गया है। किन्तु शतककी एक सौ सात गाथाओमें उसका कोई नाम नही दिया। प्रथम गाथा[4] में कहा है—'इस प्रकरणमें जीवस्थान और गुणस्थानोके विषयमें दृष्टिवादसे सार-युक्त गाथाएं कहूगा, उन्हें सुनो,।' आगे गाथा[5] २-३में वर्णित विषयकी सूची दी है। उसमें कहा है—'जिन जीवस्थानो और गुणस्थानोके जितने उपयोग और योग होते

---

१ दोनों सस्करण राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित हुए हैं।

२. 'केण कय ? ति शब्दतर्क न्याय प्रकरण कर्मप्रकृति सिद्धान्त विजाणएण अणेगवाय समालद्धविएण सिवसम्मायरियणामधेज्जेण कय।—चु०।

३. 'अनेकवादसमरविजयिभि श्रीशिवशर्मसूरिभि सक्षिप्ततर सुखबोध च गाथाशत-परिमाणनिष्पन्न यथार्थनामक प्रकरणमभ्यधायीति।' श० टी०।

४. 'सुणह इह जीवगुणसनिएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ। वोच्छ कइवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवा-याओ ॥१॥—शतक।

५. 'उवयोग जोग विही जेसु य ठाणेसु जत्तिया अत्थि। जप्पच्चइओ बधो होइ जहा जेसु ठाणेसु।।२॥बध उदयमुदीरणविहिं च तिण्ह पि तेसि सजोग। बधविहाणे य तहा किंचि समासं पवक्खामि ॥३॥ —शतक।

हैं उन्हें कहूँगा। जिन गुणस्थानोंमें जिन-जिन कारणोंसे कर्मबंध होता है, उन्हें कहूँगा। बन्ध उदय और उदीरणाकी विधिको तथा उनके स्वामीको कहूँगा। तथा संक्षेपमें बंधके भेदोंका कथन करूँगा'॥ अन्तमें गाथा[1] १०४में कहा है कि—"बिन्दुक्षेप रूपसे यह बन्ध-समासका कथन किया। यह कर्मप्रवाद रूपी श्रुत-समुद्रका निस्यन्द मात्र है॥' गाथा[2] १०५में कहा है—'मुझ अल्पज्ञानी मन्द-मतिने बन्धविधान समासको रचा, बन्ध-मोक्षके ज्ञाता कुशल पुरुष उसे पूरा करके कहें॥' इस अन्तिम गाथाके अनुसार तो यदि ग्रन्थको कोई नाम दिया जा सकता है तो वह बन्धविधान समास अथवा बन्धसमास है। इसी परसे ग्रन्थकारने उसे अपनी दूसरी कृति कर्मप्रकृतिमें बन्धशतक नाम दिया जान पड़ता है। उसके सम्बन्धमें और कुछ लिखनेसे पूर्व ग्रन्थका विषय-परिचय संक्षेपमें दिया जाता है।

इस विषय परिचयसे प्रकट होता है प्रस्तुत शतक ग्रन्थ एक संग्रह-ग्रन्थ जैसा है। उसकी प्रथम गाथाके अनुसार भी उसके रचयिताने दृष्टिवादसे कुछ गाथाओंका सम्भवतया संकलन किया है। इसीसे इसमें विविध विषयों का कथन पाया जाता है। इसका क्रमबद्ध प्रकरण बन्धसमास है, वही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। किन्तु उसमें भी परिपूर्णता नहीं है। गाथा ५२-५३ में कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बतला कर जघन्य स्थितिको करनेकी प्रतिज्ञा की है किन्तु जघन्य स्थिति नहीं बत-लाई। शतकचूर्णिमें एक गाथा दी है जिसमें जघन्य स्थितिका कथन है और चूर्णिकार ने उसकी व्याख्या भी की है किंतु उस गाथाको मूलमें सम्मिलित नहीं किया। हेमचंद्र की टीकामें चूर्णिकी उस टीकाकी चर्चा तक नहीं है। प्रतिज्ञा करके भी कथन न करना कर्मप्रकृतिकार जैसे आचार्यके लिए उपयुक्त नहीं है। अतः बन्धशतककी गाथाएं संगृहीत जान पड़ती हैं। इसका समर्थन ग्रन्थके प्रारम्भकी एक गाथासे होता है जो दोनों संस्करणोंमें यथास्थान मुद्रित है किन्तु उसपर चूर्णि नहीं है और इसी लिए टीकाकारने भी उसे मूलमें सम्मिलित नहीं किया किन्तु अपनी टीकामें उसे उद्धृत करते हुए लिखा है—' यह[3] गाथा ग्रन्थके आदिमें पायी जाती है किंतु

१ 'एसो बंधसमासो बिंदुक्खेवेण वन्निओ कोइ। कम्मपवायसुयसागरस्स णिस्सदमेत्ताओ ॥१०४॥—'। श.।

२,—'बंधविहाणसमासो रइओ अप्प सुयमंद मइणा उ। त बंधमोक्ख णिउणा पूरेऊण परिकहेंतु ॥१०५॥'—श०।

३ 'अरहते भगवते, अणुत्तर परक्कमे पणमिऊण। बंधसमये निवद्ध संग्रहणियमो पवक्खामि ॥१॥—(इतीयं) गाथा आदौ दृश्यते, सा च पूर्वचूर्णिकारैरव्याख्याततत्वात् प्रक्षेप-गाथेति लक्ष्यते, सुगमा च। नवरं कर्मप्रकृतिप्राभृतादुद्धृत्यसंग्रहमेनमन्तस्तत्त्वगृहीत प्रवक्ष्यामि। कथभूतम्? इत्याह—'निबद्धम्' आरोपितम्, क्व? इत्याह 'बन्धशतके' प्रस्तुतप्रकरणे। इद हि शतगाथानिष्पन्नत्वाच्छतकोऽभिधीयते। बन्ध एव चात्र

पूर्व चूर्णिकारोने भी उसका व्याख्यान नही किया है इसीलिए वह प्रक्षेप-गाथा प्रतीत होती है और सुगम भी है ।' फिर भी टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका शब्दार्थ कर दिया है । गाथामें कहा है—'अनुत्तर पराक्रमी अरहन्त भगवान्को नमस्कार करके बन्धशतकमें निबद्ध इस सग्रहको कहूगा ।'

टीकाकारने गाथाके उत्तरार्द्धका अर्थ इस प्रकार किया है—'कर्मप्रकृति प्राभृतसे उद्धृत करके इस बन्धशतक नामके प्रकरणमें आरोपित इस सग्रहको कहूगा ।' सौ गाथाए होनेके कारण इसे शतक कहा जाता है और चूंकि इसमें बन्धका ही विस्तारसे कथन किया जायेगा इसीलिए इसे बन्धप्रधान शतक बन्धशतक कहा है ।'

इस गाथामें मगलाचरणके साथ बन्धशतक नाम भी आ जाता है । इसे मूल ग्रन्थसे अलग कर देनेपर ग्रन्थ बिना मगलका और बिना नामका रह जाता है । बन्धशतकके रचयिताकी दूसरी अमरकृति कर्मप्रकृति[1]के आरम्भमें भी इसी प्रकार गाथाके पूर्वार्द्धसे मगल करके उत्तरार्धसे उसके प्रतिपाद्य विषयका सूचन किया गया है । अत उक्त गाथाकी स्थिति विचारणीय है । उससे शतककी स्थितिपर प्रकाश पडता है । बन्धशतक सग्रहात्मक होनेसे तथा प्रथम कृति होनेसे कर्मप्रकृति जैसी प्रौढ कृतिकी समकक्षता नही कर सकता और इसीसे उसके सम्बन्धमें ऐसा सन्देह होना सभव है कि कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट बन्धशतक प्रस्तुत बन्धशतक नही है । किन्तु उसकी पुष्टिमें प्रबल प्रमाणोका अभाव है ।

शतक चूर्णि—

प्रस्तुत शतक पर एक चूर्णि उपलब्ध है जो मुद्रित हो चुकी है । यह लघु चूर्णि है इसके सिवाय एक बृहत्-चूर्णि भी थी । उसका उल्लेख हेमचद्रने तो अपनी शतक[2] टीकामें किया ही है, किन्तु मलयगिरि[3], देवेन्द्रसूरि[4] आदिने भी अपनी टीकाओमें किया है । इसीसे टीकाकार हेमचन्द्रने प्रस्तुत मुद्रित चूर्णिको लघुचूर्णि कहा है । बृहच्चूर्णि अभी तक अनुपलब्ध है । लघुचूर्णिमें बृहच्चूर्णिका कोई उल्लेख देखनेमें नही आया । इससे निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता कि दोनोमेंसे

विस्तेरणाभिधास्यते अतो बन्धप्रधान शतको बन्धशतकस्तस्मिन्नित्यर्थ ॥१॥—शतक टी०।

१ 'सिद्ध सिद्धत्थसुय वदिय णिद्धोय सव्वकम्ममल । कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदय सताणि वोच्छामि ॥ १ ।—क० प्र० ।

२ 'उक्त च बृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे' (पृ ११)। 'एतच्च बृहच्चूर्णिमनुसृत्य लिखितमिति व स्वमनीषिका भावनीयेति'—(पृ २८) श० टि०

३ 'उक्तं च शतकबृहच्चूर्णौ (पृ० १९, ३८,, ७८,—पन्चस० टी०, पृ० १४७,१७३ ।

४ 'शतकबृहच्चूर्णावप्युक्तम्—शतक टी० पृ० १२० ।

शतक गाथा ११ में पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच उपयोग बतलाये हैं—मति अज्ञान, श्रुताज्ञान, विभङ्ग, चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शन[1]। चूर्णिमें कहा है कि अन्य भी उपयोग मानते हैं अर्थात् विभङ्ग ज्ञानके पहले अवधिदर्शन भी मानते हैं। दिगम्बर परम्परामें प्रतिपादित पाँच उपयोगोंकी ही मान्यता है, उसमें कोई मतभेद नहीं है। श्वेताम्बर परम्परामें कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें अनेक मतभेद पाये जाते हैं। कार्मिक अर्थात् कर्मशास्त्रके वेत्ता सैद्धान्तिक अर्थात् आगमानुयायी। पञ्चसंग्रह मूलमें अज्ञानियोंके भी अवधिदर्शन माना है। किन्तु शतक, सप्ततिका, आदिमें नहीं माना है।

सित्तरी—

सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक एक कर्मविषयक प्राचीन ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित है। इसके भी कर्ताका पता नहीं चल सका है। श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित ग्रन्थ संख्या ८६ में यह ग्रन्थ मलयगिरिकी टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है। उसमें इसे चन्द्रर्षि महत्तरकृत बतलाया है। किन्तु प्रस्तावनामें मुनिश्री पुण्यविजयजीने इसे भ्रामक बतलाते हुए इस प्रकारका भ्रम होनेका कारण भी बतलाया है।

सप्ततिका प्रकरण मूलकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियोंके अन्तमें चन्द्रर्षि महत्तरके नामको लिये हुए एक गाथा इस प्रकार मिलती है—

गाहग्गं सयरीए चंदमहत्तरमयाणुसारीए।
टीगाइ नियमियाणं एगूणा होइ नउई उ॥

टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—'चन्द्रमहत्तर आचार्यके मतका अनुसरण करनेवाली ७० गाथाओंमें यह ग्रंथ रचा गया है। उसमें टीकाकारोंके द्वारा रचित नई गाथाओंके मिलनेसे गाथा संख्या नवासी हो गई है। इसके विवेचनमें लिखा है कि इस सप्ततिकाके कर्ता चन्द्रमहत्तर आचार्यने तो पहले सत्तर ही गाथाएँ रची थी, आदि।

उक्त गाथाके इस भ्रमपूर्ण अर्थके कारण ही सप्ततिकाको चन्द्रर्षि-महत्तरकृत मान लिया गया जान पड़ता है। किन्तु गाथाका अर्थ है—'चन्द्रर्षि महत्तरके मतका अनुसरण करनेवाली टीकाके आधारसे सत्तरिकी गाथा ८९ हो गई।' इसमें

---

१. 'अन्ने भणंति–ओहिदंसणसहिया छ उवओगा—श० चू० पृ० ११। यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो नेच्छन्ति तन्न सम्यगवगच्छामः। अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते। यत उक्तं प्रज्ञप्तौ—।–पञ्चसं० मलयटीका भा० १, पृ० १९।

सित्तरी प्रकरणकी गाथाओमें वृद्धि होनेका कारण बतलाया है। उसके कर्ताके विषयमें कुछ भी नही कहा। आचार्य मलयगिरिने भी अपनी टीकामें इस विषयमें कुछ भी नही लिखा। सित्तरीकी चूर्णिमें[1] भी उसके कर्ताका कोई निर्देश नही है। अत सित्तरीके कर्ताका प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है। जैसे गाथा सख्याके आधारपर शतक नाम पडा वैसे ही गाथा सख्याके आधारपर इस ग्रन्थका नाम प्राकृतमें सित्तरी है। संस्कृतमें उसे सप्ततिका कहते हैं। मलयगिरि टीकाके अनुसार ग्रन्थ-की गाथा संख्या ७२ है। किन्तु चूर्णि सहित प्रकाशित सित्तरीमें गाथा सख्या ७१ है। इस अन्तरका कारण यह है कि मलयगिरि टीकाके अनुसार जिस गाथा-की सख्या २५ है उस गाथाको उक्त चूर्णि सहित सित्तरीमें मूलमें सम्मिलित नही किया है। यद्यपि उस पर भी चूर्णि है। किन्तु गाथाके आगे 'पाठतर' छपा हुआ है और पादटिप्पणमें छपा है—'अन्यकर्तृका चेय गाथा' अर्थात् यह गाथा किसी अन्यके द्वारा रचित है। यदि उसे मूलमें सम्मिलित कर लिया जाये तो सित्तरीकी गाथा सख्या ७२ समझनी चाहिये। श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल आगराकी ओरसे प्रकाशित हिन्दी अनुवाद सहित सप्ततिका प्रकरणमें भी गाथा ७२ ही है।

इन ७२ गाथाओंके सिवाय दस अन्य भाष्य गाथाएँ है जिन पर चूर्णि भी है और टीका भी है। तथा पाँच गाथाएँ और हैं उनपर भी चूर्णि और टीका है। ये गाथाएँ विवरणात्मक हैं। इनके सिवाय एक गाथा और भी है जो आवश्यक[2] निर्युक्ति की है। इससे प्रतीत होता है कि मूल सप्ततिकाके व्याख्यानके लिए चूर्णि-कारके द्वारा ग्रन्थान्तरोंसे कुछ अन्य गाथाएँ भी सम्मिलित की गयी थी और मूल सप्ततिकामें अन्तर्भाष्य गाथाओं तथा उन अन्य गाथाओंके मिल जानेसे उनकी सख्या ८९ हो गयी। तथा पश्चात् उन सम्मिलित की गयी गाथाओको भी मूलकर्ता-की ही समझ लिया गया। यह बात मलयगिरिकी टीकासे प्रकट होती है। उसमें सम्मिलित की गई किन्ही किन्ही गाथाओ का निर्देश 'तथा चाह सूत्रकृत्' कहकर किया गया है, जो बतलाता है कि मलयगिरि उन्हें मूलकर्ताकी मानते हैं। किन्तु चूर्णिके अनुसार गाथा न० ६२ और ६३ तथा टीकाके अनुसार गाथा न ६३-६४ की व्याख्याके अन्तर्गत आयी तीन गाथाएँ दिगम्बरीय सप्ततिकाकी हैं। इस तरह-से सप्ततिकाकी गाथा सख्यामें अन्तर पड गया है।

---

१ मूल तथा अन्तर्भाष्यके साथ यह चूर्णि मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोईसे प्रकाशित हो चुकी है।

२ 'सभिन्न पासंतो लोगमलोगं च सव्वओसव्व। त नत्थि ज न पासइ भूय भव्व भविस्सं च ॥१२७॥ आ० नि०।

रचयिता तथा रचनाकाल—

इस सप्ततिकाकी रचना किसने की यह भी अज्ञात है। चूर्णि टीकाओंमें भी उसका कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु सित्तरी और शतक दोनोंके आरम्भ और अन्तमें एकरूपता की झलक पायी जाती है। शतक की तरह सप्ततिकाके आदिमें भी मंगल नहीं किया गया है। शतककी गाथा १०४ मे उसे कर्मप्रवाद श्रुत-सागरका निष्यन्द कहा है। सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें इसे दृष्टिवादका निष्यन्द कहा है।

सप्ततिकाकी पहली और अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सिद्धपएहिं महत्थं बंधोदयसंतपयडिठाणाणं।
वोच्छं सुण संखेवं नीसंदं दिट्ठिवायस्स ॥१॥
जो जत्थ अपडिपुन्नो अत्थो अप्पागमेण बद्धो त्ति।
तं खमिऊण बहुसुया पूरेऊणं परिकहंतु ॥७२॥

शतककी आदि तथा अन्तिम गाथाएँ इस प्रकार हैं—

सुणह इह जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु सारजुत्ताओ।
वोच्छं कइवइयाओ गाहाओ दिट्ठिवायाओ ॥१॥
एसो बंधसमासो बिंदुक्खेवेण वण्णिओ कोइ।
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्संदमेत्ताओ ॥१०४॥
बंधविहाणसमासो रइओ अप्पसुयमंदमइणा उ।
तं बंधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥

यद्यपि भावगत तथा शब्दगत उक्त सादृश्य उल्लेखनीय है किन्तु उसके आधारपर कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। फिर भी इतना तो स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि शतककी तरह ही सप्ततिकाका रचनाकाल प्राचीन है। क्योंकि जैसे जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृतिका निर्देश मिलता है वैसे ही सित्तरी[1] का भी निर्देश मिलता है। अत यह निश्चित है कि कर्मप्रकृति और उसमें निर्दिष्ट शतककी तरह ही सप्ततिकाकी भी रचना विक्रमकी सातवी शताब्दीके पश्चात्की नही है।

विषयपरिचय—

सप्ततिकाकी प्रथम गाथामें बन्धप्रकृति-स्थान, उदयप्रकृति-स्थान और सत्त्व-प्रकृति स्थानका संक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। कर्मप्रकृतिका विषय-

---

१ 'सयरीए मोहबंधठ्ठाणा–॥९०॥ 'सयरीए दो विगप्पा'' ॥९१ ,सयरीय पचविहबंधगस्स . ॥९२॥ विशेषणवती।

परिचय कराते हुए दस करणोका अथवा कर्मोमें होनेवाली दस अवस्थाओंका स्वरूप बतला आये हैं। उनमें तीन अवस्थाएँ मुख्य है—वन्ध, उदय और सत्ता। उन्ही-का विशेषरूपसे कथन इस ग्रन्थमें है। जिसका निर्देश दूसरी गाथामें किया गया है। उसमें कहा गया है—कितनी प्रकृतियोंका वन्ध करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका वेदन (उदय) होता है तथा कितनी प्रकृतियोका वन्ध और वेदन करनेवाले जीवके कितनी प्रकृतियोका सत्व होता है। इस प्रकार मूल और उत्तर प्रकृतियोके विषयमें अनेक भंग जानने चाहिये।' इन्ही भंगोका विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है। यथा, गाथा तीनमें कहा है—आठो कर्मोका अथवा सात कर्मोका अथवा छह कर्मोंका बन्ध करनेवाले जीवोंके आठो कर्मोंका उदय और सत्त्व होता है। (पांच, चार, तीन या दो कर्मोंका वन्ध किसीके नही होता)। और एक कर्मका वन्ध करनेवाले जीवके तीन विकल्प होते है—एकका वन्ध, सातका उदय और आठकी सत्ता १, एकका वन्ध, सातका उदय और सातकी सत्ता २, एकका वन्ध, चारका उदय और चार की सत्ता ३। पहला विकल्प ग्यारहवें गुणस्थान-वर्ती जीवके होता है क्योकि उसके मोहनीय कर्मका उदय नही होता। दूसरा विकल्प बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योकि उसका मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है। और तीसरा विकल्प तेरहवें गुणस्थानवर्ती जीवके होता है क्योकि उसके चार घाति कर्म नष्ट हो जाते हैं। और इन तीनों गुणस्थानोंमें केवल एक सातवेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है। गाथा चारमें उक्त भगोंका कथन जीव-समासोमें और गाथा पाचमें गुणस्थानोमें किया है। आगे इसी प्रकारका कथन आठो कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोको आधार वनाकर किया गया है।

कर्म प्रकृति और सप्ततिकामे मतभेद—

कर्मप्रकृति और सप्ततिकामें कुछ मतभेद पाया जाता है। सप्ततिका गाथा २८ में नामकर्मके सत्त्व स्थान ९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६, ७५, ९, ८ ये बारह बतलाये है। और कर्मप्रकृतिमें (सत्ता० गा० ९) १०३, १०२, ९६, ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२, ९-८ ये बारह सत्त्व स्थान नाम कर्मके कहे है। इस अन्तरका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिकार पाँच वन्धन और पाँच सघात नाम कर्मोको अलग गिनते है। किन्तु सप्ततिकामें उनकी पृथक् गणना नही की। उनका अन्तर्भाव शरीरमें ही कर लिया है। सप्ततिका[1] चूर्णिमें 'अण्णे' करके कर्मप्रकृतिके मतको आगम और युक्तिसे विरुद्ध कहा है।

सप्ततिका गाथा ६१ में अनन्तानुबन्धी चतुष्कको उपशम प्रकृति वतलाया

---

१ 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि संतठ्टाणाणि विगप्पयति, ताणि आगमे जुत्तीहिय न घडति।'—सि० चू०, पृ० २७।

है किन्तु कर्मप्रकृति (उपश० गा० ३१) में उसका निषेध किया है । सप्ततिका [1]चूर्णिमें 'अण्णेसिं' करके उनका निर्देश किया है ।

इससे यह निश्चित है कि सप्ततिका कर्मप्रकृतिकार की कृति नहीं है । अतः शतक और सप्ततिकाकी आद्य तथा अन्तिम गाथाओंमें पाये जानेवाले सादृश्यके आधारपर उन दोनोंका कर्ता तब तक एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता जबतक शतक को कर्मप्रकृतिकारकी कृति न माना जाये ।

कर्मस्तव

इस मूल ग्रन्थकी संख्या ५५ है । प्रारम्भिक[2] गाथामें जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके बन्ध, उदय और सत्त्वसे युक्त 'स्तव' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है । इसी परसे इसका कर्मस्तव नाम प्रचलित हुआ प्रतीत होता है । क्योंकि कर्मविषयक बन्ध उदय सत्त्वका ही इसमें विवेचन है । दिगम्बरीय प्राकृत पंचसंग्रहके अन्तर्गत तीसरा अधिकार कर्मस्तव नामक है । इस अधिकारमें प्रकृत कर्मस्तवकी प्रायः सभी गाथाएँ पाई जाती हैं अतः इसके कर्मस्तव नाम के आधार पर ही उक्त पंचसंग्रह के तीसरे अधिकारको कर्मस्तव नाम दिया गया है । चन्द्रर्षिकृत पंचसंग्रहकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख मिलता है । अतः प्रकृत ग्रन्थका कर्मस्तव नाम सुनिश्चित एवं प्रसिद्ध है ।

स्तवका प्रचलित अर्थ तो स्तुतिपरक ही है किन्तु स्तव और स्तुतिमें अन्तर है । अंगबाह्यके चौदह भेदोंमेंसे एक भेद चतुर्विंशति स्तव है और एक भेद वन्दना है । चौबीस तीर्थङ्करोंके स्तवनको चतुर्विंशति स्तव[3] कहते हैं और एक तीर्थङ्कर विषयक स्तुतिको वन्दना कहते हैं । अतः स्तुतिसे स्तव व्यापक होता है ।

षट्खण्डागमके वेदना खण्डके कृति अनुयोग द्वारमें आगममें उपयोगके प्रकार वाचना, पृच्छना, प्रतीच्छना, परिवर्तना अनुप्रेक्षा तथा स्तव स्तुति आदि

---

१. 'अण्णेसिं आयरियाण अणंताणुबंधीण उवसामणा नाम नत्थि, विसंयोजणाणाम अणंताणुबंधीण भवति ।' सि० चु० पृ० ६१ ।

२. 'नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे । बंधुदयसत्तजुत्तं वोच्छामि थयं निसामेह ।' गोविन्दगणि की संस्कृत टीकाके साथ कर्मस्तव श्रीजैन आत्मानन्दसभा भावनगरसे (वि० सं० १०७२) 'सटीकाश्चत्वारः प्राचीनाः कर्मग्रन्थाः' के अन्दर प्रकाशित हो चुका है ।

३. 'चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराण वंदणविहाणं ।वंदणा एकजिणजिणालयविसय ।' —षट्ख० पु० १, पृ० ९६-९७ ।
'एगदुगेतिसलोका थुतीसु, अन्नेसि होइ जा सत्त । देविंदत्थयमादी तेण तु परं थया होइ ।।'—व्यव० स० ७ उ० ।

बतलाये हैं। इनका लक्षण बतलाते हुए[1] धवलाकारने 'सब अंगोके विषयोकी प्रधानतासे बारह अगोके उपसहारको स्तव और बारह अगोंमेंसे एक अगके उपसंहारको स्तुति कहा है। इससे भी यही व्यक्त होता है कि स्तव सकलागी होता है और स्तुति एकागी होती है। अत उक्त कर्मस्तवमें अपने विषयका पूर्ण वर्णन है ऐसा ध्वनित होता है।

यह पहले बतलाया है कर्म की दस अवस्थाएँ होती हैं उनमें तीन मुख्य हैं—बन्ध, उदय और सत्ता। कर्मोंके बंधनेको बन्ध, समयपर फल देनेको उदय और बन्ध के पश्चात् तथा उदय से पूर्व स्थिति रहनेको सत्ता कहते है।

कर्म आठ हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनके अवान्तर भेद क्रम से पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच कहे है। नाम कर्म के बयालीस भेदो के भी अवान्तर भेद मिलाने से नामकर्मके ९३ भेद होते हैं इस तरह आठो कर्मोंके कुल भेद १४८ होते हैं। उनमें भी अभेद विवक्षासे बन्धप्रकृतियोकी सख्या १२० और उदय प्रकृतियोकी संख्या १२२ ली गयी है किन्तु सत्त्व प्रकृतियो की सख्या १४८ ही ली गयी है।

मोक्षके लिये प्रयत्नशील जीवकी आन्तरिक अभ्युन्नति के सूचक चौदह दर्जे हैं जिन्हें गुणस्थान कहते हैं। ज्यो-ज्यो जीव ऊपरके गुणस्थानोमें चढता जाता है उसके कर्मोंके बन्ध, उदय और सत्तामें ह्रास होता जाता है। पहले दूसरे तीसरे आदि गुणस्थानोंमें कर्मोंके उक्त १२०, १२२ और १४८ भेदोमेंसे किन किन कर्मोका बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है यही कथन इस कर्मस्तवमें किया गया है।

गा० २-३ में बतलाया है कि पहले मिथ्यात्व गुणस्थानमें सोलहका, दूसरे सासादनमें पच्चीसका और चौथे अविरत गुणस्थानमें दस प्रकृतियोंके बन्धका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे पाँचवें गुणस्थानमें चारका, छठेंमें छैका, सातवें में एकका, आठवेंमें छत्तीसका, नौवेंमें पाचका, दसवेंमें सोलहका और तेरहवें सयोग गुणस्थानमें एक सातावेदनीयका बन्धविच्छेद होता है।

गाथा चारमें बतलाया है कि चौदह गुणस्थानोमें क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३०, १२ कर्मप्रकृतियोंका उदय रुकता चला जाता है। पाँचवी गाथामें कहा है कि पहलेसे तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त क्रमसे ५, ९, १, १७, ८, ८, ४, ६, ६, १, २, १६, और ३९ कर्मोंकी उदीरणाका विच्छेद होता है। इसी तरह आगे गा० ५, ६, ७ में सत्तासे विच्छिन्न होनेवाले कर्मोकी सख्याका निर्देश है। आगे उन्हीका विस्तारसे कथन करते हुए बतलाया है कि किस-किस

---

१ 'बारसगसधारो सयलगविसयप्पणादो थवो णाम। बारसगेसु एक्कगोवसंधारो थुदी णाम।'—षट्खं०, पु ९, पृ २६३।

गुणस्थानमें कौन-कौन कर्मप्रकृतियोको बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका विच्छेद होता है ।

कर्मस्तवके सबधमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें क्षीणकषाय गुण-स्थानके उपान्त्य समयमें निद्रा और प्रचला की उदयव्युच्छित्ति बतलाई है। दिगम्बर परम्परामें यही मत सर्वमान्य हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें सत्कर्मका मत विशेष मान्य है जिसके अनुसार क्षपकश्रेणीमें और क्षीणकषायमें निद्रा प्रचला-का उदय नही होता। सप्ततिका-उसकी चूर्णि, कर्मप्रकृति और उसकी चूर्णिका यही मत है। नव्यकर्मग्रन्थके कर्ताने भी इसी मत को मान्य किया है। अकेले चन्द्रर्षि महत्तरने कर्मस्तवका मत मान्य किया है।

रचनाकाल

इस ग्रन्थके कर्ताका पता न लग सकनेसे इसका रचनाकाल भी अनिश्चित हैं। फिर भी इसके अन्य ग्रन्थोमें पाये जानेवाले उल्लेख आदिसे इसकी प्राचीनता व्यक्त होती है। इसकी वृत्ति गोविन्दाचार्यने रची है। यह गोविन्दाचार्य नाग-देवके शिष्य थे। किन्तु उनके समयादिका भी पता नही चलता। इस वृत्तिकी ताडपत्रीय प्राचीन प्रति सं १२८८ की लिखी हुई मिलती है। अत यह सुनिश्चित है कि गोविन्दाचार्य स० १२८८ से पहले हो गये है। और इसलिए कर्मस्तव उससे भी पहले रचा जा चुका था।

बन्धस्वामित्व नामक तीसरे प्राचीन कर्मग्रन्थके भी कर्ताका पता नही है उसमें कर्मस्तवका[1] का निर्देश किया गया गया है। अत इससे कर्मस्तव पहले रचा गया था। बन्धस्वामित्वकी टीका वृद्धगच्छीय देव सूरिके शिष्य हरिभद्रसूरिने रची थी। यह वृत्ति अणहिल्ल[2] पाटकपुरमें जयसिंहदेवके राज्यमें स० ११७२ में रची गयी थी। इसमें [3]कर्मस्तवटीका का निर्देश है। यह टीका गोविन्दाचार्यकृत ही जान पडती हैं। अत कर्मस्तवकी उक्त टीका सं० ११७२ से भी पहले की है, इसलिये कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है। दि० प्राकृत पचसग्रहके तीसरे अधिकार का नाम भी कर्मस्तव अथवा बन्धोदय सत्वाधिकार है। और उसमें उक्त कर्मस्तवकी गाथाएँ वर्तमान है। तथा चन्द्रर्षिकृत पंचसग्रहकी स्वोपज्ञ[4] टीकामें कर्मस्तवका

---

१ 'इय पुव्वसूरिकयपगरणेसु जडवुद्धिणा मय रइय। वन्धस्सामित्तमिण नेय कम्मत्थय सोउ ॥५४॥'— व० सा० ।

२ 'अणहिल्लपाटक पुरे श्रीमज्जयसिन्ह देवनृपराज्ये,' व सा टी प्रशस्ति ।

३. 'आसा दशानामपि गाथाना पुनर्व्याख्यान कर्मस्तवटीकातो वोद्धव्य'—वंस्वा टी. ।

४. 'एवमेकादश भङ्गा सप्ततिकाकार मतेन । कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—
—प सं. स्वो. भा ?, पृ ?२७ ।

निर्देश है। अत उक्त कर्मस्तव इन दोनो पंचसंग्रहोंसे प्राचीन है। वीरसेनकी धवला टीकामें उद्धृत अनेक गाथाएँ दि० पचसग्रह में ज्यो की त्यो पाई जाती हैं। अत दि० पंचसंग्रह विक्रमकी नौवी शताब्दीसे पहले रचा गया था और इस-लिए कर्मस्तव उससे भी पूर्वका है। चन्द्रर्षि के प्राकृत पचसग्रह की स्वोपज्ञ टीकामें विशेषावश्यक भाष्य का उद्धरण है और वि० भा० वि० स० ६८६ में रचा गया था। अत. चन्द्रर्षि विक्रमकी सातवी शतीसे पूर्व नही हुए यह निश्चित है।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी विशेषणवतीमें कर्मप्रकृति और सितरीका तो निर्देश है किन्तु कर्मस्तवका नही है।

किन्तु उसके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि इसलिए कर्मस्तव उसके बाद होना चाहिए। क्योंकि कर्मस्तवका क्षीण कषायके उपान्त्य-समयमें निद्राद्विककी व्युच्छितिवाली बात श्वेताम्बर कार्मिकोके विरुद्ध है। और इसलिए कर्मस्तवकी ओर कट्टर पन्थियोकी अनास्था होना स्वाभाविक है जैसा कि आचार्य मलयगिरिके वचनोसे प्रकट होता है—

'केचित् पुन क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्सत्कर्म-कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थै सह विरुध्यते इत्युपेक्ष्यते,—(सप्तति० टी०, पृ० १५८)

'अर्थात् कोई आचार्य क्षपक और क्षीणमोहोमें भी निद्रा-प्रचलाका उदय मानते है, वह सत्कर्म और कर्मकृति आदि ग्रन्थो से विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकारने भी शायद इसीलिए उसकी उपेक्षा की हो। कर्म-स्तवमें कर्मोके नाम तथा भेदसख्यावाली गा० ८-९, शतक में ३८, ३९ नं० पर है। इसी तरह गा० ४८ सप्ततिचूर्णिमें पृ० ६६ पर है। मलयगिरिने उसका उल्लेख 'तथाचाह सूत्रकृत्' करके किया है। जिससे प्रकट होता है कि वह उसे सप्ततिकारकी मानते है।

इस सादृश्यसे भी कोई निष्कर्ष निकालना तो सम्भव नही है। किन्तु सित्तरी और शतककी प्राचीनता की दृष्टिसे यही सम्भावना की जा सकती है कि सम्भवतया वह उन दोनो के पश्चात् और दि० प० स के पहले रचा गया है।

दि० प्राकृत पञ्च संग्रह

पच सग्रह नामके चार ग्रन्थ उपलब्ध है दो प्राकृत में और दो सस्कृतमें। प्राकृत पचसंग्रह एक दिगम्बर परम्परा का है और एक श्वेताम्बर परम्पराका। यहाँ प्रथमकी चर्चा पहले की जाती है।

इस पंच संग्रहको प्रकाशमें लानेका श्रेय वीर सेवा मन्दिर देहलीके प०

परमानन्दको है। उन्होने 'अनेकान्त' वर्ष ३, कि. ३ में 'अति प्राचीन प्राकृत पंच संग्रह' शीर्षक से एक लेख प्रकाशित कराया था। उसीसे उसकी जानकारी प्राप्त हुई थी। अब तो यह प्रकाशित हो चुका है।

इस पचसग्रहमें न तो उसके रचयिताका ही कोई निर्देश है और न ग्रन्थका ही नाम है। अन्तमें एक वाक्य लिखा है 'इदि पचसंगहो समत्तो।' उसीसे यह प्रकट होता है कि इसका नाम पच सग्रह है। इसमें पांच प्रकरण हैं—जीव समास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका। अत पंच सग्रह नाम तो उचित ही है। किन्तु यह नाम पीछेसे दिया गया है या पहलेसे रहा है यह चिन्त्य है।

जो दो संस्कृत पंच सग्रह है वे प्राय इसीको लेकर रूपान्तरित किये गये है, अतः उनके नामसे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना के समय यह इसी नामसे प्रसिद्ध था। अमितगति (वि. स. १०७३) ने अपने पचसग्रहमें एक स्थानपर (पृ० १३१) लिखा है—पचसग्रहके अभिप्रायसे यह कथन है। अत पचसंग्रह नाम ही प्रचलित था।

विक्रमकी तेरहवी शतीके ग्रन्थकार पं० आशाधरजीने भगवती आराधनाकी गाथा २१२४ पर रचित मूलाराधना दर्पण नामक टीकामें 'तदुक्त पञ्चसग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृतकी है। ये छहों गाथाएँ प्रकृत प्राकृत पचसग्रहके तीसरे अधिकारमें इसी क्रमसे पाई जाती है। हमारे जाननेमें आशाधरजी प्रथम व्यक्ति है जिन्होने प्राकृत पचसग्रहका इस प्रकार स्पष्टरूपसे निर्देश किया है। इससे यह निर्विवाद रूपसे निर्णीत हो जाता है कि विक्रमकी तेरहवी शतीमें प्रकृत ग्रन्थ पचसग्रहके नामसे ख्यात था तथा उससे पहले भी अर्थात् सस्कृत पचसग्रहके रचनाकालमें भी उसे पचसग्रह कहते थे।

विक्रमकी नौंवी शतीके प्रसिद्ध जैनाचार्य वीरसेनने अपनी धवलाटीकामें 'उक्त च' करके बहुत सी गाथाएँ उद्धृत की है। उनमें बहुत-सी गाथाएँ इस प्राकृत पंचसग्रहमें वर्तमान है। षट्खण्डागमके 'सत्प्ररूपणा' नामक प्रथम पुस्तककी धवलाटीकामें उद्धृत जिन गाथाओको पादटिप्पणमें गोमट्टसार जीवकाण्डमें पाई

---

१ प्राकृत पञ्च सग्रह सुमति कीर्ति की टीका तथा प० हीरालाल जी की भाषा टीका के साथ भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९६० में प्रथमवार प्रकाशित हुआ है। इसी में उसकी प्राकृत चूर्णि तथा श्रीपाल सुत डड्ढा विरचित सस्कृत पचसग्रह भी प्रथमवार प्रकाशित हुआ है। दूसरा प्राकृत पचसग्रह स्वोपज्ञ और मलय गिरि की वृत्ति के साथ मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोई (गुजरात) से सन् ३७-३८ मे प्रकाशित हुआ है। अमितगतिकृत पचसग्रह मूल माणिक चन्द ग्रन्थ माला बम्बई से प्रथमवार प्रकाशित हुआ था।

जानेवाली बतलाया है और जिनकी सख्या सौ से भी ऊपर है, वे सब गाथाएँ पचसंग्रहके प्रथम अधिकारमें जिसका नाम जीव समास है, पाई जाती है।

उसपरसे प० परमानन्दजीने अपने लेख में यह निष्कर्ष निकाला था कि धवलाकारके सामने पचसंग्रह अवश्य था। इसपर आपत्ति करते हुए मुख्तार श्री-जुगलकिशोरजीने लिखा था—'कम-से-कम जबतक धवलामें एक जगह भी किसी गाथाके उद्धरणके साथ पंचसंग्रहका स्पष्ट नामोल्लेख न बतला दिया जाये तबतक मात्र गाथाओंकी समानता परसे यह नही कहा जा सकता कि धवला में वे गाथाएँ इसी पचसंग्रह परसे उद्धृत की गई है जो खुद भी एक सग्रह ग्रन्थ है।' (पु० वाक्य सू० प्रस्ता०, पृ० ९५)।

मुख्तार साहबकी आपत्ति बहुत ही उचित थी। किन्तु धवला¹में ही एक स्थान पर 'जीवसमासए वि उत्त' करके नीचेकी गाथा उद्धृत है—

छप्पच णव विहाण अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाण।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्त॥

यह गाथा पचसग्रहके अन्तर्गत जीव समास नामक प्रथम अधिकारमें मौजूद है और सत्प्ररूपणाकी धवलामें उद्धृत लगभग १२५ गाथाएँ भी जीव समास नामक अधिकारकी ही है। अत' इस उद्धरण से यह बात तो निर्विवाद हो जाती है कि पचसंग्रहका कम-से-कम जीव समास नामक अधिकार तो वीरसेन स्वामी के सामने वर्तमान था। किन्तु जहाँ उक्त उद्धरणसे यह बात सिद्ध होती है वहाँ एक शका भी होती है कि वीरसेन स्वामीने पचसंग्रहका नामोल्लेख न करके उसके अन्तर्गत अधिकारका नाम निर्देश क्यो किया ?

यदि धवलामें केवल जीव समाससे ही उद्धरण लिये होते तो कहा जा सकता था कि पचसग्रहके अन्य अधिकार वीरसेन स्वामीके सामने नही थे। किन्तु 'उक्त च' करके उद्धृत कुछ गाथाएँ पचसग्रहके अन्य अधिकारो में पाई जाती है। इसीसे हमें यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि पचसग्रह नाम क्या पीछे से दिया गया है। इस सन्देहके अन्य भी कारण हैं और उन्हें बतलाने के लिये ग्रन्थकी आन्तरिक स्थिति आदि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। उससे पहले एक आवश्यक जानकारी करा देना उचित होगा।

पचसग्रह नामकी सार्थकता—

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पचसंग्रहके आरम्भमें पचसग्रह नामकी सार्थकता बतलाते

¹—षट्ख पु० ४, पृ० ३१५।

हुए कहा है कि इस ग्रन्थमें [1]शतक अदि पाँच ग्रन्थोको सक्षिप्त किया गया है अथवा इसमे पाँच द्वार है इसलिए इसका पचसग्रह नाम सार्थक है। शतक आदि पाँच ग्रन्थोका नाम ग्रन्थकार ने नही बताया। किन्तु उनकी स्वोपज्ञ[2] टीकामें कर्मस्तव और सप्ततिका ग्रन्थोका नाम आया है। तथा दूसरे भागका नाम कर्म-प्रकृति है जो शिवशर्मरचित कर्मप्रकृतिके आधार पर रचा गया है। अत तद-नुसार शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति और कर्मस्तव इन चार ग्रन्थोका इस पच-संग्रहमें संक्षेप किया गया है ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु टीकाकार[3] मलय-गिरिने लिखा है कि इस पचसग्रहमें शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कर्म, और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोका सग्रह है अथवा योगोपयोग विषय मार्गणा, वधक, वधव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पाँच अर्थाधिकारोका सग्रह है इसलिए इसका नाम पचसग्रह है। पंचसग्रह नामके इस अर्थके प्रकाशमें एक अर्थ तो दि० प० स० में स्पष्टरूपसे घटित होता है कि उसमें भी जीवसमास, कर्मप्रकृतिस्तव, बन्धोदयो-दीरणास्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच अधिकार है, इसलिए इसका पच-सग्रह नामका सार्थक है। किन्तु क्या श्वे० प० स० की तरह दि० प० स० में भी पाँच ग्रन्थोका संग्रह किया गया है, यह प्रश्न विचारणीय है इसके समाधान के लिए हमें प्रत्येक अधिकार का तुलनात्मक परिशीलन करना होगा।

१ जीव समास और सत्प्ररूपणा

इस दि० प० स० के प्रथम अधिकार का नाम जीवसमास है। इसमें २०६ गाथाएँ हैं। प्रथम गाथा में अरहन्तदेवको नमस्कार करके जीवका प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की है। इस गाथापर प्राकृतमें चूर्णि भी है। दूसरी गाथामें गुण-स्थान, जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, सज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन २० प्ररूपणाओको कहा है। इन्ही बीस प्ररूपणाओका कथन इस जीव समास नामक अधिकारमें है। षट्खण्डागम के प्रारम्भिक सत्प्ररूपणा सूत्रो में भी गुणस्थान और मार्गणाओका कथन है। किन्तु इस प्रकारसे बीस प्ररूपणाओ का कथन उसमें नही है। सत्प्ररूपणा सूत्रोकी धवला टीकामें गुण स्थान और मार्गणाओका कथन वीर-

---

१ सयगाइ पच गथा जहारिह जेण येत्थ सखित्ता। दाराणि पच अहवा तेन जहत्थाभि-हाणमिद ॥२॥ —श्वे० प० स०।

२ 'एवमेकादश भङ्गा. सप्तति काकारमतेन। कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति ततश्च त्रयोदशभङ्गा' —प० स० स्वो टी० भा० ३ गा० १४।

३ 'पचाना शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृति लक्षणाना ग्रन्थाना अथवा पचानामर्थाधिकाराणा योगोपयोगविषयमार्गणा —बन्धक-बधव्य-बन्धहेतु बंधविधि लक्षणाना सग्रह पच सग्रह।'—श्वे० प० स०, टी० पृ० ३।

सेन स्वामीने जीव समास नामक अधिकारके आधार पर ही किया है और उससे लगभग सवा सौ गाथाए भी प्रमाणरूपसे उद्धृत की है।

सत्प्ररूपणामें पहले मार्गणाओका निर्देश है पश्चात् गुणस्थानोका और पंचसग्रह गत जीवसमासमें पहले गुणस्थानोका कथन है पीछे मार्गणाओका। सत्प्ररूपणा सूत्र ४ की धवलामें चौदह मार्गणाओका सामान्य कथन करते हुए वीरसेन स्वामीने चौदह मार्गणाओसे सम्बद्ध १६ गाथाए प्रमाणरूपसे उद्‌धृत की हैं जो प० स० के जीवसमास अधिकारमे ज्यो-की-त्यो वर्तमान है। आगे गुणस्थानोके वर्णनमें तेईस गाथाएँ प्रमाणरूपसे उद्धृत की है। ये सब भी इसी प्रमाण में वर्तमान है। और जीवसमासाधिकारमें उनकी क्रम सख्या क्रमश ३, ६, ७, ९, १०, १२, ११, १३ ×, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २७, २९, ३०, ३१ है। इनमेंमे क्वचित् ही साधारण-सा पाठ भेद पाया जाता है और केवल एक जगह गाथाका व्यतिक्रम है। सत्प्ररूपणा में गुणस्थानोके पश्चात् मार्गणाओका विशेष कथन है उसकी धवलामें भी प्रत्येक मार्गणाके प्रकरणमें जीव समासकी गाथाए उद्धृत है।

गति[1]मार्गणा में पाच गाथाएँ पाचो गति सम्बन्धी उद्‌धृत है और उनकी क्रम सं० जी० स० में क्रमसे ६० से ६४ तक है। इन्द्रिय मार्गणामें जी० स० की गा० न० ६६, ६७ और ६९ क्रमसे उद्धृत है। आगे क्रमसे चार गाथाएँ और उद्‌धृत है जिनमें दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पचेन्द्रिय जीवोको उदाहरण के रूप में गिनाया है। जी० स० में भी गा० ६९ से आगे (७०–७३) चार गाथाओ से दो इन्द्रिय आदि जीवोको गिनाया है किन्तु दोनो ग्रन्थो की केवल इन्ही गाथाओमें मेल नही है, भिन्नता है। नीचे उन चारो गाथाओको दिया जाता है।

पञ्चसग्रह गत जीव समासमें ये चारो गाथायें इस प्रकार पाई जाती है—

खुल्ला वराड सखा अक्खुणह अरिट्ठगा य गडोला।
कुक्खि किमि सिप्पिआइ णेया वेइंदिया जीवा ॥७०॥
कुथु-पिपीलिय-मक्कुण-विच्छिय-जू विंद-गोव गु भीया।
उत्तिग मट्ठियाई (?) णेया तेइंदिया जीवा ॥७१॥
दंस-मसगो य-मक्खिय-गोमच्छिय-भमर-कीड-मक्कडया।
सलह-पयगाईया णेया चउरिंदिया जीवा ॥७२॥
अंडज पोदज-जरजा-रसजा ससेदिया य सम्मुच्छा।
उब्भिदिमोववादिय णेया पचिंदिया जीवा ॥७३॥

---

१. षट्‌ख० पु० १, पृ० २०७-२०४।

और धवला में उद्धृत गाथाएँ इस प्रकार हैं—

'कुक्खि-किमि-सिप्पि सखा गडोलारिट्ठ अक्ख-खुल्ला य ।
तह य वराडय जीवा णेया बीइंदिया एदे ॥१३६॥
कुथु-पिपीलिक-मक्कुड-विच्छिय-जू-इदगोव गोम्ही य ।
उत्तिरगणट्टियादी णेया तेइंदिया जीवा ॥१३७॥
मक्कडय-भमर-महुवर-मसय-पयगा-य सलह गोमच्छी ।
मच्छी सदंस कीडा णेया चउरिंदिया जीवा ॥१३८॥
सस्सेदिम-सम्मुच्छिम-उब्भेदिम-ओववादिया जीवा ।
रस-पोदंड जरायुज णेया पचिंदिया जीवा ॥१३९॥'

—षट् ख० पु० १, पृ० २४१-२५६ ।

इनमेंसे तेइन्द्रिय जीव सम्बन्धी गाथा में तो कोई अन्तर नही हैं, किन्तु शेष तीनो गाथाएँ भिन्न है और साथ में ही यह भी उल्लेखनीय है कि आगे १४० में जो गाथा उद्धृत है वह भी जी० स० में गाथा ७३ से आगे यथा क्रम पाई जाती है। मध्यकी केवल इन तीन गाथाओमें ही भेद होनेका कारण समझमें नही आता ।

काय मार्गणामें ग्यारह गाथाएं उद्धृत है ये गाथाएं भी जीव समासमें हैं केवल उनके क्रममें अन्तर है। धवलामें उद्धृत गाथा १४४ का नम्बर जी० स० में ८७ है। १४५ से १४८ तक एक साथ उद्धृत गाथाओं की क्रमसख्या जी० स० में ८२ से ८५ तक है। और १४९ से १५३ नम्बर तक उद्धृत गाथाओंकी सख्या जी० स० मे ७७ से ७८ तक यथाक्रम है। योग मार्गणामें १२ गाथाए उद्धृत है। उनमें अन्तिम गाथाको छोडकर, जो धवलामें प्रथम उद्धृत हैं, शेष गाथाएँ जी०स० में यथाक्रम पाई जाती है। उनमेंसे केवल तीन गाथाओके प्रथम चरणमें पाठभेद है—ओरालिय मुत्तत्थं, । 'वेउव्विय मुत्तत्थ' और 'आहारय मुत्तत्थ' इन तीन प्रथम चरणोके स्थानमें जीवसमास में 'अतोमुहुत्त मज्झ' पाठ पाया जाता है। इस मार्गणामें दो गाथा और भी उद्धृत है जो जी० स० में पाई जाती है ।

वेद मार्गणामें चार गाथायें उद्धृत है चारों यथाक्रमसे जी० स० में वर्तमान है।किन्तु कसाय मार्गणामें उद्धृत गाथाओकी स्थिति इन्द्रिय मार्गणाके तुल्य हैं। दोनो की चार गाथाओमें अन्तर पाया जाता है।

धवला में उद्धृत वे चार गाथाएँ इस प्रकार है—

सिल पुढवीभेद धूली जलराईसमाणओ हवे कोहो ।
णारय-तिरिय-णरामर-गईसु उप्पायओ कमसो ॥१७४॥

सेलट्ठि कट्ठिवेत्तो णियभेएणणु हरतओ माणो ।
णारय तिरय णरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥१७५॥
वेलुवमूलोरब्भयसिंगे गोमुत्तेएण खोरप्पे ।
सरिसी माया णारयतिरियणरामरेसु जणइ जिअ ॥१७६॥

किमिराय चक्क तणु मल हरिदराएण सरिसओ लोहो ।
णारय तिरिक्ख-माणुस देवसुप्पायओ कमसो ॥१७७॥

—(पृ० ३५०)

जी० स० (पं० स०) में ये गाथाए इस प्रकार है—

सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा ।
णिर तिरि णर देवत्त उविंति जीवा हु कोहवसा ॥११२॥
सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाण वेत्तासमो ।
णिर-तिरि-णर देवत्त उविंति जीवा हु माणवसा ॥११३॥
वसीमूल मेसस्स सिंग गोमुत्तिय च (खोरप्प) ।
णिर-तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु मायवसा ॥११४॥
किमिराय चक्क मल कद्दमो य तह चेय जाण हारिद्द ।
णिर-तिरि-णर-देवत्त उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११५॥

यहाँ भी आगे की गाथा दोनोमें समान है ।

ज्ञानमार्गणामें ८ गाथाएँ उद्धृत है जो जी० स० में यथाक्रम है। संयम मार्गणामें उद्धृत ८ गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम है। मध्यकी केवल एक गाथा सयमासयमवाली ऐसी है जो धवलामें छोड दी गई है। दर्शन मार्गणा में उद्धृत तीन गाथाएँ भी जी० स० में यथाक्रम हैं। लेश्या मार्गणामें उद्धृत दस गाथायें भी जी० स० में यथाक्रम है। किन्तु सम्यक्त्व मार्गणामें उद्धृत पाच गाथाओमें से जी० स० में शुरु की तीन गाथायें तो यथाक्रम है अन्तकी दो गाथाओमें से उपशम सम्यक्त्व का स्वरूप वतलाने वाली गाथा भी जी० स० में है किन्तु वेदकसम्यक्त्ववाली गाथा नही है उसके स्थान में अन्य गाथा हैं। इस तरह सत्प्ररूपणा सूत्रो की धवला टीका में उद्धृत बहुत-सी गाथायें पचसग्रह के प्रथम अधिकारमें वर्तमान है केवल उक्त गाथाओ की स्थिति चिन्त्य है।जीव समास अधिकारमें गाथा १८२ तक वीस प्ररूपणाओका कथन समाप्त हो जाता है। यहाँ तकका कथन क्रमवद्ध और व्यवस्थित है। किन्तु आगेका कथन वैसा व्यवस्थित नही है। १८२ वी गाथामें वीस प्ररूपणाओंके कथन का उपसहार करनेके पश्चात् पुन लेश्याओका वर्णन प्रारम्भ हो जाता है। यह कथन दस गाथाओमें है। इसमें जीवोके गतिके अनुसार द्रव्यलेश्या और भावलेश्याका कथन

किया है। यह कथन लेश्या मार्गणामें ही होना चाहिए था संस्कृत पं० स० में ऐसा ही किया गया है।

लेश्याओ का कथन समाप्त होने के बाद सिद्धान्त की फुटकर विशेष वातोका सग्रह है—जिनमें बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि कहा-कहा उत्पन्न नही होता। कौन संयम किस किस गुणस्थानमें होता है ? फिर सात समुद्‌धातो का कथन है। केवलिसमुद्‌धात का कथन करते हुए एक गाथामें कहा है कि छै मास आयु शेष रहने पर जिन्हे केवलज्ञान होता है वे केवली नियमसे समुद्‌धात करते है। शेषके लिये कोई नियम नही है। यह गाथा इस प्रकार है—

छम्मासाउगसेसे उप्पन्न जेसि केवल णराण।
ते णियमा समुग्घायं सेसेसु हवति भयणिज्जा ॥ २०० ॥

यह गाथा धवलामें इस रूपमें उद्धृत है—

छम्मासाउवसेसे उप्पण्ण जस्स केवल णाणं।
स समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए ॥
(षट्‌ पु० १, पु० ३०३)

भगवती आराधनामें यह गाथा इस रूपमें पाई जाती है—

उक्कस्सएण छम्मासाउगसेसम्मि केवली जादा।
वच्चति समुग्घाय सेसा भज्जा समुग्घादे ॥ २१०९ ॥

गाथा के इन रूपो को देखते हुए यह कहना तो शक्य नही है कि धवलाकारने उक्त गाथा उसी जीव समास से उद्धृत की है या भ० आराधना से। किन्तु इसी सम्बन्ध में उन्होने एक गाथा और उद्धृत की है जो भ० आराधनाकी २११० वी गाथा[1] है यद्यपि उसमें भी पाठ भेद है। अत. सभव है उन्होने उक्त दोनो गाथा भ० आराधना से ही ली हो। किन्तु वीरसेन[2] स्वामी ने इन दोनो गाथाओ को आगम नही माना है। जब कि जीव समास से उद्धृत गाथा का आर्ष कहकर उल्लेख किया है और तत्वार्थ सूत्र से भी उसे प्रथम स्थान दिया है।

वह उद्धरण इस प्रकार है—

'के ते एकेन्द्रिया ? पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय.। एतेषा स्पर्शनमेकमेवे-

---

१ 'जेसिं आउ समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च। ते अकय समुग्घाया वज्जतिपरे समुग्घाए ।।' 'जेसिं आउसमाइं णामगोदाइ वेदणीय च। ते अकद समुग्घादा जिणा उवणमसति सलेसिं ।।२११०।।

२. एतयोर्गाथयोरागमत्वेन निर्णयाभावात्। भावेवाऽस्तु गाथयोरेवोपादानम्।—षट० ख०, पु० १, पृ० ३०४

न्द्रियमस्ति न शेषाणोति कथमवगम्यते ? इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एते इति प्रतिपादककार्योपलम्भात् । क्व तत्सूत्रमिति चेत् कथ्यते—

'जाणदि पस्सदि भुंजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।
कुणदि य तस्सामित्त थावरु एइंदिओ तेण ।। १३५ ।।

'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इति तत्वार्थसूत्राद्वा— (षट्ख, पु० १, पृ० २३९) ।

शका— वे एकेन्द्रिय जीव कौन से है ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ।

शका—इन पाचों के एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रिया नही होती यह कैसे जाना ?

समाधान—पृथिवी आदि जीव एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले ही होते है, इस प्रकार का कथन करनेवाला आर्षवचन पाया जाता है ?

शका—वह सूत्र रूप आर्ष वचन कहाँ है ?

समाधान—उसे कहते है—'क्योकि स्थावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है इसलिये उसे स्थावर एकेन्द्रिय कहते है ।,

अथवा 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' तत्वार्थ सूत्र के इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।'

उक्त आर्ष रूपसे उद्धृत गाथा जीव समासकी ६९वी गाथा है । अत जीव समासका वीरसेन स्वामीके चित्तमें बहुत आदर था, यह स्पष्ट है । चूकि जीव-समास नामका अन्य कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है और न उसके अस्तित्वका ही कोई सकेत मिलता है, अत यही मानना पडता है, कि वीर सेन स्वामीके द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत जीव समास पच सग्रह के अन्तर्गत जीव समास नामक अधिकार ही होना चाहिये ।

श्वेताम्बर साहित्य मे जीव[1] समास प्रकरण नामका एक गाथाबद्ध प्राचीन ग्रन्थ है जिसका सकलन इसके एक[2] उल्लेख के अनुसार दृष्टि वाद अग से किया गया है । चूकि पञ्चसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है अतः हमें सन्देह हुआ कि जीव समास नामक अधिकार कही उसका तो ऋणी नही है किन्तु दोनो-का मिलान करने पर हमारा सन्देह ठीक नही निकला । यद्यपि यत्र तत्र कुछ

---

१ श्री जीवसमास प्रकरण मलधारी हेमचन्द्र रचित वृत्ति के साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हो चुका है ।

२. बहुभग दिट्ठीवाए दिट्ठत्थाणं जिणोवइट्ठाण । धारण पत्तट्ठो पुण जीवसमासत्थ उव उत्तो ॥२८५॥—जी० स० ।

गाथाएँ ऐसी है जो दोनो मे पायी जाती है—चौदह गुण स्थानो की नाम सूचक दो गाथाएँ, जिनकी सख्या श्वे० जी० स० मे ८-९ और दि० जी० स० में ४-५ है, पर्याप्ति के नामादि बतलानेवाली गाथा, जिसकी क्रमसंख्या श्वे० जी० स० में २५ और दि० जी० स० में ४४ है, 'मुलग पोरबीया' इत्यादि गाथा। दो एक गाथाओका केवल पूर्वार्ध दोनो मे समान है। इसके सिवाय और कोई ऐसी बात नही मिलती जिसके आधार पर कहा जा सके कि एक का दूसरे पर प्रभाव है। दोनोका विषय वर्णन आदि स्वतन्त्र है। हा, नामसाम्य अवश्य है।

फिर भी यह बात नही भुलाई जा सकती कि पच सग्रह एक सग्रहात्मक ग्रथ है। और जीव समास अधिकार भी उससे अछूता नही है।

ऊपर जो एक गाथा 'छम्मासाउग सेसे' उद्धृत की गयी है, जो कि भगवती आराधना मे भी है और जिसके वीरसेन स्वामीने आगमरूप होनेमें सन्देह किया है, उसकी स्थिति सन्देह कारक है क्योंकि जिसके वचनोको वह आर्ष रूपमें उपस्थित करें उसमें ही एक ऐसी गाथा पाया जाना, जिसके आगमरूप होनेमें सन्देह है, इस जीव समास की स्थिति में सन्देह उत्पन्न करता है। सम्भव है उसका सग्रह भगवती आ० से ही सग्रहकार ने किया हो क्योंकि उससे आगेकी एक गाथाको छोडकर तीन गाथाएँ कसायपाहुडकी है जो इस प्रकार है—

> 'दसणमोहक्खवणापट्ठवगो कम्मभूमिजादो य।
> णियमा मणुसगईए णिट्ठवगो चावि सव्वत्थ ॥२०२॥
>
> खवणाए पट्ठवगो जम्मि भवे णियमदो तदो अन्ते।
> णादिक्कदि तिण्णि भव दसणमोहम्मि खीणम्मि ॥२०३॥
>
> दसणमोहस्सुवसामगो दु चउसुवि गईसु बोहव्वो।
> पचिंदिओ य सण्णी णियमा सो होइ पज्जत्तो ॥२०४॥

इसी तरह और भी कुछ गाथाएँ सगृहीत हो सकती हैं।

पच सग्रहके दूसरे अधिकार का नाम प्रकृति समुत्कीर्तन है। इसकी पहली गाथा में भी जीव समासकी तरह ही मगलपूर्वक प्रकृति समुत्कीर्तनको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। इसमें १२ गाथाएँ और कुछ प्राकृत गद्य है। जैसा इसके नाम से व्यक्त होता है इस अधिकार में आठों कर्मों के नाम और उनकी प्रकृतियोका कथन है।

आठो कर्मोंके नामोको बतलानेवाली गाथा उनकी प्रकृतियोकी सख्या सूचक गाथा कर्मस्तवमें वर्तमान है। तीसरे अधिकारमें कर्मस्तवकी बहुत-सी गाथाएँ हैं, अत मानना पडता है कि ये दोनो गाथाएँ भी उसीकी हो सकती है। कर्मोंकी

प्रकृतियोंकी गणना गद्यमें है वह गद्य षट्खण्डागम प्रथम खण्ड जीवट्ठाणकी चूलिका-के अन्तर्गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके सूत्रोंसे बिल्कुल मिलती हैं। मेल और अन्तरको स्पष्ट करनेके लिए थोडा-सा नमूना दे देना पर्याप्त होगा।

'णाणावरणीयस्स कम्मस्स पंच पयडीओ ॥१३॥ आभिणिवोहियणाणावर-णीयं सुदणाणावरणीयं ओहिणाणावरणीयं मणपज्जवणाणावरणीयं केवलणाणा-वरणीयं चेदि ॥१४॥—(षट्खं० पु०, ६ पृ० १४-१५)

'जं णाणावरणीय कम्मं त पंचविह' । आगे ऊपर की तरह ही हैं, इसी प्रकार आठों कर्मों में समझना चाहिये। इस अधिकारका नाम भी चूलिकाके 'प्रकृति समुत्कीर्तन' नामका ही ऋणी है। अत. यह दूसरा अधिकार चूलिका के प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार के आधार पर ही रचा गया प्रतीत होता है।

गद्यात्मक सूत्रोमे आठो कर्मोंकी प्रकृतियोको बतलानेके बाद कुछ गाथाएँ आती हैं, उनमें बध प्रकृतियोंकी और उदय प्रकृतियोकी संख्या बतलाते हुए उद्वेलन प्रकृतियोंको और ध्रुवबन्धी तथा अध्रुवबन्धी प्रकृतियो को गिनाया है।

तीसरे अधिकारका नाम बन्धोदय सत्ताधिकार है। पहली गाथा में जिनेन्द्र-देवको नमस्कार करके 'बन्धोदय सत्त्व' को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। संस्कृत पच सग्रहमें इस अधिकारका नाम 'कर्मबन्धस्तव' है। यथा—'कर्मबन्धस्तवाख्य तृतीय' परिच्छेद ।' पहले 'कर्मस्तव' नामक जिस प्रकरण ग्रन्थका परिचय करा आये हैं उसकी ५५ गाथाओंमें से ५३ गाथाएँ इस अधिकारमें प्राय: ज्योकी त्यो उपलब्ध होती है। इस अधिकारकी गाथा संख्या ७७ है उनमेंसे ५३ गाथाएँ कर्मस्तवकी है। उन्हें मुद्रित प्रतिमें मूल गाथा कहा है। पंचसंग्रहके इस अधिकार-की तथा कर्मस्तवकी पहली गाथा एक ही है। अत' कर्मस्तवका भी मूल नाम 'बन्धोदय सत्त्वयुक्त स्तव' ही है। किन्तु यह कर्मस्तवके नामसे ही प्रसिद्ध है। मूल कर्मस्तवमें ५५ गाथाएँ है। उसमेंसे ५३ गाथाएँ कुछ व्यतिक्रमसे इस पंच संग्रहके तीसरे अधिकारमें है। इस तीसरे अधिकारकी गाथा सख्या ६४ है। उसके बाद चूलिका अधिकार है उसमें १३ गाथाएँ है। इस तरह सब ७७ गाथएँ हैं। मूल कर्मस्तवकी ५३ गाथाएँ ६४ में गर्भित है, चूलिकामें नही।

पच सग्रहके इस अधिकार की जो गाथाएँ कर्मस्तव में नही हैं या व्यतिक्रमसे है उन पर प्रकाश डालना उचित होगा।

इस अधिकारका नाम बन्धोदय सत्त्व युक्त स्तव होनेका कारण यह है कि इसमें कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्वका कथन किया गया है। अत' पंच संग्रहमें पहले तो बन्ध उदय, उदीरणा और सत्ताका लक्षण वा स्वरूप कहा है। फिर गुणस्थानोमें आठों मूल कर्मोंके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका कथन किया है। यह कथन २ से ८ तक ७ गाथाओं में है। कर्म स्तवमें यह कथन नही है अत:

उसमें उक्त गाथाएँ नही है । कर्मस्तव की २, ३ गाथाका नम्बर इसी से इस अधिकारमें ९-१० है । इन दोनो गाथाओमें प्रत्येक गुण स्थानमें वन्धमे व्युच्छिन्न होने वाली कर्मप्रकृतियोकी सख्या वतलाई है ।

गाथा ११-१२ कर्मस्तवमे नही है । इन गाथाओमें कहा है कि तीर्थङ्कर और आहारकाद्विक को छोडकर शेप कर्मप्रकृतियोका वन्ध मिथ्यादृष्टिके होता है।

कर्मस्तवमें गुणस्थानो में कर्मो की वन्धव्युच्छित्ति, उदयव्युच्छित्ति, उदीरणा-व्युच्छित्ति और सत्त्वव्युच्छित्तिको वतलाने वाली गाथाओको, जिनकी क्रमसख्या २ से ८ तक है, एक साथ कहकर पीछे क्रमवार वन्धादिका कथन किया है और पं स के इस अधिकार में वन्धव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओ को वन्ध प्रकरणके आदि में, उदय-उदीरणा व्युच्छित्ति दर्शक गाथाओ को उदय-उदीरणा प्रकरण के आदि में और सत्वव्युच्छित्ति दर्शक गाथाओ को सत्व प्रकरण के आदिमें दिया है। इसी से इस अधिकारमे कर्मस्तवकी गा० २, ३ की क्रम सख्या ९-१०, ४ की क्रम सं० २७, ५ की ४८ और ६-७, ८ की क्रम सख्या ४९, ५०, ५१ हो गई है जो वतलाती है कि इस अधिकारमें १३ से २६ गाथा तक वन्धका, २७ से ४३ गाथा तक उदयका, ४४ से ४८ तक उदीरणाका और ४९ से ६३ तक सत्ता का कथन है । ६४वी गाथा जो कि कर्मस्तवकी अन्तिम गाथा है, मगला-त्मक है। इस गाथाके पश्चात् इस अधिकार में १३ गाथाएँ और है । उनमें यह बतलाया है कि उदय व्युच्छित्तिसे पहले जिनकी वन्ध व्युच्छित्ति होती हैं, उदय व्युच्छित्तिके पश्चात् जिनकी वन्ध व्युच्छित्ति होती है और उदय व्युच्छित्तिके साथ जिनकी वन्धव्युच्छित्ति होती है, ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी है। इसी तरह स्वोदयवन्धी, परोदयवन्धी, उभयवन्धी, निरन्तरवन्धी, सान्तर वन्धी और उभयवन्धी प्रकृतियाँ कौनसी है, इन नौ प्रश्नो का समाधान किया गया है।

चौथे अधिकारका नाम शतक है जवकि इस अधिकारकी गाथा सख्या ४२२ है । इस नाम का कारण यह प्रतीत होता है कि इस अधिकारमें वन्ध शतक नामक ग्रथ समाविष्ट है । उसकी प्रथम गाथा इसकी तीसरी गाथा है । उससे पहले दो गाथाएँ और है जिनमें से प्रथम गाथामें वीर भगवानको नमस्कार करके श्रुतज्ञान से 'पद' कहने की प्रतिज्ञा की गयी है। वन्ध शतकका विषय परिचय पहले करा आये हैं अत उससे इसमें जो विशेप कथन है उसे ही वत-लाया जाता है ।

वन्ध शतककी गाथा २ से ५ तक इसमें यथाक्रम दी गयी है । ५ वी गाथा में कहा है कि तिर्यञ्च गतिमें चौदहो जीव समास होते है और शेष गतियो में दो दो जीव समास होते हैं। इस प्रकार मार्गणाओ में जीव समास जान लेने चाहिए।' पञ्चसग्रहके कर्ताने १२ गाथाओके द्वारा चौदह मार्गणाओ में जीव समासोका

विवेचन किया है। तत्पश्चात् बं० श० की छठी गाथा दी गयी है। उसमें जीव-समासोमें उपयोगोका कथन है। पचसग्रहकारने उसके पश्चात् १९ गाथाओ के द्वारा मार्गणाओमें उपयोगोका कथन किया है और समाप्ति पर लिखा है—'एवं मग्गणासु उवओगा समत्ता।'

पश्चात् व० श० की ७ वी गाथा आती है उसमें जीवसमासमें योगका कथन किया है। इस गाथा में थोडा-सा अन्तर है। व० श० में 'पन्नरस' पाठ है और प० स० में 'चउदस'। बन्धशतकके अनुसार पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रियके पन्द्रह योग होते है और प०[1] स० के अनुसार चौदह अर्थात् वैक्रियिक मिश्रकाय योग सज्ञी पर्याप्तक के नही होता। किन्तु दोनो स० प० स० में सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग बतलाये है।

इस विषयमें जो बात ऐतिहासिक दृष्टिसे उल्लेखनीय है उसका कथन पचसग्रहके कालका विवेचन करते समय करेंगे।

पचसग्रहकारने ब० श० की ७वी गाथाके अर्थका स्पष्टीकरण दो गाथाओंसे करके आगे ग्यारह गाथाओसे (गा० ४४–५४) मार्गणाओमें योगका कथन किया है।

पच सग्रहमें बन्धशतक की ८–९वी गाथाका नम्बर ५५-५६ है। इनके द्वारा मार्गणाओमें योगोंके वर्णनकी समाप्तिकी सूचना है। किन्तु इससे स्पष्ट है कि बन्धशतककी गाथा ८ के पूर्वार्ध को पञ्चसग्रहकारने अपने अनुसार परिवर्तित किया है। व० श० में पाठ है—उवजोगा जोगविही जीवसमासेसु वन्निया एव'। और प० स० में है—'उवओगो जोगविही मग्गणजीवेसु वाण्णिया एव'। इस परिवर्तनका कारण यह है कि व० श० में उपयोग और योगका कथन केवल जीवसमासमें किया है किन्तु पचसग्रहमें जीवसमास और मार्गणाओमें कथन किया है। अत तदनुकूल परिवर्तन किया गया है। आगे पं० स० में गाथा ५७ से ७० तक मार्गणाओमें गुणस्थान का कथन है।

पुन वं० श० की ग्यारहवी गाथा आती है। इसमें गुणस्थानोंमें उपयोगका कथन है। प० सं० में दो गाथाओके द्वारा इसका व्याख्यान किया गया है।[2] इसके पश्चात् व० श० की बारहवी गाथा है इसमें गुणस्थानोमें योगोका कथन है। इसका व्याख्यान भी प० स० में दो गाथाओके द्वारा किया गया है।

१—'सण्णि अपज्जतेसु वेउव्वियमिस्सकायजोगो दु। सण्णीसु पुण्णेसु चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४२॥ प० सं० पृ० ४।

२—'द्वौ चतुर्षु नवस्वेक' समस्ता सन्ति सज्ञिनि। नवस्वथ चतुर्ष्वेकस्मिन्नेको द्वौ तिथि प्रमा। सं० प० स०, पृ ८।

बन्धशतक की १३ वी गाथामें भी गुणस्थानोंमें योगोंका कथन किया है जो मतान्तर से सम्बन्ध रखता है। यह गाथा पंचसंग्रह में नही है। और उसमें जो मत प्रदर्शित है वह भी दिगम्बर साहित्यमें नही मिलता।

तत्पश्चात् ब० श० की गा० १४ व १५ आती है उनमें गुणस्थानोंमें बन्ध के कारणों का निर्देश किया गया है। बन्ध के चार कारण है—मिथ्यात्व, अविरति कषाय योग और उनके भेद है क्रमसे ५ + १२ + २५ + १५ = ५७। गुणस्थान, और मार्गणाओंमे इन मूल तथा उत्तरकारणोंका पञ्चसंग्रहमें बहुत विस्तार से तथा कई प्रकारसे कथन किया है। इस कथन पर्यन्त शतकाधिकार की गाथा संख्या २०३ हो जाती है। गाथा संख्या २०४ से ब०श० की १६ वी आदि गाथा आती है इनमें ज्ञानावरणादि आठों कर्मोके आस्रव के विशेष कारण बतलाये है। यह कारण प्रायः वे ही है जो तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्याय में बतलाये है। बन्धशतककी दस गाथाओ में इनका कथन है और वे दसो गाथाएँ पंचसंग्रह में यथाक्रम दी गयी है। उनके पश्चात् दो गाथा और है उनमें बतलाया है यह कथन अनुभाग बन्धकी अपेक्षा से है।

इसके पश्चात् बन्धशतककी २७ वी गाथा आती है। यहासे बन्धशतकमें गुणस्थानोंमे आठो मूलकर्मोके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का कथन है। यह कथन पचसंग्रहके तीसरे अधिकार के प्रारम्भ में भी आता है और यहा भी है इस लिये पुनरुक्त जैसा हो जाता है।

बन्धशतक की २८वी गाथा इस प्रकार है—

सत्तट्ठविहट्ठ (-विह) बन्धगावि वेयन्ति अट्ठग णियमा।
एगविह बन्धगा पुण चत्तारि व सत्त वेयन्ति ॥२८॥

पचसंगह में इसके स्थान पर जो गाथा है वह इस प्रकार है—

अट्ठविह सत्त छब्बन्धगा वि वेयन्ति अट्ठय णियमा।
उवसत खीणमोहा मोहूणाणि य जिणा अघाईणि ॥२१६॥

दोनो के अभिप्रायमें कोई अन्तर नही है।

इसी तरह बधशतककी २९ वी गाथाका अन्तिम चरण है—'तहेव सत्तेवुदीरित्ति'। और पचसग्रहमें इसके स्थानमें 'मिस्सूणा सत्त आऊण पाठ है।

ब० श० की ३० से ३६ तककी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें यथाक्रम है। ३७ वी गाथामें पाठान्तर[1] है। ब० श० गा० ३८ मे आठो कर्मों के नाम और भेद

---

१ 'अवसेसट्ठ विहकरा वेयति उदीरयावि-अट्ठण्ह। सत्तविहगावि वेद ति अट्ठगमुइरंणे भज्जा ॥३७। ब० श०
'बधतिय वेयति य उदीरयंति यअट्ठ अट्ठ अवसेसा। सत्तविहबंधगा पुणा अट्ठण्हमुदीरणे भज्जा' ॥२२६॥—प० स०।

गिनाये है ये दोनो गाथाएँ पञ्चसंग्रहके प्रकृति समुत्कीर्तन नामक दूसरे अधिकारमें आ गई है। इससे इस अधिकारमें नही दी है। इसके पश्चात् बधके आदि, अनादि ध्रुव और अध्रुव भेदो का तथा अल्पतर, भुजकार, अवस्थित और अवक्तव्य भेदों का कथन है। ये कथन वन्ध शतकमें ४० से ४३ तक चार गाथाओमें है।

४३ वी गाथामें कहा है कि दर्शनावरण कर्मके तीन वन्ध स्थान है, मोहनीय कर्मके दस वन्धस्थान हैं, और नामकर्मके आठ वन्धस्थान है। इन तीन कर्मोमें ही भुजकारादिबन्ध होते हैं। शेप कर्मोंका तो एक ही वन्ध स्थान है। इस सामान्य कथनका पञ्चसग्रहमें वहुत विस्तारसे कथन ६५ गाथाओ द्वारा दिया गया है।

पश्चात् व० श० में वन्धक का कथन गा० ४४ से ५० तक किया है। उसी-का विस्तृत कथन पचसंग्रहमें है। व० शं० गा० २१ में कहा है कि गत्यादि मार्गणाओमें भी स्वामित्वका कथन कर लेना चाहिये। तदनुसार पचसग्रहमें गा० ३२५ से ३८९ तक उसका कथन किया है। उसके साथ ही प्रकृतिवन्धका कथन समाप्त हो जाता है। व० श० में गा० ५२ से ६४ तक स्थितिवन्धका कथन है। प० स० में यही कथन गा० ३९० से ४४० तक है। व० श० की गा० ५२-५३ में आठों मूलकर्मो की स्थिति वतलाई है। ये दोनो गाथाएँ पञ्च-सग्रहमें नही है। उनके स्थानमें दो भिन्न गाथाओके द्वारा आठो कर्मो की स्थिति वतलाई है। शेष गाथाएँ पञ्चसग्रहमें सम्मिलित है। व० श० में गाथा ६५ से ८६ तक अनुभाग वन्धका कथन है। प० स० गा० ४४१ से ४९२ तक अनुभा-गवन्धका कथन है जिसमें व० श० की उक्त गाथाएँ सम्मिलित है। केवल ७२ वी गाथा भिन्न है और ७३ वी गाथा के प्रथम चरणमें अन्तर है। मिलान से ऐसा प्रतीत होता कि इन गाथाओमें कुछ हेरफेर किया गया है किन्तु अभिप्रायमें भेद नही है। व० श० की गाथा ८४ इस प्रकार है—

> चदुपच्चएग मिच्छत्त सोलस दु पच्चया य पणतीसं।
> सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जाओ ॥८४॥

पं० स० में यह गाथा इस प्रकार है—

> सायं चउपच्चइओ मिच्छो सोलह दु पच्चया पणवीस।
> सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहारवज्जा दो ॥४८॥

वन्ध शतकमें दूसरे गुणस्थान तक बंधने वाली पच्चीस और चौथे गुणस्थान तक वधनेवाली दस इन पैंतीस प्रकृतियोके वन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको वतलाया है और शेष प्रकृतियोके बन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, और कषाय को कहा है। किन्तु पचसग्रहमें केवल पच्चीसके ही बन्धका कारण मिथ्यात्व और अविरतिको वतलाया है और शेषके बन्धका कारण तीनोको वतलाया है।

किन्तु इसमें कोई सैद्धान्तिक भेद दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अविरतिकी ही प्रधानता है आगे कषायकी प्रधानता है । इसी विवक्षासे न शतकमें पैसीमको दुहराया गया है ।

ब० श० गा० ८४-८५ में पच्चीस विपाकी प्रकृतियोंका गिनाया है और ८६ में भवविपाकी आदिको । प० स० में ये दोनों गाथाएँ हैं ।

आगे प्रदेश बन्धका वर्णन है । इसमें शतककी ८७ से लेकर १०७ तक सब गाथाएँ सम्मिलित हैं । ८७ गाथाका नम्बर प० स० में ५०४ है और १०७ अन्तिम गाथा का नं० ५१७ है । इस तरह केवल आठ गाथाएँ इस प्रकरणमें अतिरिक्त हैं जिनमें कथनको स्पष्ट किया गया है । गाथा ९४ में अन्तर है ।

ब० श० में 'आउक्कस्स पदेसस्स पंच मोहस्स सत्त ठाणाणि' पाठ है और प० स० में 'आउक्कस्स पदेसस्स छच्च मोहस्स णव दु ठाणाणि, पाठ है । बन्धशतकके अनुसार आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध मिथ्यादृष्टि और चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान पर्यन्त पांच गुणस्थानवाले जीव करते हैं । तथा मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध सासादन सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले जीवोंको छोड़कर शेष सात गुणस्थानवाले जीव करते हैं । किन्तु पञ्चसग्रह के अनुसार आयुकर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध दूसरे गुण स्थानमें होता है । अत छह गुणस्थानवाले जीव आयुका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध करते है । और मोहनीय कर्मका उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध पहलेसे लेकर नौ गुणस्थान पर्यन्त होता है ।

बन्धशतक[1] चूर्णिमें 'अन्ने पठति' कहकर पचसग्रहवाले पाठका निर्देश किया है और उसे ठीक नही बतलाया । यह चतुर्थ प्रकरणकी स्थितिका चित्रण है । पचसग्रहमें इसका शतक नाम नहो पाया जाता । किन्तु दोनो स० पञ्च संग्रहोके अन्तमें 'शतकसमाप्तम्' आता है ।

सप्ततिका और पचसग्रह—

पंचसग्रहके पांचवे अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति है । इस अधिकारके आदिकी गाथामें[2] पचसंग्रहकारने स्वय उसका निर्देश किया है । तथा अमितगतिने भी अपने संस्कृत पंच[3]संग्रहमें पांचवें अधिकारका नाम सप्तति दिया है । अत. इस अधिकारका उक्त नाम निर्बाध है ।

---

१. 'अन्ने पठति—'आउक्कोसस्स पदेसस्स छत्ति' । सासणोवि उक्कोसं बंधितित्ति, त ण, मोहस्स सत्त ठाणाणि । अन्ने पठंति–मोहस्स णव उ ठाणाणित्ति सासणसम्मामिच्छेहिं सह । त ण सम्भवति ।'—ब. श चू. ।

२. 'णमिऊण णिदाण वरकेवललनिसुक्खपत्ताण । वोच्छा सत्तरिभग उवइट्ठ वीरनाहेण ॥१॥

३. नत्वाहमर्हतो भक्त्या घातिकर्मपघातिन' । स्वशक्त्या सप्ततिवक्ष्ये बधभेदाववुद्धये ॥३७६॥ स० पं० सं० ।

जैसे चौथे अधिकार में पंचसग्रहकारने शतक ग्रन्थका सग्रह किया है और उसीके कारण अधिकारका नाम शतक रखा है। वैसे ही पाँचवें अधिकारमें सित्तरी अथवा सप्ततिका नामक प्रकरणका सगह है और उसीसे इस अधिकारका नाम सत्तरि या सप्तति रखा गया है। सित्तरी ग्रन्थका परिचयादि पहले लिख आये है। जो विषय सित्तरीका है वही इस पाचवें अधिकारका है। इस पाँचवें-अधिकारमें मगलाचरणके पश्चात् सित्तरीके आदिकी पाँच गाथाएँ यथाक्रमसे दी हुई है। उनके पश्चात् एक गाथा इस प्रकार आती है।

मूलपयडीसु एव अत्थोगाढेण जिह विही भणिया ।
उत्तर पयडीसु एव जहाविहिं जाण वोच्छामि ॥७॥

इसमें कहा है कि मूलप्रकृतियोमें कथनकर दिया अब उत्तर प्रकृतियोमें कहते हैं। इसके पश्चात् सि० की छठी गाथा आती है। उसमें ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मके वन्ध स्थान, उदय स्थान और सत्वस्थान पचप्रकृति रूप कहे है। आगे दर्शनावरणीय कर्मके वन्धादिका कथन है। किन्तु सितरीकी दर्शनावरण कर्मके कथन सम्वन्धी गाथाएँ पञ्चसग्रहमें नही है ' उनके स्थानमें पचसग्रहकारने अपनी स्वतत्र गाथाएँ रची हैं। इसका कारण शायद यह प्रतीत होता है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचलाका उदय नही माना हैं। किन्तु दिगम्वर परम्परामें माना गया है।

श्वे० पचसग्रहमें दोनो मतोको स्थान दिया गया है। सितरीमें वेदनीय गोत्र और आयुकर्मके भगोका कथन नही है किन्तु पचसग्रहकारने उनका कथन किया हैं। आगे मोहनीय कर्मका कथन है और उसका आरम्भ सित्तरीकी दसवी गाथासे होता है। उसकी सख्या प० स० में २५ है। दस से लेकर १६ तक सित्तरीकी गाथाएँ पचसग्रहमें मिलती है। प्रत्येक गाथा का स्पष्टीकरण दो एक गाथाओंसे आवश्यकताके अनुसार किया गया है।

सित्तरीकी गाथा १७, १८, २०, २१, २२ पञ्चसग्रहमें नही है। मोहनीय कर्म सम्वन्धी कथनके उपसंहार परक २३ वी गाथा है। २४वी गाथासे नामकर्मके के वन्ध स्थानोका कथन आरम्भ होता हैं। पं० स० में इसकी सख्या ५२ है। सित्तरीकी उक्त गाथामें केवल नामकर्मके वन्धस्थानोको गिनाया है। पचसग्रहमें उसका विवेचन ४५ गाथाओंके द्वारा किया है। यही कथन शतक नामा चौथे अधिकारमें भी है। अत यह कथन पुनरुक्त है। दोनो प्रकरणोकी गाथाएँ भी एक ही हैं।

इसके पश्चात् सित्तरीकी २५ वी गाथा आती है। इसमें नामकर्मके उदयस्थानोंका कथन हैं। मलयगिरिकी टीकामें इस गाथाका न० २६ है अत गणनामें एकका व्यतिक्रम हो गया है। २७-२८ वी गाथा जिनमें नामकर्मके उदय स्थानोंके

भग बतलाये है पचसंग्रहमें नही है । गा० २९ है इसमें नामकर्मके सत्त्वस्थानोको बतलाया है । यह गाथा शाब्दिक भेदको लिए हुए है । इसी तरह आगे ३० आदि सख्या वाली गाथाएँ पचसग्रहमें यथास्थान है ।

इस प्रकार नामकर्मके बन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानके भेद तथा उनके सवेधका कथन करके जीव समास और गुणस्थानोके आश्रयमे कर्मों के उक्त स्थानोके स्वामियोका कथन किया है ।

उसमें सि० गा० ३५ मे और पच सग्रहमें आगत इसी गाथामें कुछ अन्तर है जो मतभेदका सूचक है । सप्ततिकामें दर्शनावरण के भेद पर्याप्त सज्ञी पचेन्द्रिय के ग्यारह बतलाये है और प० स० में १३ बतलाये हैं । इस अन्तरका कारण यह है कि सप्ततिकामें क्षीण कषायमें निद्रा प्रचला का उदय नही माना गया किन्तु पंचसग्रहमें माना गया है ।

गा० ३७-३८ प० स० में व्यतिक्रमसे है पहले ३८ वी है फिर ३७ वी है । तथा सित्तरीमे सज्ञीके नामकर्मके दस सत्त्वस्थान कहे है किन्तु पं० स० में ११ कहे है । इसलिए सितरी मे अट्ठ दसग पाठ है । प० स० में अट्ठट्ठमेयार' पाठ है ।

ऊपर यह लिखना हम भूल गये कि नामकर्मके सत्वस्थानको लेकर दोनो ग्रन्थोमें मतभेद है—सित्तरीके अनुसार उनकी सख्या १२ है—९३, ९२, ८९, ८८, ८६, ८०, ७९, ७८, ७६ ७५,'९, और ८ प्रकृतिक । और प० स० मे ९३, ९२, ९१, ९०, ८८, ८४, ८२, ८०, ७९, ७८, ७७, १० और ९ प्रकृतिक ।[1]

जीव समासोमें स्थानोका कथन करनेके पश्चात् गुणस्थानमें बन्धादिस्थानोका कथन है । किन्तु दर्शनावरण कर्मकी प्रकृतियोके उदयको लेकर मतभेद होनेके कारण उस सम्बन्धी गाथाएँ पचसग्रहमें नही हैं ।

आगे सितरीकी ४२ से ४५ तक गाथाएँ लगातार है । सित्तरीमें कुछ अन्तर्भाष्यगाथाएँ है उसमें से भी एक दो गाथा प० स० में मिलती है । उक्त गाथाओके व्याख्यानरूप मोहनीयके उदय स्थानोका वर्णन पचस०में बहुत विस्तारसे किया गया है ।

---

१. कर्म प्रकृतिमे नाम कर्मके सत्त्व स्थान इस प्रकार बताये हैं—
'तिदुगसय छप्पचगतिगनउइ नउइ इगुण नउइ य । चउ तिगदुगाही गासी नव अठ्य-नामठाणाह ।।१४।।१०३, १०२, ९६ ९५, ९३, ९०, ८९, ८४, ८३, ८२ ९, और ८ । बन्धन सघातकी अलग गणना करनेसे १० की सख्या बढ गइ है । सि० चू मे अण्णे करके इस मतको अमान्य किया है ।

फिर गुणस्थानोमें मोहनीयके सत्त्व स्थानोका कथन है, और उसके लिए सित्तरीकी गाथा ४८ पाई जाती है। इसमें भी मतभेद है। सित्तरीमें 'तिगमिस्से' लिखकर मिश्रगुण स्थानमें मोहनीय कर्मके तीन सत्त्वस्थान वतलाये है, २८, २७ और २४ प्रकृतिक। किन्तु पचसग्रहमें 'युगमिस्से' पाठ रखकर मिश्रमें ही दो सत्त्वस्थान वतलाये है २८ और २४ प्रकृतिक। यह सैद्धान्तिक मतभेद को सूचन करता है।

आगे गुणस्थानोमें नाम कर्मके वन्धादि स्थानोका कथन करनेके लिये सि० की गा० ४९-५० आती है। उनका विवेचन किया गया है।

आगे गति आदिमें नाम कर्मके वन्धादि स्थानोका कथन करनेके लिए प० स० में सित०की गा० ५१ आती है। फिर इन्द्रिय मार्गणामें कथन करनेके लिये सि० की ५२ वी गा० पं० सं० में आती है। सितरीमें आगेकी मार्गणाओंमें कथन नही किया है किन्तु पचसग्रहमें किया है। उसके पश्चात् सि० की ५३ वी गाथा आती है जो उपसहार रूप है। आगे उदय और उदीरणाके स्वामियो में अन्तर वतलाने-के लिये सित्तरीकी ५४, ५५, आई हैं। फिर गुणस्थानको आधार वनाकर कौन किन कर्मप्रकृतियोका वन्ध करता है, इसका कथन सि० की गा० ५६, ५७, ५८, ५९, ६० के द्वारा प० स० में किया गया है।

आगे सि०की ६१ वी आदि गाथाओसे गतियोमें कर्मप्रकृतियोकी सत्ता-असत्ता का विशेष कथन किया गया है। ६१से आगे ७२ पर्यन्त सब गाथाएँ प०स० में वर्तमान है और उनके साथ ही वह सम्पूर्ण होता है।

इस तरह इस अधिकारमें सित्तरीकी कतिपय गाथाओके सिवाय शेष सभी गाथाएँ अन्तर्निहित है जिनमेंसे कुछमें पाठभेद भी पाया जाता है।

पंचसग्रहके उक्त परिशीलनसे तो यही प्रकट होता है कि उसमें ग्रन्थकारने षट्खण्डागम, कसायपाहुड, कर्मस्तव, शतक और सितरी इन पाँच ग्रन्थोका सग्रह किया है। उनमेंसे अन्तके तीन ग्रन्थोको एक तरह से पूरी तरह आत्मसात्कर लिया है, शेष दोका आवश्यकतानुसार साहाय्य लिया है।

किन्तु प० परमानन्दजीने अपने 'श्वेताम्बर कर्म साहित्य और दि० पचसग्रह' नामक दूसरे लेखमें उक्त कथनसे बिल्कुल विपरीत विचार व्यक्त किया था। उनका कहना है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी नाम के जो प्रकरण पाये जाते है वे उक्त पचसग्रहसे संकलित किये है। इन तीनो ग्रन्थोंमें सकलित गाथाएँ पचसग्रहकी मूलभूत गाथाएँ और शेष व्याख्या रूप गाथाएँ भाष्य गाथाएँ है। किसीने मूलभूत गाथाओको शतकादि नामोसे पृथक् सकलित कर लिया है।

जो कुछ स्थिति है उसमें पंडितजीके उक्त कथनको सहसा भ्रान्त तो नही

कहा जा सकता, क्योंकि न तो पचसग्रहके ही कर्ताके सम्बन्धमें कुछ ज्ञात है और न कर्मस्तव, और सित्तरी के ही कर्ताका पता है। हाँ, शतकको चूर्णिकारने। शतक अथवा बन्धशतकका निर्देश मिलता है और वह शतक या बन्ध कृति, अवश्य बतलाया है और कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिमें भीशिवशर्मसूरिकी शतक वही माना जाता है जिसकी ९४ गाथाएँ पचसग्रहके शतक नामक चतुर्थ अधिकारमे सगृहीत है साथ ही कमप्रकृतिके साथ शतक की तुलना करने पर वे दोनो एक ही आचार्यकी कृति नही प्रतीत होते और शतक एक सग्रह ग्रन्थ जैसा प्रतीत होता है। दोनो पक्षोके अनुकूल और प्रतिकूल बातोके होते हुए भी एक बातको नही भुलाया जा सकता कि पचसंग्रहके चतुर्थ और पचम अधिकारका नाम शतक और सप्ततिका है। जिस प्रकरणमें सौ या उसके-आसपास गाथा सख्या हो उसे शतक और जिसमें सत्तर या उसके आस पास गाथा सख्या हो उसे सित्तरी कहा जाता है। किन्तु प स०के चतुर्थ और पचम अधिकारोकी गाथा सख्या पाँच-पाँच सौ से भी कुछ अधिक है। ऐसी स्थितिमे समान सख्या होते हुए भी एक अधिकार का नाम शतक और दूसरेका नाम सित्तरी रखनेका कारण समझमें नही आता। उसके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि चतुर्थ अधिकारकी मूल गाथाओका प्रमाण सौ के लगभग और पाचवें अधिकारकी मूल गाथाओका परिमाण सत्तरके लगभग होनेसे उन अधिकारोको शतक और सित्तरी नाम दिया गया। किन्तु इससे तो यही प्रमाणित होता है कि उक्त दोनो अधिकारोके मूल शतक और सित्तरी नामक प्रकरण है अतः मूल विवाद इस बात पर रह जाता है कि वे दोनो प्रकरण भी उन पर भाष्य रचने वाले पचसग्रहकारकी ही कृति है या किसी दूसरे की कृति है ? इस विवादके समाधानके लिये हमें उक्त प्रकरणोको ही देखना होगा।

प० सं० के प्रथम द्वितीय और तृतीय अधिकारके आदिमें ग्रन्थकारने केवल एक गाथाके द्वारा मगलपूर्वक विपयवर्णनकी प्रतिज्ञा करके प्रकृत विपयका प्रतिपादन प्रारभ कर दिया है और उन अधिकारोके अन्तमें कोई उपसहार तक नही किया। किन्तु चौथे अधिकारके आदिमें तीन गाथाएँ मगलरूपमें है। प्रथम गाथामें श्रुतज्ञानमे पद कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है और तीसरी गाथामें जो शतककी प्रथम गाथा है दृष्टिवादमे कुछ गाथाओको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। पहले अधिकारोका कथन दृष्टिवादके आधार पर नही किया गया और चौथेका कथन दृष्टिवादके आधार पर किया गया ऐसा भेद क्यो ? इस अधिकारके अन्तकी तीन गाथाओमें ग्रन्थकारने अपने कथनको कर्मप्रवादरूपी श्रुतसमुद्रका निस्यन्द कहा है और लिखा है मुझ अल्पमतिने यह बन्ध विधान सक्षेपसे रचा, विशेष निपुण उसे पूरा करके कथन करें।' अपनी कृतिके एक अवान्तर अधिकारके अन्तमें कोई ग्रन्थकार ऐसी बात नही कहता। यही बात पचम अधिकारमें भी पाई जाती है। किन्तु उसके

अन्तिम अधिकार होनेसे इस प्रकारका उपसहार उचित भी हो सकता है किन्तु बीचके केवल एक चतुर्थ अधिकारके अन्तमें इस प्रकारकी बात कहना, जो ग्रन्थकी समाप्ति के लिये ही उपयुक्त हो सकती है, इस बातको सूचित करती है कि शतक नामके किसी स्वतत्र प्रकरणका सग्रह इस अधिकारमें किया गया है उसीके कारण अधिकारका नाम 'शतक' रखा गया है । और यही बात सित्तरीके सबधमें समझनी चाहिये । ऐसी स्थितिमे ये दोनो प्रकरण उस पचसग्रहकारके नही जान पडते जिसने पचसग्रहके आदिके तीन अध्याय रचे थे, क्योकि उनमें न कही दृष्टि-वादका उल्लेख है और न अपनेको मन्दमति बतलाकर उसके सशोधनादिकी बात कही गई है ।

प० फूलचन्द्रजी सिद्धातशास्त्रीने श्वे० सितरीके अपने अनुवादकी भूमिकामें[1] एक बात कही है कि शतक और सित्तरी की अन्तिम गाथाओमें कुछ साम्य प्रतीत होता है । यथा—

वोच्छ पुण सखेव णीसद दिट्ठीवादस्स ॥१॥ सित्त०
कम्मप्पवायसुयसागरस्स णिस्सदमेत्ताओ ॥१०४॥ शतक

× × ×

जो जत्थ अपडिपुण्णो अत्थो अप्पागमेण बद्धोत्ति ।
त खमिऊण बहुसुया पूरेऊण परिकहतु ॥७२॥—सप्त०

बधविहाण समासो रइओ अप्पसुयमदमइणावि ।
त बधमोक्खणिउणा पूरेऊण परिकहेंति ॥१०५॥—शतक

प०जी का कहना है कि 'इनमें 'णीसद' अप्पणम, अप्पसुयमदमइ, 'पूरेऊण परिकहतु' ये पद ध्यान देने योग्य है । ऐसा साम्य उन्ही ग्रन्थोमें देखनेको मिलता है जो या तो एककर्तृक हों या एक दूसरेके आधारसे लिखे गये हो । बहुत सभव है कि शतक और सप्ततिकाके कर्ता एक हो' ।

उक्त साम्यके आधार पर पण्डितजीकी उक्त सभावना अनुचित तो नही कही जा सकती । किंतु शतकको कर्मप्रकृतिकारकी कृति माना जाता है और कर्म-प्रकृति तथा सित्तरीके कथनोमे मतभेद है । अत कर्मप्रकृतिकारकी कृति तो सित्तरी नही हो सकती । यदि शतक कर्मप्रकृतिकारकी कृति नही है जैसा कि सादेह प्रकट किया गया है तो शतक और सित्तरी एक व्यक्ति की भी कृति हो सकते है, क्योकि दोनोमें कोई मतभेद दृष्टिगोचर नही हुआ । किंतु इस सम्बन्धमें विशेष प्रमाणोके अभावमें कोई निर्णय कर सकना शक्य नही है ।

---

१. पृ० १० ।

पचगंग्रहकी स्थिति पर विचार करनेके लिए एक वात और भी उल्लेखनीय है। और यह है उगमे पुनरुक्त गाथाओका होना और उनकी गंख्या भी कम नही है। इग दृष्टिसे शतक नामक चौथा अधिकार उल्लेखनीय है जिसकी गाथाएँ तीसरे और पाँचवे अधिकारमें पाई जाती हैं। इस पुनरुक्तिका कारण है कि जो कथन चौथे में आया है वह तीसरे और पाँचवेंमें भी आया है। और उसके आनेका कारण यह है कि कर्मस्तव और बन्धशतकमें तथा शतक और सित्तरीमें कुछ कथन समान है।

कर्मस्तवकी गा० १३ आदिमे वन्धव्युच्छित्तिका कथन है और उधर शतककी गाथा ४६में वन्धव्युच्छित्तिका कथन है, उसको आधार बनाकर पंचसग्रहकारने तीसरे अधिकारकी वन्धव्युच्छित्तिवाली गाथाएँ चौथे अधिकारमें भी लाकर रख दी है।

इधर शतककी गा० ४२-४३ में कर्मोके वन्धस्थानोका कथन है। उसके भाष्यरूप में पचसग्रहकारने वहुत सा कथन किया है। उधर सप्ततिका २४में भी यही कथन होनेसे पचसंग्रहकारने उनके व्याख्या रूपसे चौथे अधिकारकी गाथा पाँचवे अधिकारमें लाकर रख दी है। इसी तरह दर्शनावरण कर्मके वन्धादिका कथन पाँचवे अधिकार प्रारभमें भी किया है। और आगे भी किया है। इससे उसमें भी 'पुनरुक्तता' आ गई है।

इससे प्रथम तो इस वातका समर्थन होता है कि कर्मस्तव, शतक और सित्तरी पचसग्रहकारकी कृति नही है किंतु उन्हें उन्होने अपनाकर उनपर अपने भाष्यकी रचना की है। यदि वे एक ही व्यक्तिकी कृति होते तो उनमें पिष्ट-पेषण न होता। दूसरे, उन्होने उन्हें पृथक्-पृथक् प्रकरणके रूपमें रचा होना चाहिए। इसीसे एक प्रकरणकी गाथाओको दूसरे प्रकरणमें रखते हुए उन्हें सकोच नही हुआ और इसीसे समग्र ग्रन्थमें न ग्रन्थका नाम मिलता है और न एक अखण्ड ग्रन्थके रूपमें ही उसकी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। उन्होने स्वय अथवा पीछेसे किसीने उनको सम्बद्ध करके पचसग्रह नाम दे दिया है। जैसे सिद्धात ग्रन्थ षट्खण्डागमको भूतवलिने कोई सामूहिक नाम नही दिया और धवला-कार वीरसेनस्वामीने उसके खण्डोके नामसे ही उसका निर्देश किया और पीछेसे छै खण्ड होनेके कारण षट्खण्डागम नाम दे दिया गया। वैसे ही उक्त पाँचो प्रकरण प्रारभमें भिन्न २ थे। पीछे उन्हें पचसग्रह नाम दे दिया गया जान पडता है। इसीसे वीरसेनस्वामीने 'जीवसमास' प्रकरणका ही निर्देश किया है, सामूहिक नाम पचसग्रहका निर्देश पूरा नही किया। उसपर से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनस्वामीके पश्चात् ही किसीने उसे पचसग्रह नाम दिया होगा।

रचनाकाल

१. पं० आशाधरजी ने अपनी मूलाराधना दर्पण नामक टीका में भगवती आराधना की गाथा २१२४ की टीकामें 'तथा चोक्तं पंचसंग्रहे' करके छै गाथाएँ उद्धृत की है। ये छहों गाथाएँ पंचसंग्रह के तीसरे अधिकार के अन्त में इसी क्रमसे व्यवस्थित है और उनकी क्रम संख्या ६०-६५ है। पं० आशाधर जी विक्रमकी तेरहवी शताब्दी में हुए है। अतः यह निश्चित है कि उससे पहले पंचसंग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२. आचार्य अमितगति ने वि० सं० १०७२ में अपना संस्कृत पंचसंग्रह रचकर पूर्ण किया था। यह संस्कृत पं० सं० उक्त प्राकृत पंचसंग्रहको ही सामने रखकर रचा गया है। अतः यह निश्चित है कि वि० सं० १०७३से पूर्व उसकी रचना हो चुकी थी।

३. आचार्य वीरसेनने अपनी धवला टीकामें जो बहुत सी गाथाएँ पंचसंग्रह-से उद्धृत की है वे गाथाएँ धवलामें जिस क्रमसे उद्धृत है प्रायः उसी क्रमसे पं० सं०में पाई जाती है। अधिकांश गाथाएँ पं० सं०के अन्तर्गत जीव समास नामक प्रकरण की है। यद्यपि वीरसेनने 'पंचसंग्रह'का नामोल्लेख नही किया है किन्तु एक स्थान पर जीवसमासका उल्लेख किया है। अतः यह जीवसमास पंच-संग्रहके अन्तर्गत जीव समास ही होना चाहिए। तथा कुछ गाथाएँ पं० सं०के चौथे शतक नामक अधिकार की है। शतक नामक अधिकारमें एक शतक नामक प्रकरण संगृहीत है यह हम पीछे बतला आये है। ऐसी स्थितिमें यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि गाथाएँ उस शतक प्रकरण से ही तो सीधे उद्धृत नही की गई। यद्यपि वे गाथाएँ उस शतकमे भी है किन्तु उनमें से एक गाथा ऐसी भी है जो उस शतकमें नही है किन्तु पं० सं०के अन्तर्गत शतकमें है। वे तीन गाथाएँ इस प्रकार है—

> चदुपच्चइगो बंधो पढमे उवरिमतिए तिपच्चइगो।
> मिस्सग विदिओ उवरिमदुग च सेसेगदेसम्हि ॥
> उवरिल्लपचए पुण दुपच्चओ जोग पच्चओ तिण्ण।
> सामण्ण पच्चया खलु अट्ठण्ण होंति कम्माणं ॥
> पणवण्णा इगवण्णा तिदाल छादाल सत्ततीसा य।
> चदुवीसदु बावीसा सोलस एगूण जाव णव सत्त ॥
>
> —(षट्खं० पु० ८, पृ० २४)

इनमेंसे शुरुकी दो गाथाएँ शतक प्रकरणमें भी है। किन्तु पं०सं०में ये तीनो गाथाएँ उसके चौथे अधिकारमें इसी क्रमसे वर्तमान है और उनकी क्रमसख्या ७८, ७९, ८० है। क्वचित् पाठ भेद है। यथा—'उवरिमतिए' के स्थानमें 'अण-

तरतिए' 'मिसेगदेगम्हि' के स्थान 'देसेक्कदेसम्हि' और 'इरवण्णा' के स्थान में 'पण्णासा'। किन्तु उनमें आशयभेद नही है। अत ये गाथाएँ पचसग्रहसे ही उद्धृत की गई होनी चाहिए।

इसी तरह धवलामे एक और गाथा इस प्रकार उद्धृत है—

एयक्खेत्तोगाढंसव्वपदेसेहि कम्मणो जोग्गं।
बधइ जहुत्तहेदू सादियमहणादिय वा वि ॥

(षट्खं० पु० १२, पृ० २७७)

यद्यपि यह गाथा शतक प्रकरणमे भी है किन्तु उसमे 'एयपदेसोगाढं' पाठ है। और प० स० में एयक्खेत्तोगाढ पाठ (गाथा स० ४९४) है। अत यह भी उसीसे उद्धृत की गयी होनी चाहिए।

उक्त उद्धरणो से प्रकट है कि धवलासे पहले पचसग्रहकी रचना हो चुकी थी। चूँकि धवला विक्रमकी नौवी शताब्दीमें रचकर पूर्ण हुई थी। अतः पचसग्रह उससे पहले रचा जा चुका था।

४ शतक गाथा ९३ में पाठ है—'आउक्कस्स पदेसस्स पच मोहस्स सत्त-ठाणाणि'। और प० स० के शतकाधिकारमें पाठ है—'आउक्कस्स पदेसस्स छच्चं मोहस्स णव दु ठाणाणि'। शतकचूर्णिमे 'अन्ने पढति'[1] करके पञ्चसग्रहोक्त पाठ-भेद को उद्धृत किया है। अत यह सिद्ध है कि चूर्णिकार पञ्चसंग्रह से परिचित थे। इतना ही नही, श० चू०में पञ्चसग्रह से गाथाएँ भी उद्धृत की गई है।

गुणस्थानो के वर्णन में (श० गा० ९) नीचे लिखी गाथा उद्धृत है—

सद्दहणासद्दहण जस्स जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छोति णादव्वो ॥

यह पचसग्रह के प्रथम अधिकारकी १६९वी गाथा है।

यदि ये गाथाएँ अन्यत्रसे सगृहीत की गयी हो तब भी उक्त उद्धरणसे तो यह स्पष्ट ही है कि चूर्णिकार के सम्मुख पचसग्रहकारका मत था।

मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिरसे प्रकाशित चूर्णिसहित सित्तरीकी प्रस्तावनामें लिखा है—'परन्तु शतक लघुचूर्णिका कर्ता श्रीचन्द्रर्षिमहत्तर छे एविपेनो उल्लेख खभात श्रीशान्तिनाथजी ताडपत्रीय भडारनी प्रतिना अन्तमा मलता नीचेना उल्लेखना आधारे जाणी शकाय छे—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य 'शतकस्य ग्रन्थस्य'। उसमें उस पत्रका फोटु भी दिया है।

---

१ 'अन्ने पढति 'आउक्कस्स पदेसस्स छ त्ति'। , अन्ने पढति—'मोहस्स णव उ ठाणाणि'। श० चू० गा० ९३।

अत जब शतकचूर्णि चन्द्रर्षि महत्तर रचित है तो स्पष्ट है कि उनके द्वारा रचित पञ्चसग्रहसे प्रकृत पचसग्रह प्राचीन है और सम्भवतया उसीसे उन्हें शतकादि ग्रन्थोके आधारपर पचसंग्रह रचने की प्रेरणा मिली होगी। यद्यपि चन्द्रर्षि का भी समय सुनिश्चित नही है फिर भी उसकी स्थिति चिन्त्य है।

५ अकलङ्क देवके तत्त्वार्थवार्तिकमे नीचे लिखी दो गाथाएँ उद्धृत है—

सव्वट्ठिदीण मुक्कस्सगो दु उक्कस्स सकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो आउगतिगवज्ज सेसाण ॥—(त० वा०, पृ० ५०७)
शुभपगदीण विसोधिए तिव्वमसुहाण सकिलेसेण।
विपरीदे दु जहण्णो अणुभागो सव्वपगदीण ॥—(त० वा० पृ० ५०८)

ये दोनो गाथाएँ पंचसग्रहके चतुर्थ शतक नामक अधिकारकी क्रमश· ४१९ और ४४५वी गाथाएँ है। किन्तु ये दोनो गाथाए शतक प्रकरणमें भी वर्तमान है और उनका नम्बर क्रमश ५७ और ६८ है। अत यह कहा जा सकता है कि ये गाथाएँ शतक प्रकरण से न लेकर पञ्चसग्रहसे ही ली गई है इसमें क्या प्रमाण है? इस सन्देहको दूर करनेके लिए पचसग्रह और तत्त्वार्थवार्तिक मे निर्दिष्ट सैद्धान्तिक चर्चामें उतरना होगा।

शतक प्रकरणकी ७वी गाथामें सज्ञी पर्याप्तिकके पन्द्रह योग वतलाये है। शतक चूर्णिमें उसका खुलासा करते हुए लिखा है कि[1]—'एक अर्थात् सज्ञी पर्याप्तिके पन्द्रह योग होते हैं—मनोयोग ४, बचनयोग ४, औदारिक, वैक्रियिक और आहारक काययोग तो प्रसिद्ध ही है। औदारिक मिश्रकाय योग और कार्मणकाययोग सयोग केवलीके समुद्धातकालमें होते है। वैक्रियिक मिश्रकाययोग और आहारकमिश्रकाय योग। विक्रिया करनेवाले तथा अहारक शरीर उत्पन्न करनेवालोके होता है और वे पर्याप्तिक ही होते है। इस तरह पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियक मिश्र भी माननेसे सज्ञी - पर्याप्तिकके पन्द्रह योग शतकमें वतलाये है। किन्तु पचसग्रहगत उक्त शतकवाली गाथामें पण्णरसकी जगह 'चउदस' पाठ है जो बतलाता है कि सज्ञी पर्याप्तिकके चौदह योग होते है, वैक्रियिक मिश्र काययोग नही होता। प० स० की भाष्य[2]

---

१ एक्कम्मि सन्निपज्जत्तगम्मि पन्नरस वि योगा भवन्ति। मणजोग (गा) वइजोग (गा) '४' ओरालिय वेउव्विय अहारक कायजोगा पसिद्धा, ओरालियमिस्सकायजोगो कम्मइग कायजोगो य सयोगकेवलिं पडुच्च समुग्घायकाले लब्भन्ति, वेउव्विय मिस्सकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो य वेउब्विय आहारगे विउव्वन्ते आहारयन्ते त पडुच्च, ते पज्जत्तगा चेव।'—श० चू०, पृ० ६।

१ सन्नि अपज्जत्तेसु वेउव्वियमिस्स काय जोयो दु।
सण्णीसु पुण्णेसु य चउदस जोया मुणेयव्वा ॥४२॥—स० स० ४।

गाथामें उसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि संज्ञी अपर्याप्तकों में वैक्रियिक मिश्र काय योग होता है और संज्ञी पर्याप्तकोंमें चौदह योग होते हैं।

इस तरह दोनोंमें संज्ञी पर्याप्तके वैक्रियिक मिश्रयोगके होने और न होनेको लेकर मतभेद है। किंतु लक्ष्मणसुत डड्डा और अमित गति[1]आचार्यने अपने प० स० में संज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह ही योग बतलाये हैं। मुझे इसका कारण लक्ष्मणसुत डड्ढापर [2]तत्त्वार्थवार्तिकका प्रभाव प्रतीत होता है। अमितगतिने तो उन्हीका अनुसरण किया है।

अकलंक देवने स्वामिभेदसे शरीरोंमें भेद करते हुए बतलाया है कि औदारिक तिर्यञ्च मनुष्योंके होता है, वैक्रियिक देव नारकियोंके होता है और किन्ही तैजस्कायिक, वायुकायिक, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च तथा मनुष्यो के होता है। अकलक देवने अपने इस कथनपर षट्खण्डागम के जीवस्थानका प्रमाण देकर यह आपत्ति शकाकारके द्वारा उठाई है कि जीवस्थान मे तो काययोग के स्वामियोका कथन करते हुए औदारिक काययोग और औदारिक मिश्रकाययोग तिर्यञ्च मनुष्योंके तथा वैक्रियिक काययोग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव नारकियोंके कहा है यहाँ आप तिर्यञ्च मनुष्योंके भी कहते है। यह बात तो आगम विरुद्ध है। इसका उत्तर देते हुए अकलंकदेवने कहा कि—'यह कथन अन्यत्र मिलता है व्याख्या प्रज्ञप्तिदण्डकोंमे शरीरके भेदोका कथन करते हुए वायुके औदारिक वैक्रियिक, तैजस और कार्मण चार शरीर कहे है। और मनुष्यो के पांच।' मनुष्योंके पाचो शरीर माननेसे ही सज्ञी पर्याप्तकके पन्द्रह योग हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

डड्ढाने प्राकृत पच सग्रहका सस्कृत अनुवाद करते हुए भी पचसग्रहगत पाठको छोडकर मूल शतक प्रकरणका पाठ क्यो रखा, यह अकलक देवके तत्त्वार्थवार्तिकके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाता है उन्हे अकलंकदेववाली बात जँची।

---

१. द्वौ चतुर्षु नवस्वेक समस्ता. सति सज्ञिनि।
जीवस्थानेषु विज्ञेया योगा. योगविशारदै. ॥१०॥
तदित्थम् मज्ञिनि पर्याप्ते पच दश योगा.।— स० प० स०, पृ० ८२।

२. 'स्वामिभेदादन्यत्वम्—औदारिक तिर्यङ् मनुष्याणाम्, वैक्रियिकी। देवनारकाणाम्, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतिर्यङ मनुष्याणाञ्च केषाञ्चित्। अत्राह चोदक —जीवस्थाने योगभङ्गे सप्तविधकाययोगस्वामिप्ररूपणाया औदारिकमिश्रकाययोग औदारिकमिश्रकाययोगश्च तिर्यङ्मनुष्याणा वैक्रियककयोगो वैक्रियिक मिश्रकाययोगश्च देवनाराकाणाम्-उक्त, इह तिर्यङ मनुष्याणामपीत्युच्यते। तदिदमार्षविरुद्धमिति। अत्रोच्यते—न अन्यत्रोपदेशात्। व्याख्याप्रज्ञप्तिदण्डकेषु शरीरभगे वायोरौदारिकवैक्रियकतैजस कार्मणानि चत्वारि शरीराण्युक्तानि, मनुष्याणा पच।

—त वा०, पृ १५३, १५४।

डड्ढा अकलक देवके भक्त ज्ञात होते हैं उन्होने अपने पच सग्रहके अन्तमें अकलक देवके लघीयस्त्रय से एक कारिका उद्धृत की है। उन्हें अलकलक देवका कथन ही उचित प्रतीत हुआ। डड्ढाका ही अनुसरण अमितगतिने किया। और पञ्चसंग्रहकारके सामने अकलकदेवका वार्तिक नही था क्योकि पञ्चसग्रहकी रचना वार्तिक से पहले हो चुकी थी। अत. उन्होने 'चउदस' पाठ रखना ही उचित समझा क्योंकि जीवट्ठाण के अनुसार वही पाठ उपयुक्त था।

अत॰ पचसग्रहकार अकलक देवके पूर्ववर्ती होने चाहिए। अकलकदेव विक्रम की आठवी शताब्दीसे पश्चात्के विद्वान् नही हैं। अत पञ्चसग्रहकी रचना विक्रमकी आठवी शताब्दीसे पूर्व होनी चाहिए।

चन्द्रर्षि महत्तरकृत पच सग्रह

दिगम्बरीय प्राकृत पञ्चसग्रहकी तरह श्वेताम्बर परम्परामें भी एक [1]पच-स ग्रह नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसपर पञ्चसग्रहकारकी एक स्वोपज्ञ सस्कृत वृत्ति भी है। तथा आचार्य मलयगिरिकृत सस्कृत टीका है। यह भी कर्म प्रकृति आदि की तरह प्राकृत गाथावद्ध है।

उसकी प्रथम गाथामें वीर प्रभुको नमस्कार करते हुए पचसग्रहको कहनेका प्रतिज्ञा की गई है और उसे महार्थ तथा यथार्थ कहा है। गाथा[2] दोमें पचसग्रह नामकी सार्थकता बतलाते हुए कहा है कि चूँकि इस ग्रन्थमें शतक आदि पाँच ग्रन्थोका यथायोग्य न्यास किया गया है अथवा इसके पाँच द्वार है इसलिए पचसग्रह नाम सार्थक है।

शतक आदिसे कौनसे पाँच ग्रन्थ ग्रन्थकारको अभीष्ट थे वह उन्होने स्वय प्रकट नही किया। टीकाकार मलयगिरि ने पचसग्रह शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'शतक',सप्ततिका, कषाय प्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थोका अथवा[3] योग उपयोग विषयक मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य बन्ध हेतु और बन्धविधि, इन पाँच अर्थाधिकारोका जिस ग्रन्थमें सग्रह है वह पचसग्रह है।

शतक, सप्ततिका, कषाय प्राभृतका परिचय तो पीछे कराया जा चुका है।

---

१. स्वोपज्ञवृत्ति तथा मलयगिरिकी टीकाके साथ पञ्चस ग्रह मुक्तावाई ज्ञानमन्दिर डभोई (अहमदाबाद) से प्रकाशित हो चुका है।

२. 'सयगाइ पञ्च गथा जहारिह जेण एत्थ सखिता। दाराणि पञ्च अहवा तेण जहत्था-भिहाणमिण ॥२॥'—पं० सं०।

३ 'पञ्चाना शतक-सप्ततिका-कषायप्राभृत-सत्कर्म-कर्मप्रकृतिलक्षणाना ग्रन्थाना अथवा पञ्चानामर्थाधिकाराणा योगोपयोगविषयमार्गणा—बधक वन्धव्य-बन्धहेतु-बन्धविधि-लक्षणाना सग्रह पञ्चसग्रह।'—प० सं० टी०, पृ० ३१।

किन्तु सत्कर्म ग्रन्थसे हम परिचित नही हो सके। मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकामें उससे एक उद्धरण[1] भी दिया है। सम्भवतया मलयगिरिका यह उद्धरण सप्ततिका चूर्णिका ऋणी है क्योकि उसमे यही उद्धरण[2] 'संतकम्मे भणियं' कहकर दिया गया है। 'सतकम्म'का संस्कृत रूप सत्कर्म होता है।

षट्खण्डागमका परिचय कराते हुए सतकम्मपाहुड या सत्कर्मप्राभृतके विषयमें प्रकाश डाला गया है। सत्कर्म उससे भिन्न होना चाहिए क्योकि इसके उक्त उद्धरणमें बतलाया है कि क्षपक श्रेणि और क्षीण कषाय गुणस्थानमें निद्रा और प्रचलाका उदय नही होता। श्वेताम्बर[3] कर्म साहित्यमे इस विषयमें दो मत पाये जाते है। कर्मप्रकृति, सप्ततिका और सत्कर्मके अनुसार उक्त गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय नही होता। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव तथा प्राकृत पचसग्रहके अनुसार होता है। दिगम्बर कर्म साहित्य में यह मतभेद नही पाया जाता। उसमें क्षीणकषायमे निद्रा प्रचलाका उदय माना है। अत दिगम्बरीय सतकम्मपाहुडसे श्वेताम्बरी 'सन्तकम्म' भिन्न होना चाहिए।

तीसरी गाथामें ग्रन्थकारने ग्रन्थके योग उपयोग मार्गणा, बन्धक, बन्धव्य, बन्धहेतु और बन्धविधि इन पांच द्वारोका निर्देश किया है और तदनुसार ही आगे कथन किया है। अर्थात् प्रथम द्वारमें योग और उपयोगका कथन गुणस्थान और मार्गणा स्थानोमें किया है। जैसा कि सक्षेप रूपमें शतकके प्रारम्भमें पाया जाता है। दूसरे द्वार मे कर्मका बन्ध करनेवाले बन्धक जीवोका कथन है। प्रथम दो गाथाओके द्वारा प्रश्नोत्तर रूपमें जीवका सामान्य कथन है—जीव किसे कहते है? औपशमिक आदि भावोसे सयुक्त द्रव्यको। जीव किसका स्वामी है? अपने स्वरूपका। किसने उन्हे बनाया है? किसीने भी नही बनाया। कहाँ रहते है? शरीरमें अथवा लोकमें रहते है। कबतक रहते है? सर्वदा रहते है। कितने भावोसे युक्त होते है? आगे सतपद प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाग, भाव और अल्पबहुत्व इन नौ अनुयोगोके द्वारा जीवका कथन है।

तीसरे बन्धद्वारमें आठो कर्मों और उनके उत्तर भेदोका कथन है। आठो कर्मोकी प्रकृतियोको बतलानेके पश्चात् ध्रुवबन्धी, अध्रुवबन्धी, ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, सर्वघाती, देशघाती, शुभ, अशुभ, तथा क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, पुद्गलविपाकी प्रकृतियोको बतलाया है। इस तरह कर्मप्रकृतियोका विविध रूपसे कथन तीसरे द्वारमें है।

---

१. 'तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे—'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज'।
—सप्त० टी०, पृ० १५८।

२ स० चू०, पृ० ७।

३. इस चर्चा के लिए देखो—सि० चू० पृ० ७की टिप्पणी।

चौथे वन्धहेतु द्वारमें कर्मवन्धके कारण मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग तथा उनके भेदोका कथन भगपूर्वक विस्तारसे किया है। चूँकि परीपह भी कर्मोके उदयसे होती हैं इसलिए अन्तमें परीपहोका भी कथन तीन गाथाओसे किया है। स्त्रोपज्ञ वृत्तिमें नग्नताका कोई अर्थ सम्प्रदायपरक नही किया है जैसा कि मलयगिरि ने अपनी टीका में किया है।

पाँचवें वन्वविधि द्वारमें वन्वविधिके साथ ही उदय, उदीरणा और सत्ताका भी कथन किया है क्योकि वद्धकर्मका उदय होता है, और उदयप्राप्त कर्ममें अनुदय प्राप्त कर्मका प्रक्षेपण करनेको उदीरणा कहते है। और जिस कर्मका उदय अथवा उदीरणा नही होते वह सत्तामें रहता है। अत वन्वके साथ उदय उदीरणा और सत्ताका कथन किया गया है। अत ये द्वार वडा है इसमें वन्वके चारो भेदोका कथन होनेके साथ ही साथ उदय उदीरणा और सत्ताका भी कथन है। इस तरह पचमग्रहके पाँचो द्वार समाप्त हो जाते है। और उनके साथ ही ग्रन्थका पूर्वार्ध हो जाता है।

उत्तरार्धमें कर्मप्रकृतिमें कथित आठो करणोका स्वरूप प्रतिपादित है। इसके प्रारम्भमें पञ्चसंग्रहकारने श्रुतधरोको नमस्कार किया है। किन्तु उन्होंने यह नही कहा कि मैं कर्मप्रकृतिका कथन करता हूँ। टीकाकार मलयगिरिने प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें कहा है—'अव[1] कर्मप्रकृति सग्रहको कहना चाहिए। कर्मप्रकृति महान् शास्त्रान्तर है। उसे हमारे जैसे अल्पवुद्धि केवल अपनी वुद्धिके प्रभावसे सग्रहीत करनेमें असमर्थ हैं किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृत आदि शास्त्रोके पारगामी विशिष्ट श्रुतधरोके उपदेशकी परम्पराके साहाय्यसे कर सकते है। इसीसे ग्रन्थकारने श्रुतधरोको नमस्कार किया है।

इसका विषय परिचय करानेकी आवश्यकता नही है क्योकि इसकी रचना शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति तथा उसकी चूर्णिको सामने रखकर उसीके अनुसार की गयी है। दोनोका मिलान करनेसे यह वात स्पष्ट हो जाती है। अन्तिम भागमें सप्ततिका का सग्रह किया गया है। अत सप्ततिकामें जो विपय प्रतिपादित है वही इसमें भी है।

---

१ 'नमिऊण सुयहराण वोच्छ करणाणि वधणाईणि।
सकमकरण वहुसो अइदेसिय उदय सते ज ॥१॥
मलयटी०—सम्प्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्य। कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरं महद्धि च' ततो न मादृशैरल्पमेधोभि स्वमतिप्रभावत सग्रहीतु शक्यते। किन्तु कर्मप्रकृति प्राभृतादि-शास्त्रार्थ-पारगामि विशिष्टश्रुतधरोदेशपारम्पर्यत' ततोऽवश्य ते नमस्कर-णीया'—प० सं० उत्त०।

ग्रन्थकारके द्वारा निर्दिष्ट ग्रन्थ

पंचसंग्रहकारने अपने मूलग्रन्थमें 'सयगाई पंचगया' करके शतक आदि जि
पाँच ग्रन्थोंका संग्रह करनेकी प्रतिज्ञा की है उनमेंसे शतकके सिवाय शेषोंका ना
नही बतलाया, यह हम ऊपर लिख आये है। फिर भी पंचसंग्रहके पर्यवेक्षणसे य
निश्चित है कि शेष चार ग्रन्थोंमेंसे दो अवश्य ही कर्मप्रकृति और सप्ततिका है
शेष दोका प्रश्न विवादग्रस्त है। मलयगिरिके अनुसार वे कसायपाहुड और सत्क
हैं। कसायपाहुडके सम्बन्धमें कोई ऐसा उल्लेख हमारे देखनेमें नही आया जिस
आधारपर उसको विधि या निषेधपर जोर दिया जा सके। किन्तु सत्कर्मके सम्बन्ध
तो यह कहा जा सकता है कि पंचसंग्रहकारके द्वारा निर्दिष्ट पाँच ग्रन्थोंमें उसक
स्थिति संदिग्ध है क्योंकि पंचसंग्रहकारने उसके मतके सामने [1]कर्मस्तवका मत मान
किया है। तथा एक स्थानपर [2]स्वोपज्ञवृत्तिमें कर्मस्तवका उल्लेख भी किया है
अत पंचसंग्रहकारके द्वारा संगृहीत पाँच ग्रन्थोंमे एक कर्मस्तव अवश्य होन
चाहिए।

सप्ततिका और कर्मस्तवके सिवाय पंचसंग्रहकारने अपनी वृत्तिमें प्रज्ञापन
और जीवसमासका उल्लेख किया है। दोनो ही प्राचीन ग्रन्थ हैं और उनमें प्रकृत
ग्रन्थमें चर्चित कुछ विषय भी पाये जाते हैं। फिर भी पाँच ग्रन्थोंमें उनके होने
की सम्भावना कम है।

पञ्चसंग्रहकारका अन्य कार्मिको तथा सैद्धान्तिकोसे मतभेद

पंचसंग्रहकारने यद्यपि अपने ग्रन्थ पंचसंग्रहमें पाँच ग्रन्थोंका संकलन किया है
तथापि उन्होंने एकान्त रूपसे अनुसरण नही किया। अनेक विषयोंमें उनका अन्य
कार्मिकों तथा सैद्धान्तिकोंसे मतभेद प्रकट है। नीचे उसीको बतलाया जाता है।

१ पंचसंग्रह (गा० १७) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें दस योग बतलाये
है। मलयगिरिने उसकी टीकामें यह शंका उठायी है कि वैक्रिय लब्धि सम्पन्न

---

१. 'कर्मस्तवप्रणेता तु क्षीणमोहेऽपि द्विचरमसमय यावन्निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छति। तथा चोक्त कर्मस्तवे—'निद्दापयलाण तहा खीणदुचरिमंमि उदयवोच्छेओ'। इति। ततस्तन्मतेन निद्राप्रचलयोरपि क्षीणमोहगुणस्थानकद्विचरमसमय यावदुदओ वेदितव्य।'—प० स०, मलयटी०, भा० १, पृ० १९५। 'एतच्चाचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेणोक्तम् सत्कर्मग्रंथाद्यभिप्रायेण तु क्षपकक्षीणमोहाना चतुर्णामेवोदयो न पञ्चानामपि। तदुक्त सत्कर्मग्रन्थे—'निद्दादुगस्स उदओ खीणगखवगे परिच्चज्ज।' —प०, स० मलयटी०, भा० २, पृ० २२७।

२. 'एवमेकादशभङ्गा सप्ततिकाकारमतेन कर्मस्तवकारमतेन पञ्चानामप्युदयो भवति'—प० स०, भा० २, पृ० २७।

पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चो के सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें विक्रिया होती है उसके पहले वैक्रियमिश्र होता है वह यहाँ क्यो नही कहा[१]। उत्तर दिया गया है कि वहाँ विक्रिया नही होती इसलिए अथवा अन्य किसी कारणसे आचार्यने तथा दूसरोने नही माना यह हम नही जानते क्योकि उस प्रकारके सम्प्रदायका अभाव है।'

दिगम्बर परम्परामें भी तीसरे गुणस्थानमें दस योग बतलाये है और उक्त शकित विक्रियाको स्वीकार नही किया है।

२ पञ्चसग्रह (गा० ९) में उपयोगका कथन गुणस्थानोमें करते हुए पहले और दूसरे गुणस्थानमें पाँच ही उपयोग बतलाये है। शतक गा० ४१ में भी पाँच ही उपयोग बतलाये है। यही कार्मिकोका मत है जो दिगम्बर परम्परामें भी मान्य है। किन्तु प्रज्ञापनामें विभङ्गावधिके साथ अवधिदर्शन भी बतलाया है। पचसग्रहकारकी कुछ बातोका विरोध मलयगिरिने स्पष्ट रूपसे अपनी टीकामें किया है। यथा—

३ गाथा ४६ से ५१ तक पचसग्रहकारने जीवोकी कायस्थितिका कथन किया है। यह कायस्थिति प्रज्ञापनामें कथित कायस्थितिसे मेल नही खाती। अत: [१]मलयगिरिने उसे आगम विरुद्ध मान कर अपनी टीकामें प्रज्ञापनाके अनुसार ही कथन किया है। किन्तु यह कायस्थिति [२]षट्खण्डागमके अन्तर्गत जीवट्ठाणके कालानुयोगद्वारमें कथित कायस्थितिसे मेल खाती है।

४ चतुर्थद्वारकी गाथा १८ में पचसग्रहकारने चौइन्द्रियोके तीनो वेद माने है। [३]मलयगिरिने केवल एक नपु सक वेद ही लिखा है। दिगम्बर [४]परम्पराके अनुसार भी चौइन्द्रियपर्यन्तजीव नपु सकवेदी ही होते है।

५ चतुर्थद्वारमें ही पञ्चसग्रहकारने उत्तर प्रकृतियोकी जो जघन्य स्थिति बतलायी है वह कर्मप्रकृतिसे मेल नही खाती। दोनोमें अन्तर है। यथा—पञ्च-संग्रहकारने तीर्थङ्कर नामकर्मकी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष बतलायी है। तथा आहारकद्विककी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण बतलायी है किन्तु कर्मप्रकृति आदिमें

---

१ 'इह मूलटीकायामन्यत्र च ग्रन्थान्तरे कायस्थितिरन्यथागमविरोधिनी दृश्यते। ततस्तामुपेक्ष्य प्रज्ञापनासूत्रानुसारत सूत्रगाथा विवृता। अतएव ग्रन्थगौरवमनादृत्य सर्वत्र प्रज्ञापनासूत्रमुपादर्शि —प० स० मलयटी०, भा० १ पृ० ८'१।

२. षट्ख०, पु० ४। ३- प स० मलय० टी०, भा० १, पृ० १८३। ४- 'तिरिक्खा सुद्धा णवुसगवेदा एइ दियप्पहुडि जाव चउरिंदियाति ॥१०६॥—षट्ख० पु०, पृ० ३४५।

३ 'इद च किल निद्रापञ्चकादारभ्य सर्वाषा प्रकृतीनां जघन्यस्थितिपरिमाणमाचार्येण मतान्तरमधिकृत्योक्तमवसेयम, कर्मप्रकृत्यादावन्यथा तस्याभिधानात्।'—पं० स० मलय यटी०, भा० १, पृ० २२७।

उनकी जघन्य स्थिति कोटी-कोटी सागर बतलायी है। दिगम्बर परम्परामें भी यही बतलायी है।

कार्मिकों और सैद्धान्तिकोंमें तो मतभेद है ही। कुछ बातोंको लेकर कार्मिकोंमें भी परस्परमें मतभेद है। जैसे क्षीणकषाय गुणस्थानमें निद्रा प्रचलाका उदय कोई मानता है कोई नही मानता। कर्मप्रकृतिकार और सप्ततिकार नही मानते। किन्तु प्राचीन कर्मस्तव और तदनुयायी पञ्चसंग्रहकार तथा दिगम्बराचार्य मानते है। किन्तु [1]पञ्चसग्रहकारने अपने सप्ततिका प्रकरण मे सप्ततिका-संग्रह करते हुए दोनोंका निर्देश कर दिया है। दूसरा मौलिक मतभेद अनन्तानुबन्धी कषायकी उपशमना और विसयोजनाको लेकर है कर्मप्रकृतिकारका मत कि अनन्तानुबन्धीकी विसयोजना ही होती है, उपशमना नही होती। किन्तु सप्ततिका (गा० ६१) और पञ्चसग्रहके अनुसार उपशमना होती है। तथापि [2]पञ्चसग्रहमे विसयोजना भी बतलायी है।

पञ्चसग्रहकारने अपने सप्ततिका नामक प्रकरणमें गा० ९ में वैक्रियिक द्वयका उदय चौथे गुणस्थान तक ही बतलाया है। उसकी टीकामें [3]मलयगिरिने लिखा है कि वैक्रिय और वैक्रिय अगोपागका चौथे गुणस्थानसे आगे उदयका निषेध आचार्यने कर्मस्तवके अभिप्रायानुसार किया है। स्वय तो वे देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्तमे उनका उदय मानते है।

उक्त चर्चाओसे प्रकट होता है कि पञ्चसग्रहकार कर्मशास्त्रके बहुत विशिष्ट विद्वान थे और अपने समयके कर्मसिद्धान्त विषयक सभी प्रमुख ग्रन्थोका उन्होने अवलोकन किया था। और उन सभीके मतोको उन्होने अपने ग्रन्थमें स्थान दिया, फिर भी कुछ विषयोमें उनका अपना भी विशिष्ट मत था।

कर्ता—

इस पञ्चसंग्रहके कर्ता आचार्यका नाम चन्द्रर्षि महत्तर था। पञ्च सग्रहकी अन्तिम [4]गाथा तथा उसकी वृत्तिमें उन्होने अपना नाम 'चन्द्रर्षि' मात्र दिया है।

---

१. 'खवगे सुहुम मि चउबन्धमि अबधगम्मि खीणम्मि।
इस्संत चउरुदओ पंचण्हवि केइ इच्छति। १४॥ —श्वे० प० सं०, भाग, २२७।

२ श्वे. पं० स० उप०, गा०, ३४-३५।

३. 'वैक्रियवैक्रियागोपागनिषेधस्तु अत्राचार्येण कर्मस्तवाभिप्रायेण कृतोभिवेदितव्य', न स्वमतेन स्वय देशविरत प्रमत्ताप्रमत्तेषु तदुदयाभ्युपगमात्, स्वकृतमूलटीकाया तथा भगभावनाकरणात्। प० स०, भा० २, पृ० २२७।

४ सुयदेवि पसायाओ पगरणमेयं समासओ भणिय।
समयाओ चन्दरिसिणा समइ वि भवानुसारेण ॥१५६॥

और अपने गुरु आदिके सम्बन्धमें कोई निर्देश नही किया ।

सित्तरीकी प्रतियोके अन्तमें जो एक गाथा पाई जाती है ।

'गाहग्गं सयरीए चदमहत्तरमयाणुसारीए'

उसमें 'चन्द्रमहत्तर' नाम आता है। खंभातके श्री शान्तिनाथभण्डारमें जो शतकचूर्णिकी प्रति है उसके अन्तिम पत्रके अन्तमें यह वाक्य लिखा है—'कृतिराचार्य श्रीचन्द्रमहत्तरशिताम्बरस्य' ।

इन सब उल्लेखोसे ग्रन्थाकारका पूरा नाम श्रीचन्द्रर्षि महत्तर प्रमाणित होता है किन्तु उनके कुलगुरु समय आदिके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नही होती ।

साधारणतया उन्हें एक बहुत प्राचीन आचार्य माना जाता है। 'जैनसाहित्य नो इतिहास, (पृ० १३९) में उन्हें कर्मप्रकृतिकारके पश्चात् रखते हुए लिखा है—'चन्द्रर्षि महत्तर थयाते घणा प्राचीन समयमा थया जणाय छे। ते प्राय आ समयमा थया हशे ऐम गणी अही तेमनो उल्लेख कर्यो छे' ।

किन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीने 'पञ्चमकर्मग्रन्थ और षष्ठम कर्मग्रन्थ' का अपनी प्रस्तावना (पृ० १५)में 'चन्द्रर्षि सप्ततिकाके रचयिता नही है' इस बातको स्पष्ट करते हुए उनके सम्बन्धमें दो बातें मुद्देको लिखी है। एक-यदि सप्ततिकर्ता और पचसग्रहकर्ता आचार्य एक ही होते तो भाष्यकार चूर्णिकार आदि प्राचीन ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोमें जैसे शतक, सप्ततिका, कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोका उल्लेख साक्षी रूपसे मिलता है वैसे पञ्चसंग्रह जैसे प्रासादभूत ग्रन्थके नामका उल्लेख भी जरूर मिलता। परन्तु ऐसा उल्लेख कही भी देखनेमें नही आता। दूसरे मुद्देकी बात मुनिजीने यह लिखी है कि 'महत्तर' पद तथा गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि जैसे ऋषि पदान्त नाम सामान्यतया पिछले समय के होने चाहिए। आचार्य चन्द्रर्षिके समयका विचार करते समय दोनो मुद्दे नही भुलाये जा सकते ।

इनके समयका विचार करनेसे पूर्व वहा शतकचूर्णि और सप्ततिचूर्णिका परिचय कराया जाता है ।

एक अन्य शतक[1]चूर्णि

शतक ग्रन्थका परिचय पहले कराया जा चुका है। उसीपर प्राकृत भाषामें यह चूर्णि रची गयी है। चूर्णिको देखनेसे प्रकट होता है कि उसका रचयिता कोई बहुश्रुत विद्वान होना चाहिए, क्योकि चूर्णिमें उद्धृत गाथाओका बाहुल्य है ।

१—राजनगरस्थ वीर समाजकी ओरसे प्रकाशित शतक प्रकरणका इसचूर्णिके साथ प्रकाशन हुआ है।

और चर्चित विषयके सम्बन्धमें कार्मिको और सैद्धान्तिकोमें जो मतभेद है उनका भी यथा स्थान निर्देश किया गया है।

यद्यपि पूरी चूर्णि प्राकृत भाषाबद्ध है किन्तु कही-कही संस्कृत वाक्य भी पाये जाते हैं किन्तु उनकी विरलता है। प्रारम्भिक गाथाकी उत्थानिकामें चूर्णिकारने सम्बन्धादिका कथन करनेके लिए एक संस्कृत आर्या उद्धृत की है—

'संज्ञा निमित्तं कर्तारं परिमाण प्रयोजन।
प्रागुक्त्वा सर्वतन्त्राणां पश्चाद् वक्ता तं वर्णयेत् ॥'

प्रथम गाथा में कहा है कि 'दृष्टिवादसे कुछ गाथाए कहूगा'। चूर्णिकारने दृष्टिवादका परिचय कराते हुए उसके पाच भेदोमें से दूसरे पूर्व अग्रायणीयके अन्तर्गत पचम वस्तुके बीस पाहुडोमेंसे चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतसे इस ग्रन्थकी उत्पत्ति बतलायी है। चतुर्थ कर्मप्रकृति प्राभृतके चौबीस अनुयोगद्वारोके नाम गिनाकर उनमें से छठे अनुयोगद्वार बन्धनके चार भेद—बंध, बधक, बन्धनीय और बन्ध-विधानमें से बन्धविधानसे प्रकृत शतककी उत्पति बतलाई है। इससे सूचित होता है कि चूर्णिकारको इस सब उपपत्तिका परिचय था।

इसी तरह ग्रन्थमें वर्णित योग, उपयोग जीवसमास और गुणस्थानोंका चूर्णिमें अच्छा विवेचन किया गया है जो संक्षिप्त होते हुए भी बहुमूल्य है। गाथा ३८-३९की चूर्णिमें आठो कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियोका विवेचन भी सुन्दर है। आगे चारो बन्धोके कथन में भी चूर्णिमें बहुत विषय भरा हुआ है और चूर्णिकारने 'गागरमें सागरकी कहावत को चरितार्थ किया है।

इस चूर्णिके कर्ताका भी नाम अज्ञात है। किन्तु खभातके शान्तिनाथ भण्डारसे प्राप्त शतक चूर्णिके अन्तमें उसे श्वेताम्बराचार्य श्री चन्द्रमहत्तरकी कृति बतलाया है।

किन्तु पचसंग्रहके साथ चूर्णिकी तुलना करनेसे कोई बात प्रकट नही होती जिसके आधारपर यह निस्सन्देह रूपसे कहा जा सके कि यह चन्द्रर्षि महत्तरकी कृति है।

१. प्रथम तो चूर्णिका उपोद्घात और पच-संग्रहका उपोद्घात ही भिन्न है। जहा चूर्णिमें संज्ञा, निमित्त आदिका कथन ग्रन्थके प्रारम्भ में आवश्यक बतलाया है वहा पञ्चस० के प्रारम्भमें मंगल, प्रयोजन, सम्बन्ध और अभिधेयका कथन करके व्याख्या क्रमके ६ भेद किये है—और उनके सम्बन्धमें 'उक्तं च' रूपमें यह श्लोक उद्धृत किया है।

संहिता च पद चैव पदार्थः पदविग्रह।
चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्या तन्त्रस्य षड्विधा ॥१॥'

२ शतक गाथा १४ की चूर्णिमें मिथ्यात्वके अनेक भेद बतलाये हैं—एकान्त, वैनयिक, अज्ञान, सशय, मूढ और विपरीत। अथवा क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिकवाद और अज्ञानवाद। तथा नीचे लिखी दो गाथाए उद्धृत की हैं—

'असियसय किरियाण अकिरियवाईण जाण चुलसीई।
अन्नाणि य सत्तट्ठी वेणइयाण च बत्तीस ॥"
जावइया णयवाया तावइया चेव होंति परसमया।
जावइया परसमया तावइया चेव मिच्छत्ता ॥'

उधर पच[1]सग्रहमें मिथ्यात्वके पाच भेद गिनाये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत, आभिनिवेशिक, साशयिक और अनाभोग। तथा व्याख्यामें 'च' पद से सूचित मिथ्यात्व के भेदोंका सूचन करनेके लिए 'सेसठ्टा तिन्नीसया' और 'जावइया वयण पहा' गाथाशोका निर्देश किया है जो बतलाता है कि चूर्णिमें उद्धृत इन गाथाओसे ये दोनो गाथाए भिन्न है।

३ शतक गा० ५२-५३ की चूर्णिमें उत्तर प्रकृतियोके स्थितिबन्धका कथन विस्तारसे किया है। उसमें तीर्थङ्कर और आहारकद्वयकी जघन्यस्थिति कर्मप्रकृति के अनुसार, अन्त. कोटी-कोटी सागर ही बतलायी है। किन्तु पचसंग्रहमें तीर्थङ्कर प्रकृतिकी अन्तर्मुहूर्त बतलायी है।

चूर्णिमें वर्णादिचतुष्ककी उत्कृष्टस्थिति बीस कोडाकोडी सागर बतलायी है और पचसग्रह[2] में पृथक् २ बतलायी है। और भी उल्लेखनीय अन्तर स्थिति-बन्धके सम्बन्धमें है।

अत इन बातोको लक्ष्यमें रखनेसे यह निर्विवाद रूपसे नही माना जा सकता कि शतकचूर्णिके कर्त्ता और पचसग्रहके कर्ता एक व्यक्ति है।

शायद कहा जाये कि शतक कर्मप्रकृतिकारकी रचना है इसलिए चूर्णि-कारने उसमें कर्मप्रकृतिके अनुसार ही स्थितिका प्रतिपादन किया होगा। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिका भी अनुसरण नही किया। कर्मप्रकृति[3]के अनुसार प्रत्येक वर्गकी भी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी

---

१ 'आभिग्गहियमणभिग्गहिच अभिनिवेसिय चेव। ससइयमणाभोगे मिच्छत्त पचहा होइ ॥२॥

२ सुक्किलसुरभी महुराण दस उ तह सुभ चउण्ह फासाण। अठ्टाइज्ज पवुड्ढी अंबिल हालिद्द पुव्वाण ॥३३॥ श्वे०पं० स० भा० १, पृ० २१९।

३. 'वग्गु क्कोस ठिइंणं मिच्छत्तुक्कोसगेण ज लद्ध'। सेसाण तु जहन्ना पल्लासखिज्जभागूण ॥ "७९॥"—क० प्र०, बन्धन-।

उत्कृष्ट स्थितिका भाग देनेसे जो लब्ध आता है उसमें पल्यका असख्यातवा भाग कम करनेसे उत्तरप्रकृतियोकी जघन्य स्थितिका प्रमाण आता है। और पचसग्रहके[1] अनुसार प्रत्येक उत्तर प्रकृतिकी अपनी-अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें मिथ्यात्वकी उत्कृष्ट स्थितिका भाग देने से जो लब्ध आता है वही उस उत्तर प्रकृतिकी जघन्यस्थितिका प्रमाण होता है। चूर्णिमें पचसग्रहवाली वातको स्वीकार किया गया है किन्तु उसमें कर्मप्रकृतिकी तरह पल्यका असख्यातवा भाग कम भी किया गया है। श्वे० पच स० की टीकामें मलयगिरि ने लिखा है[2] कि जीवाभिगम वगैरह में यही स्थिति मान्य है जो चूर्णिमें वतलायी है।

दि० पच सं० में भी यही स्थिति मान्य है। दि० प० स० की गाथाओंके साथ स्थिति निर्देशक चूर्णिका मिलान करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उक्त चूर्णि की रचना दि० पं० स० की गाथाओंको सामने रखकर की गयी है। दोनों में कथनका क्रम भी एक है।

किन्तु शतकचूर्णिमें[3] तथा प० स० की स्वोपज्ञ[4]वृत्तिमें जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणके विशेषावश्यक भाष्यसे गाथाए उद्धृत की गयीं है। अत दोनोकी रचना विक्रमकी सातवी शताब्दीके पूर्व ही हुई है यह निश्चित है।

गुजरातके चालुक्यवशी नरेश कुमारपालके समयमें हुए आचार्य मलयगिरिने पंचसंग्रह पर टीका रची थी। अत. पञ्चसग्रहकी उत्तरावधि विक्रमकी वारहवी शती निश्चित होती है। देखना यह है कि विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर वारहवी शताब्दी पर्यन्त पाचसौ वर्षों के अन्दर पञ्चसग्रहकी रचना कब हुई।

इस कालके बीचमें हुए ग्रन्थकारोके ग्रन्थोमें भी पञ्चसग्रहसे उद्धृत पद्य हमारे देखने में नही आये।

पञ्चसग्रहसे भी कोई विशेष सहायता नही मिलती। हा, पञ्चसग्रहकी

---

१. 'सेसाणुक्कोसाओ मिच्छत्तठिइए ज लद्ध' ।।४८।।
—श्वे० प० स०, भाग १ पृ० २५५।

२ 'जीवाभिगमादौ आचार्योक्त जघन्यस्थितिपरिमाण पल्योपमासंख्येयभागन्यूनमुक्तम् श्वे० प० सं० पृ० २२७।

३. श० चू० गा० ३८-३९ मे—'जावन्ती अक्खराइ '—वि० भा० गा० ४४४। 'इन्द यमणोणिमित—' वि० भा गा० १००।

४ सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो नत्थि उवओगा० 'वि० भा० गा० ३०९६ ।—श्वे० प० स०, भा० १, पृ० १०।

स्वोपज्ञवृत्तिमें[1] लिखा है कि कुछ 'आचार्य वामन को चौथा सस्थान मानते है किन्तु वह ठीक नही है । हमने खोजने पर गर्गर्षिके कर्मविपाकमें वामनको चौथा और कुब्जकको पाँचवा संस्थान पाया । यथा—

समचउरसे नग्गोहमंडले साइवामणे खुज्जे ।
हुडे वि य सठाणे तेसिं सरूव इम होइ ॥१११॥

तव क्या पचसग्रहकारने 'केचित्' के द्वारा गर्गर्षिके मतका निर्देश किया है ? यदि ऐसा हो तो उन्हे गर्गर्षिके पश्चात्का ग्रन्थकार मानना होगा ।

सिद्धर्षि[2] आचार्यने अपनी उपमिति भव प्रपञ्चकथा वि० स० ९६२ में रचकर समाप्त की थी । उसमें उन्होने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि लाट देशके निवृतिकुल में सूर्याचार्य हुए । उनका शिष्य छेल्ल महत्तर था जो ज्योतिर्विद था । उनका शिष्य दुर्गस्वामी था । उसने जैन साधुकी दीक्षा ली थी । उसकाशिष्य मैं सिद्धर्षि हूँ । सिद्धर्षिने लिखा है कि मेरे गुरु दुर्गस्वामीको तथा मुझे गर्गस्वामीने दीक्षा दी थी । इन्ही गर्गस्वामीको कर्म विपाकका रचयिता माना जाता है । अत उसका समय विक्रमकी दसवी शतीका पूर्वार्ध समझना चाहिए । और ऐसी स्थितिमें पचसग्रहकार चन्द्रर्षिको दसवी शतीसे पहलेका विद्वान नही माना जा सकता । और इस आधार पर उनका समय विक्रमकी १० वी शताब्दीका उत्तरार्ध माना जा सकता है । यद्यपि इस समयसे पहलेके रचे हुए ग्रन्थोमें पचसग्रहके उद्धरण हमारे देखनेमें नही आये और इसलिए उक्त समयमें कोई असमजसता प्रतीत नही होती । तथापि उक्त आधार इतना पुष्ट नही है जिसके आधार पर उक्त समयको निर्विवाद रूपसे माना जा सके । क्योकि गर्गर्षिने अपने कर्म विपाकमें जो वामनको चौथा सस्थान गिनाया है सम्भव है किसी अन्य आधार पर गिनाया हो और उसीका निर्देश पंचसग्रह में किया गया हो ।

यद्यपि शतक चूर्णि हमें पचसग्रहकार रचित प्रतीत नही होती तथापि उसके आधार पर भी उसके कर्ताके विषयमें, चाहे वह चन्द्रर्षि हो या अन्य, विचार करना आवश्यक है ।

शतक चूर्णिमें ग्रन्थान्तरोसे उद्धृत पद्योका बाहुल्य है और वही एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा चूर्णिके रचना कालके सम्बन्धमें किसी निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है ।

---

१ 'वामनस्य केचिच्चतुर्थं (र्थं स०) स्थान वदन्ति तन्न भवतीति ।'—श्वे० प०स०, भा० १, पृ० २२० ।

२ जै० सा० इ० (गु), पृ० १८२ ।

यह तो हम लिख ही आये हैं कि उसमें विशेषावश्यक भाष्यसे उद्धरण दिये गये हैं और उनके आधार पर उसके रचना कालकी पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। अन्य उद्धरणोंके स्थानका पता न लग सकनेसे अथवा उनके स्थल में विवाद होनेसे किसी निष्कर्ष पर पहुंचने मे जो कठिनाई उपस्थित होती है उसका विवरण दिया जाता है।

दि० पंचसग्रहका समय निर्णीत करते हुए यह लिख आये हैं कि शतक चूर्णिकार उससे परिचित थे। उसकी पुष्टिमें एक उद्धरण और भी मिलता है। नीचे लिखी गाथा श० चू० में उद्धृत है—

'ज सामण्णं गहणं भावाण णेवकट्टु आगार।
अविसेसिऊण अत्थे दसणमिई वुच्चए समए।'—श० चू० पृ० १८।

यह गाथा दि० पं० सं० के प्रथम अधिकारकी १३८ वी गाथा है। यह धवलामें भी उद्धृत है और द्रव्य संग्रहमें तो इसे मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है। शतक चूर्णिसे यह गाथा अन्य श्वेताम्बर टीकाओ में भी उद्धृत की गयी है। यथा कर्मविपाक नामक प्रथम नव्य कर्म ग्रन्थकी गाथा १० की टीकामें वह उद्धृत है और सम्पादक ने उसे बृहद्द्रव्यसंग्रहकी बतलाया है। किन्तु मूलमें वह दि० पं० सं० की ही है। अत. शतक चूर्णिकार दि० प० स० से अवश्य सुपरिचित थे। अस्तु,

शतक गाथा ९ की चूर्णिमें गुणस्थानोका कथन करते हुए अनेक गाथाए उद्धृत की गयी हैं। उनमें से प्रथम गुणस्थानके वर्णनमें नीचे लिखी ५ गाथाए एक साथ क्रमवार उद्धृत है—

उक्तंच— मिच्छत्त तिमिर पच्छाइयदिट्ठी रागदोससंजुत्ता।
धम्म जिणपण्णत्त भव्वावि णरा ण रोचेन्ति ॥१॥
मिच्छादिट्ठी जीवो उवइट्ठ पवयण ण सद्दहइ।
सद्दहइ असब्भाव उवइट्ठ वा अणुवइट्ठं ॥२॥
पदमक्खरं च एक्कपि जो ण रोएइ सुत्तणिदिट्ठं।
सेसं रोएन्तो वि हु मिच्छाद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥३॥
सुत्त गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धकहियं च।
सुयकेवलिणा रइय अभिण्णदसपुव्विणा कहिय ॥४॥
अहवा—तू मिच्छत्त जमसद्दहण तच्चाण जाण अत्थाण।
स इयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च त तिविहं ॥५॥'

इनमें से गाथा २ तथा ५, दि० प० स० के प्रथम अधिकारकी ८ वी तथा

---

१. दि० ग्रन्थोंमें 'भणणए' पाठ है।

७ वी गाथा है। तथा ३, ४, ५, भगवती आराधनामें हैं और उनकी सख्या क्रमश ३९, ३४, और ५६ है। गाथा न० ४ के पाठमें थोडा भेद है जो इसप्रकार है—

सुत्त गणधरगथिद तहेव पत्तेय बुद्धकहिय च।
सुदकेवलिणा कहिय अभिण्णदसपुव्विगधिद च ॥३४॥

श्वेताम्बर साहित्यमें वृहत्सग्रहिणीमें गा० ३-४ पाई जाती है और उनका नम्बर १५३-१५४ हैं। तथा उसमें 'कहिय' आदिके स्थानमें सर्वत्र 'रइय' पाठ है।

इस तरह उक्त पाच गाथाओमें से फुटकर रूपमें कुछ गाथाए दोनो परम्पराओके साहित्य में मिलती है। किन्तु लगातार पाचो गाथाए इसी क्रमसे किसी ग्रन्थमें नही मिलती और इसलिए यह निर्णय करना अशक्य है कि चूर्णिकारने इन्हें अमुकग्रन्थ से उद्धृत किया है।

खोजते खोजते हमें ये गाथाए इसी क्रमसे एक अन्य ग्रन्थमें भी उद्धृत मिली। सिद्धसेन गणिकृत तत्वार्थ भाष्यकी टीका (अ ८ सूत्र १० में) में ये गाथाए इसी क्रमसे उद्धृत हैं। केवल पाचवी गाथाकी प्रथम पक्तिके अन्तिम शब्द 'अत्थाण' के स्थानमें 'भावाणं' पाठ है।

परन्तु चौथी गाथा उद्धृत नही है उसके स्थानमें उसी आशयकी दो सस्कृत आर्याए इसप्रकार उद्धृत है—

'सूत्र तु प्रतिविशिष्टपुरुपप्रणीतमेव श्रद्धागोचर इति यथोक्तम्—
अर्हत्प्रोक्त गणधरदृब्धं प्रत्येकबुद्धदृब्ध वा।
स्थविरग्रथितं च तथा प्रमाणभूतत्रिधा सूत्रम् ॥१॥
श्रुतकेवली च तस्मादधिगतदशपूर्वकश्च तौ स्थविरौ।
आप्ताज्ञकारित्वाच्च सूत्रमितरत् स्थविरदृब्ध ॥२॥

'सुत्त गणधर कहियं', आदि गाथाके अभिप्रायसे उक्त सस्कृत आर्याओके अभिप्रायमें कोई अन्तर नही है। गाथामें श्रुतवली रचितको तथा दसपूर्वी रचितको सूत्र कहा है। सस्कृत पद्योमें उन दोनोको स्थविर बतलाते हुए स्थविर रचितको सूत्र कहा है। हमारा विश्वास है कि शतक चूर्णि तथा सि० टीकाके बीचमें अवश्य ही आदान-प्रदान हुआ है और उन दोनोमें से एकने दूसरेका अनुकरण किया है। उसके विना विभिन्न ग्रन्थोंसे सकलित की गयी गाथाए उसी क्रमसे दोनोमें नही मिल सकती।

हमारे उक्त विश्वास का आधार केवल उक्त गाथाए ही नही हैं, किन्तु दोनो ग्रन्थोमें समान रूपसे पाये जानेवाले उद्धरणोका तथा वाक्योंका बाहुल्य है।

ऐसी स्थितिमें शतकचूर्णिका अनुसरण सिद्धसेन ने किया हो यह सम्भव है यद्यपि निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता।

नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिने सप्ततिका या सित्तरी पर एक भाष्य रचा था। इसके प्रारम्भमें उन्होंने लिखा[1] है कि यह भाष्य मैं सित्तरीकी चूर्णिके अनुसार लिखता हूँ। अत. [2]अभयदेवसूरि (१०८८-११३५ स०) से पहले सित्तरी चूर्णिकी रचना हो चुकी थी। और सित्तरीचूर्णिसे पहले शतकचूर्णि रची जा चुकी थी। यह उसके देखनेसे प्रकट होता है।

सि० चू० में कई स्थलो पर 'एयासिं अत्थनविवरणा जहा सयगे' (पृ० ३), आदि पदोंके द्वारा कर्मोके भेद-प्रभेदोका, गुणस्थानोका, जीवस्थानोका, विवरण शतक ग्रन्थकी तरह कहा है। मूल शतक ग्रन्थमें तो उनके नाममात्र गिनाये है, उनका विवरण तो चूर्णिमें ही पाया जाता है। अत यही स्वीकार करना पडता है कि सि० चू०के कर्ताने 'शतक' नामसे शतकचूर्णिका ही निर्देश किया है। अतः जब सि० चू० वि० स० ११००से पहले रची जा चुकी थी तो शतकचूर्णि उससे भी पहले रची गयी थी। और इसलिये शतकचूर्णिकी रचना की उत्तरावधि विक्रम की दसवी शती मान लेना उचित होगा।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शतक चूर्णि वि० सं० ७५०-१००० तकके कालमें किसी समय रची गयी है। और यदि पचसग्रहकार श्री चन्द्रर्षि महत्तर उसके रचयिता हैं तो कहना होगा कि वे इसी कालमें किसी समय हुए है।

और यदि पञ्चसग्रहमें निर्दिष्ट मत गर्गर्षिके कर्मविपाकका है तो उन्हें विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तका विद्वान् मानना होगा।

बृहच्चूर्णि और लघुचूर्णि

शतककी हेमचन्द्राचार्यरचित वृत्तिसे तथा मलयगिरिकी कुछ टीकाओंसे प्रकट होता है कि शतकपर दो चूर्णियाँ थी—एक बृहच्चूर्णि और एक लघुचूर्णि। प्रकृत शतकचूर्णि लघुचूर्णि है।

हेमचन्द्र नेअपनी शतक वृत्तिके प्रारम्भमें लिखा[3] है कि यद्यपि पूर्व चूर्णिकारो-

---

१ 'नमिऊण महावीरं कम्मट्ठपरूवणं करिस्सामि वधोदयसतेहिं सत्तरियाचुन्निअनुसार ॥१॥ —स० भा०।

२ जै० सा० इ० (गु०), पृ० २१७।

३ 'इह च यद्यपि पूर्वचूर्णिकारैरपि व्याख्यातम्, तथापि तच्चूर्णीनामतिगम्भीरत्वात्।' श० वृ०, १।

ने भी शतकका व्याख्यान किया है, तथापि उनकी चूर्णियाँ अति गम्भीर हैं।' यहाँ उन्होने 'चूर्णिकारै' और 'चूर्णिनाम्' लिखकर बहुवचनका प्रयोग किया है। जिससे प्रकट होता है कि शतकपर अनेक चूर्णियाँ थी। किंतु दो चूर्णियोंके ही उल्लेख मिलनेसे यह स्पष्ट है कि शतकपर दो चूर्णियाँ अवश्य थी और उनमें सैद्धातिक मतभेद भी था।

उपलब्ध [1]लघुचूर्णिमें वेदक, औपशमिक और क्षायिक सम्यग्दृष्टियोमें संज्ञी-पर्याप्तक और सज्ञी अपर्याप्तक दो जीवसमास बतलाये है। किंतु हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें 'अन्ये' करके औपशमिक सम्यग्दृष्टिके सज्ञि अपर्याप्त होनेका निर्देश किया है किंतु इसे मान्य नही किया और अपने समर्थनमें वृहच्चूर्णिके मतका उल्लेख किया है। उसमें लिखा है कि—जो 'उपशम सम्यग्दृष्टी उपशम श्रेणिमें मरण करता है वह प्रथम समयमें ही सम्यक्त्वपुञ्जको उदयावलीमें लाकर उसका वेदन करता है। अत उपशमसम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नही होता।[2]

शतक गाथा ३५ में दशवें गुणस्थानमें शुक्लध्यान बतलाया है। श्वेताम्बर परम्परामें इस विपयमें मतभेद है। अत' लघुचूर्णिमें [3] लिखा है कि श्रेणिमें धर्म और शुक्ल दोनो हो सकते हैं। उसीको लेकर हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें लिखा[4] है कि लघुचूर्णिके अनुसार श्रेणिमें स्थित जीवके धर्म और शुक्ल ध्यान दोनो ही अविरुद्ध हैं। किन्तु वृहच्चूर्णिका अभिप्राय है कि सरागीके चाहे वह सूक्ष्म सराग भी हो, धर्मध्यान ही होता है।'

---

१ 'समत्ते ति, सम्मदिट्ठी खइग-वेयगउवसम-सासण-सम्मामिच्छ-मिच्छदिट्ठी य, तत्थ वेयग उवसम-खइयसम्मद्दिट्ठीसु दो दो जीवट्ठाणाणि सन्निपज्जत्त-अपवत्तगाणि।'
शा० चू०, पृ० ५।

२. 'अन्ये तु सज्ञिपंचेन्द्रियस्यापर्याप्तकस्याप्यौपशमिकसम्यक्त्व वर्णयन्ति, तच्च नावगच्छामस्तथाहि ···उपशमश्रेणौ मृत्वाऽनुत्तरसुरेषूत्पन्नस्यापर्याप्तकस्यैतल्लभ्यते इति चेत् ? ननु एतदपि न बहुमन्यामहे तस्य प्रथम समये एव सम्यक्त्वपुद्गलोदयात्। उक्तं च वृहच्चूर्णावस्मिन्नेव विचारे—'जो उवसम्मसम्मदिट्ठी उवसमसेढीए काल करेइ, सो पढमसमये चेव सम्मत्त पुंज उदयावलियाए छोढूण सम्मत्तपुग्गले वेएइ, तेण न उवसमसम्मद्दिट्ठी अपज्जगो लब्भइ।' इत्यादि।'—श० वृ०, पृ० १०-११।

३ 'सुक्कज्झाणग्गहण किंनिमित्तं इतिचेत् ? भन्नइ, सेढीए धम्मसुक्कज्झाणाइ सविगप्पाइ अविरुद्धाइति 'तद्बोधनार्थं तु सुक्कज्झाणग्गहण।'—श० चू०, पृ० १७।

४. श्रेणि व्यवस्थितस्य हि जन्तोर्धर्मशुक्लध्यानद्वयमपि लघुचूर्ण्याद्यभिप्रायेणाविरुद्धमिति शुक्लध्यानस्यपि ग्रहणमिह न विरुध्यते–वृहच्चूर्ण्यभिप्रायस्तु सरागस्य सूक्ष्मसरागस्यापि धर्मध्यानमेव'—श० वृ०, पृ० ३७।

आचार्य मलयगिरिने भी [1]पंचसंग्रह तथा [2]कर्मप्रकृतिकी टीकामें 'उक्तंच 'शतकबृहच्चूर्णौ' लिखकर उद्धरण दिये हैं।

उक्त उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि शतककी बृहच्चूर्णि १२वीं शतीमें विद्यमान थी। आज वह अनुपलब्ध है। अतः उसके कर्ता, काल आदिके सम्बन्धमें कुछ भी कहना शक्य नहीं है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि शतककी लघुचूर्णिमें किसी अन्य चूर्णिका निर्देश नहीं है। अतः संभव है उसकी रचना लघुचूर्णिके पश्चात् हुई हो। उसके लिए बृहत् विशेषणका कारण उसका बड़ा होना ही प्रतीत होता है, क्योंकि लघुचूर्णिका परिमाण लघु है तथा बृ० चू० के रचयिता कोई कार्मिक न होकर सैद्धान्तिक ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने सिद्धान्त पक्षको ही अपनाया है।

सित्तरी चूर्णि

सित्तरी अथवा सप्ततिकापर भी एक चूर्णि है जो मुक्ताबाई ज्ञान मन्दिर डभोईसे प्रकाशित हुई है। इसके भी कर्ताका नामादि अज्ञात है। इस चूर्णिमें संस्कृतका मिश्रण नहीं है और न उद्धृत पद्योंका बाहुल्य है। चूर्णिकारने परिमित शब्दोंमें गाथाके अभिप्रायको स्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया है और यथास्थान अन्य आचार्योंके मतोंका भी निर्देश किया है। यथा स्थान कुछ ग्रन्थोंके नामोंका भी निर्देश किया है। वे ग्रन्थ हैं—कम्मपगडि संगहणी (कर्मप्रकृति संग्रहणी), कसायपाहुड, सयग (शतक) और सतकम्म।

कर्मप्रकृति संग्रहणी तो शिवशर्म रचित कर्मप्रकृति है: उसको देखनेका निर्देश चूर्णिकारने कई जगह किया है। किन्तु सप्ततिका और कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट नामकर्मके बन्धस्थानोंमें अन्तर है। सप्ततिकामें नामकर्मकी ९३ प्रकृतियाँ मानकर बन्धस्थानोंका कथन किया है और कर्मप्रकृतिमें बन्धन और संघातको शरीरमें सम्मिलित न करके नाम कर्मकी प्रकृतियाँ १०३ मानी है। अतः उसमें १०३ को लेकर नामकर्मके बन्धस्थानोंका कथन किया है। यहाँ चूर्णिकारने कर्मप्रकृतिमें निर्दिष्ट १०३ आदि बन्ध स्थानोंको युक्तिसंगत[3] नहीं माना।

जहाँ तक हम जान सके हैं, श्वेताम्बर साहित्यमें सित्तरीचूर्णि ही एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें कसायपाहुडका उल्लेख है। यह कसायपाहुड गुणधररचित वही कसाय पाहुड है जिसपर यतिवृषभके चूर्णिसूत्र है। चूर्णिकारने उसका निर्देश तीन

---

१. पं० सं० टी०, भा० १, पृ० १७ तथा १८।
२. क० प्र० टी०, पृ० ५१।
३. 'एत्थ अण्णे अण्णारिसाणि सतट्ठाणाणि विगप्पयंति। ताणि आगम जुत्तीहि न घडंति।
—सि० चू०, पृ० २७।

स्थानोपर किया है । एक जगह लिखा[1] है कि कृष्टियो का लक्षण जैसा कसायपाहुडमें कहा है वैमा जानना । दूसरी जगह लिखा[2] है कि अपूर्व करण और अनिवृत्तिकरणके कालोके विषयमें अनेक वक्तव्यता है सो जैसे कसाय-पाहुड वा कर्मप्रकृतिसग्रहणीमें कहा है वैसे कहना चाहिए ।' यह सब कथन कसाय-पाहुडके चारित्र मोह क्षपणा नामक अधिकारमें है। चूर्णिकारने शतकका निर्देश भी अनेक स्थलो पर किया है । किंतु जिन विपयोके लिये शतकका निर्देश किया गया है वे विषय मूल शतकमें नही है, किंतु उसकी चूर्णिमें है । अत शतक नामसे चूर्णिकारने उसकी चूर्णिका ही निर्देश किया है । यथा—[3] आठो कर्मोके अर्थका विवरण जाननेके लिये शतकका निर्देश किया गया है । किंतु शतक गा० ३८ में आठो कर्मोके नाम मात्र गिनाये हैं । और गाथा ३९ में उन आठो कर्मो की अवान्तर प्रकृतियोकी सख्या मात्र । वतलाई है किंतु उनकी चूर्णिमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर प्रकृतियोका कथन विस्तारसे किया है । इसी तरह जीवस्थान[4] और [5]गुणस्थानोका विवरण जाननेके लिए चूर्णिकारने शतकको देखनेका निर्देश किया है किंतु मूल शतकमें उनका विवरण नही है, चूर्णिमें है। अत यह निश्चित है कि शतक नामसे चूर्णिकारने शतकका ही निर्देश किया है।

रचनाकाल

मलयगिरिने अपनी सप्ततिका टीकाके आरम्भमें लिखा है—

> चूर्णयो नावगम्यन्ते सप्ततेर्मन्दवुद्धिभि
> तत स्पष्टाववोधार्थं तस्याष्टीका करोम्यहम् ॥

अर्थात् मन्दवुद्धि लोग सप्ततिकी चूर्णियोको नही समझ सकते । इसलिए बोध करानेके लिए मैं उसकी टीका करता हूँ ।

वहु वचनान्त चूर्णय ' पदसे तो यही व्यक्त होता हैं कि सप्ततिकी अनेक चूर्णियाँ थी । किंतु मलयगिरिने अपनी टीका प्रकृतचूर्णिके आधारपर ही रची है, यह वात टीकामें प्रमाण रूपसे उद्धृत चूर्णिवाक्योंसे प्रमाणित होती है । अत विक्रमकी वारहवी शतीसे पहले इस चूर्णिकी रचना हो चुकी थी ।

---

१ 'तेसिं लक्खणं जहा कसायपाहुडे ।'—सि० चू०, पृ० ६६ ।

२ एत्थ अपुव्वकरण अणियट्टिअद्धासु अणेगाइ' वत्तव्वगाइ' जहा कसायपाहुडे कम्मपगडि सगहणीए वा तहा वत्तव्व। —सि० चू०, पृ० ६२।

३. 'तत्थ मूलपगती अट्ठविहा, त जहा—णाणावरणिज्ज जावतराथियमिति । एयासिं अत्थ विवरणा जहा सयगे ।'—सि० चू०, पृ० ३ ।

४ 'जीवट्ठाणाण विवरण जहा सयगे' —सि० चू०, पृ० ४ ।

५ 'मिच्छादिट्ठीपभिती जाव अजोगित्ति, एएसिं विवरण जहा सयगे'—सि चू पृ ४।

सप्ततिका भाष्यके रचयिता नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरिने अपने भाष्यके [1]प्रारम्भमें लिखा है कि सप्तति चूर्णिके अनुसार मैं आठों कर्मोका कथन करूँगा। अभयदेवसूरिका अवसान वि० सं० ११३५ में हुआ। अतः सित्तरी चूर्णिकी रचना उससे पहले हुई। इस आधारपर उसके रचनाकालकी उत्तरावधि विक्रमकी ११वी शती निर्णीत होती है।

तथा चूँकि सित्तरी चूर्णिमें शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है और शतकचूर्णिका रचनाकाल वि. सं. ७५०-१००० निर्णीत किया गया है अतः चूर्णिकी रचना भी इसी कालके बीचमें शतकचूर्णिके पश्चात् किसी समय होनी चाहिए।

संभव है सित्तरीचूर्णिकारने जयधवलाटीकाको देखा हो और जैसे उन्होंने शतक नामसे शतकचूर्णिका निर्देश किया है वैसे ही कसायपाहुड नामसे उसकी जयधवलाटीकाका निर्देश किया हो क्योंकि उनके द्वारा चर्चित विषय जयधवला में स्पष्टरूपसे मिलते हैं, कसायपाहुड और चूर्णिसूत्रोंमें तो उनका संकेत अथवा निर्देशमात्र किया गया है।

---

१ 'नमिऊण महावीर कम्मट्ठपरूवण करिस्सामि ।
बधोदयसतेहि सत्तरिया चुन्निअणुसारा ।।१।।'

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

पंचम अध्याय

उत्तरकालीन कर्म-साहित्य

पिछले अध्यायमे प्राचीन कर्म-साहित्यका इतिवृत्त निरूपित किया गया है। इस अध्यायमें विक्रमकी नवम शताब्दीसे उत्तरकालमें रचे गये कर्म-साहित्यका विवेचन निवद्ध किया जायगा।

नि सन्देह उत्तरकालमें कई सारगर्भित कर्म-साहित्य सम्वन्धी कृतियाँ रची गयी है। लोकप्रियता और उपयोगिताकी दृष्टिसे इन रचनाओका अध्ययन कई शताब्दियोसे अनवच्छिन्न रूपसे होता चला आया है। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल्लजीने गोम्मटसार जैसे ग्रन्थपर लोकभापामे विशाल और विशद टीका लिखकर इस ग्रन्थका मर्मोद्घाटन किया है। यही कारण है कि आज भी जिज्ञासुओंके स्वाघ्यायका वह विपय वना हुआ है।

धवला और जयधवला जैसी प्रचुर प्रमेययुक्त टीकाओने मूल ग्रन्थका रूप ग्रहण कर लिया तो इन ग्रन्थोके आधारपर सक्षेपमें कर्म-सिद्धान्तका वोध करानेके हेतु उत्तरकालीन आचार्योने स्वतत्ररूपमें कर्मसाहित्यका प्रणयन किया। उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी शैली, भापा और वर्ण्य-विपयकी दृष्टिसे निम्न विशेषताएँ उपलब्ध होती है —

१ सक्षेप किन्तु स्पष्ट रूपमें कर्मसिद्धान्तका निरूपण।

२ सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओका उपयोग।

३ वन्ध, उदय और सत्त्वका गुणस्थान क्रमसे स्पष्ट निर्देश।

४ गणितका बीजक्रम और अकक्रम रूपमें आलम्बन।

५ विभिन्न मत मतान्तरोका सक्षेपमें प्रकटीकरण।

६ शैली प्रसाद गुण युक्त और प्रवाह पूर्ण।

७ सरल और सुवोधताके हेतु काव्योपकरणोकी योजना।

उत्तरकालीन कर्मसाहित्य

करणानुयोग विपयक प्राचीन कर्मसाहित्यके उक्त विवरणके पश्चात् हम उत्तरकालीन कर्मसाहित्यकी ओर आते है। साहित्यके कालक्रमानुसारी पर्य-

वेक्षणसे ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्यिक प्रतिभामें भी ह्रास होता गया है। विक्रमकी प्रथम सहस्राब्दीके मध्यकाल तक तथा उसके पश्चात्की दो तीन शताब्दी पर्यन्त जैसी प्रतिभाओंने जन्म लिया, सहस्राब्दीके पर्यवसानके लगभग वैसी प्रतिभाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती। आचार्य गुणधर, पुष्पदन्त भूतबली, आचार्य यतिवृषभ आदिमें जो वाग्मिता, पाण्डित्य, बहुश्रुतत्व और रचनाचातुर्य था, आचार्य वीरसेन तक वह मन्द हो चला था। सम्भवतः कर्मविषयक आगमिक साहित्यके पारगामी वीरसेन स्वामी, अन्तिम साहित्यकार थे जिन्होंने धवला और जयधवला जैसे प्रमेयबहुल विस्तृत टीकाग्रन्थ रचे और उनसे पहले कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह जैसी गाथाबद्ध मौलिक कृतियाँ रची गई।

उन रचनाओंके पश्चात् जो कर्मविषयक साहित्य उक्तकालमें रचा गया, वह प्रायः उन्हीका ऋणी है। या तो उन्हीके आधार पर उसका संकलन किया गया है या उन्हीको परिवर्तित किया गया है। सबसे प्रथम हम एक परिवर्तित या रूपान्तरित कृति की ओर आते हैं।

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसंग्रह

लक्ष्मणसुत डड्ढाकृत पञ्चसंग्रह एक दशक पूर्व ही प्राकृत पञ्चसंग्रहके साथ भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है। उसको प्रकाशमें लानेका श्रेय इसके सम्पादक प० हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री को है। इससे पहले न इस नामके किसी ग्रन्थ-कार को सुना गया था और न उनकी उस कृतिका ही कहींसे कोई आभास मिला था। हाँ, प्रख्यात साहित्यकार आचार्य अमितगतिका एक पञ्चसंग्रह कई दशक पहले श्री माणिकचन्द ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो चुका था और पञ्चसंग्रह नामकी एक वही कृति दृष्ट श्रुत और अनुभूत थी। इसी नामकी किसी अन्य कृतिकी कोई कल्पना भी नहीं थी। ये दोनो ही पञ्चसंग्रह दि० प्राकृत पञ्चसंग्रहके संस्कृत अनुष्टुपोंमें परिवर्तित रूप हैं। यतः अमितगति एक प्रख्यात ग्रन्थकार थे और उनके पंचसंग्रह को प्रकाशमें आये कई दशक हो चुके थे। दूसरी ओर श्रीपालसुत डड्ढा एक नये सर्वथा अपरिचित व्यक्ति थे। उनकी एकमात्र कृति भी नई ही प्रकाशमें आई थी। अतः सम्पादक प० हीरालालजी शास्त्रीने जब दोनोका तुलनात्मक अध्ययन किया तो उन्हें लगा कि एकने दूसरेका अनुकरण किया है। किन्तु यह तो कल्पना करना कठिन था कि अमितगति जैसे प्रख्यात ग्रन्थकार डड्ढा जैसे अज्ञात रचयिताका अनुकरण करेंगे। अतः उन्होने यही माना कि डड्ढाने अमितगतिकी नकल की है फिर भी डड्ढाकी कृतिने शास्त्रीजी-को प्रभावित किया। उन्होंने अपनी प्रस्तावनामें लिखा है—

१ डड्ढा की रचना मूल गाथाओंकी अधिक समीप है, अमितगतिकी

नही। जीव समास प्रकरण की ७४वी मूल गाथाका पद्यानुवाद जितना डड्ढाका मूलके समीप है उतना अमितगतिका नही।

२ कितने ही स्थलो पर डड्ढाकी रचना अमितगतिकी अपेक्षा अधिक सुन्दर है।

३ अमित गतिने 'जीव समास' की 'साहारणमाहारो' आदि तीन गाथाओ-को स्पर्श भी नही किया, किन्तु डड्ढाने उनका सुन्दर पद्यानुवाद किया है। उक्त स्थल पर अमित गतिने गोम्मटसार जीवकाण्डकी 'उववाद मारणतिय' इत्यादि गाथाका आशय लेकर उसका अनुवाद किया है। किन्तु जीवसमास प्रकरणमें उक्त गाथाके न होनेसे डड्ढाने उसका पद्यानुवाद नही किया।

४ कितने ही स्थलो पर डड्ढाने अमितगतिकी अपेक्षा कुछ विषयोको वढाया भी है। यथा प्रथम प्रकरणमें धर्मोका स्वरूप, योगमार्गणाके अन्तमें विक्रिया आदिका स्वरूप।

५ अमित गतिने सप्ततिकामें पृष्ठ २२१ पर श्लोक ४५३ में शेषमार्गणामें बन्धादित्रिकको न कहकर मूलके समान 'पर्यालोच्यो यथागमम्' कहकर समाप्त कर दिया है। किन्तु डड्ढाने श्लोक ३९० मे 'वन्धादित्रय नेयं यथागमम्' कहकर भी उसके आगे समस्त मार्गणाओमें वन्धादित्रिकको गिनाया है जो प्राकृत पञ्च-सग्रहके अनुसार होना ही चाहिये।

इसतरह शास्त्रीजीने डड्ढाकी रचनासे प्रभावित होनेपर भी उसे अमित-गतिकी अनुकृति वताया। किन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है।

रचनाकाल—

डड्ढाके पञ्चसग्रहका अन्त परीक्षण करनेसे नीचे लिखे तथ्य प्रकाशमें आते हैं—

१ डड्ढाने शतक प्रकरणमें पृ० ६८३ पर जो मिथ्यात्वके पाँच भेदोका स्वरूप गद्यमें लिखा है वह पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (८।१) से लिया गया है अत उनके पञ्चसंग्रहकी रचना पूज्यपाद (वि०की छठी शताब्दी) के पश्चात् हुई है।

२ सप्ततिकाके अन्तमें (पृ० ७३७) 'उक्तच' करके जो कारिका दी गई है वह अकलकदेवके लधीयस्त्रयके सातवें परिच्छेदकी चतुर्थ कारिका है। अत अकलंकदेवके लधीयस्त्रयके (वि०की सातवी शताव्दी) पश्चात् उक्त पचसग्रह रचा गया है।

३ जीव समास प्रकरणमें (पृ० ६६७) 'उक्तञ्च सिद्धान्ते' करके जो वाक्य उद्धृत है वह वीरसेनकी धवला टीकाका है। अत धवला टीका (नवमी शती) के पश्चात् उक्त पच सग्रहकी रचना हुई है।

४ इसके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें (पृ० ६७४) 'उक्तञ्च' करके जो श्लोक उद्धृत है वह अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारके बन्धाधिकारका ग्यारवा श्लोक है। अतः पञ्चसंग्रहकी रचना तत्त्वार्थसार (दसवीं शती) के पश्चात् हुई है।

इस तरह डड्ढाके पञ्चसंग्रहके समयकी पूर्वावधि विक्रमकी दसवी शती निश्चित होती है। अब हम उत्तरावधिकी ओर आते है।

१ भास्कर नन्दिने तत्त्वार्थसूत्र पर सुखबोधिनी टीका रची है। उसमें चतुर्थ अध्यायके दूसरे सूत्रकी टीकामें लेश्याके सम्बन्धमें पाँच श्लोक उद्धृत है। ये पाँचों श्लोक डड्ढाके पञ्चसंग्रहके है। भास्कर नन्दिका समय १३-१४वी शती है। अतः पञ्चसंग्रह उसके पश्चात्की रचना नही है।

२ पञ्चास्तिकाय (गाथा ५६) की टीकामें जयसेनाचार्यने एक श्लोक उद्धृत किया है।

'मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बन्धमौदयिका भावा निष्क्रियाः पारिणामिकाः॥'

यह डड्ढाके पञ्चसंग्रहका [illegible]वा श्लोक है। जयसेनाचार्यकी टीका पर ब्रह्मदेवकी बृहद्द्रव्यसंग्रहका स्पष्ट प्रभाव है।

३ बृहद्द्रव्य संग्रहकी ४१वी गाथाकी ब्रह्मदेव रचित टीकामें सम्यक्त्वका माहात्म्य बतलानेके लिए प्रथम एक गाथा 'इंदिमछग्गुट्ठीण' आदि उद्धृत की है जो गोम्मटसार जीवकाण्डकी १२८वी गाथा है। उसके पश्चात् ही 'उसी अर्थको प्रकारान्तरसे कहते है' लिखकर तीन श्लोक उद्धृत किये है। ये तीनों श्लोक डड्ढाके पञ्चसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें उसी क्रमसे वर्तमान है और उनकी संख्या क्रमसे २२७, २२९, २३० है। अतः ब्रह्मदेवजीकी उक्त टीकासे पूर्व डड्ढाका पञ्चसंग्रह रचा गया था।

इस तरह अमृतचन्द्र और ब्रह्मदेवके अन्तरालमें किसी समय डड्ढाने अपना पञ्चसंग्रह रचा था। आचार्य अमितगति भी इसी अन्तरालमे हुए है। उन्होने अपना पञ्चसंग्रह वि०सं० १०७०में समाप्त किया था। इस तरह डड्ढाके समयकी पूर्व और उत्तर अवधि निश्चित हो जाने पर भी यह निर्णय शेष रहता है कि दोनो पञ्चसंग्रहोंमें से पहले किसकी रचना हुई थी ?

इसका अन्वेषण करते हुए हमें जयसेनाचार्यके धर्मरत्नाकरमें पचायती जैन मन्दिर देहलीकी प्रतिके पृ० ६७ पर एक उद्धृत पद्य मिला—

'वचनैर्हेतुभी रूपैः सर्वेन्द्रियभयावहैः।
जुगुप्साभिश्च वीभत्सैर्नैव क्षायिकदृक् भवेत्॥

यह डड्ढाके पञ्चसग्रहके जीवसमास प्रकरणका २२३वा श्लोक है। अत

यह निश्चित है कि धर्मरत्नाकरसे पूर्व डड्ढाका पञ्चसग्रह रचा गया है। धर्म-रत्नाकरमें उसका रचनाकाल वि०स० १०५५ दिया है। और अमित गतिके पञ्चसग्रहमें उसका रचनाकाल १०७० दिया है। अत यह सुनिश्चित है कि अमितगतिके पञ्चसग्रहसे कम-से-कम दो दशक पूर्व डड्ढाका पञ्चसग्रह रचा गया है। इस विषयमें यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य नेमिचन्द्रके गोम्मटसार-का प्रभाव अमितगतिके पञ्चसग्रह पर है किन्तु डड्ढाके पञ्चसग्रह पर नही है। अत गोम्मटसारकी रचना इन दोनो पञ्चसग्रहोके रचनाकालके मध्यमें किसी समय हुई है।

डड्ढाके पञ्चसग्रहके अन्तमें ग्रथकारने अपना परिचय केवल एक श्लोकके द्वारा दिया है—

श्री चित्रकूटवास्तव्यप्राग्वाटवणिजा कृते।
श्रीपालसुतडड्ढेण स्फुट प्रकृतिसग्रह ॥

यह श्लोक चतुर्थ शतक प्रकरणके भी अन्तमें आता है। उसमें अन्तिम चरण 'स्फुटार्थ पञ्चसग्रहे' है। इससे प्रकट है कि ग्रन्थकारका नाम डड्ढा है और उनके पिताका नाम श्रीपाल था। श्लोकके पूर्वार्द्धका 'वणिजाकृते' पद गडबड है। 'वणिजा' पद तृतीयान्त होनेसे डड्ढाका विशेषण प्रतीत होता है जो वत-लाता है कि वे चित्रकूट वासी और पोरवाड जातिके वणिक् थे। चित्रकूट चित्तौड़-का पुराना नाम है। आज भी उस ओर पोरवाड जातिका निवास है। किन्तु उक्त अर्थसे 'कृते' शब्द व्यर्थ पड़ जाता है। यदि यह अर्थ किया जाता है कि चित्रकूटवासी पोरवाड जातिके वणिक्के लिए रचा तो उस वणिक्का नाम ज्ञात नही होता। अस्तु,

विषय परिचय—

यत यह पञ्चसग्रह प्राकृत पञ्चसग्रहका ही सस्कृत श्लोकोमें अनुवाद-रूप है अत इसकी विषयवस्तु वही है जो प्राकृत पञ्चसंग्रह की है। उसीके अनुसार इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका नामक पाँच प्रकरण है। प्रा० प स के जीवसमास प्रकरणमें २०६ गाथा है और इसकेमें २५७ श्लोक है। इस अन्तरके कई कारण है। १ डड्ढाने प्रारम्भमें अपना मगल पृथक् किया है। २ श्लोक ४-५ के द्वारा जीवके पाँच भाव गिनाकर उन्हें वन्ध और मोक्षका कारण कहा है। ३ श्लोक २०-२७ के द्वारा दस धर्मोके नाम गिना कर उनका स्वरूप कहा है। ४ वेदके कथनमें श्लोक १२८ से १३१ तक द्रव्यवेदके चिन्होका कथन किया है। साराश यह है कि प्रा० प०स० मे वेदमार्गणाका कथन केवल आठ गाथाओमें है। किन्तु इस स० प०स० मे श्लोक

१२४ से १३८ तक विस्तारसे वर्णन है। ५ इसी तरह प्रा० प०सं० में ज्ञान-मार्गणाका वर्णन केवल दस गाथाओंमें है। किन्तु सं० प०सं० में १५ श्लोकोंके द्वारा कथन है। इसमें अवधिज्ञानके भेदों और उनके स्वामियोंका भी कथन किया है जो मूलमें नहीं है। ६ लेश्याओंका वर्णन गद्य द्वारा विस्तारसे है। ७ सम्यक्त्व-मार्गणाके वर्णनमें गद्य द्वारा पाँच लब्धियोंका स्वरूप विस्तारसे बतलाया है। इस तरह प्रा० पं०सं० के कथनसे इसमें बहुत विस्तारसे कथन है।

आचार्य अमितगतिके पं०सं० में भी ये सब कथन जो डड्ढाने विशेषरूपसे किये हैं, पाये जाते हैं—

देखो—जीवसमास प्रकरणके प्रसंग अमितगति १९३–२०२ श्लोक। ज्ञान-मार्गणाका कथन, लेश्याका कथन तथा सम्यक्त्वमार्गणाका कथन।

प्रा० प० स० में गाथा १।१२८ के द्वारा इतना ही कहा है कि संज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक जीव काललब्धि आदिकी प्राप्ति होनेपर सम्यक्त्वग्रहणके योग्य होता है। डड्ढाने गद्य द्वारा पाँचो लब्धियोंका स्वरूप विस्तारसे कहा है। अमितगतिने भी तत्त्वार्थवार्तिकका अनुसरण करते हुए और भी अधिक विस्तारसे उक्त कथन किया है। तथा सम्यक्त्वके तीनों भेदोंका स्वरूप और उनके सम्बन्धमें विशेष बातें भी डड्ढाका अनुसरण करते हुए कही हैं।

फिर भी अमितगतिने इस प्रथम प्रकरणमें दो कथन ऐसे किये हैं जो डड्ढाके पं० स० में भी नहीं हैं। एक तो उन्होंने ३६३ मतोंका उपपत्तिपूर्वक कथन किया है जो गोम्मटसार कर्मकाण्डका ऋणी प्रतीत होता है। दूसरे, चौदह गुणस्थानोंमें जीवोंकी संख्याका कथन किया है। यह कथन गोम्मटसार जीवकाण्ड (गा० ६२२–६३२) के अनुरूप है।

दूसरे, प्रकृतिसमुत्कीर्तनमें मूलकी तरह ही आठ कर्मोंकी प्रकृतियोंका कथन है। तीसरे कर्मस्तवमें गुणस्थानोंमें कर्मप्रकृतियोंके बन्ध उदय और सत्वका विवेचन मूलकी तरह ही प्राय है।

प्राकृत पञ्चसंग्रहमें पूर्वमें बन्धव्युच्छिति और पश्चात् उदयव्युच्छिति जिन ८१ प्रकृतियोंकी होती है उनकी केवल संख्याका निर्देश है सं० पं० सं० में उनके नाम भी बताये हैं। इसी तरह आगे परोदयबन्धी प्रकृतियोंको बतलानेके पश्चात् सं० प० सं० में एक गद्यवाक्यके द्वारा यह भी स्पष्ट किया है कि क्यो ये प्रकृतिया परके उदयमें बंधती है। प्रा० पं० स० मे अपने उदय और परके उदयमें बन्धनेवाली प्रकृतियोंकी केवल संख्या दी है। किन्तु सं० प०सं० में उनके भी नाम गिनाये है। अन्तमे गद्य द्वारा सान्तर और निरन्तर बन्धका गद्य द्वारा स्वरूप भी कहा है। इस तरह स० पं० स० मे मूलसे वैशिष्ट्य भी है। अमितगतिके पं० स० में ये सब कथन डड्ढाके अनुसार ही किया गया है।

शतक नामके चतुर्थ प्रकरणमें भी उस वैशिष्टयके दर्शन स्थान-स्थानपर होते है। यद्यपि सब मूल कथन प्राकृत पञ्च स० के अनुसार है किन्तु वर्णनके क्रममें व्यतिक्रम है। प्रा० प० स० में मार्गणाओमें जीवसमास, जीवसमासोमें उपयोग, मार्गणाओमें उपयोग, जीवसमासोमें योग, मार्गणाओमें योग, मार्गणाओमें गुण-स्थान, गुणस्थानोमें उपयोग, योग और प्रत्ययका क्रममे कथन है। किन्तु इस सं० प० स० मे मार्गणाओमें जीवसमास, गुणस्थान, उपयोग योगका कथन करके फिर जीवसमासोमें उपयोग और योग कथन है। तथा बन्धके कारणोके भेद प्रभेदोका कथन गद्य द्वारा स्पष्ट करते हुए बहुत विस्तारसे किया हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि डड्ढाने विषयको व्यवस्थित और सुस्पष्ट करनेका भी प्रयत्न किया है। मतभेद भी कही-कही है। जैसे गाथा ४१में जहाँ चौदह योग कहे है वहाँ श्लोक १२ में पन्द्रह योग कहे हैं। अमितगतिने भी श्लोक १० में पन्द्रह योग कहे हैं।

प्रा० प० स० के शतकमे गाथा ३२५ के द्वारा कहा गया है कि गुणस्थानोमें कहे गये प्रकृतिबन्धका स्वामित्व मार्गणाओमें भी लगा लेना। इस कथनका विव-रण आगे भाष्य गाथाओंके द्वारा किया गया हैं। स० प० स० में गाथा ३२५ का रूपान्तर तो है किन्तु भाष्यगाथाओका नही है। अत यह सब कथन स० प० स० में नही है। यही पर प्रकृति बन्धको समाप्त कर दिया हैं। अमितगतिने भी ऐसा ही किया है। किन्तु नवम गुणस्थानमें जो प्रत्ययके भेद कहे हैं। डड्ढा ने तो प्रा० प० स० के अनुसार कहे है किन्तु अमितगतिने पृथक् ही कहे है।

प्रा० प० स० चौथे अध्यायमें नौवे गुणस्थानमें प्रत्ययोमे भेद इस प्रकार बतलाये है—

सजलण तिवेदाण णव जोगाण च होइ एयदर।
सढूण दुवेदाण एयदर पुरिसवेदो य ॥१९७॥

अर्थात् नौवे गुणस्थानके सवेद भागमें चार सज्वलनकषायमेंसे एक, तीन वेदोमें से एक और नौ योगोमें एक होता हैं। नपुसक वेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर दो वेदोमेंसे एक वेदका उदय होता है और स्त्रीवेदका उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर एक पुरुष वेदका उदय होता है।

अत ४ × ३ × ९ = १०८, ४ × २ × ९ = ७२ और ४ × १ × ९ = ३६ भग होते है इस तरह

१०८ + ७२ + ३६ = २१६ कुल भग होते है। ये सवेद भागके भग हुए।

चदू सजलण णवण्ह जोगाण होइ एयदरदोते।
कोहूण माणवज्ज मायारहियाण एगदरगं च ॥१९८॥

अर्थात् अवेद भागमें चार संज्वलन कषायोंमेंसे एकका तथा नौ योगोंमेंसे एकका उदय होता है। क्रोधकी उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर तीन कषायोंमेंसे एक का उदय होता है, मानकी व्युच्छित्ति हो जाने पर दो कषायोंमेंसे एकका उदय होता है और मायाकी उदय व्युच्छित्ति हो जाने पर केवल एक लोभ कषायका उदय होता है। योगोंमेंसे एक योगका उदय सर्वत्र रहता है। अतः ४ × ९ = ३६, ३ × ९ = २७, २ × ९ = १८ और १ × ९ = ९ इस प्रकार अवेद भागके ३६ + २७ + १८ + ९ = ९० भंग होते हैं। कुल मिलाकर २१६ + ९० = ३०६ भंग दोनों भागोंके होते हैं।

किन्तु सं० पञ्चसंग्रहमें नौवें गुणस्थानके अवेदभागमें चार कषाय और नौ योगोंमेंसे एक एकके उदयकी अपेक्षा ४ × ९ = ३६ भंग बतलाये हैं।

यथा—जघन्यो प्रत्ययो ज्ञेयो ह्यवेदानिवृत्तिके।
संज्वलेषु चतुर्ष्वेको योगाना नवके परः ॥६६॥

१ × १। भंगा । ४।९ अन्योन्याभ्यस्तौ।

तथा सवेद भागमें चार कषाय, तीन वेद और नौ योगोंमेंसे एक एकका उदय होनेसे ४ × ३ × ९ = १०८ भंग ही लिये हैं। यथा—

कषायवेद योगानामेकैकग्रहणे सति।
अनिवृत्ते सवेदस्य प्रकृष्टा प्रत्ययास्त्रय ॥६७॥

भंगा ४।३।९ अन्योन्याभ्यस्ताः १०८।

इस तरह अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भाग और अवेद भागमें १४४ भंग योगकी अपेक्षा मोहनीयके उदय स्थानोंके बतलाये हैं। आगे प्रा० पचसग्रहमें भी उतने ही भंग लिए हैं और गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी इतने ही लिए हैं। शायद इसीसे सं० पं०स० के कर्ताने उक्त स्थानमें १४४ भेदोको ही रखकर जो सर्वसम्मत थे, शेषका उल्लेख नही किया। इस विषयमें मतभेद भी है।

पांचवें सप्ततिका कथन प्रा० पं०स० के ही समान है। मध्यमें कही-कही किसी कथनको डड्ढाने छोड भी दिया है। जैसे प्रा० पं०सं० में गतिमार्गणामें नामकर्मके उदयस्थानोको कहनेके बाद गा० १९१-२०७ में इन्द्रिय आदि शेष मार्गणाओमें भी नामकर्मके उदयस्थानोका कथन है। किन्तु डड्ढाने उसे छोड दिया है। अमितगतिने भी डड्ढाका ही अनुसरण किया है। प्रा० पचसंग्रहके पाँचवें अध्यायमें मनुष्यगतिमें नामकर्मके २६०९ भंग बतलाये हैं। किन्तु स० प०स०में २६६८ बतलाये है। उक्त २६०९ भंगोमें सयोग केवलिके ५९ भंग और जोडे है। ये भंग प्रा० पंचसग्रहमें नही हैं। अमितगतिके पचसंग्रहमे भी ऐसा ही है।

दोनो ही स० पचसग्रहमे एक उल्लेखनीय बात और भी है। प्रा०[1] पच- तथा स० पचसग्रहमें योगकी अपेक्षा गुणस्थानोमें मोहनीयकर्मके उदय स्थानोके भंग १३२०९ बतलाये है और कर्मकाण्ड[2]में १२९५३ बतलाये है। इस अन्तरका कारण यह है कि [3]कर्मकाण्डमें छठे गुणस्थानमें आहारकका उदय स्त्रीवेद और नपु सकके उदयमें नही माना गया। अत छठे गुणस्थानमे भग पचसग्रह की अपेक्षा २११२ होते है और कर्मकाण्डमें १८५६ होते है इस तरह २५६ का अन्तर पडता है।

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि दोनो ही स० पचसग्रहमें प्रथम अध्यायमे एक [4]श्लोकके द्वारा इस बातको स्वीकार किया है कि आहारक ऋद्धि, परिहार विशुद्धि, तीर्थकर प्रकृतिका उदय और मन पर्ययज्ञान ये स्त्रीवेद और नपुसकवेदके उदयमें नही होते। फिर भी आगे प्राकृत पञ्चसग्रहके अनुसार ही मोहनीयके उदय विकल्पोंका कथन किया गया है।

सप्ततिकाके पश्चात् इस स० प० स० में चूलिका भी है और उसमें ८४ श्लोकोके द्वारा मार्गणाओमें बन्ध स्वामित्वका विशेष रूपसे कथन है। इसके प्रारम्भ में कहा है कि यद्यपि आठकर्मोंकी सब प्रकृतियाँ १४८ है किन्तु उनमेसे अठाईसको बन्धमें नही गिना जाता है। वे है—सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, पाँच बन्धन, पाँच सस्थान और रूप रस गन्ध स्पर्शके भेदोमेंसे केवल चार मूल भेदोको छोड कर १६। अत बन्ध प्रकृतियाँ एक सौ बीस है। इनके बन्ध अबन्ध और बन्ध-व्युच्छित्तिका कथन चौदह मार्गणाओमें किया है। कर्मस्तव अधिकारमे गुण-स्थानोमें तो कथन है कि किन्तु मार्गणा स्थानोंमें नही है।

यह चूलिका प्रा० प० स० में नही है। किन्तु अमितगतिके पचसग्रहमे है।

---

१. तेरस चेव सहस्सा वे चेव सया हवंति नव चेव। उदयवियप्पे जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥३३७॥ —प्रा० पचसग्रह, अ० ५।
'मोहनोदयभगा ये योगानाश्रित्य मेलिता। नवोत्तरशते ते द्वे सहस्राणि त्रयोदश ॥७४२॥ —स० प०स०, पृ० २०७।

२ 'तेवण्ण णव सयाहिय वारससहस्सप्पमाणमुदयस्स। ठाणवियप्पे जाणसु जोग पडि मोहणीयस्स ॥४९८॥'—गो० कर्मकाण्ड।

३ कर्मका०, गा० ४९६-४९७।

४ 'आहारर्द्धि परीहारस्तीर्थकृत्तुर्यवेदनम्। नोदये तानि जायन्ते स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥३४३॥'—अमि०स० प०स०, पृ० ४७।
आहारर्द्धि परिहारो मन पर्यय इत्यमी। तीर्थकृच्चोदये न स्यु स्त्रीनपुसक-वेदयो ॥ —डड्ढा पृ० १।२५५।

अत यह स्पष्ट है कि अमितगतिने डड्ढाके पचसग्रहके प्रत्येक कथनको अपनाया है। उद्धृत पद्यो तकको भी अपनाया है।

यद्यपि अमितगतिने अपना पञ्चसग्रह गोम्मटसारके पश्चात् रचा क्योकि उसमें उन्होने गो० सा० का उपयोग किया है। तथापि प्रसगवश उनका परिचय पूर्वमे दिया जाता है। क्योंकि उनके स० प० स० का अलगसे परिचय देना अनावश्यक है।

स० पं० स० के रचयिता अमितगति[1]

विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीमें अमितगति नामके एक आचार्य हो गये है। उन्होने वि० स० १०७३ में अपना सस्कृत पञ्चसग्रह रचकर समाप्त किया था। यह माथुर सघके थे। देवसेन सूरिने अपने दर्शनसारमें माथुरसघ को पाँच जैनाभासोमे गिनाया है। माथुरसघ को नि पिच्छिक भी कहते थे, क्योकि इस सघके मुनि मोरकी या गौकी पिच्छि नही रखते थे।

अमितगतिने अपनी धर्म परीक्षाकी प्रशस्तिमे अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—वीरसेन, उनके शिष्य देवसेन, देवसेनके शिष्य अमितगति (प्रथम), उनके नेमिषेण, नेमिषेणके माधवसेन और उनके शिष्य अमितगति।

तथा अमितगतिकी शिष्य परम्पराका पता अमर कीर्तिके छक्कमोवएससे लगता है जो इस प्रकार है—अमितगति, शान्तिषेण, अमरसेन, श्रीषेण, चन्द्रकीर्ति और चन्द्रकीर्तिके शिष्य अमरकीर्ति।

प० विश्वेश्वरनाथ रेऊके कथनानुसार अमितगति वाक्पतिराज मु जकी सभाके एकरत्न थे। अपने ग्रन्थोमे उन्होने मु ज और सिन्धुलका उल्लेख किया है। ये दोनो मालवेके परमार राजा थे और उनकी राजधानी धारा थी। अमितगतिने वि० स० १०५० में पौष शुक्ल पचमीके दिन अपना [2]सुभाषित रत्न सन्दोह समाप्त किया था, उस समय राजा मुँज पृथ्वीका पालन करते थे।

अमितगति बहुश्रुत थे। उन्होने विविध धार्मिक विषयो पर ग्रन्थोंका निर्माण किया है। उनके सब उपलब्ध ग्रन्थ सस्कृतमें है। वि० स० १०५० में उन्होने सुभाषित रत्न सन्दोह नामक ग्रन्थका निर्माण किया। इसमें सासारिक विषय निराकरण, माया अहंकार निराकरण, इन्द्रिय निग्रह, स्त्री गुणदोष विचार आदि

---

१ देखो—'जै० सा० इ०' में पृ० २७५ पर 'अमितगति' शीर्षक निबन्ध।

२ 'समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे। सहस्रे वर्षाणा प्रभवति हि पचाशदधिके ॥ समाप्ते पचम्यामवति धरणी मुँजनृपतौ, सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२॥—सुभा० र०।

वत्तीस प्रकरण है। अन्तमें श्रावक धर्मका निरूपण है। पूरे ग्रन्थमें ९२२ पद्य है। स० १०७० में धर्म परीक्षाकी रचना की थी। इसमें सुन्दर कथाके रूपमें पुराणोकी उटपटाग कथाओ और मान्यताओंकी मनोरजक रूपमे हँसी उडाई है। एक उपासकाचार रचा था जो अमितगति श्रावकाचारके नाममे प्रसिद्ध है। आराधना नाममे शिवार्यकी प्राकृतमें निवद्ध भगवती आराधनाका सस्कृत पद्योमे अनुवाद किया था। इसके सिवाय सामायिक पाठ, भावना द्वात्रिंशति भी रचे थे। इन ग्रन्थोंमें उनका रचनाकाल नही दिया। १०७३ स०में सस्कृत पञ्चसग्रहकी रचना मसूतिका पुरमें की थी।[1] यह धारके पास उसमे सात कोस दूर मसीद विलौदा नामक गाँव वताया जाता है।

गोम्मटसार और उसके कर्ता

विक्रमकी नौवी शताब्दीमें धवला और जयधवलाकी रचना होनेके पश्चात् इन दोनो टीका ग्रन्थोने अपने मूल ग्रन्थोके सिद्धान्त नामको अपना लिया और ये दोनो धवलसिद्धान्त और जयधवल सिद्धान्तके नामसे ख्यात हो गये। वि० स० १०२२ में रचकर समाप्त हुए पुष्पदन्त कविके महापुराणमें उनका स्मरण इन्ही नामोंसे कविने किया है। यह हम पहले भी लिख आये है।

पट्खण्डागम और कसायपाहुडपर टीकाओका निर्माण वरावर होता रहा है यह भी पहले विस्तारमे लिख आये है, और उन्हीके द्वारा कालक्रमसे उनके पठन-पाठनकी प्रवृत्ति भी चालू रही है। धवला और जयधवला टीकाके निर्माणके पश्चात् भी वह प्रवृत्ति चालू रही, किन्तु उसका आधार ये दोनों टीकाएँ हो गई और धवल तथा जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थोका अभ्यास एक वहुत ही महत्वपूर्ण मापदण्ड सिद्धान्त विपयक विद्वत्ताका माना जाने लगा।

विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीमें दक्षिणमें नेमिचन्द्र नामके एक आचार्य हुए। उनकी उपाधि 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' थी। ये दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोके अधिकारी विद्वान थे। इन्होने धवल सिद्धान्तका मथन करके गोम्मटसार नामक ग्रन्थकी रचना की और जयधवल सिद्धान्तका मथन करके लब्धिसार ग्रन्थकी रचना की। इन्होने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

> जह चक्केण य चक्की छक्खण्ड साहिय अविग्घेण।
> तह मइचक्केण मया छक्खण्ड साहिय सम्मं ॥३९७॥

जिस तरह चक्रवर्ती अपने चक्ररत्नसे भारतवर्षके छ खण्डोको विना किसी विघ्न-वाधाके साधता है या अपने अधीन करता है, उसी तरह मैंने (नेमिचन्द्रने)

---

१ 'त्रिसप्तत्याधिकेऽब्दाना सहस्रे शकविद्विष। मसूतिका पुरे जातमिद शास्त्र मनोरमम् ॥६॥—सं० प० सं०।

अपने बुद्धिरूपी चक्रसे षट्खण्डोंको या षट्खण्डागम सिद्धान्तको सम्यक् रीतिसे साधा।

सिद्धान्त ग्रन्थोंके अभ्यासीको 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' पद देनेकी परम्पराका सूत्रपात कब किसने कैसे किया, इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना शक्य नहीं है। किन्तु इस पदकी कल्पना अवश्य ही जयधवला प्रशस्तिके उस श्लोकके आधारपर की गई होनी चाहिये जिसमें वीरसेन स्वामीके लिये कहा गया है कि भरत चक्रवर्तीकी आज्ञाकी तरह जिनकी भारती षट्खण्डागममें स्खलित नहीं हुई[1]। अतः धवला-जयधवलाकी रचनाके पश्चात् विक्रमकी दसवीं शताब्दीमें ही उस पदवीका सूत्रपात होना चाहिये।

नेमिचन्द्रके गुरु--

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अभयनन्दि, वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिको अपना गुरु बतलाया है। कर्मकाण्डमें दो स्थानोंपर उन्होंने इन तीनोंको नमस्कार किया है। उनमेंसे एक स्थानपर कहा है[2]—जिसके चरणोंके प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिका वत्स अनन्त संसाररूपी समुद्रसे पार हो गया उन अभयनन्दि गुरुको मैं नमस्कार करता हूँ। दूसरे स्थानपर लिखा है[3]—'अभयनन्दिको, श्रुतसमुद्रके पारगामी इन्द्रनन्दि गुरुको और वीरनन्दिनाथको नमस्कार करके प्रकृतियोंके प्रत्यय-कारणको कहूँगा।' लब्धिसारमें उन्होंने लिखा है[4]—वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स और अभयनन्दिके शिष्य अल्पज्ञानी नेमिचन्द्रने दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धिका कथन किया। किन्तु [5]त्रिलोकसारमें उन्होंने अपनेको अभयनन्दिका वत्स मात्र लिखा है। शेष दोनो आचार्योंका कोई निर्देश नहीं किया।

इन तीनोंमेंसे वीरनन्दि तो चन्द्रप्रभ चरितके कर्ता जान पड़ते हैं क्योंकि

---

१. 'प्रीणितप्राणिसम्पत्तिराक्रान्ताशेषगोचरा।
भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥'—ज० ध० प्र०।

२ 'जस्स य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिण्णो।
वीरिंदणंदिवच्छो णमामि तं अभयणंदि गुरुं ॥४३६॥—कर्म का०

३ णमिऊण अभयणंदिं सुदसागरपारगिंदणंदिगुरुं।
वरवीरणंदिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥७८५॥—कर्म का०

४ वीरिंदणंदिवच्छेणप्पसुदेणभयणंदिसिस्सेण।
दंसण चरित्तलद्धी सुसूयिया णेमिचंदेण ॥६४८॥—ल० सा०

५ इदि णेमिचंदमुणिणाणप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण।
रइओ तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥—त्रि० सा०

उन्होने चन्द्रप्रभचरितकी प्रशस्ति[1] में अपनेको अभयनन्दिका शिष्य वतलाया है। और ये अभयनन्दि नेमिचन्द्रके गुरु ही होने चाहिये क्योकि कालगणनासे उनका वही समय आता है। अत अभयनन्दि इन सबमें जेठे तथा गुरु होने चाहिये। और वीरनन्दि, इन्द्रनन्दि और नेमिचन्द्र उनके शिष्य। नेमिचन्द्र सम्भवतया सबसे छोटे थे और उन्होने अभयनन्दि गुरुसे अध्ययन करनेसे पूर्व वीरनन्दि और इन्द्र-नन्दिसे भी अध्ययन किया था।

नेमिचन्द्रने वीरनन्दिको चन्द्रमाकी उपमा देकर सिद्धान्तरूपी अमृतके समुद्रसे उनका उद्भव वतलाया है। अत वीरनन्दि भी सिद्धान्त ग्रन्थोके पारगामी थे। उसी तरह इन्द्रनन्दिको तो नेमिचन्द्रने स्पष्ट रूपसे श्रुतसमुद्रका पारगामी लिखा है। उन्हीके समीप सिद्धान्त ग्रन्थोका अध्ययन करके कनकनन्दि[2] ने सत्वस्थानका कथन किया था। उसी सत्व स्थानका सग्रह नेमिचन्द्रने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें किया है।

इन्द्रनन्दिके सम्बन्धमें मुख्तार[3] साहब ने लिखा है कि इस नामके कई आचार्य हो गये है। उनमेंसे ज्वाला मालिनीकल्पके कर्त्ता इन्द्रनन्दिने ग्रन्थका रचनाकाल[4] श० स० ८६१ (वि०स० ९९६) दिया है। और यह समय नेमिचन्द्रके गुरु इन्द्रनन्दिके साथ विल्कुल सगत वैठता है। किन्तु उन्होने अपनेको वप्प नन्दिका शिष्य वतलाया है। सभव है यह इन्द्रनन्दि वप्पनन्दिके दीक्षित हो, और अभय-नन्दिसे उन्होने सिद्धान्त शास्त्रकी शिक्षा प्राप्त की हो।

इस तरह विक्रमकी दसवी शताब्दीके उत्तरार्धसे लेकर ग्यारहवी शताब्दीके पूर्वार्ध तक सिद्धान्त ग्रन्थोंके ज्ञाताओकी एक अच्छी गोष्ठी थी। उनमेंसे सिद्धान्त विपयक रचनाये दो ही आचार्योंकी उपलब्ध है। वे है कनक नन्दि तथा नेमिचन्द्र।

---

१ 'मुनिजननुतपाद प्रास्तमिथ्याप्रवाद सकलगुणसमृद्धस्तस्य शिष्य प्रसिद्ध।
अभवदभयनन्दी जैनधर्माभिनन्दी स्वमहिमजितसिन्धु भव्यलोकैकवन्धु ॥३॥
भव्याम्भोजविवोधनोद्यतमते र्भास्वत्समानत्विष
शिष्यस्तस्य गुणाकरस्य सुधिय श्री वीरनन्दीत्यभूत्।'—चन्द्र० च० प्रश०।

२ वर इदणदिगुरुणो पासे सोऊण सयलसिद्ध त।
सिरिकणयणदिगुरुणा सत्तट्ठाण समुद्दिट्ठ ॥३९६॥—कर्म का०।

३ पुरातन वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ७१–७२।

४ 'अष्ट शतस्यै (सै) कषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु।
श्रीमान्य खेटकटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम् ॥' —ज्वा० मा०, प्रश०।

कनकनन्दिकी विस्तर सत्व त्रिभंगी

आचार्य कनकनन्दि रचित विस्तर सत्व त्रिभगी नामक एक ग्रन्थ जैनसिद्धात भवन आरामे वर्तमान है। उसकी कागज पर लिखी हुई दो प्रतिया हमे देखनेको प्राप्त हुई। जो सभवत एक ही लेखककी लिखी हुई है। दोनोंकी गाथा सख्याओ मे अन्तर है। एककी संख्या ४८ है और दूसरीमे गाथाओकी सख्या ५१ है। तथा दूसरी प्रतिमे गाथाओंके साथ सदृष्टिया भी दी हुई है। इसीसे पहली प्रति-की पृष्ठसख्या केवल ३ है दूसरीकी ७ है।

कर्म काण्डमें इस कनक नन्दि विरचित विस्तर सत्व त्रिभगीको आदिसे अन्त-की गाथा पर्यन्त सम्मिलित कर लिया गया है। केवल वीचकी ८ या ११ गाथायें यत्र तत्रसे छोड दी गई है। क्योंकि कर्मकाण्डमें इस प्रकरणकी गाथाओकी सख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है।

इस प्रकरणमें कर्मोके सत्व स्थानोका कथन गुणस्थानोंमे भगोके साथ किया गया है। इसका विशेष परिचय आगे कर्मकाण्डका परिचय कराते हुए दिया जायेगा। जो गाथाये छोड दी गई है उनके छोड देनेसे भी प्रकृत कथनमें कोई वाधा नही आती। हा, उनके रहनेसे प्रकृत विषयकी चर्चा थोडा विशेष स्पष्ट हो जाती है। प्रथम और द्वितीय प्रतिके अनुसार छोडी हुई गाथाओकी क्रम-सख्या इस प्रकार है—४-५। (यह गाथा दूसरी प्रतिमे व्यतिक्रमसे दी गई है इससे इसकी सख्या उसमे ५ है। गा० ९, १०। दूसरी प्रतिमे १५ नम्बर पर स्थित गाथा पहली प्रतिमे नही है। अत दोनोकी सख्यामें एकका अन्तर पड गया है। फलत. छोडी गई गाथाओकी क्रम सख्या पहली प्रतिके अनुसार २२, २३, २८ ३० है और दूसरीके अनुसार २३, २४, २९ और ३१ है। दूसरी प्रतिकी गाथा ३८–३९ पहली प्रतिमें नही है। अत दानोकी सख्यामे तीनका अन्तर है। फलत पहली प्रतिके अनुसार छोडी गई ८वी गाथाकी सख्या पहली प्रतिमें ४१ और दूसरीमें ४४ है। इस तरह कर्मकाण्डमें उक्त नम्बरकी गाथायें छोड दी गई है।

साथ ही एक जगह थोडा व्यतिक्रम भी पाया जाता है। त्रिभगीकी गाथा न० १५, १६ और १७ की क्रम संख्या कर्मकाण्डमें, क्रमसे ३६८, ३६९, ३७० है। तथा गा० १४ की क्रमसख्या ३७१ है। अर्थात् गाथा १४ को जिसमे प्रथम गुण स्थानके सत्वस्थानोमें भगोकी सख्या वतलाई गई है कर्मकाण्डमें १५, १६, १७ के वाद दिया है। इन तीनो गाथाओमें प्रथम गुणस्थानके कुछ स्थानोमें भगोका स्पष्टीकरण किया गया है। अत त्रिभगीमें पहले भंगोकी सख्या वतलाकर पीछे उसका स्पष्टीकरण किया गया है। और कर्मकाण्डमें पहले स्पष्टीकरण करके पीछे भंगोकी संख्या वतलाई है। अस्तु,

विचारणीय वात यह है कि कनक नन्दि आचार्यने ४८ या[1] ५१ गाथा प्रमाण विस्तरसत्व त्रिभगी ग्रन्थ क्या पृथक् रचा था और वादको उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने गोम्मटसारमें सम्मिलित कर लिया अथवा कर्मकाण्डके लिये ही उन्होने इस प्रकरणकी रचना की ? उक्त दोनो वातोमेंसे दूसरी वात ही विशेप सगत प्रतीत होती है क्योकि कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे, यह वात त्रिभगीकी अन्तिम गाथासे जो कर्मकाण्डमें भी है, स्पष्ट होती है। ऐसे महान् आचार्यके द्वारा इतना छोटा-सा ग्रन्थ स्वतन्त्र रूपसे रचे जानेकी सभावना ठीक प्रतीत नही होती। अत यही विशेष सभावित प्रतीत होता है कि उन्होने गोम्मटसारके लिये ही उस प्रकरणको रचा और पीछे उसमें यथास्थान स्पष्टीकरणके लिये कुछ गाथाओको वढाकर उसे एक स्वतत्र प्रकरणका रूप भी दे दिया। अत गोम्मट-सारकी रचनामें कनकनन्दि आचार्यका भी योगदान था। त्रिभगीकी अन्तिम गाथा नेमिचन्द्राचार्यकी वनाई हुई हो सकती है जिसमें कहा है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पास-में सम्पूर्ण सिद्धान्तको सुनकर कनकनन्दि गुरुने सत्व स्थानका कथन किया। यहाँ कनकनन्दिके साथ गुरु शव्दका प्रयोग इसी वातका सकेत करता है।

कनक नन्दिके गुरु इन्द्रनन्दि थे। और इन्द्रनन्दिके गुरु अभयनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरु अभयनन्दी सिद्धान्त शास्त्रोके ज्ञाता थे। अत जैनेन्द्र महावृत्तिको हमने इस दृष्टिसे देखा कि उसमें सिद्धान्त शास्त्र विषयक कोई उदाहरण है या नही ? खोजने पर सूत्र १।३।५ की वृत्तिमें 'प्राभृतपर्यन्तमधीते' एवं 'सवन्ध सटीकम्' उदाहरण महत्वपूर्ण है। इसके सम्वन्धमें डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवालने अपनी भूमिका (पृ० ९) में लिखा है—'यहाँ ऐसा विदित होता है कि प्राभृतसे तात्पर्य महाकर्म प्रकृतिप्राभृतसे था, जिसके रचयिता आ० पुष्प-दन्त तथा भूतवलि माने जाते है। (प्रथम द्वितीय शती)। इसीका दूसरा नाम पट्खण्डागम प्रसिद्ध है। इसीका भाग विशेष वन्ध या महावन्ध (महाधवल सिद्धान्तशास्त्र) था जिसके अध्ययनसे यहाँ अभयनन्दीका तात्पर्य ज्ञात होता है। अर्थात् उस समय भी विद्वानोमे प्राभृत या पट्खण्डागमसे पृथक् महावन्धका

---

१ श्रीप्रेमीजीने लिखा है कि 'प० जुगलकिशोरजी मुख्तारके अनुसार जैनसिद्धान्त भवन आरामें कनकनन्दिका रचा हुआ 'त्रिभगी' नामका एक ग्रन्थ है। जो १४०० श्लोक प्रमाण है (जै० सा० इ०, पृ० २०१)। और टिप्पणमे जैन हितैषी भाग १४, अक ६ का निर्देश किया है। हमने उसे देखा उसमें मुख्तार साहवने जै० सि० भवनकी सूचीके आधार पर उक्त निर्देश किया था इसीसे पुरातन जैनवाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावनामें उन्होने त्रिभंगीके परिमाणके सम्वन्धमे उक्त निर्देश नही किया। अत त्रिभगीका १४०० श्लोक प्रमाण कथन भ्रामक है।

अस्तित्व था और दोनोंका आगमन जीवनका आदर्श माना जाता था। 'सटीक समीते' से जिस टीकाका उल्लेख है वह धवला टीका नहीं हो सकती क्योंकि उसकी रचना वीरसेनने ८१६ ई० में की थी। श्रुतावतारके अनुसार महाकर्म-प्राभृत पर आचार्य कुन्दकुन्दने भी एक बड़ी प्राकृतटीका लिखी थी जो इस समय अनुपलब्ध है। सम्भवत वही टीका प्राभृत और बन्धके साथ पढ़ी जाती थी।'

डॉक्टर साहबका उक्त अनुमान हमें भी सगत प्रतीत होता है। पुष्पदन्त और भूतबलिने जिस महाकर्म प्राभृतको षट्खण्डागमके रूपमें उपसहृत किया था सम्भवत प्राभृतसे उसीका ग्रहण वृत्तिकारने किया है। 'सबन्ध' और 'सटीक' पदोंसे इसी बातका समर्थन होता है क्योंकि बन्ध अथवा महाबन्ध उसीके अन्तर्गत अन्तिम खण्ड है और उसीकी टीकायें ग्रन्थकारोंके द्वारा रची गई थी। किन्तु प्राभृतसे षट्खण्डागम 'सबन्ध' पदका प्रयोग कुछ विशेष अर्थ रखता है। बन्ध तो षट्खण्डागमका ही एक खण्ड है अत 'प्राभृत' से षट्खण्डागमका ग्रहण करनेपर बन्धका भी ग्रहण हो ही जाता है पुन 'सबन्ध' कहना कुछ विशेष अर्थ रखता है। जो बतलाता है कि महावृत्तिकी रचनासे पूर्व अन्तिम खण्ड बन्ध षट्खण्डागमसे जुदा हो चुका था। इसीसे 'सबन्ध' पदसे उसका ग्रहण किया गया है।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि—'बप्पदेव गुरुने षट्खण्डसे महाबन्धको पृथक् किया। और व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक छठे खण्डको सक्षिप्त करके उसमें मिलाया। उसी व्याख्या प्रज्ञप्तिको प्राप्त करके वीरसेन स्वामीने सत्कर्म नामक छठे खण्डकी रचना की और उसे पाँच खण्डोंमें मिलाकर छै खण्ड पूरे किये।

अत बप्पभट्ट स्वामीने महाबन्धको षट्खण्डागमसे पृथक् कर दिया था। तथा वीरसेन स्वामीने भी उसे पृथक् ही रखकर सत्कर्म नामक नया खण्ड रचकर उसमें मिलाया था जो धवलाका ही अंगभूत है। अत 'सबन्ध' पदसे इतना स्पष्ट है कि बप्पदेवके पश्चात् अभयनन्दि हुए हैं। किन्तु बप्पदेवका समय भी ज्ञात नही है। परन्तु श्रुतावतारके अनुसार वे वीरसेनके गुरु एलाचार्यसे पूर्व हुए हैं। उनके और 'एलाचार्यके बीचमें श्रुतावतारमें किसी अन्य व्याख्याकारका निर्देश नही किया गया है। अत विक्रमकी सातवी शताब्दीके लगभग उनका काल माना जा सकता है। अत अकलकके पश्चात् होनेवाले अभयनन्दिका 'सबन्ध और सटीकम्' लिखना उचित ही है।

डॉ० अग्रवाल साहबने यद्यपि अभयनन्दिका कोई निश्चित समय नही लिखा तथापि वे उन्हें धवलासे पूर्वका विद्वान् मानते है इसीसे उन्होने 'सटीकं' पदसे धवलाटीकाका ग्रहण नही किया।

किन्तु यदि प्रभाचन्द्रके द्वारा गुरुरूपसे स्मृत महावृत्तिकार अभयनन्दिका प्रभाचन्द्रके साथ कुछ विद्या सम्बन्ध था तो नेमिचन्द्रके गुरु भी वही हो सकते हैं और उस स्थितिमें उनके द्वारा 'सटीक' शब्दसे धवलाटीकाका उल्लेख होना ही सभव है। किन्तु अभी इस विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कहना सभव नही है। एक अभयनन्दी नामक आचार्यने पूज्यपाद देवनन्दिके जैनेन्द्र व्याकरण पर जैनेन्द्र महावृत्ति रची है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे हुआ है उसमें आरम्भिक द्वितीय श्लोकमें वार्तिककारने अपना नाम अभयनन्दि[1] मुनि दिया है। किन्तु अपने गुरु आदिका नाम नही दिया और न ग्रन्थ रचनाका समय ही दिया।

अभयनन्दीने सूत्र ४।३।११४ की वृत्तिमें माघकविके शिशुपालवधसे एक श्लोक उद्धृत किया है। माघका समय सप्तम शतीका उतरार्व माना जाता है। क्योकि माघके दादा सुप्रभदेव वर्मलातके मत्री थे जिसका एक शिलालेख ६२५ ई० का पाया जाता है।

तथा उन्होने सूत्र ३-२-५५ की वृत्तिमें 'तत्त्वार्थ वार्तिकमधीते' उदाहरण दिया है। इससे प्रकट होता है कि वे तत्वार्थवार्तिकके रचयिता भट्टाकलकके पश्चात् हुए है।

तथा जैनेन्द्र पर एक 'पचवस्तु' नामकी टीका है उसके रचयिता आर्य श्रुतकीर्ति है। कनडी भाषाके चन्द्रप्रभ चरित नामक ग्रन्थके कर्ता अग्गल[2] कविने श्रुतकीर्तिको अपना गुरु बतलाया है। यह चरित शक स० १०११ (वि० सं० ११४६) में बनकर समाप्त हुआ था। यदि ये दोनो श्रुतकीर्ति एक हों तो अभयनन्दिको विक्रमकी १२वी शतीसे पूर्वका विद्वान मानना चाहिये।

श्रुतकीर्तिने अपनी पचवस्तु[3] प्रक्रियाके अन्तमें एक श्लोकमें जैनेन्द्र शब्दागम अर्थात् जैनेन्द्र व्याकरणको महलकी उपमा दी है। मूल सूत्ररूपी स्तम्भो पर वह खडा है, न्यासरूपी उसकी रत्नमय भूमि है, वृत्ति रूप उसके कपाट है। भाष्य शय्यातल है। टीकारूप उसके माल या मजिल है और वह पचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। उसके द्वारा उस महल पर चढा जा सकता है।

---

१ 'यच्छब्द लक्षण व्यक्तिकरोत्यभयनन्दिमुनि समस्तम् ॥२॥ जै० महावृ०, पृ० १।

२ ' श्रुतकीर्ति त्रैविद्य चक्रवर्तिपदपद्मनिधानदीपवर्ति श्रीमदग्गलदेव विरचिते चन्द्रप्रभ चरिते—जै० सा० इ०, पृ० ३६।

३ 'सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन्न्यासोरुरत्नक्षिति श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुते भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीकामालमिहारुरुक्षुरचित जैनेन्द्रशब्दागम प्रासादं पृथु पचवस्तुकमिद सोपानमारोहतात् ॥'—जै० सा० इ०, पृ० ३३।

इसमें निर्दिष्ट वृत्ति तो अभयनन्दिकृत वृत्ति है। और न्यास शायद पूज्यपादकृत ही हो।

जैनेन्द्र व्याकरण पर प्रभाचन्द्राचार्य कृत 'शब्दाम्भोज भास्कर' नामक एक न्यास ग्रन्थ बम्बईके सरस्वती भवनमें वर्तमान है जो अपूर्ण है। उसमें तीसरे अध्यायके अन्तके एक श्लोकमें अभयनन्दिको नमस्कार किया है तथा महावृत्तिके शब्द ज्योंके त्यों लिये गये है। इसके रचयिता आचार्य प्रभाचन्द्र वे ही प्रतीत होते है जिन्होंने प्रमेयकमल मार्तण्ड और न्याय कुमुद की रचना की थी।

प्रभाचन्द्रका समय न्यायाचार्य प० महेन्द्र कुमारजीने ९८० ई० से १०६५ तक निर्णीत किया है। अत अभयनन्दिका उनसे पूर्व होना निश्चित है।

श्री नेमिचन्द्राचार्यका समय भी ९८१ ई० के लगभग है। अत उनके गुरु अभयनन्दिका समय भी उसीके लगभग उससे कुछ पूर्व होना चाहिये। यदि यह अभयनन्दि ही महावृत्तिके रचयिता हो तो महावृत्तिका रचनाकाल विक्रम स० १००० और १०५० के मध्यमें होना चाहिये। श्री युधिष्ठिर मीमासकने अपने 'सस्कृत व्याकरणका इतिहास' में उस एकताकी सभावनापर ही महावृत्ति के रचयिता अभयनन्दीका काल विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीका प्रथम चरण माना कहा है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक अपना निबन्ध प्रथमवार जै० सा० स०, भा० १ अकमें प्रकाशित कराया था। उसमें उन्होंने लिखा था—'हमारा अनुमान है कि चन्द्रप्रभ काव्यके कर्ता महाकवि वीरनन्दिने जिन अभयनन्दिको अपना गुरु बनाया है ये वे ही अभयनन्दि होंगे। आचार्य नेमिचन्द्रने भी गोम्मटसार कर्मकाण्डकी ४३६वी गाथामें इनका उल्लेख किया है। अतएव इनका समय विक्रमकी ग्यारहवीके पूर्वार्धके लगभग निश्चित होता है।'

किन्तु जै० सा० इ० में उन्होंने अपने उस लेखमेंसे ऊपर वाला अश निकाल दिया है।

परन्तु प्रभाचन्द्रके न्यासमें जो श्लोक है वह उक्त अनुमानका पोषक प्रतीत होता है। श्लोक इस प्रकार है—

नम श्री वर्धमानाय महते देवनन्दिने।
प्रभाचन्द्राय गुरवे तस्मै चाभयनन्दिने ॥

इसमें आगत 'तस्मै अभयनन्दिने गुरवे' पद महत्त्वपूर्ण है, जो इस सन्देहको पुष्ट करता है कि प्रभाचन्द्रने अभयनन्दिसे शायद अध्ययन किया था। यदि ऐसा हो तो वे अभयनन्दि नेमिचन्द्राचार्यके गुरु ही हो सकते है।

नाम—

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने षट्खण्डागमकी धवला टीकाका मथन करके गोम्मटसार नामक महान् ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थराजके दो भाग है—प्रथम भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। ये दोनो नाम टीकाकारोके द्वारा दिये गये हैं। ग्रन्थकारने प्रथम भागकी पहली गाथामें 'जीवस्स परूवण वोच्छं' लिखकर जीवकी प्ररूपणा करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरे भागकी पहली गाथामें कर्म प्रकृतियोका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है। अत जीव और कर्मविषयक कथनोके कारण प्रथम भागको [1]जीवकाण्ड और दूसरे भागको कर्मकाण्ड सज्ञा दे दी गई है। किन्तु ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थको बनाया दो ही भागोमें है क्योकि प्रथम भागके अन्तमें उस गोम्मट राजाकी जय-कामना की गई है जिसके लिए गोम्मटसार रचा गया था। तथा दूसरे भागके अन्तमें चूँकि वह गोम्मटसार ग्रन्थका अन्तिम भाग है इसलिये विशेष रूपसे गोम्मटका गुणगान किया गया है।

टीकाकारोने गोम्मटसारका एक नाम और भी दिया है [2]पचसग्रह। किन्तु क्यों उसे यह नाम दिया, यह उन्होने नही बतलाया। सम्भवतया टीका-कारोने अमितगतिके पञ्चसग्रहको देखकर और उसके अनुरूप कथन इसमें देखकर इसे यह नाम दिया है। आचार्य नेमिचन्द्रने तो ग्रन्थके दूसरे भागके अन्तमें उसका नाम गोम्मट[3] सग्रह सुत्त अथवा गोम्मट सुत्त दिया है। गोम्मटसार नाम भी टीकाओमें ही पाया जाता है।

नामका कारण—

जीवकाण्डके अन्तकी गाथा[4]में ग्रन्थकारने कहा है—'आर्य आर्यसेनके गुण समूहको धारण करनेवाले अजितसेनाचार्य जिसके गुरु है वह राजा गोम्मट जय-वन्त हो।' कर्मकाण्डके अन्तमें कुछ गाथाओके द्वारा गोम्मट राजाका जयकार करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—

'गणधर देव आदि ऋद्धि प्राप्त मुनियोंके गुण जिसमें निवास करते हैं, ऐसे

---

१ 'तद् गोम्मटसार प्रथमावयवभूत जीवकाण्ड विरचयन्'—मन्द प्र० टी०, पृ० ३।

२ 'गोम्मटसारनामधेयपंचसग्रह शास्त्र प्रारम्भमाण'—मन्द प्र०टी०, पृ० ३। 'गोम्मटसार पञ्चसग्रह प्रपचमारचयन्'—जीव० टी०, पृ० २।

३ 'गोम्मटसगह सुत्त'—कर्म का०, गा० ९६५ और ९६८।

४ 'अज्जज्जसेनगुणगणसमूहसंधारिअजियसेण गुरू। भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयदु ॥७३५॥—जी०का०।

गोम्मटेश्वरका अर्थ किया है—गोम्मट अर्थात् चामुण्डरायका देवता। उसीके कारण विन्ध्यगिरि, जिसपर गोम्मटेश्वरकी मूर्ति स्थित है, 'गोम्मट' कहा गया। इसी गोम्मट उपनामधारी चामुण्डरायके लिये नेमिचन्द्राचायने अपने गोम्मटसार नामक सग्रह ग्रन्थकी रचना की थी। इसीसे इस ग्रन्थको गोम्मटसार संज्ञा दी गई।

जीवकाण्डकी मन्दप्रवोधिनी टीकाकी उत्थानिकामे अभयचन्द्र सूरिने लिखा[1] है—कि गगवशके ललामभूत श्रीमद्राजमल्लदेवके महामात्य पद पर विराजमान, और रण रगमल्ल, असहाय पराक्रम, गुणरत्न भूपण, सम्यक्त्व रत्न निलय आदि विविध सार्थक नामधारी श्री चामुण्डरायके प्रश्नके अनुरूप जीवस्थान नामक प्रथम खण्डके अर्थका सग्रह करनेके लिये गोम्मटसार नाम वाले पञ्चसग्रह शास्त्रका प्रारम्भ करते हुए नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती परम मगल पूर्वक गाथासूत्र कहते है।'

अत श्री नेमिचन्द्राचार्यने चामुण्डरायके लिये, जिनका नाम गोम्मटराय भी था, यह ग्रन्थ रचा था। इसीसे उन्होने इस ग्रन्थको 'गोम्मट' नाम दिया। जैसे शाकटायनने अपने शाकटायन व्याकरण पर रचित वृत्तिको राजा अमोघ वर्पके नामपर अमोघवृत्ति नाम दिया था।

नेमिचन्द्राचार्य[2] ने गोम्मटसारके सिवाय दो ग्रन्थ और भी रचे है—उनमेंसे एक है लब्धिसार और दूसरा है त्रिलोकसार। त्रिलोकसारकी सस्कृत टीका

---

१ 'श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासन-गुहाभ्यन्तर-निवासि-प्रवादि-मदाध-सिंधुर-सिंहायमान-सिंहनन्दिमुनीन्द्राभिनन्दितगगवशललामराज-सर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेय-भागधेय-श्रीमद्राजमल्लदेव-महीवल्लभ-महामात्यपदविराजमान रणरगमल्लसहायापराक्रम-गुणरत्नभूपण-सम्यक्त्व-रत्ननिलयादिविविध गुणनामसमासादितकीर्तिकात-श्रीचामुण्डराय-भव्य-पुण्डरीक-द्रव्यानुयोगप्रश्नानुरूप महाकर्मप्रकृतिप्राभतप्रथमसिद्धान्तजीव-स्थानाख्य-प्रथम-खंडार्थ सग्रह-गोम्मटसार-नामधेय-पञ्चसग्रह शास्त्रप्रारभमाण समस्तसैद्धान्तिकचूडामणि श्रीमन्नेमिचन्द्र-सैद्धान्तिकचक्रवर्ती तद्गोम्मटसारप्रथमावयवभूतं जीवकाण्ड विरचयन्।'
—जी० का० म० प्र० टी०, पृ० ३।

२ सिद्धान्तामृतसागर स्वमतिमन्थक्ष्माभृदालोड्य मध्ये, लेभेऽभीष्ट फलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसर। श्रीमद् गोमट-लब्धिसार-विलसत् त्रैलोक्यसाराम रद्माजश्रीसुरधेनुचिन्तितमणीन् श्रीनेमिचन्द्रो मुनि ॥६३॥
—बाहु० च०।

माधवचन्द्र त्रैविद्यके द्वारा रची गई है। ये माधवचन्द्र त्रैविद्य नेमिचन्द्रके समकालिक और उनके एक प्रमुख शिष्य थे। उनके द्वारा रचित भी कुछ गाथाएँ त्रिलोकसारमें है ऐसा उन्होंने अपनी टीकाकी अन्तिम प्रशस्ति[1]में लिखा है। इन माधवचन्द्रने त्रि० सा० की प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा[2] है कि चार अनुयोग रूपी समुद्रोके पारगामी भगवान नेमिचन्द्र सैद्धान्तदेव चामुण्डरायके बहानेसे समस्त विनेय जनोके प्रतिबोधनके लिये त्रिलोकसारकी रचना करते है।

तथा त्रि० सा० की प्रथम गाथाका व्याख्यान करते हुए उन्होने उसे आचार्य नेमिचन्द्रके पक्ष[3]में भी लगाया है और लिखा है कि वल अर्थात् चामुण्डराय और गोविन्द अर्थात् राचमल्लदेव (गगनरेश) ये दोनों नेमिचन्द्रको नमस्कार करते थे।

त्रिलोकसारकी एक प्राचीन प्रतिमें एक चित्र दिया है। जिसमें नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डरायको उपदेश दे रहे है।

अत यह निर्विवाद है कि नेमिचन्द्र चामुण्डरायके समकालीन थे। उन्हीके निमित्तसे उन्होने अपने ग्रन्थोकी रचना की थी और अपने एक सवसे महान् ग्रन्थको चामुण्डरायके अपरनाम 'गोम्मट' से अभिहित किया था।

समय

चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण शक स० ९०० (वि०स० १०३५) में बनाकर समाप्त किया था। अत उनके लिए निर्मित गोम्मटसारका सुनिश्चित समय मुख्तार साहवने विक्रमकी ११वी शताव्दी माना है, और श्री प्रेमीजीने विक्रमकी ग्यारहवी शताव्दीका पूर्वार्द्ध निश्चित किया है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें चामुण्डरायके द्वारा निर्मित गोम्मट जिनकी मूर्तिका निर्देश है। अत यह निश्चित है कि गोम्मटसारकी समाप्ति गोम्मट मूर्तिकी स्थापनाके पश्चात् ही हुई है। किन्तु मूर्तिके स्थापना कालको लेकर इतिहासज्ञोमें

---

१ 'गुरुणेमिचन्द-सम्मद-कदिवय गाहा तहिं तहिं रइदा। माहवचदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥—त्रि०सा०।

२ ' भगवान्नेमिचन्द्रसैद्धान्तदेवश्चतुरनुयोगचतुरुदधिपारगश्चामुण्डरायप्रतिवोधनव्याजेनाशेपविनेयजनप्रतिवोधनार्थं त्रिलोकसारनामान ग्रन्थमारचयन्।' —त्रि० सा० टी०, पृ० २।

३ 'अथवा, णमसामि, कं० 'विमलयरणेमिचन्द' । विमलतर स चासौ नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतरनेमिचन्द्रस्त नमस्यामीति वल चामुण्डराय गा पृथ्वी विंदति पालयतीति गोविन्दो रायमल्लदेव. ।—त्रि० सा० टी०, पृ० ३।

बडा मतभेद है। वाहुवलि चरित्रमें गोम्मटेश्वरकी प्रतिष्ठाका समय इस प्रकार दिया है—

'कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्या शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्ता चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥'

अर्थात् कल्कि सवत् ६०० में विभव संवत्सरमें चैत्र शुक्ल ५ रविवारको कुम्भलग्न, सौभाग्ययोग, मस्त (मृगशिरा) नक्षत्रमें चामुण्डराजने वेल्गुल नगरमें गोमटेशकी प्रतिष्ठा कराई।

किन्तु उक्त तिथि कब पडती है इसमे भी अनेक मत है। प्रो० घोपालने अपने वृहद्रव्यसंग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावनामें उक्त तिथिको २ अप्रैल ९८० ई० माना है। श्री गोविन्द पैने १३ मार्च ९८१ ई० माना है। ज्योतिपाचार्य श्री नेमिचन्द्रजीने [1]लिखा है कि भारतीय ज्योतिषके अनुसार वहुबलि चरित्रमे गोम्मट मूर्तिकी स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, सवत्सर आदि दिये गये है वे १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते है। प्रो० [2]हीरालाल जीने लिखा है कि २३ मार्च १०२८ सन् मे उक्ततिथि वगैरह ठीक घटित होती है। किन्तु शामशास्त्रीने ३ मार्च १०२८ सन् वतलाया है। एस० श्री [3]कण्ठशास्त्री 'कल्क्यब्दे'के स्थान पर 'कल्यब्दे' पाठ ठीक मानते है और शामशास्त्रीके मतको अमान्य करते हुए लिखते है कि १०२८ ई० तक चामुण्डरायके जीवित रहनेके प्रमाणोका अभाव है। उन्होने एक नये आधार पर मूर्तिकी स्थापनाका समय ९०७-८ ई० निर्धारित किया है। इस तरहसे मूर्तिकी स्थापनाके समयको लेकर वहुत मतभेद है।

चामुण्डरायने अपने चामुण्डराय पुराणमें मूर्ति स्थापनकी कोई चर्चा नही की है। इस परसे साधारणतया विद्वानोका यही मत है कि उसकी समाप्तिके पश्चात् ही मूर्तिकी स्थापना हुई है। किन्तु श्रीकण्ठशास्त्री इस वातको महत्व नही देते। रन्नका अजितनाथ पुराण श० स० ९१५ में समाप्त हुआ था। उसमें लिखा है कि 'अत्तिमब्वे'ने गोम्मटेश्वरकी मूर्तिके दर्शन किये। अत यह निश्चित है कि श०स० ९१५ (वि०स० १०५०) से पहले मूर्तिकी प्रतिष्ठा हो

---

१ जै०सि०भा०, भा० ६, पृ० २६१।

२ जै०शि०स० भा० १, प्रस्ता० पृ० ३१।

३ जै० एण्टी०, जि० ५, नं० ४ मे 'दी डेट आफ दी कन्सक्रेशन आफ़ दी इमेज, पृ० १०७-११४।

चुकी थी। यदि चामुण्डरायपुराणमें मूर्तिकी स्थापनाकी कोई चर्चा न होनेको महत्व दिया जाये तो कहना होगा कि वि०स० १०३५ और १०५० के वीचमें किसी समय मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई और इसी १५ वर्षके अन्तरालमें गोम्मटसारकी रचना हुई।

प्रेमीजी ने गगनरेश राचमल्लका राज्यकाल वि०स० १०३१ से १०४१ तक लिखा है। और भुजवलि शतक अनुसार उसीके राज्यकालमे मूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई थी, अत मूर्ति स्थापनाका समय ९८१ ई० (वि०स० १०३८) ही उपयुक्त जान पडता है। उसमें वाहुवलि चरितका तिथि क्रम भी घटित हो जाता है और चामुण्डराय पुराणमें उल्लेख न होने वाली वातकी सगति भी वैठ जाती है। यदि यह ठीक है तो उसके वाद स० १०४० के लगभग गोम्मटसारकी रचना होना सभव है।

इतने विस्तारसे इस पर प्रकाग डालनेका कारण यह है कि अमितगतिने अपना सस्कृत पञ्चसग्रह वि०स० १०७३ में वनाकर समाप्त किया था। और उसके देखनेसे प्रकट होता है कि अमितगतिने सम्भवतया गोम्मटसार को देखा था, क्योकि स० पञ्चसग्रहके प्रथम अध्यायमें जो ३६३ मिथ्यामतोकी उपपत्ति दी है वह कर्मकाण्डसे ली गई प्रतीत होती है। प्रा० पं०स० में तो वह है ही नही और कर्मकाण्डसे बिल्कुल मेल खाती है। कर्मकाण्डमें काल ईश्वर आत्मा नियति और स्वभावका जो लक्षण दिया है उसीका अनुवाद स० पञ्चसग्रह में है। केवल क्रममें अन्तर है। उसमें स्वभाव, नियति, काल, ईश्वर और आत्मा यह क्रम रखा गया है। नीचे कर्मकाण्डकी गाथा के साथ स० पञ्चसग्रहसे उसका सस्कृत अनुवाद दिया जाता है—

१ कालो सव्व जणयदि कालो सव्व विणस्सदे भूद।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वञ्चिदु कालो ॥८७९॥ क० का०।
सुप्तेपु जार्गात सदैव काल काल प्रजा सहरते समस्ता।
भूतानि काल पचतीति मूढा कालस्य कर्त्तृत्वमुदाहरन्ति ॥३१२॥

२ अण्णाणि हु अणीसो अप्पा तस्स य सुह च दुक्ख च।
सग्गं णिरय गमण सव्व ईसरकय होदि ॥८८०॥
अज्ञ शरीरी नरकेऽथ नाके प्रपेर्यमाणो व्रजतीश्वरेण।
स्वस्याक्षमो दु खसुखे विधातुमिद वदन्तीश्वरवादिनोऽन्ये ॥३१३॥

३ एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥
एको देव सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता।
आत्मा मूर्त सर्वभूतस्वरूप साक्षाज्ज्ञाता निर्गुण शुद्धरूप ॥३१४॥

४ जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा ।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥
यथा यदा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुट नियत्येह नियन्त्र्यमाण परो न शक्त किमपीह कर्तुम् ॥३११॥

५ को करइ कटयाण तिक्खत्त मियविहगमादीण ।
विविहत्त तु सहाओ इदि सव्वपि य सहाओ त्ति ॥८८३॥
क स्वभावमपहाय वक्रता कटकेपु विहगेपु चित्रताम् ।
मत्स्यकेपु कुरुते पयोगति पकजेपु खरदण्डता पर ॥३१०॥

इसके सिवाय अन्य भी कई बाते है जो गोम्मटसार जीवकाण्डसे ली गई जान पडती है। जीवकाण्डमे कपायमार्गणामें पचसग्रहसे कुछ विशेप कथन किया है। इस कथनको करने वाली कोई गाथा धवलामे भी हमारे देखनेमें नही आई। उस कथनको करने वाली जीवकाण्डमें यह गाथा विशेप है—

णारय-तिरिक्ख-णर-सुर-गईसु उप्पण-पढम-कालम्मि ।
कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वा पि ॥२८७॥

इसी बातको सं० पञ्च सग्रहमें इस प्रकार कहा गया है—

क्रुद्ध श्वभ्रेपु तिर्यक्षु मायाया प्रथमोदय ।
जातस्य नृपु मानस्य लोभस्य स्वर्गवासिपु ॥२१०॥
आचार्या निगदन्त्यन्ये कोपादि प्रथमोदये ।
भ्रमतो भवकान्तारे नियमो नास्ति जन्मिनाम् ॥२११॥

पहले श्लोकमें उक्त गाथाके तीन चरणोका अनुवाद है और 'अणियमो वाऽपि' इस चतुर्थ चरणके आशयको दूसरे श्लोकसे स्पष्ट किया गया है।

इसी तरह जीवकाण्ड-योग मार्गणामें आहारक शरीरके आकारादिके सम्बन्धमें जो विशेप कथन किया गया है वह सब स० प० स० में भी यथास्थान वर्तमान है।

जीव काण्डमें कहा है—

सुह सठाण धवल हत्थपमाण पसत्थुदय ॥२३७॥
अव्वाघादी अतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।'

स० प० स० मे इसका अनुवाद इस प्रकार है—

'य प्रमत्तस्य मूर्धोत्थो धवलो धातुवर्जित ।
अन्तर्मुहूर्तस्थितिक सर्वव्याघातविच्युत ॥१७६॥
पवित्रोत्तमसंस्थान हस्तमात्रोऽनघद्युति ।'

यदि श्लोक १७६ के उत्तरार्धके स्थानमें श्लोक १७७ के पूर्वार्धको रख दिया जाये तो गाथानुसार अनुवाद हो जाता है।

इन उदाहरणोंसे यह स्पष्ट है कि अमितगतिने नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसार-का भी उपयोग अपने स० पञ्चसग्रहमे किया है। अत गोम्मटसार स० पञ्चसग्रहसे (वि० स० १०७३) तीस पैंतीस वर्ष पूर्व रचा गया होना चाहिये। और इसलिये उसका रचनाकाल वि० स० १०४० के लगभग जानना चाहिये।

विषय-वस्तु

यह पहले लिखा जा चुका है कि गोम्मटसारके दो भाग है, पहले भागका नाम जीवकाण्ड है और दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड। जीवकाण्डके तीन संस्करण प्रकाशित हुए हैं। गाँधी नाथारगजी वम्बई द्वारा प्रकाशित सस्करणमे मूल गाथाएँ और उनकी सस्कृत छाया मात्र है। रायचन्दशास्त्रमाला वम्बईसे प्रकाशित सस्करणमें प० खूबचन्दजी रचित हिन्दी टीका भी दी गई है। ये दोनों सस्करण पुस्तकाकार हैं। गाँधी हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालासे प्रकाशित शास्त्राकार सस्करणमें मूल और छायाके साथ दो सस्कृत टीकाएँ तथा प० टोडरमलजी रचित ढुढारी भाषामें टीका है। पहले दोनो सस्करणोमें गाथा सख्या ७३३ है। किन्तु प्रथम मूल सस्करणमें दूसरेसे एक गाथा जिसका नम्बर ११४ है, अधिक है, यह गाथा दूसरे सस्करणमें नही है। फिर भी गाथा सख्या वरावर होनेका कारण यह है कि प्रथम मूल सस्करणमें दो गाथाओ पर २४७ नम्बर पड गया है। अत पूरे ग्रन्थकी गाथा सख्या ७३४ है। तीसरे सस्करणमें गाथा सख्या ७३५ है। इसमें एक गाथा वढ जानेका कारण यह है कि गाथा न० ७२९ दो बार आई है और उस पर दोनो वार क्रमसे ७२९–७३० नम्वर पड गया है। अत जीवकाण्डकी गाथा सख्या ७३४ है।

जैसा इस भागके नामसे व्यक्त होता है इसमें जीवका कथन है। ग्रन्थकारने प्रथम गाथामें मगलपूर्वक जीवका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और दूसरी गाथा-में उन बीस प्ररूपणाओको गिनाया है जिन वीस अधिकारोके द्वारा जीवका कथन इस ग्रन्थमें किया गया है। वे वीस प्ररूपणाएँ हैं—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, १४ मार्गणाएँ और उपयोग। इन्ही वीस प्ररूपणाओका कथन पञ्चसग्रहके जीव समास नामक अधिकारमें किया गया है। उसीका विस्तार-से प्रतिपादन जीवकाण्डमें है। जीवसमास प्रकरणकी २१६ गाथाओमेंसे अधिकाश गाथाएँ जीवकाण्डमें ज्योकी त्यों ले ली गई हैं।

गोमट्टसार एक सग्रह ग्रथ है, यह वात कर्मकाण्डकी गाथा न० ९६५में आये हुए 'गोम्मटसग्रह सुत्त' नामसे स्पष्ट है। जीवकाण्डका संकलन मुख्यरूपसे पञ्चसग्रहके

जीव समास अधिकार तथा षट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवट्ठाणके सत्प्ररूपणा और द्रव्यपरिमाणानुगम नामक अधिकारोकी धवलाटीकाके आधार पर किया गया है।

यह पहले लिख आये है कि धवलामे दि० पञ्चसग्रहकी बहुत-सी गाथाएँ उद्धृत है और क्वचित् किन्ही गाथाओमे शाब्दिक अन्तर भी है। किन्तु जीवकाण्डमें सकलित इस प्रकारकी गाथाओका पाठ धवलासे मिलता है, पञ्चसग्रहसे नही। अत जीवकाण्डके सकलनमें धवलाकी मुख्यता जाननी चाहिये।

पचसग्रहसे जीवकाण्डमें जो विशेषता है उसका दिग्दर्शन इस प्रकार है—

पञ्चसग्रहमें ३० गाथाओसे गुणस्थानोका कथन है किन्तु जी०का०मे ६८ गाथाओमें कथन है। उसमें बीस प्ररूपणाओका परस्परमे अन्तर्भावका कथन तथा प्रमादोके भगोका कथन पञ्चसग्रहमे विशेष है। पं०स०मे जीवसमासका कथन केवल ग्यारह गाथाओ मे है किन्तु जी०का०में ४८ गाथाओमें है। उसमें स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, और कुलोके द्वारा जीवसमासका कथन विस्तारसे किया है। यह सब कथन प०स०मे नही है। तथा प०स०के इस प्रकरणकी केवल एक गाथा जी०का०मे है शेष सब कथन स्वतन्त्र है।

पर्याप्तिका कथन प०स०में दो गाथाओमे है और जी०का०में ११ गाथाओमें। प०स०की दोनो गाथाएँ जी०का०में है। प्राणोका कथन प०स०में ६ गाथाओमें है और जी०का०मे ५ गाथाओंमें। इसमें प०स०की केवल दो गाथाएँ ली गई है। सज्ञाओकी पाचो गाथाएँ जी०का०में ले ली है केवल स्वामियोका[1] कथन जी०का०में विशेष है।

जी० का० के मार्गणाओके कथनमें एक बडी विशेषता यह है कि उसमें मार्गणाओमें जीवोकी सख्याका कथन भी किया गया है। यह कथन दि० प० स० में नही है।

इन्द्रियमार्गणाके कथनमें पं० स० में एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जीवोको बतलाया है ये जीव एकेन्द्रिय है ये द्वीन्द्रिय है। जी० का० में इसे छोड दिया है और प्रत्येक इन्द्रियके विषयका तथा इन्द्रियोमे लगे हुए आत्मप्रदेशोका कथन विस्तारसे किया है, यह कथन पं० स० में नही है।

कायमार्गणाके कथनमें जी० का० में प० स० से कई बातें विशिष्ट है। जैसे त्रसोका वासस्थान, निगोदिया जीवोसे अप्रतिष्ठित शरीर और स्थावर जीवोके शरीरका आकार। योगमार्गणामें भी इसी तरह कई विशिष्ट कथन है।

कषायमार्गणाके कथनमें जी० का० मे शक्ति, लेश्या और आयुबन्धाबन्धकी

---

१ गा० १३९—जी० का०।

अपेक्षा कपायके भेदोंका कथन किया गया है जो प० स० में नही है। और जी० का० में ज्ञानमार्गणाका कथन तो वेजोड है। श्रुतज्ञानके बीस भेद जो उसमें वतलाये है उनका कथन पट्खण्डागमके वेदनाखण्ड और उसकी धवलासे लिया गया है। यह कथन श्वेताम्वर साहित्यमे भी नही मिलता। इसी तरह अवधिज्ञानके भेदोंका कथन भी वहुत विस्तृत है। ज्ञानमार्गणाकी गाथा सख्या १६६ है। पं० स० में केवल १० गाथाएँ इस प्रकरणमें है।

इसी तरह जी० का० में लेश्यामार्गणा भी वहुत विस्तृत है और लेश्याओका कथन वहुत विस्तारसे किया है। सम्यक्त्वमार्गणामें सम्यक्त्वके भेदोका तथा उनके सम्वन्धसे छै द्रव्यों और नौ पदार्थोका कथन वहुत विस्तृत है। इसमे तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायका तो सभी आवश्यक कथन सगृहीत कर दिया गया है। उसके अतिरिक्त भी वहुत सा कथन सगृहीत किया गया है।

इस तरह जीवकाण्डमें 'गागरमें सागर' की कहावत चरितार्थ की गई है। उसका सकलन वहुत ही व्यवस्थित, सन्तुलित और परिपूर्ण है। इसीसे दिगम्वर साहित्यमें उसका विशिष्ट स्थान रहा है। उसीके कारण पचसग्रह और जीवस्थानके ओझल हो जानेपर भी उनका अभाव नही खटका और लोग एक तरहसे उन्हें भूल ही गये।

कर्मकाण्ड

गोम्मटसारके दूसरे भागका नाम कर्मकाण्ड है। इसके दो सस्करण प्रकाशित हुए है। रायचन्द शास्त्रमाला वम्वईसे प्रकाशित सस्करणमें मूल तथा हिन्दी टीका है। और हरिभाईदेवकरण शास्त्रमालासे प्रकाशित सस्करणमें मूलके साथ सस्कृत टीका और उस सस्कृत टीकाके आधारपर ढुंढारी भाषामें लिखी हुई टीका दी गई है। उसकी गाथासख्या ९७२ है। उसमें नौ अधिकार है—१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन, २ वन्धोदयसत्त्व, ३ सत्त्वस्थानभग, ४ त्रिचूलिका, ५ स्थानसमुत्कीर्तन, ६ प्रत्यय, ७ भावचूलिका, ८ त्रिकरणचूलिका और ९ कर्मस्थितिरचना।

१ प्रकृतिसमुत्कीर्तन

इसका अर्थ होता है आठो कर्मो और उनकी उत्तरप्रकृतियोका कथन जिसमे हो। यत कर्मकाण्डमे कर्मो और उनकी विविध अवस्थाओका कथन है अत पहले अधिकारमें यह वतलाते हुए कि जीव और कर्मका सम्वन्ध अनादि है कर्मोके आठ भेदोके नाम, उनका कार्य, उनका क्रम, उनकी उत्तरप्रकृतियोमेंसे कुछ विशेष प्रकृतियोका स्वरूप, वन्धप्रकृतियों, उदयप्रकृतियो और सत्वप्रकृतियोकी सख्यामें अन्तरका कारण, देशघाती, सर्वघाती, पुण्य और पापप्रकृतियाँ, पुद्गलविपाकी,

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी और जीवविपाकी प्रकृतियाँ, कर्ममें निक्षेपयोजना आदि-का कथन ८६ गाथाओंमें किया गया है।

इस अधिकारकी गा० २२ में कर्मोके उत्तरभेदोकी संख्या दी है किन्तु आगे उन भेदोको न बतलाकर उनमेंसे कुछ भेदोके सम्बन्धमें विशेष बाते बतला दी है। जैसे दर्शनावरणीयकर्मके नौ भेदोमेंसे पाँच निद्राओका स्वरूप गा० २३-२४-२५ द्वारा बतलाया है। फिर गाथा २६ में मोहनीयकर्मके एक भेद मिथ्यात्वके तीन भाग कैसे होते है, यह बतलाया है। फिर गाथा २७ में नामकर्मके भेदोमेंसे शरीरनामकर्मके पाँच भेदोके सयोगी भेद बतलाये है। गा० २८ में अगोपाग बतलाये है। गा० २९, ३०, ३१, ३२ में किस सहननवाला जीव मरकर किस नरक और किस स्वर्ग तक जन्म लेता है, यह कथन किया है। गाथा ३३ में बतलाया है कि उष्णनामकर्म और आतपनामकर्मका उदय किसके होता है। इस प्रकार आठो कर्मोकी प्रकृतियोको बतलाये विना उनमेंसे किन्ही प्रकृतियोके सम्बन्ध-में कुछ विशेष कथन करनेसे ग्रन्थ अधूरा सा प्रतीत होता है। कुछ[1] वर्षो पहले इस प्रश्नको प० परमानन्दजीने उठाया था। और फिर यह भी प्रकट[2] किया था कि कर्मप्रकृति नामक एक ग्रन्थ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मिला है। उसपर-से कर्मकाण्डका अधूरापन दूर हो जाता है। इस कर्मप्रकृतिकी १५९ गाथाओमेंसे ७५ गाथाएँ ऐसी है जो उक्त कर्मकाण्डमें नही पाई जाती और जिन्हे यथास्थान जोड देनेसे कर्मकाण्डका सारा अधूरापन दूर होकर सवकुछ सुसम्वद्ध हो जाता है। पं० परमानन्दजीने उन छूटी हुई ७५ गाथाओको भी अपने उस लेखमें दिया था और यथास्थान उनकी योजना भी की थी। किन्तु प्रो० हीरालालजी[3] आदि कतिपय विद्वानोने प० परमानन्दजीकी योजना तथा उनके मन्तव्यको स्वीकृत नही किया। उनका कहना था कि कर्मकाण्ड अपनेमें पूर्ण है उसमें अधूरापन नही है।

प० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'पुरातन जैन वाक्य सूची' की अपनी प्रस्तावना[4]में उक्त चर्चाका विवरण देते हुए 'प० परमानन्दजीके इस मन्तव्यसे अपनी असहमति प्रकट की है कि कर्मप्रकृतिकी ७५ गाथाएँ कर्मकाण्डकी अंगभूत है।

१ देखो—अनेकान्त वर्ष ३, कि० ४, पृ० ३०१।

२ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ८-९ में 'गोम्मटसारकी त्रुटिपूर्ति' शीर्षक लेख।

३ अनेकान्त, वर्ष ३, कि० ११ में 'गोमटसार कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति पर विचार' शीर्षक लेख।

४ पृ० ७४ आदि।

और किसी समय लेखकोकी कृपासे कर्मकाण्डसे छूट गई या उससे जुदा पड गई है। अत उन्हे कर्मकाण्डमें शामिल करके त्रुटिकी पूर्ति कर लेनी चाहिये।

उन्होने लिखा है कि कर्मप्रकृति प्रकरण और प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार इन दोनोको एक कैसे समझ लिया गया है जिसके आधारपर एकमें जो गाथाएँ अधिक है उन्हे दूसरेमें भी शामिल करनेका प्रस्ताव रक्खा है। जवकि कर्मप्रकृतिमे प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारसे ७५ गाथाएँ अधिक ही नही, बल्कि उसकी ३५ गाथाएँ (न० ५२ से ८६ तक) कम भी है जिन्हे कर्मप्रकृतिमें शामिल करनेके लिये नही कहा गया। और इसी तरह २३ गाथाएँ कर्मकाण्डके द्वितीय अधिकारकी (गा० १२७ से १४५, १६३, १८०, १८१, १८४) तथा ग्यारह गाथाएँ छठे अधिकारकी (८०० से ८१० तक) भी उसमें और अधिक पाई जाती है परन्तु प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें उन्हें शामिल करनेका सुझाव नही रक्खा गया। दोनोके एक होनेकी दृष्टिसे यदि एककी कमीको दूसरे से पूरा किया जाये और इस तरह प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारकी उक्त ३५ गाथाओको कर्मप्रकृतिमे शामिल करानेके साथ कर्मप्रकृतिकी उक्त (२३ + ११) ३४ गाथाओको भी प्रकृति समुत्कीर्तनमें शामिल करानेके लिये कहा जाये तो × × × यह प्रस्ताव विल्कुल असगत होगा क्योंकि वे गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके साथ किसी तरह ही सगत नही है। वास्तवमें ये गाथाएँ प्रकृति समुत्कीर्तनसे नही, किन्तु स्थितिवन्धादिकसे सम्वन्ध रखती है।'

अत कर्मप्रकृति एक स्वतत्र ग्रन्थ ही ठहरता है जिसमें प्रकृति समुत्कीर्तनको ही नही, किन्तु प्रदेशवन्ध, स्थितिवन्ध और अनुभागवन्धके कथनोको भी अपनी रुचिके अनुसार सकलित किया गया है और उसका सकलन गोम्मटसारके निर्माणके वाद किसी समय हुआ जान पडता है। मुख्तारसाहवका यह निष्कर्ष उचित है। इसीसे उसको यहाँ उद्धृत कर दिया है। किन्तु इस तरह कर्मप्रकृतिके एक स्वतत्र ग्रन्थ मान लिये जानेपर भी कर्मकाण्डके प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारके गा० २२ से ३३ तकमें जो असवद्धता और अपूर्णता प्रतीत होनेका प्रश्न है वह तो खडा ही रहता है। उसके सम्वन्धमें भी हमें मुख्तारसाहवका सुझाव मान्य प्रतीत होता है।

जिन दिनो कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्तिकी चर्चा चल रही थी तव स्व० प० लोकनाथजी शास्त्रीने मूडविद्रीके सिद्धान्तमन्दिरके शास्त्र भण्डारमें, जहाँ धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोकी मूलप्रतियाँ मौजूद है, गोम्मटसारकी खोज की थी और अपने खोजके परिणामसे मुख्तारसाहवको सूचित किया था। उन्होने सूचित किया था कि उक्त शास्त्र भण्डारमे गोम्मटसारके जीवकाण्डकी मूलप्रति त्रिलोकसार और लब्धिसार क्षपणासार सहित ताडपत्रोपर मौजूद हैं। पत्र सख्या जीवकाण्डकी

३८, कर्मकाण्डकी ५३, त्रिलोकसारकी ५१ और लब्धिसार-क्षपणासारकी ४१ है। ये सब ग्रन्थ पूर्ण है। और उनकी पद्यसख्या क्रमश. ७३०, ८७३, १०१८ और ८२० है। ताडपत्रोकी लम्बाई दो फुट दो इच और चौडाई दो इच है। लिपि प्राचीन कन्नड है।

ये तो हुआ प्रतियोके सम्बन्धमें। प्रकृत चर्चाके सम्बन्धमें शास्त्रीजीने लिखा था—कि कर्मकाण्डमे विवादस्थ स्थल प्रतिमें सूत्र रूपमे है। और मुख्तारसाहबको उसका विवरण भी भेजा था। मुख्तारसाहबने पुरातन वाक्यसूचीकी अपनी प्रस्तावनामे उस विवरणके आधारपर जो कुछ लिखा है उसे हम यहाँ दे देना उचित समझते है—

'कर्मकाण्डकी २२वी गाथामें ज्ञानावरणादि आठ मूल प्रकृतियोकी उत्तर कर्मप्रकृतियोकी सख्याका ही क्रमश निर्देश है—उत्तरप्रकृतियोके नामादि नही दिये। २३वी गाथामें क्रम प्राप्त ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियोका कोई उल्लेख न करके दर्शनावरणकी नौ प्रकृतियोमेंसे स्त्यानगृद्धि आदि पाँच प्रकृतियोके कार्यका निर्देश करना प्रारम्भ कर दिया है। इन २२ और २३ गाथाओके बीचमें निम्न गद्यसूत्र पाये जाते है जिनमे ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मोकी उत्तर-प्रकृतियोका स्पष्ट उल्लेख है और जिनसे दोनो गाथाओका सम्बन्ध ठीक जुड जाता है।—

'णाणावरणीय दसणावरणीयं वेदणीय (मोहणीय) आउग णाम गोद अतराय चेइ। तत्थ णाणावरणीय पचविह आभिणिवोहिय-सुद-ओहि-मणपज्जवणाणा-वरणीय केवलणाणावरणीयं चेइ। दंसणावरणीय णवविहं थीणगिद्धि, णिद्दाणिद्दा, पयलापयला, णिद्दा य पयला य चक्खु-अचक्खु-ओहि दसणावरणीय केवलदसणा-वरणीयं चेइ।'

२५वी गाथामें दर्शनावरणीय कर्मकी नौ प्रकृतियोमेंसे प्रचला प्रकृतिके कार्य-का निर्देश है। इसके बाद क्रमप्राप्त वेदनीय तथा मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोका कोई निर्देश न करके २६वी गाथामें एकदम यह प्रतिपादन किया है कि मिथ्यात्व-का द्रव्य तीन भागोमे बँटकर कैसे तीन प्रकृति रूप हो जाता है। मूडविद्रीकी उक्त प्राचीन प्रतिमें दोनो उक्त गाथाओके मध्यमें निम्न गद्यसूत्र है जिनसे उक्त त्रुटि अशकी पूर्ति हो जाती है—

'वेदनीय दुविह सादावेदणीयमसादावेदणीय चेइ। मोहणीय दुविह दसण-मोहणीय चारित्तमोहणीय चेइ। दसणमोहणीय बधादो एयविह मिच्छत्त, उदय सत पडुच्च तिविह मिच्छत्त सम्मामिच्छत्त सम्मत्तं चेइ।'

२६वी गाथाके बाद चारित्र मोहनीयकी मूलोत्तर प्रकृतियो, आयुकर्मकी प्रकृ-

तियो और नामकर्मकी प्रकृतियोंका कोई नामनिर्देश न करके २७वी गाथामें एकदम १५ सयोगी भेदोको गिनाया है जो नामकर्मकी शरीरवन्धन प्रकृतियोसे सम्बन्ध रखते है, परन्तु वह कर्म कौन-सा है और उसकी किन-किन प्रकृतियोंके ये सयोगी भेद है यह सव ज्ञान नही होता। मूडविद्रीकी उक्त प्रतिमें निम्न गद्य सूत्र उक्त दोनो गाथाओके बीचमे पाये जाते है। जिनसे कथनकी सगति वैठ जाती है क्योकि उनमें चारित्र मोहनीयकी २८, आयुकी ४ और नामकर्मकी ४२ पिण्ड प्रकृतियोका नामोल्लेख करनेके अनन्तर नामकर्मके जाति आदि भेदोकी उत्तर प्रकृतियोका उल्लेख करते हुए शरीर वन्धन नामकर्मकी पाँच प्रकृतियो तक ही कथन किया गया है, इससे गाथा न० २७ के साथ उसकी सगति विल्कुल ठीक वैठती है—

"चारित्त मोहणीय दुविह कसायवेदणीय णोकसायवेदणीय चेइ। कसायवेदणीय सोलसविह खवण पडुच्च अणताणुवधि कोह-माण-माया-लोह अपच्चक्खाण पच्चक्खाणावरण कोह-माण-माया-लोह कोहसजलण माणसंजलणं मायासंजलण लोहसजलण चेइ। [1]पक्कमदव्व पडुच्च अणताणुवधि-लोह-कोह-माया-माण सजलण लोह-माया-कोह-माण पच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण अपच्चक्खाण लोह-कोह-माया-माण चेइ। णोकसाय वेदणीय णवविह पुरसित्थिणउसयवेद रदि-अरदि-हस्स-सोग-भय-दुगुच्छा चेदि। आउग चउविह णिरयाउगं तिरिक्ख-माणुस्स-देवाउग चेदि। णाम वादालीस पिंडापिंडपयडिभेयेण गयि-जायि-सरीर-वधण-सघाद-सठाण-अगोवग-सघडण-वण्ण-गध-रस-फास-आणुपुव्वी - अगुरुलहुगुवघाद - परघाद-उस्सास-आदाव-उज्जोद - विहायगयि-तस-थावर-वादर-सुहुम—पज्जत्तापज्जत्त-पत्तेय-साहारणसरीर-थिराथिर-सुभासुभ-सुभग-दुभग-सुस्सर-दुस्सर-आदेज्जाणादेज्ज-जसाजसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणाम चेदि। तत्थ गयिणाम चउव्विह णिरयतिरिक्खगयिणाम मणुसदेवगयिणाम चेदि। जायिणाम पचविह एइंदिय-विइदिय-तीइदिय-चउइदियजायिणाम पचिंदिय जायिणाम चेदि। सरीरणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयसरीरणाम चेइ। सरीरबधणणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइय-सरीरबधणणाम चेइ।

---

१ गो० कर्मकाण्डकी सस्कृत टीकामें इन सूत्रोका अक्षरश संस्कृत रूपान्तर मिलता है। उससे मिलान करनेसे तथा सैद्धान्तिक दृष्टिसे भी सूत्रका पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। टीकाका सस्कृत पाठ इस प्रकार है—'प्रक्रमद्रव्य विभजनद्रव्य प्रतीत्य अनन्तानुवधि लोभ माया क्रोध मानं सज्वलनलोभ-माया क्रोधमान प्रत्याख्यानलोभमायाक्रोधमान अप्रत्याख्यानलोभमाया क्रोध-मान चेति।'

सूत्रके अन्तमें आगत शरीरवन्धन नामकर्मके पाँच भेदोके १५ सयोगी भेद गाथा २७में वतलाये है। गाथा २८में शरीरके आठ अग वतलाये हैं। मूडविद्री-की प्राचीन प्रतिमें गा० २७ और २८के वीचमे नीचे लिखे गद्य सूत्र हैं—

'शरीरसघादणाम पचविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-तेज-कम्मइयशरीर-सघाद णाम चेदि। शरीरसंठाणणामकम्मं छव्विहं समचउरसठाणणामं णग्गोद-परिमडल-सादिय-कुज्ज-वामण-हुडशरीरसठाणणामं चेदि। मरीरअंगोवगणाम तिविह ओरालिय-वेगुव्विय-आहार-सरीरअगोवग णाम चेदि।

२८वी गाथाके वाद नीचे लिखा गद्य सूत्र है—

'सहडणणाम छव्विह वज्जरिसहणारायसहडणणाम वज्जणाराय-णाराय-अद्धणाराय-खीलिय-असपत्तसेवट्ठिशरीरसहडणणाम चेइ।'

२८वी गाथाके अनन्तर चार गाथाओमें छै सहननोका कथन है। जिनमेंसे प्रथम तीन गाथाओमें यह वतलाया है कि किस सहनन वाला जीव मरकर किस स्वर्ग तक अथवा किस नरक तक जन्म लेता है। और चौथी गाथामे वतलाया है कि कर्मभूमिकी स्त्रियोंके अन्तके तीन सहननोका ही उदय होता है।

उक्त सूत्रके साथ इन गाथाओकी सगति वैठ जाती है।

गाथा ३२के वाद नीचे लिखे गद्यसूत्र मूडविद्री की प्रति में है—

'वण्णनाम पचविह किण्ण-नील-रुहिर-पीद-सुक्किलवण्णणाम चेदि। गधणाम-दुविहं सुगध-दुगध णाम चेदि। रसणाम पचविहं तिट्ठ-कडु-कसायविल-महुर-रस-णाम चेइ। फासणाम अट्ठविह कक्कड-मउगगुरुलहुग-रुक्ख-सणिद्ध-सीदुसुण-फास-णाम चेदि। आणुपुव्वी णाम चउव्विहं णिरय-तिरक्खगाय-पाओग्गाणुपुव्वीणामं मणुस-देवगयि-पाओग्गाणुपुव्वी-णाम चेइ। अगुरुलघुग-उवघाद-परघाद-उस्सास-आदव-उज्जोद-णाम चेदि। विहायगदिणाम कम्म दुविह पसत्थविहायगदिणाम अप्पसत्थ-विहायगदिणाम चेदि। तस-वादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीर-सुभ-सुभग-सुस्सर-आदेज्ज-जसकित्ति-णिमिण-तित्थयरणाम चेदि। थावर-सुहुम-अपज्जत्त-साहारणसरीर-अथिर-असुह-दुब्भग-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसकिंति णाम चेदि।

इसके पश्चात् गाथा ३३ है जिसमें उष्ण नामकर्म और आतप नामकर्ममें अन्तर स्पष्ट किया है। गाथा ३३ के साथ नामकर्मकी प्रकृतियोकी गणना समाप्त हो जाती है। ३३ गाथाके पश्चात् नीचे लिखे सूत्र है। जिनमें गोत्रकर्म और अन्तराय कर्मकी प्रकृतियाँ वतलाई है—

'गोदकम्म दुविह उच्चणीचगोद चेइ। अतराय पंचविह दाण-लाभ-भोगोप-भोग-वीरिय-अंतराय चेइ।

मूडविद्रीकी प्रतिमे पाये जाने वाले उन सूत्रोको यथास्थान स्थान देनेसे कर्मकाण्ड गा० २२ से ३३ तकमे जो असम्बद्धता प्रतीत होती है वह दूर हो जाती है और सब गाथाएँ सुसगत प्रतीत होने लगती है।

दि० प्रा० पञ्चसग्रहके दूसरे अधिकारका नाम भी प्रकृति समुत्कीर्तन है। उसके प्रारम्भमें चार गाथाएँ है। पहली मगल गाथाको छोडकर शेप तीनो गाथाएँ कर्मकाण्डमें २०, २१, २२ नम्बरको लिये हुए विराजमान है। २२वी गाथामें आचार्य नेमिचन्द्रने थोडा-सा परिवर्तन कर दिया है। नाम कर्मकी ९३ या १०३ प्रकृतिया लिखकर उन्होने कर्म प्रकृतिमें निर्दिष्ट १५८ कर्म प्रकृतियोकी मान्यताका भी सग्रह किया है।

पञ्चसग्रहमें आठो कर्मोकी प्रकृतियोकी सख्या बतलाने वाली गाथाके पश्चात् प्रकृतियोके नामादिका कथन गद्य सूत्रो द्वारा ही किया गया है। उसी पद्धतिका अनुसरण नेमिचन्द्राचार्यने भी किया था, ऐसा मूडविद्रीकी कर्मकाण्डकी प्रतिसे प्रतीत होता है। पञ्चसग्रहमे गद्य सूत्रोके द्वारा क्रमसे सब प्रकृतियोका निर्देश किया है। कर्मकाण्डमें बीच बीचमे गाथासूत्र देकर प्रकृतियोके सम्बन्धमे आवश्यक उपयोगी कथनोका भी सग्रह किया गया है।

जीव स्थानकी चूलिकाके अन्तर्गत भी प्रकृति समुत्कीर्तन नामक अधिकार है। पञ्चसग्रहका प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार उसीकी उपज है। और इन्हीकी उपज कर्मकाण्डका प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार है। उसमें जो गद्यसूत्र है वे उक्त ग्रन्थोंके अन्तर्गत गद्यसूत्रोका ही सक्षिप्त रूप है। उनमें जो कही अन्तर किया गया है वह कर्मकाण्डकी दृष्टिसे ही किया गया है।

उल्लेखनीय अन्तर दर्शनावरणीय कर्मकी प्रकृतियोके क्रममें है। जी० स्था० चूलिका तथा पञ्चसग्रहमें निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा और प्रचला यह पाँच निद्राओका क्रम है और कर्मकाण्डगत गद्य सूत्रमें, जो कि मूडविद्रीकी प्राचीन प्रतिमे उपलब्ध है—स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला प्रचला, निद्रा और प्रचला यह क्रम है। उक्त क्रमको बदलनेका कारण यह है कि कर्मकाण्डमें प्रदेशबन्धके कथनमे समय प्रबद्धका विभाग आठो मूलकर्मोमें तथा उनकी उत्तर प्रकृतियोमें बतलाया है। दर्शनावरणीय कर्मकी उत्तरप्रकृतियोमें जिस क्रमसे बँटवारा होता है वही क्रम कर्मकाण्डके गद्यसूत्रमें अपनाया गया है। यह बात चारित्र मोहनीयकी उत्तर प्रकृतियोको बतलाने वाले गद्यसूत्रोसे समर्थित होती है। मूडविद्रीवाली प्रतिसे ऊपर चारित्रमोहनीय सम्बन्धी जो गद्यसूत्र दिये गये है उनमें कषायवेदनीयके सोलह भेदोको दो अपेक्षाओसे गिनाया गया है—एक क्षपणकी अपेक्षा से और एक प्रक्रम द्रव्यकी अपेक्षासे। प्रक्रम द्रव्यका अर्थ प० टोडरमलजी ने

अपनी टीकामें लिखा है—'प्रकृति प्रदेश बन्ध विषै परमाणूनिका बँटवारा है ताकी अपेक्षा कहिये।' क्षपणाकी अपेक्षा तो जो प्रसिद्ध क्रम है वही है किन्तु बँटवारेकी अपेक्षा क्रम भिन्न है ऐसा इन सूत्रोंसे बतलाया है।

अतः मूडबिद्रीकी प्रतिमें वर्तमान गद्यसूत्र अवश्य ही कर्मकाण्डके अंग हैं और वे नेमिचन्द्राचार्यकी कृति हैं। कर्मकाण्डकी मुद्रित संस्कृत टीकामें इन सूत्रोंका संस्कृत रूपान्तर अंकित, पाया जाना भी उसकी पुष्टि करता है। इन सूत्रोंको यथा स्थान रखनेसे कर्मकाण्डकी त्रुटिपूर्ति हो जाती है।

२ बन्धोदय सत्त्वाधिकार

इस अधिकारमें कर्मोंके बन्ध उदय और सत्त्वका कथन है। दि० प्रा० पञ्च-संग्रहमें भी इस नामका तीसरा अधिकार है जो कर्मस्तव कहलाता है। उसकी प्रथम गाथाका उत्तरार्ध है—'बन्धुदयसत्तजुत्तं वोच्छामि थवं णिसामेह।' नेमिचन्द्राचार्यने अपने कथनके अनुसार उसमें परिवर्तन करके उसे इस प्रकार रखा है—'बन्धुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं।' कर्मस्तव या पञ्चसंग्रहमें स्तवका अर्थ नहीं किया। किन्तु कर्मकाण्डके इस अधिकारकी दूसरी गाथा[1]में उसका अर्थ कहा है—'जिसमें सकल अंगोंका विस्तार या संक्षेपसे कथन हो उस शास्त्रको स्तव कहते हैं। जिसमें एक अंगका विस्तार या संक्षेपसे कथन हो उसे स्तुति कहते हैं और जिसमें एक अंगके अधिकारका कथन विस्तार या संक्षेपसे हो उसे धर्मकथा कहते हैं'। यह लक्षण धवलाके आधार पर रचित है। वेदनाखण्डके कृति अनुयोग द्वारके सूत्र ५५में 'थय-थुदि-धम्म कहा' आया है। धवला[2]में उसके लक्षण कहे हैं। उसीपरसे नेमिचन्द्राचार्यने एक गाथाके द्वारा तीनों लक्षणोंको कहा है।

स्तवके लक्षणके अनुसार कर्मकाण्डके इस दूसरे अधिकारमें कर्मोंके वन्ध, उदय सत्त्वका गुणस्थान और मार्गणाओंमें सर्वांगपूर्ण कथन दिया गया है। ऐसा समझना चाहिये।

सबसे प्रथम वन्धका कथन करते हुए वन्धके चारों भेदोंका-प्रकृतिवन्ध, स्थिति वन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्धका, क्रमशः कथन किया गया है। प्रकृति-

---

१ 'सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थर ससंखेव। वण्णणसत्थं थयथुइ-धम्मकहा होइ णियमेण ॥८८॥—क० का०।

२ वारसंगसंघारो सयलंगविसयप्पणादो थवो णाम। वारसंगेसु एक्कंगोव-संघारो थुदी णाम। एक्कंगस्स एगाहियारोवसंहारो धम्मकहा।'

—षट्खं०, पु० ९, पृ० २६३।

वन्धका कथन करते हुए प्रथम यह वतलाया है कि किन २ कर्म प्रकृतियोका वन्ध किस किस गुणस्थान तक होता है, आगे नही होता। यह कथन पञ्चसंग्रहमे भी है। गुणस्थानोमें आठो कर्मोकी १२० वन्ध प्रकृतियोके वन्ध, अवन्ध और वन्ध व्युच्छित्तिका कथन करनेके वाद चौदह मार्गणाओमे वही कथन किया गया है। यह कथन पचसग्रहमे नही है। इसे नेमिचन्द्राचार्यने षट्खण्डागमके वन्ध स्वामित्व विचय नामक तीसरे खण्डसे लिया है।

प्रकृतिवन्धके पश्चात् स्थितिवन्धका कथन है। उसमे कर्मोकी मूल तथा उत्तर-प्रकृतियोकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थितिवन्धका तथा उनके वन्वकोका कथन किया है। पचसग्रहके चतुर्थ अधिकारमें जो स्थितिवन्धका कथन है उससे कर्मकाण्डके कथनमें कई विशेपताएँ है। कर्मकाण्ड[1]में एकेन्द्रियादि जीवोके होनेवाले स्थिति-वन्धका भी कथन किया है, जो जीवस्थानकी जघन्यस्थिति चूलिकाकी धवला-टीका[2]का ऋणी है। अन्तमें कर्मोकी आवाधाका कथन है।

तत्पश्चात् अनुभागवन्धका और फिर प्रदेशवन्धका कथन है। ये कथन पञ्च-सग्रहके ऋणी है। किन्तु कुछ कथन उससे विशेप भी है। प्रदेशवन्धका कथन करते हुए प० स० में तो समयप्रवद्धका विभाग केवल मूलकर्मोमें ही वतलाया है किन्तु कर्मकाण्डमें उत्तरप्रकृतियोमें भी विभागका कथन किया है। तथा कर्मकाण्ड-में प्रदेशवन्धके कारणभूत योगके भेदो और अवयवोका भी कथन है। यह कथन पंचसग्रहमें नही है, धवला और जयधवलामें है। इस वन्धप्रकरणमें पञ्चसग्रहकी कई गाथाएँ ज्योकी त्यो संगृहीत है। उदयप्रकरणमें कर्मोके उदय और उदीरणका कथन गुणस्थान और मार्गणाओमें है अर्थात् प्रत्येक गुणस्थान और मार्गणामें प्रकृतियोके उदय, अनुदय और उदय व्युच्छित्तिका कथन है। सत्त्व प्रकरणमें गुणस्थान और मार्गणाओमें प्रकृतियोकी सत्ता, असत्ता और सत्त्व व्युच्छितिका कथन है। मार्गणाओमें वन्ध उदय और सत्त्व का कथन अन्यत्र नही मिलता। नेमिचन्द्राचार्यने प्राप्त उल्लेखोके आधारपर उसे स्वय फलित करके लिखा है। यह वात उदय और सत्त्वकी अन्तिम [3]गाथाके द्वारा ग्रन्थकार नेमिचन्द्रने स्वय भी कही है।

३ सत्त्व स्थान भग

पिछले प्रकरणमें कहे गये सत्त्व स्थानका भगोके साथ कथन इस प्रकरणमें

---

१ गा० १४४-१४५। २—षट्ख० पु० ६, पृ० १८४ तथा १९५।

३ 'कम्मेवाणाहारे पयडीणं उदयमेवमादेसे। कहियमिण बलमाहवचदञ्चिय-णेमिचदेण ॥३३२॥ कम्मेवाणाहारे पयडीण सत्तमेवमादेसे। कहियमिणं वलमाहवचंदञ्चियणेमिचदेण ॥३५६॥—क०-का०।

है। प्रत्येक गुणस्थानमें प्रकृतियोंके सत्त्व स्थान कितने प्रकारसे संभव हैं, और उसके साथ जीव किस आयुको भोगता है और परभवकी किस २ आयुको बाँधता है। यह सब कथन इस प्रकरणमें है।

इसी प्रकरणके अन्तमें ग्रन्थकारने यह कहा[1] है कि इन्द्रनन्दि गुरुके पासमें श्रवण करके कनकनन्दिने सत्त्व स्थानका कथन किया। कनकनन्दिके 'विस्तरसत्त्व त्रिभंगी' नामक ग्रन्थका परिचय पीछे करा आये हैं। उसे नेमिचन्द्राचार्यने अपने इस प्रकरणमें प्रायः ज्योंका त्यों अपना लिया है। आराकी प्रतिमें गाथा सं० ८८ है और कर्मकाण्डके मुद्रित संस्करणोंमें इस प्रकरणकी गाथा संख्या ३५८ से ३९७ तक ४० है। अतः केवल ८ गाथाएँ छोड़ दी गई है और उनमें क्रमभेद भी किया गया है। जिस गाथा ३९७ मे चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छः खण्डोंको अपनी बुद्धिसे साधनेकी बात कही गई है वह गाथा भी कनकनन्दिके विस्तार सत्त्व त्रिभंगीकी है। अतः नेमिचन्द्रकी तरह कनकनन्दि भी सिद्धान्त चक्रवर्ती थे।

४ त्रिचूलिका अधिकार

इस अधिकारमे तीन चूलिकाएँ हैं—नव प्रश्न चूलिका, पचभागहार चूलिका और दशकरण चूलिका। जैसे जीवस्थानके विषम स्थलोंके विवरणके लिये उसके अन्तमे चूलिका नामक एक भाग आता है वैसे ही कर्मकाण्डमे प्रतिपादित पूर्वाधिकारोंके सम्बन्धमें विशेष कथन करनेके लिये यह अधिकार आया है। पहली नौ प्रश्न चूलिकामें नौ प्रश्नोंका समाधान किया गया है। वे नौ प्रश्न इस प्रकार है १ उदयव्युच्छित्तिके पहले बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। २ उदय व्युच्छित्तिके पीछे बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ३ और उदय व्युच्छित्तिके साथ बन्धकी व्युच्छित्ति किन प्रकृतियोंकी होती है। ४ जिनका अपना उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी है। ५ जिनका अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो ऐसी प्रकृतिया कौन सी है। ६ और जिनका अपना तथा अन्य प्रकृतिका उदय होनेपर बन्ध हो, वे प्रकृतियो कौनसी हैं। ७ जिनका निरन्तर बध होता है ऐसी प्रकृतियाँ कौनसी है। ८ जिनका सान्तरबन्ध होता है अर्थात् कभी बन्ध होता है और कभी नही होता, वे प्रकृतियाँ कौनसी है ९ और जिनका निरन्तर बन्ध भी होता है और सान्तरबन्ध भी होता है वे प्रकृतियाँ कौनसी है? इन नौ प्रश्नोका उत्तर इस चूलिकामें दिया गया है। प्रा० प० स० के तीसरे अधिकारके अन्तमें नौ प्रश्न चूलिका आई है तथा षट्खण्डागम[2] के अन्तर्गत बन्धस्वामित्वविचय नामक तीसरे खण्डकी

१ क० का०, गा० ४९६।

२ षट्ख० पु० ८, पृ० ७—१७।

धवलाके प्रारम्भमें ये नौ प्रश्न उठाकर उनका समाधान किया गया है और उसके समर्थनमें कुछ आर्ष गाथाएँ भी उद्धृत की गयी है। इन्हीके आधारसे यह नौ प्रश्न चूलिका लिया गया प्रतीत होता है।

पच भाग हार चूलिकामें उद्वेलन, विध्यात, अध प्रवृत्त, गुणसक्रम और सर्व-सक्रम इन पाँच भागहारोका कथन है। इन भागहारोके द्वारा जीवोके शुभाशुभ-कर्म अपने परिणामोके निमित्तसे अन्य प्रकृतिरूप परिणमन करते है। जैसे शुभ परिणामोका निमित्त पाकर बधा हुआ असातावेदनीयकर्म सातावेदनीय रूप परि-णत हो जाता है। किस-किस कर्मप्रकृतिमे कौन-कौन भागहार सम्भव है और किस-किस भागहारके अन्तर्गत कौन-कौन प्रकृतियाँ है यह सब भी कथन किया गया है। साथ ही चूँकि पाँचो भागहार एक भाजक राशिके तुल्य हैं अत उनका परस्परमें अल्पबहुत्व भी बतलाया गया है। यह सब कथन पञ्चसग्रहमें नही है।

दशकरण चूलिका—इसमें बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा, सत्ता, उदय, उपसम, निधत्ति और निकाचना इन दस करणोका स्वरूप कहा गया गया है और बतलाया गया है कि कौन करण किस गुणस्थान तक होता है। करण नाम क्रिया का है—कर्मोमें ये दस क्रियाएँ होती है। कर्मप्रकृतिमें इन करणो-का स्वरूप बहुत विस्तारसे वर्णित है। [1]जयधवलामें 'दसकरणी सग्रह' नामक एक ग्रन्थका निर्देश है उसमें भी, जैसा कि उसके नामसे प्रकट होता है, दस करणोके कथनका सग्रह होना चाहिए।

५. बन्धोदय सत्त्व युक्त स्थान समुत्कीर्तन

एक जीवके एक समयमें जितनी प्रकृतियोंका बन्ध, उदय अथवा सत्त्व सभव है उनके समूहका नाम स्थान है। इस अधिकारमें पहले आठो मूलकर्मोको लेकर और फिर प्रत्येक कर्मकी उत्तर प्रकृतियोको लेकर बन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्त्व स्थानोका कथन किया गया है। जैसे मूलकर्मोका कथन करते हुए कहा है कि तीसरे मिश्रगुणस्थानके सिवाय अप्रमत्त पर्यन्त छै गुणस्थानोमें एक जीवके आयुकर्मके बिना सातकर्मोका अथवा आयु सहित आठ कर्मोका बन्ध होता है, तीसरे, आठवें और नौवें, इन तीन गुणस्थानोमें आयुके बिना सात कर्मोका ही बन्ध होता है। दसवें गुणस्थानमें आयु और मोहनीयके सिवाय छै ही कर्मोका बन्ध होता है। ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोमें एक वेदनीय कर्मका ही बन्ध होता है, और चौदहवें गुणस्थानमें एक भी कर्मका बन्ध नही होता। अत आठो कर्मोके चार बन्धस्थान होते हैं—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक, छै प्रकृतिक और एक प्रकृतिक।

---

१ जयध० प्रे०का०, पृ० ६६००।

इसी तरह दसवें गुणस्थान तक आठो कर्मोका उदय होता है, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें मोहनीयके बिना सातकर्मोका उदय होता है। तथा तेरहवें और चौदहवे गुणस्थानमे चार ही कर्मोका उदय होता है। अत आठो कर्मोके तीन उदयस्थान होते है—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

ग्यारहवे गुणस्थान तक आठो प्रकृतियोकी सत्ता रहती है, बारहवें गुणस्थानमे मोहनीयके बिना सात कर्मोकी ही सत्ता रहती है और तेरहवें तथा चौदहवे गुणस्थानमें चार कर्मोकी ही सत्ता रहती है। अत आठो कर्मोके तीन सत्त्वस्थान है—आठ प्रकृतिक, सात प्रकृतिक और चार प्रकृतिक।

इसी तरहका कथन प्रत्येक कर्मके विषयमें भी किया गया है। आठो कर्मोमें-से वेदनीय, आयु और गोत्रकर्मकी उत्तर प्रकृतियोमेसे एक जीवके एक समयमें एक ही प्रकृतिका बन्ध होता है और एकका ही उदय होता है। ज्ञानावरण और अन्तरायकी पांचो प्रकृतियोंका एकसाथ बन्ध, उदय और सत्त्व होनेसे स्थान एक ही है। अत इन पांच कर्मोको छोडकर दर्शनावरण, मोहनीय और नामकर्मके बन्धस्थानो, उदयस्थानो और सत्त्वस्थानोका कथन बहुत विस्तारसे किया गया है। प्रत्येकका कथन करनेके बाद त्रिसंयोगी भगोका कथन है अर्थात् बन्धमे उदय और सत्त्व, उदयमें बन्ध और सत्त्व और सत्त्वमें बन्ध और उदयका कथन किया गया है। फिर बन्धादिमेंसे दोको आधार और एकको आधेय बनाकर कथन किया गया है। प्रा०दि० पञ्चसग्रहके अन्तर्गत शतक तथा सप्ततिका नामक अधिकारमें भी उक्त कथन है और कर्मकाण्डका उक्त कथन उसका ऋणी जान पडता है। कुछ गाथाएँ भी दोनोमे मिलती हुई है। [1]कथनमें कुछ भेद भी है। जिसका कारण विवक्षा भेदके साथ मतभेद भी है, वह मतभेद परम्परामूलक है। इस प्रकरणमें आठो कर्मोके विषयमें प्रसगवश आगत कर्मविषयक और भी बहुत-सा ज्ञातव्य विषय है। यह अधिकार बहुत विस्तृत है इसकी गाथा संख्या ३३४ है।

६ प्रत्ययाधिकार

इस अधिकारमें कर्मबन्धके कारणोका कथन है। मूल कारण चार है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। तथा इनके भेद क्रमसे ५, १२, २५, और १५ = कुल ५७ होते है। गुणस्थानोमें इन्ही मूल और उत्तर प्रत्ययोका कथन इस अधिकार मे किया गया है कि किस गुणस्थानमें बन्धके कितने प्रत्यय होते है। और उनके भङ्गोका भी निर्देश किया है। प्रा० पंञ्चसग्रहके शतका-

---

१ इस भेदको जाननेके लिए सप्ततिका प्रकरणका प० फूलचन्द्रजी कृत अनुवाद (पृ० १०३) देखना चाहिए।

धिकारके प्रारम्भ में यह कथन बहुत विस्तारसे किया गया है। यहाँ तो उसको बहुत संक्षिप्त कर दिया है।

इन प्रत्ययोके पश्चात् कर्मकाण्डके इस अधिकारमें प्रत्येक कर्मके विशेप कारण ११ गाथाओ द्वारा वतलाये है। ये गाथाएँ वही है जो शतक प्रकरणमे वर्तमान है और दि० प्रा० पञ्चसग्रहके शतक प्रकरणसे ली गई जान पडती हैं।

७. भावचूलिका

इस अधिकारमें औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक, और पारिणामिक इन पाँच भावोका तथा इनके भेदोका कथन करके उनके स्वसयोगी भगोका कथन गुणस्थानोमे किया गया है।

उसके पश्चात् जैन परम्पराकी वह प्राचीन गाथा[2] दी गई है जिसमें कहा है कि क्रियावादियोके १८०, अक्रियावादियोके ८४, अज्ञानवादियोके ६७ और वैनयिकोके ३२ इस तरह ३६३ मिथ्यामत है।

उस गाथाको देकर आगे उन मतोकी उपपत्ति दी है कि किस तरह क्रियावादी आदि मत १८० आदि होते है। श्वे-सूत्रकृतागके प्रथम श्रुत स्कन्ध अध्ययन १२ में भी मतोकी चर्चा मिलती है। और उसकी टीकामें शीलाकने उनकी उपपत्ति भी दी है किन्तु कर्मकाण्डकी उपपत्तिसे उसमें अन्तर है। तथा अमितगतिके सस्कृत पञ्चसग्रहमें (पृ० ४१ आदि) भी उपपत्ति मिलती है जो कर्मकाण्डके ही अनुरूप है। अस्तु,

अन्तमें एक गाथाके द्वारा जो सन्मतितर्क (का० ३, गा० ४७) में भी वर्तमान है, कहा गया है कि 'जि[3]तने वचनके मार्ग है उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद है उतने ही परसमय है। अर्थात् सव नयोके समूहका नाम ही जैनदर्शन है।

८ त्रिकरणचूलिका

इस अधिकारमें अध करण और अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणोका स्वरूप कहा गया है। जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी गुणस्थानोके प्रकरणमें इन करणोका स्वरूप कहा गया है और तीनो करणका स्वरूप वतलाने वाली

---

१ देखो—कर्मकाण्ड गा० ८००-८१० और शतक गा० १६-२६।

२ असिदिसद किरियाण अक्किरियाणा च आहु चुलसीदी। सत्तट्ठण्णाणीण वेणयियाण तु वत्तीसं ॥८७६॥

३ 'जावइया वयणवहा तावदिया चेव होति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव होति परसमया ॥८९४॥—गो० क० का०।

गाथाएँ भी जीवकाण्डकी ही हैं। इस अधिकारकी विशेषता यह है कि इसमें पहले दोनो करणोंके स्वरूपको अंकसदृष्टिके द्वारा समझाया गया है।

९ कर्मस्थितिरचना अधिकार

प्रतिसमय बधनेवाले कर्मपरमाणुओंका आठो कर्मोंमे विभजन होनेके पश्चात् प्रत्येक कर्मप्रकृतिको प्राप्त कर्मनिषेकोकी रचना उसकी स्थितिके अनुसार आबाधा-कालको छोडकर हो जाती है अर्थात् बन्धको प्राप्त हुए वे कर्मपरमाणु उदयकाल आने पर गिरने प्रारम्भ हो जाते है और अन्तिम स्थिति पर्यन्त गिरते रहते है। उनकी रचनाको ही कर्मस्थिति रचना कहते है इसीका कथन इस अधिकारमें है। बन्धोदय सत्त्वाधिकार नामक दूसरे अधिकारके अन्तर्गत स्थितिबन्धाधिकारके अन्तमें भी यह कथन आया है। फलत गाथा न० ९१८ से ९२१ तक जो गाथाएँ है वे सब गाथाएँ इस अधिकारसे आचुकी है और वहां उनका नम्बर १५५ से १६२ तक है। किन्तु यहां वही कथन विस्तारसे किया है। अन्त मे प्रशस्ति है।

सक्षेपमे यह कर्मकाण्डका परिचय है।

लब्धिसार-क्षपणासार

लब्धिसार—गोम्मटसारके अतिरिक्त श्रीनेमिचन्द्राचार्यकी दूसरी कृति लब्धि-सार है। यह गाथा बद्ध है। इसके भी दो सस्करण प्रकाशित हुए है, एक रायचद शास्त्र माला बम्बई से। इसमे मूल तथा प० मनोहरलालजीके द्वारा रचित सक्षिप्त हिन्दी टीका है, जिसमे गाथाका अर्थमात्र दिया गया है। इसमे गाथाओ-की सख्या ६४९ है। दूसरा सस्करण हरिभाई देवकरण ग्रन्थ मालामे प्रकाशित हुआ है, शास्त्राकार है। इसमें लब्धिसार पर नेमिचन्द्र रचित सस्कृत टीका और प० टोडरमलजी रचित ढुढारी भाषाकी टीका है। तथा क्षपणासार पर केवल प० टोडरमलजी रचित भाषा टीका ही है। इसकी गाथा सख्या ६५३ है। इस अन्तरका कारण यह है कि दूसरे सस्करणकी गाथा न० १५६, १६७, २५४, ५३१ चार गाथाएँ पहले सस्करणमे नही है।

यह लब्धिसार क्षपणासार गोम्मटसारका ही उत्तर भाग समझना चाहिये। गोम्मटसारके जीवकाण्डमें जीवका और कर्मकाण्डमे जीवके द्वारा बांधे जाने वाले कर्मोका कथन है और इस लब्धिसारमें जीवके कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका उपाय तथा प्रक्रिया बतलाई गई है।

मोक्षकी पात्रता जीवमें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर ही मानी जाती है क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव ही मोक्ष प्राप्त करता है। तथा सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् सम्यक् चारित्रका भी होना जरूरी है। अत सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी

लब्धि अर्थात् प्राप्तिका कथन होनेसे ग्रन्थका नाम लब्धिसार[1] रखा गया है। इसकी प्रथम गाथामें पच परमेष्ठीको नमस्कार करके सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्र लब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा ग्रन्थकारने की है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिका कथन है। उसकी प्राप्ति पाँच लब्धियो-के होने पर ही होती है। वे पाँच लब्धिया हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करणलब्धि। इनमेंसे आरम्भकी चार लब्धियाँ तो सर्वसाधारणके होती रहती हैं किन्तु करणलब्धिके होने पर ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। इन लब्धियोका स्वरूप ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया गया है। अध·करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करणका स्वरूप गोम्मटसारमें भी दिया गया है। इनकी प्राप्तिको ही करणलब्धि कहते हैं। अनिवृत्ति करणके होनेपर अन्तमुहूर्तके लिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्वके कालमें कम से कम एक समय और अधिक से अधिक ६ आवलि काल शेप रहने पर यदि अनन्तानुबन्धी कषायका उदय आ जाता है तो जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर सासादन सम्यक्त्वी हो जाता है और उपशम सम्यक्त्वका काल पूरा होने पर यदि मिथ्यात्व कर्मका उदय होता है तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस तरह गाथा १०९ पर्यन्त प्रथमोपशम सम्यक्त्वका कथन है। इस प्रकरण-में आगत गाथा ९९ कसायपाहुडसे ली गई है। गाथा १०६, १०८ और १०९ जीवकाण्डके प्रारम्भमें भी आई है।

गाथा ११० से क्षायिक सम्यक्त्वका कथन प्रारम्भ होता है। दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होनेसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। किन्तु दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयका प्रारम्भ कर्म भूमिका मनुष्य तीर्थंकरके पादमूलमे अथवा केवलि श्रुतकेवलीके पादमूलमे करता है (गा० ११०)। और उसकी पूर्ति वही अथवा सौधर्मादिकल्पोमें अथवा कल्पातीत देवोंमें अथवा भोगभूमिमें अथवा प्रथम नरक-में करता है क्योकि बद्धायुष्क कृतकृत्यवेदक मरकर चारो गतियोमें जन्म ले सकता है (गा० १११)।

अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहकी तीन, इन सात प्रकृतियोके क्षयसे उत्पन्न हुआ क्षायिक सम्यक्त्व मेरुकी तरह निष्कम्प, अत्यन्त निर्मल और अक्षय होता है (गा० १६४)। क्षायिक सम्यग्दृष्टी उसी भवमे, अथवा तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्त हो जाता है। (गा० १६५)।

---

१ 'सम्यग्दर्शन-सम्यक्चारित्रयोर्लब्धि प्राप्तिर्यस्मिन् प्रतिपाद्यते स लब्धिसाराख्यो ग्रन्थ।'—ल० सा०, टी०।

क्षायिक सम्यक्त्वके साथ दर्शनलब्धिका-कथन पूर्ण हो जाता है और चारित्र-लब्धिका कथन प्रारम्भ होता है।

चारित्र लब्धि एक देश और सम्पूर्णके भेदसे दो प्रकारकी है (गा० १६८)। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यक्त्वके साथ देश चारित्रको ग्रहण करता है। और सादि मिथ्यादृष्टी जीव उपशम सम्यक्त्व अथवा वेदक सम्यक्त्वके साथ देश-चारित्रको धारण करता है। जिस तरह धारण करता है और उस समय जो जो कार्य होते है उन सबका कथन किया गया।

सकल चारित्रके तीन प्रकार है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।

क्षायोपशमिक चारित्र सातवें और छठे गुणस्थानमें होता है। यह उपशम सम्यक्त्व सहित भी होता है और वेदक सम्यक्त्व सहित भी होता है। (गा० १८९–१९०)। गा० १९५ में म्लेच्छ मनुष्यके भी आर्य मनुष्यकी तरह सकल-सयम बतलाया है। उसकी टीका[1]मे यह प्रश्न किया गया है कि म्लेच्छ भूमिके मनुष्य सकल सयमको कैसे धारण कर सकते है। उसके समाधानमें कहा गया है कि जो म्लेच्छ मनुष्य चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें आते है, और उनका चक्रवर्ती आदिके साथ वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है वे सकल सयम धारण कर सकते है। अथवा चक्रवर्ती आदिसे विवाही गई म्लेच्छ कन्याओके गर्भसे उत्पन्न सतान, मातृ-पक्षकी अपेक्षा म्लेच्छ कही जाती है, उसके सयम धारण करना सभव है क्योकि इस प्रकारकी जाति वालोको दीक्षाके योग्य होनेका निषेध नही है।

वीरसेनने जयधवलाटीकामें यह चर्चा उठाई है। उसीसे टीकाकारने उसे लिया जान पडता है। अस्तु,

वेदक सम्यग्दृष्टी जीव क्षायोपशमिक चारित्रको धारण करनेके बाद जब औपशमिकचारित्रको धारण करनेके अभिमुख होता है तो पहले या तो क्षायिक-सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है या द्वितीयोपशमसम्यक्त्वको धारण करता है। क्षायिकसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका विधान तो पहले कहा गया है अत' यहाँ द्वितीयो-पशमसम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कथन करके चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन किया गया है। चारित्रमोहका उपशम करनेपर जीव ग्यारहवे उपशान्तकषाय गुणस्थान-

---

१ 'म्लेच्छ-भूमिज-मनुष्याणा सकलसयमग्रहण कथ सभवतीति नाशकितव्य दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्या-दिभि सह जात वैवाहिकसम्बन्धाना सयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ व्यपदेशभाज सयमसम्भवात् तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधा-भावात् ॥१९५॥ —ल० सा० टी०।

में पहुँचता है और वहाँ अन्तर्मुहूर्तकाल तक रहता है। उसके वाद उसका वहाँसे पतन हो जाता है। पतनके कारण दो है या तो मृत्युकालका उपस्थित होना या उपशमकालका समाप्त होना। यदि मृत्युकाल आ जाता है तो वह मरकर देव-गतिमें जन्म लेता है और उसके चौथा गुणस्थान हो जाता है। यदि उपशमकालके समाप्त हो जानेसे गिरता है तो ग्यारहवेंसे गिरकर दसवेंमें, दसवेसे नौवेंमें, नौवेसे आठवेमें और आठवेंसे सातवेंमें पहुँचता है। पीछे यदि उसके परिणाम विशुद्ध होते है तो फिर आठवें आदि गुणस्थानोंमें चढ जाता है, अन्यथा नीचे गिर जाता है (अ० ३१०)।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वका काल भी अन्तमुहूर्त है। उसके साथ अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थानमें चढनेवाला जीव जितनी देरमें गिरकर पुन आठवेंमें आ जाता है, उससे सख्यातगुणाकाल द्वितीयोपशमसम्यक्त्वका है। जव उसका काल पूरा होता है तो या तो वह जीव गिरकर चौथे गुणस्थानमें आ जाता है अथवा पाचवें गुणस्थानमें आ जाता है। अथवा द्वितीयोपशमसम्यक्त्वके कालमें छह आवलीकाल शेप रहनेपर अनन्तानुवन्धीकपायका उदय होनेसे सासादनगुणस्थान-को प्राप्त हो जाता है। यदि वह मरता है तो यतिवृषभ आचार्यके वचनोके अनु-सार मरकर नियमसे देव होता है। (३४९ गा०) क्योकि जिसने परभवकी नरक, तिर्यञ्च या मनुष्यायुका वन्ध कर लिया है वह मनुष्य चारित्रमोहनीयका उपशम नही कर सकता।

यहाँ ग्रन्थकारने कपायपाहुडपर चूर्णिसूत्रोके रचयिता यतिवृपभ[1]के मतका उल्लेख करके पट्खण्डागम सूत्रोके रचयिता भूतबलिका भी मत दिया है। उनका मत यतिवृपभके मतके विपरीत है। अर्थात् यतिवृपभके मतमे उपशम श्रेणीसे गिरा हुआ जीव दूसरे सासादनगुणस्थानको प्राप्त हो सकता है किन्तु भूतवली[2]के मतसे प्राप्त नही हो सकता। इन्ही दोनो आचार्योंकी उक्त कृतियो तथा उनकी टीकाओके आधारपर लब्धिसारकी रचना की गई है।

गाथा ३९१ तक चारित्रमोहनीय कर्मको उपशम करनेका कथन है। उससे आगे चारित्रमोहकी क्षपणाका कथन है।

चारित्रमोहकी क्षपणाके अन्तर्गत जो क्रियाएँ होती है उन्हीको आधार बना-कर चारित्रमोहकी क्षपणाके अधिकारोका नामकरण किया गया है वे अधिकार

---

१ जरि मरदि सासणो सो णिरय तिरिक्ख णर ण गच्छेदि।
णियमा देव गच्छदि जइवसहमुणिदवयणेण ॥३४९॥—ल०सा०।

२ उवसमसेढीदो पुण ओदिण्णो सासण ण पाउणदि।
भूदवलिणाह णिम्मलसुत्तस्स फुडोवदेसेण ॥३५१॥—ल०सा०।

है—अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण ये तीन करण, वन्धापसरण, सत्त्वापसरण ये दो अपसरण, क्रमकरण, कपायो आदिकी क्षपणा, देशघातिकरण, अन्तरकरण, सक्रमण, अपूर्वस्पर्धककरण, कृष्टिकरण, और कृष्टिअनुभवन (गा० ३९२)। इन्ही अधिकारोके द्वारा उस क्रियाका कथन किया गया है।

चारित्रमोहका क्षय करनेपर जीव वारहवे गुणस्थानमे पहुँचता है इसीसे उसका नाम क्षीणमोह है। क्षीणमोह होनेके पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकर्मको नष्ट करके तेरहवे गुणस्थानमे पहुँच जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। जव अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयु शेप रहती है तो वह तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगकेवली दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करके तथा उसका उपसहार करके शेष वचे चारो कर्मोकी स्थिति आयुकर्मके वरावर करके तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा अयोगकेवली हो जाता है। और वहाँ सव कर्मोको नष्ट करके मुक्त हो जाता है।

जैसे इस ग्रन्थकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने दर्शन लब्धि और चारित्रलब्धिको कहनेकी प्रतिज्ञा की है वैसे ही अन्तिम (६५२ में) भी कहा है कि वीरनन्दि और इन्द्रनन्दिके वत्स्य तथा अभयनन्दीके शिष्य नेमिचन्द्रने दर्शन और चारित्रकी लब्धि भले प्रकार कही। यहाँ भापा टीकाकार पं० टोडरमलजी ने 'लब्धिसार नामक शास्त्र विपै कही' ऐसा लिखा है। अत इस ग्रन्थका नाम लब्धिसार ही है।

किन्तु टीकाकार नेमिचन्द्रकी टीका गाथा ३९१ तक ही पाई जाती है जहाँ तक चारित्रमोहकी उपशमनाका कथन है। चारित्रमोहकी क्षपणा वाले भाग पर सस्कृत टीका नही है। अत भाषा टीकाकार प० टोडरमल जीने उसके प्रारम्भमें लिखा है—

'इहाँ पर्यन्त गाथा सूत्रनिका व्याख्यान सस्कृत टीकाके अनुसार किया जातै इहाँ पर्यन्त गाथानि ही की टीका करिकै सस्कृत टीकाकारने ग्रन्थ समाप्त कीना है; वहुरि इहा तै आगै गाथा सूत्र है तिनि विपै क्षायिकका वर्णन है तिनकी सस्कृत टीका तौ अवलोकन मैं आई नाही तातै तिनका व्याख्यान अपनी वुद्धि अनुसार इहाँ कीजिये है। वहुरि भोज नामा राजा वाहुवलि नामा मन्त्रीकै ज्ञान उपजावनेके अर्थि श्रीमाधव चन्द्रनामा आचार्य करि विरचित क्षपणासार ग्रन्थ है। तिहि विपै क्षायिक चारित्र ही का विधान वर्णन है सो इहाँ तिस क्षपणासारका अनुसार लिएँ भी व्याख्यान करिए है।'

माधवचन्द्र रचित क्षपणासारके अनुसार व्याख्यानके कारण लब्धिसारके इस भागको क्षपणासार नाम दे दिया गया जान पडता है।

इस तरह आचार्य नेमिचन्द्र रचित गोम्मटसार तथा लब्धिसार एक तरहसे

सग्रह ग्रन्थ है उनमें षट्खण्डागम, कषायपाहुड और उनकी धवला टीकाका सार ही सग्रहीत नही किया गया है, बल्कि उनसे तथा पञ्चसग्रहसे बहुत-सी गाथाएँ भी सगृहीत की गई है। किन्तु सगृहीत होने पर भी इसकी अपनी विशेषता है। उसी विशेषताके कारण गोम्मटसार और लब्धिसारकी रचनाके पश्चात् षट्खण्डागम और कसायपाहुडके साथ उनकी टीका धवला और जयधवलाको भी लोग भूल से गये और उत्तरकालमें इन सिद्धान्त ग्रन्थोको जो स्थान प्राप्त था, धीरे-धीरे वह नेमिचन्द्राचार्यके गोम्मटसारको मिल गया।

आचार्य नेमिचन्द्र रचित त्रिलोकसार नामक एक ग्रन्थ और भी है लोकानुयोगके प्रसंगमें उसके सम्बन्धमें लिखा जायेगा।

देवसेनकृत भावसंग्रह

भावसंग्रह नामक एक ग्रन्थ विमलसेन गणधरके शिष्य देवसेनने रचा था। इस ग्रन्थमें ७०० गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोका स्वरूप बतलाया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे यह ग्रन्थ विशेष महत्वपूर्ण नही है क्योकि इसमें चौदह गुणस्थानोका कथन तो बहुत साधारण है। किन्तु उनका आलम्बन लेकर ग्रन्थकारने विविध विषयोका कथन विस्तारसे किया है।

दो गाथाओके द्वारा चौदह गुणस्थानोके नाम बतलाकर ग्रन्थकारने मिथ्यात्व गुणस्थानका स्वरूप बतलाया है। तथा मिथ्यात्वके एकान्त, विनय, सशय, अज्ञान और विपरीत इन पाँच भेदोको बतलाकर ब्राह्मण मतको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाते हुए लिखा है—ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—'जलसे शुद्धि होती है, मांससे पितरोकी तृप्ति होती है, पशु बलिदानसे स्वर्ग मिलता है और गो योनिके स्पर्शसे धर्म होता है।' इन्ही चारोका खण्डन आगे किया गया है और स्वपक्षके समर्थनमें गीता आदि ब्राह्मण ग्रन्थोसे प्रमाण भी उद्धृत किये गये है।

एकान्त मिथ्यात्वके कथनमें क्षणिकवादी बौद्धोका खण्डन किया गया है और वैनयिक मिथ्यात्वके कथनमें यक्ष, नाग, दुर्गा, चण्डिका आदिको पूजनेका निषेध किया गया है। सशय मिथ्यात्वका कथन करते हुए श्वेताम्बर मतका खण्डन किया गया है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीको निर्वाणकी प्राप्ति मानता है, केवलीको कवलाहारी मानता है और साधुओके वस्त्र-पात्र रखनेका पक्षपाती है। इन्हीकी आलोचना की गई है। श्वेताम्बर अपने साधुओको स्थविरकल्पी बतलाते है। ग्रन्थकारने लिखा है यह स्थविरकल्प नही है यह तो स्पष्ट रूपसे गृहस्थ कल्प है। आगे उन्होने जिनकल्प और स्थविर कल्पका स्वरूप बतलाया है। (गा० ११९-१२९)। और लिखा है कि परीषहसे पीडित और दुर्धर तपसे भीत जनोने गृहस्थ-कल्पको स्थविरकल्प बना दिया (गा० १३३)।

आगे ग्रन्थकारने श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिकी कथा दी है और लिखा है कि सौराष्ट्र देशकी वलभी नगरीमें वि०स० १३६में श्वेताम्बर सघकी उत्पत्ति हुई (गा० १३७)। यह कथा इससे पूर्वके किसी ग्रन्थमें नही मिलती। इसके सम्बन्धमें पीठिका भागमें विस्तारसे लिखा जा चुका है।

अज्ञान मिथ्यात्वका कथन करते हुए लिखा है कि पार्श्वनाथ स्वामीके तीर्थमें मस्करिपूरण नामक ऋपि हुआ। वह भगवान महावीरके समवशरणमें गया। किन्तु उसके जानेपर भगवानकी वाणी नही खिरी। यह रुष्ट होकर समवसरणसे चला आया और वोला—मैं ग्यारह अगोका धारी हूँ फिर भी मेरे जानेपर महावीर की वाणी प्रवाहित नही हुई और अपने शिष्य गौतम गणधरके आनेपर प्रवाहित हुई। गौतमने अभी ही दीक्षा ली है वह तो वेदभापी ब्राह्मण है, वह जिनोक्त श्रुतको क्या जाने।' अत उसने अज्ञानसे मोक्ष वतलाया। (गा० १६१-१६३)।

भगवान महावीर तथा गौतमबुद्धके समयमें मक्खलि गोशाल और पूरणकश्यप नामके दो शास्ताओका उल्लेख त्रिपिटक साहित्यमें मिलता है। मक्खलिका सस्कृत रूप मस्करी माना जाता है। अत मस्करी और पूरण इन दोनो नामोको मिलाकर एक ही व्यक्ति समझ लिया गया जान पडता है। मक्खलि गोशाल नियतिवादी माना जाता है।

इन पाँचो मिथ्यात्वोका कथन करनेके पश्चात् चार्वाकके द्वारा स्थापित मिथ्यात्वका कथन है। चार्वाक चैतन्यको भूतोका विकार मात्र मानता है। ग्रन्थकारने इसे [1]कौलाचार्यका मत कहा है। किन्तु यशस्तिलकके छठे आश्वासमे कौलिक मतको शैवतत्रका अग वतलाया है। लिखा[2] है—'सव पेय अपेयोंमें और भक्ष्य अभक्ष्योमें नि शब्द चित्तसे प्रवृत्ति करना कुलाचार्यका मत है। इसीको उसमें त्रिक मत भी वतलाया है। त्रिक मतमें आराधक मनुष्य मास और मदिराका सेवन करके और वामागमें किसी स्त्रीको लेकर स्वय शिव और पार्वतीका पार्ट करता हुआ शिवकी आराधना करता है।'

चूँकि चार्वाक भी पुण्य पाप, परलोक आदि नही मानता। इसीसे ग्रन्थकारने कौलिक मतको भी चार्वाक समझ लिया जान पडता है।

चार्वाकके पश्चात् साख्य मतकी चर्चा है। उसमें लिखा है कि जीव सदा

१ 'कउलायरिओ अक्खइ अत्थि ण जीवो हु कस्स त पावं। पुण्ण वा कस्स भवे को गच्छइ णिरयसग्गवा ॥१७२॥ भा०स०।

२ 'सर्वेपु पेयापेयभक्ष्यादिपु नि शंकचित्ताद्‌वृत्तात् इति कुलाचार्यका.। तथा च त्रिकमतोक्ति –।' य०च०, भा० २, पृ० २६९।

अकर्ता है और पुण्य पापका भोक्ता भी नही है। ऐसा लोकमें प्रकट करके वहन और पुत्रीको भी अगीकार किया गया है। (गा० १७९)।

एक पद्य इस प्रकार है—

'धूय मायरिवहिणी अण्णावि पुत्तत्थिणि
आयति य वासवयणुपयडे वि विप्पे।
जह रमियकामाउरेण वेयगव्वे उपण्ण दप्पे
वभणि-छिपणि-डोवि-नडिय-वरुडि-रज्जइ-चम्मारि।
कवले समइ समागमइ तह भुत्ति य परणारि ॥१८५॥'

इसमें कहा है कि व्यास का वचन है कि पुत्री माता वहन तथा अन्य भी कोई स्त्री पुत्रोत्पत्तिकी भावनासे आये तो कामातुर वेदज्ञानी ब्राह्मणको उसको भोगना चाहिये। तथा कपिलदर्शनमें आई हुई ब्राह्मणी, डोम्नी, नटी, धोविन, चमारिन आदि परनारियोको भोगना लिखा है। स्मृतियोमें इस प्रकारका कथन है कि जो पुरुष स्वय आगता नारीको नही भोगता उसे ब्रह्महत्याका पाप लगता है। उसी को लक्ष्यमें रखकर तथा पौराणिक उपाख्यानोके आधार पर उक्त कथन किया गया है। किन्तु इस तरहकी बातोका कपिलदर्शनसे कहाँ तक सम्वन्ध है यह चिन्त्य है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यद्यपि भावसंग्रहकी रचना प्राकृत गाथावद्ध है तथापि यत्र तत्र कुछ उक्त प्रकारके छन्द भी पाये जाते है उन्हे 'वस्तु-च्छन्द' लिखा है।

आगे तीसरे मिश्र गुणस्थानका कथन करते हुए ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रकी आलोचना की गई है। ब्रह्माकी आलोचना करते हुए तिलोत्तमा आदिके उपाख्यानोकी चर्चा है और कृष्णकी आलोचनामें शूकर कूर्म तथा रामावतारकी समीक्षाकी गई है। रुद्रकी आलोचनामें उनके स्वरूप और ब्रह्म हत्या आदि कार्योकी आलोचना है। (गा० २०३-२५५)

चौथे अविरत सम्यग्दृष्टी गुणस्थानका स्वरूप वतलाते हुए सात तत्त्वोका कथन किया गया है। पाँचवे गुणस्थानका स्वरूप २५० गाथाओके द्वारा बहुत विस्तारसे बतलाया है। चूकि पाँचवाँ गुणस्थान श्रावकाचारसे सम्वद्ध है अत उसमें श्रावकाचारका वर्णन है। उसमें अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतोके नामोके साथ अष्टमूल गुण भी वतलाये हैं और वे अष्टमूल गुण है—पाँच उदम्वर फलो और मद्य मास मधुका त्याग। फिर चार प्रकारके ध्यानका कथन है। आगे देव पूजाका कथन है अन्य श्रावकाचारोमें इस प्रकारका कथन नही मिलता। इसमें अभिषेकके समय वरुण, पवन, यक्ष आदि देवताओको अपने २ प्रियवाहन तथा शस्त्रोके साथ आवाहन करनेका और उन्हे यज्ञका भाग देनेका विधान हैं। (गा०

४३९-४४०)। अन्य श्रावकाचारोमें इस तरहका विधान हमारी दृष्टिसे नही गुजरा। इसमें सिद्ध चक्रयन्त्रका भी उद्धार है (गा० ४५४)। तथा भगवानके चरणोमें चन्दनका लेप करनेका भी विधान है (गा० ४७१)। आगे चार दानोका, और उसके फलका कथन है।

सातवें गुणस्थानके स्वरूप कथनमें पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत-ध्यानका सक्षिप्त कथन है। आगे शेप गुणस्थानोका सामान्य कथन करके ग्रन्थको समाप्त कर दिया गया है।

कर्ता और समय

यह पहले लिख आये है कि इस ग्रन्थके कर्ता विमल गणधरके शिष्य देवसेन है। देवसेन नामके कई आचार्य हो गये है। उनमें एक देवसेन वह है जिन्होने वि० स० ९९० मे दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी। आलाप पद्धति, लघुनय-चक्र, आराधनासार और तत्त्वसार नामक ग्रन्थ भी देवसेनके द्वारा रचित है। ये सब ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुके है। इन सबको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति माना है।

दर्शनसारके अन्तमें अपना परिचय देवसेनने इस प्रकार दिया है—

'पुव्वाइरियकयाइ गाहाइं सचिऊण एयत्थ।
सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसतेण ॥४९॥
रइओ दसणसारो हारो भव्वाण णवसए नवई।
सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए ॥५०॥'

अर्थात् पूर्वाचार्योकी रची हुई गाथाओको एकत्र करके श्रीदेवसेन गणिने धारामें रहते हुए श्रीपार्श्वनाथके जिनालयमें माघ सुदी दसमी वि० स० ९९० को यह दर्शनसार रचा।

तत्त्वसारके अन्तमें लिखा है—

सोऊण तच्चसार रइय मुणिणाहदेवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासय सोखं ॥७४॥

'मुनिनाथ देवसेनने सुनकर तत्वसार रचा। जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शाश्वत सुख को पाता है।'

आराधनासारके अन्तमें लिखा है—

ण य मे अत्थि कवित्त ण मुणामो छदलक्खण किं पि।
णियभावणाणिमित्तं रइय आराहणासार ॥११४॥
अमुणिय तच्चेण इम भणिय जं किं पि देवसेणेण।
सोहंतु तं मुणिंदा अत्थि हु जइ पवयणविरुद्ध ॥११५॥

'न मेरे में कवित्व है और न मैं छन्दका लक्षण ही कुछ जानता हूँ। अपनी भावनाके निमित्त मैंने आराधनासार रचा है ॥११४॥ तत्त्वसे अनजान देवसेनने जो कुछ भी इसमे कहा है, उसमें यदि कुछ आगम विरुद्ध कथन है तो मुनीन्द्र उसे शुद्ध करलें ॥११५॥

इस तरह देवसेनने दर्शनसारमें तो ग्रन्थके रचनास्थान तथा कालका निर्देश किया है किन्तु अन्य रचनाओमें वैसा नही पाया जाता। दर्शनसारमें अपनेको देवसेन गणि कहा है, तत्त्वसारमें मुनिनाथ देवसेन कहा है और आराधनासारमें केवल देवसेन कहा है। गणि और मुनिनाथ पदको एकार्थवाचक मान लेनेसे दोनोमें एकवाक्यता मानी जा सकती है। किन्तु जो विनम्रता आराधनासारकी अन्तिम गाथासे व्यक्त होती है, भावसग्रहमें उसका अभाव है। इसके सिवाय इन सबमे उन्होने अपने गुरुका नाम नही कहा, परन्तु भावसग्रहमें कहा है। परन्तु आराधनासारकी मगलगाथामें 'विमलयर गुणसमिद्ध', पदके द्वारा, दर्शनसारमे 'विमलणाण' पदके द्वारा, नयचक्रमें 'विगयमल' और 'विमलणाण सजुत्त' पदोके द्वारा गुरुके नामका उल्लेख किया गया है, ऐसा श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार[1]का मत है। अत वह भावसग्रहको उक्त देवसेनकी ही कृति माननेके पक्षमें है।

किन्तु प० परमानन्दजीका कहना है कि भावसग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति नही है, क्योकि दर्शनसार मूलसघका ग्रन्थ है। उसमें काष्ठासघ, द्रविडसघ, यापनीयसघ और माथुरसघको जैनाभास घोषित किया है। परन्तु भावसग्रह केवल मूलसघका मालूम नही होता क्योकि उसमें त्रिवर्णाचारके समान आचमन, सकलीकरण, यज्ञोपवीत, और पचामृताभिषेकादिका विधान है। इतना ही नही किन्तु इन्द्र, अग्नि, काल, नैऋत्य, वरुण, पवन, यक्ष और सोमादिको सशस्त्र तथा युवतिवाहनसहित आह्वानन करने, वलि, चरु आदि पूजा द्रव्य तथा यज्ञके भागको बीजाक्षरयुक्त मन्त्रोंसे देनेका विधान है।'

उनका मत है कि अपभ्रश भाषाका 'सुलोचना चरिउ'के कर्ताका भी नाम देवसेन है और उनके गुरुका नाम भी विमलसेनगणि है अत भावसग्रह उन्हीका हो सकता है।

श्री प्रेमीजीने भी उनके इस मतको अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक पुस्तकके दूसरे सस्करणमे स्थान देते हुए लिखा है—'एक और प्राकृतग्रन्थ भावसग्रह है जो विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनका है। यह भी मुद्रित हो चुका है इसमें कई जगह दर्शनसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत है इसपरसे हमने अनुमान

---

१ पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ५९। देवसेनके लिये इस प्रस्तावनाके सिवाय 'जै० सा० इ०' (पृ० १६८) देखना चाहिये।

किया था कि दर्शनसारके कर्ता ही इसके कर्ता है। परन्तु प० परमानन्दजी शास्त्रीने अनेकान्त (वर्प ७, अक ११-१२) में इसपर सन्देह किया है और सुलोयणा चरिऊके कर्ता तथा भावसग्रहके कर्ताको एक वतलाया है जो विमलगणिके शिष्य है' (पृ० १७६)।

इस तरह भावसग्रहके कर्ता देवसेन कौनसे है, इसमे विवाद है।

'सुलोचनाचरिउ'[1] मे उसका रचनाकाल राक्षस सवत्सरकी श्रावण शुक्ला चतुर्दशी दिया है। ज्योतिपकी गणनाके अनुसार यह सवत्सर वि० स० ११३२ में तथा १३७२ मे पडता है ऐसा प० परमनन्दजीने लिखा है। इन दोनोंमेंसे किस सम्वत्में उक्त रचना हुई यह भी चिन्त्य है।

उक्त विप्रतिपत्तिके निरसनके लिये भावसग्रहका अन्त परीक्षण करना उचित प्रतीत होता है। सम्भव है उससे प्रकृत विपयपर कुछ प्रकाश पड सके।

यह हम वतला आये है कि भावसग्रहमे गुणस्थानोंका कथन है और उन्हें ग्रन्थका मुख्य आधार वनाया गया है।

गुणस्थानोके वर्णनमें देवसेनने पचसग्रह प्राकृतका अनुसरण किया है और उससे अनेक गाथाएँ ज्योकी त्यो वैसे ही ली हैं। जैसे धवलामें और गोम्मटसारमें ली गई है। उन गाथाओको यहाँ दे देना उचित होगा —

मिच्छो सासण मिस्सो अविरय सम्मो य देस विरदो य।
विरओ पमत्त इयरो अपुव्व अणियट्टि सुहमो य ॥१०॥
उवसत खीणमोहो सजोइ केवलिजिणो अजोगी य।
ए चउदस गुणठाणा कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥११॥

× × ×

णो इंदिएसु विरओ णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहइ जिणुत्त अविरइ सम्मोत्ति णायव्वो ॥२६१॥
जो तसवहाउविरओ णो विरओ तह य थावरवहाओ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरयाविरउत्ति जिणु कहई ॥३५१॥

× × ×

वत्तावत्तपमाए जो णिवसइ पमत्तसजदो होइ।
सयलगुणसीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥६०१॥
विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तह य पणओ य।
चउ चउ पणमेगेगे हुंति पमाया हु पण्णरसा ॥६०२॥

× × ×

---

१ 'रक्खस सवत्सरे बुहदिवसए। सुक्कचउद्दिसि सावण मासए। चरिउ सुलोयणाहि णिप्पण्णउ, सद्दअत्थ वण्णसवुण्णओ—सुलो० च०।

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहि मण्डिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो सो ॥६१४॥

× × ×

हुंति अणियट्टिणो ते पडिसमसमय जस्स एक्कपरिणाम ।
विमलयर झाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥६५१॥

× × ×

जह सुद्धफलियभायणि खित्त णीर खु णिम्मल सुद्ध ।
तह णिम्मलपरिणामो खीणकसाओ मुणेयव्वो ॥६६२॥

उक्त गाथाएँ प्राकृत पञ्चसग्रहमे है और उसीसे ली गई जान पडती है । अन्तिम गाथाको छोडकर शेष गाथाएँ गोम्मटसार जीवकाण्डमे तथा कुछ धवलामे भी है जो प्रा० पञ्चसग्रहसे ली गई है । ऐसी स्थितिमे यह शका हो सकती है कि उन गाथाओको भावसग्रहकारने पञ्चसग्रहसे ही लिया और धवला या जीवकाण्डसे न लिया इसमें क्या प्रमाण है ? उसके सम्बन्धमे पहला प्रमाण तो यह है कि न० ६६२ वाली गाथा पञ्चसग्रह की है । यह न तो धवलामे है और न जीवकाण्डमें । उससे यह स्पष्ट है कि भावसग्रहकारके सामने पञ्चसग्रह अवश्य था । दूसरे जीवकाण्ड और पञ्चसग्रहमे पाठभेद भी है । भावसग्रहगत पाठ पञ्चसग्रहके अनुरूप है जीवकाण्डके नही । यथा—गा० ११में 'ए चउदसा गुण ठाणा' पाठ पञ्चसग्रहसे अधिक मिलता है । प०स०में 'चोद्दस गुण ठाणाणि य' पाठ है और जीवकाण्डमे इसके स्थानमें 'चोद्दस जीवसमासा' है । यह गाथ धवलामें नही है ।

किन्तु इससे यह प्रमाणित नही किया जा सकता कि भावसग्रहकारके सामने जीवकाण्ड नही था । प्रत्युत कुछ गाथाएँ तथा पाठ ऐसे है जिनसे यह प्रमाणित होता है कि दोनोके कर्ताओंमेसे किसी एकने दूसरेको अवश्य देखा था । इसके लिये प्रथम तो उक्त उद्धृत गाथाओमें न० ३५१की गाथा है । प०स०में इस गाथाका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहाउ विरदो णोविरओ अक्खथावरवहाओ ।
पडिसमय सो जीवो विरयाविरओ जिणेक्कमई ॥१३॥

और [1]धवला तथा जीवकाण्डमें उसका रूप इस प्रकार है—

जो तसवहादु विरदो अविरदओ तह य थावरवहाओ ।
एक्कसमयम्मि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥३१॥

किन्तु भावसग्रहमें उक्त गाथाका रूप पञ्चसग्रह और जीवकाण्डका मिश्रित

1 'धवलामें' 'द' के स्थानमे 'अ' है केवल इतना ही अन्तर है ।

रूप है। अब हम भावसग्रहसे कुछ ऐसी गाथाएँ उद्धृत करते है जो पचसग्रहमें नही है किन्तु जीवकाण्डमें ज्योकी त्यो या कुछ अन्तरको लिये हुए मिलती है—

एए तिण्णि वि भावा दसणमोह पडुच्च भणिआ हु।
चारित्त णत्थि जदो अविरयअतेसु ठाणेसु ॥२६०॥

यह गाथा जीवकाण्डमें इसी रूपमें वर्तमान है इसका नम्बर वहाँ १२ है।

तेंसि यि समयाण सखारहियाण आवली होई।
सखेज्जावलिगुणिओ उस्सासा होई जिणदिट्ठो ॥३१२॥

सत्तुस्सासे थोओ सत्तथोएहिं होइ लओ इक्को।
अट्ठत्तीसद्धलवा णाली वेणालिया मुहुत्त तु ॥३१३॥

जीवकाण्डमें इन गाथाओका रूप इस प्रकार है—

आवलि असखसमया सखेज्जावलिसमूहमुस्सासो।
सत्तुसासा थोवो सत्तत्थोवा लवो भणियो ॥५७३॥

अट्ठत्तीसद्धलवा नाली वे नालिया मुहुत्त तु।
एग समएण हीण भिण्णमुहुत्त तदो सेस ॥५७४॥

जीवकाण्डमें एक गाथा इस प्रकार है—

एदे भावा णियमा दसणमोह पडुच्चभणिदाहु।
चारित्त णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥१२॥

पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थानमें भावोका कथन करके यह गाथा कही गयी है। इसमें बतलाया है कि ये भाव दर्शनमोहनीयकी अपेक्षासे कहे गये है क्योकि अविरत गुणस्थान पर्यन्त चारित्र नही होता। भावसग्रहमें चतुर्थ गुण-स्थानका स्वरूप बतलाते हुए उसमें तीन भाव बतलाये है। और आगे उक्त गाथाके प्रथम चरणको 'एदे तिण्णि वि भावा' रूपमे परिवर्तित करके दिया है। ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गाथा मूलमें जीवकाण्डकी होनी चाहिये। अस्तु।

इसमे सन्देह नही कि भावसग्रह एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है और ग्रन्थकारने पूर्वाचार्योके वचनोको ज्योका त्यो या परिवर्तित करके उसमें सगृहीत किया है। यह बात सर्वांशमें नही लेना चाहिए, आशिक रूपमें ही लेना चाहिये क्योकि भावसग्रहमें उसके कर्ताके विचार ही अधिक है। केवल जैनतत्त्व ज्ञानसे सव-धित विवेचनमें ही पूर्वाचार्योके वचनोको यत्र तत्र लिया गया है। इसके समर्थनमें एक तो पचसग्रह को ही उपस्थित किया जा सकता है। उसके सिवाय कुन्दकुन्दके ग्रन्थोको भी रखा जा सकता है।

भाव सग्रहमे दो गाथाएँ इस प्रकार है—

जीवो अणाइ णिच्चो उवओगसजुदो देहमित्तो य।
कत्ता भोत्ता चेत्तो ण हु मुत्तो सहाव उड्ढगई ॥२८६॥

पाण चउक्क पउत्तो जीवस्सइ जो हु जीविओ पुव्व ।
जीवेइ वट्टमाण जीवत्त गुणसमावण्णो ॥२८७॥

ये दोनो गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी नीचे वाली दो गाथाओको सामने रखकर रची गई है—

जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥
पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्व ।
सो जीवो पाणा पुण बल मिंदियमाउ उस्सासो ॥३०॥

प्रा० पञ्चसग्रह और पञ्चास्तिकाय तो देवसेनसे बहुत पहले रचे गये है अत उनमें तो किसी तरहका विवाद सभव नही है। किन्तु उनकी ही तरह जीवकाण्ड, द्रव्यसग्रह और वसुनन्दिश्रावकाचारकी कतिपय गाथाओके साथ भी भावसग्रहकी कुछ गाथाओमे अशत अथवा सर्वत समानता पाई जाती है। और ये सब ग्रन्थ उसी समयके लगभगके है जिस समयका भाव सग्रह माना जाता है। अत उनके साथ जो समानता है, काल निर्णयकी दृष्टिसे वही विचारणीय है। जीवकाण्डकी रचना वि स १०४०के लगभग हुई है, वसुनन्दि[1]का समय विक्रमकी बारहवी शताब्दी है। और पहले द्रव्यसग्रहको भी जीवकाण्डके रचयिताकी ही कृति मान लिया गया था किन्तु अब वह मत मान्य नही है। फिर भी उसे ११वी १२वी शताब्दीके लगभगकी रचना माना जाता है।

भावसग्रहमें सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध हुए आठ व्यक्तियोके नाम गिनाये है। भा० स० की ये २७९ से २८४ तक छहो गाथाएँ ज्यो की त्यो उसी क्रमसे वसु० श्रा० मे वर्तमान है और वहाँ उनकी क्रम सख्या ५१ से ५६ तक है।

दोनोका मिलान करनेसे अन्य भी गाथाओमें शाब्दिक तथा विषयगत समानता पाई जाती है।

इसी तरह द्रव्य सग्रहके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। उसके साथ साम्य दर्शनके लिये नीचे भावसग्रहसे कुछ गाथाएँ दी जाती है।

जीवाण पुग्गलाण गइप्पवत्ताण कारण धम्मो ।
जहमच्छाण तोयं थिरभूया णेव सो णेई ॥३०६॥
ठिदिकारण अधम्मो विसामठाण च होइ जह छाया ।
पहियाण रुक्खस्स य गच्छत णेव सो धरई ॥३०७॥

× × ×

१ जै० सा० इ० पृ० ३०२ तथा पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ९२ और ९९।

कालेण उवाएण य पच्चति जहा वणस्सुई फलाइ ।
तह कालेण तवेण य पच्चति कयाइ कम्माइ ॥३४५॥

द्रव्यसंग्रहकी गाथा इस प्रकार है—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गमणसहयारी ।
तोय जह मच्छाण अच्छता णेव सो णेई ॥१७॥
ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी ।
छाया जह पहियाण गच्छता णेव सो धरई ॥१८॥

× × ×

जह कालेण तवेण य भुत्तरस कम्मपुग्गलं जेण ।

इस तरह भावसग्रहका सादृश्य उक्त ग्रन्थोके साथ पाया जाता है और उनके अवलोकनसे कोई ऐसा विशिष्ट प्रमाण प्रकट नही होता जिसके आधार पर नि-सशय कहा जा सके कि अमुकने अमुकका अनुसरण किया है। अत उसके निर्धा-रणके लिये कुछ अन्य सवल प्रमाणोकी आवश्यकता है।

पं० आशाधरजीने अपने सागार धर्मामृतकी टीका १२९६ वि० स० और अनगार धर्मामृतकी टीका वि०स० १३००में समाप्त की थी। अनगार धर्मामृतकी टीका उद्धरणोके लिये आकर सदृश है। उसमें बहुतसे ग्रथोके उद्धरण दिये गये है। उनमें गोम्मटसार, द्रव्यसग्रह और वसुनन्दि श्रावकाचारके अनेक उद्धरण हैं। देवसेनके आराधना सारके भी कई उद्धरण हैं, एक उद्धरण इस प्रकार है—

'सवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उपसमो भत्ती ।
वच्छल्ल अणुकपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥—अनगा० टी०, पृ० १६४।

चामुण्डरायके चरित्रसार नामक ग्रन्थमें उक्त गाथाका संस्कृत रूपान्तर इस प्रकार है—

सवेगो निर्वेदो निंदा गर्हा तथोपशम भक्ती ।
अनुकपा वात्सल्य गुणास्तु सम्यक्त्वयुक्तस्य ॥

चामुण्डरायका समय विक्रमकी ११वी शताब्दीका पूर्वार्ध है। आशाधरजीने उक्त श्लोकको गाथाके रूपमें परिवर्तित करके दिया है यह तो सभव प्रतीत नही होता, क्योकि गाथाओको तो संस्कृत रूपान्तर करनेकी परम्परा रही है किन्तु प्राचीन सस्कृत श्लोकोको गाथाके रूपमें परिवर्तित करनेकी परम्परा नही रही। अत आशाधरजीके द्वारा उद्धृत गाथा अवश्य ही चामुण्डरायसे पहलेकी होनी चाहिये। शायद उसीसे भावसग्रहकारने या वसुनन्दिने उसे परिवर्तित किया है।

ऐसी स्थितिमें आशाधरके द्वारा भावसंग्रहका उद्धृत न किया जाना अवश्य ही उल्लेखनीय है।

यदि भावसग्रह दर्शनसारके रचयिता देवसेनका है तो सोमदेवके उपासकाध्ययनसे वह अवश्य ही एक चतुर्थ शताब्दी पूर्वका है क्योकि सोमदेवने अपने यशस्तिलकको शक स० ८८१ (वि० स० १०१६) में समाप्त किया था। सोमदेव सूरिने जो पाँच उदुम्बर और तीन मकारोके त्यागरूप अष्टमूल गुण वतलाये है भावसग्रहमें भी वे ही अष्टमूल गुण वतलाये है। अत उन अष्टमूल गुणोके आविष्कर्ता भावसग्रहकार ठहरते है, सोमदेव नही। किन्तु सागार धर्मामृतमें अष्टमूल गुणोके मतभेदका निर्देश करते हुए आशाधरजीने उक्त अष्टमूल गुणोको सोमदेव सूरिका वतलाया है। भावसग्रहकारका वहाँ सकेत तक नही है।

सागार धर्मामृतके ही टिप्पणमें एक गाथा उद्धृत है जो इसप्रकार है—

'उत्तम पत्त साहू मज्झिमपत्त च सावया भणिया।
अविरद सम्माइट्ठी जहण्णपत्त मुणेयव्वम्॥'

भावसग्रहमें इस गाथाको इस रूपमें परिवर्तित पाया जाता है—

तिविह भणति पत्त मज्झिम तह उत्तम जहण्ण च।
उत्तमपत्त साहू मज्झिम पत्त च सावया भणिया॥४९७॥
अविरइ सम्मादिट्ठी जहण्णवत्त तु अक्खिय समये।
णाऊ पत्तविसेस दिज्जइ दाणाइ भत्तीए॥४९८॥

ऐसी स्थितिमें वसुनन्दिके द्वारा भावसग्रहकी गाथाओको लिये जानेकी अपेक्षा यही अधिक सभव प्रतीत होता है कि भावसग्रहके कर्ताने ही वसुनन्दिको अपनाया और वसुनन्दिको ही क्यो, उन्होंने जीवकाण्ड और द्रव्यसग्रहको भी सामने रखकर उनका भी अनुसरण किया प्रतीत होता है।

जीवकाण्डमें[1] मिथ्यात्वके पाँच भेद करके बुद्धको एकान्तवादी, ब्रह्मको विपरीतवादी, तापसको वैनयिक, इन्द्रको संशयिक और मस्करीको अज्ञानी कहा है। भावसग्रहमें भी उन्हीको आधार वनाकर मिथ्यात्वके पाँच भेदोका कथन किया है (गा० १६-१७१)। किन्तु उसमें ब्रह्मसे ब्राह्मण लिया है।

दर्शनसारमें बुद्धको एकान्तवादी, श्वेताम्बर सघके प्रवर्तकको विपरीतवादी, मस्करी पूरणको अज्ञानी कहा है और वैनयिकोको अनेक प्रकारका वतलाया है। यदि दर्शनसारके रचयिताकी कृति भावसग्रह होती तो वे श्वेताम्बर सघको सशय मिथ्यात्वी न कहते। साथ ही मिथ्यात्वका कथन करते हुए तथोक्त जैनाभासोको यू ही अछूता न छोड देते। चूकि भावसग्रहके कर्ता उन्हीमेंसे थे इसलिये उन्होने उनको छोड दिया जान पडता है।

---

१ 'एयत वुद्धदरिसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ। इदोविय ससइओ मक्कडिओ चेव अण्णाणी॥१६॥'—जी० का०

यदि भावसग्रह विक्रमकी दसवी शताब्दीके अन्तमें रचा गया होता तो उस समयके लगभग रचे गये श्रावकाचारोमेंसे किसी एकमें तो उन बातोकी प्रतिध्वनि सुनाई पडती जिन्हें भावसग्रहकारने स्थान दिया है। किन्तु उस समयकी कृतियोमें उन बातोका सकेत तक नही है। उनके द्वारा निरूपित पूजा विधानकी विधि भी सागार धर्मामृत पर्यन्त किसी श्रावकाचारमें देखनेको नही मिलती।

भावसग्रहमें स्त्री वाहनादियुक्त दश दिग्पालोको अर्घ्यदान देनेके सिवाय एक उल्लेखनीय बात और भी है। उत्तमपात्रोमेंसे कुछको वेदमय[1] और कुछको तपौमय कहा हैं। और वेदका अर्थ सिद्धान्त करके सिद्धान्तके जानकारको वेदमय पात्र और तपस्वी ज्ञानीको तपोमय पात्र कहा है। इस तरहका भेद भी किसी श्रावकाचारमें नही मिलता। वैसे सागार धर्मामृतमे शास्त्रज्ञोका भी समादर करना पाक्षिक श्रावकका कर्तव्य बतलाया है।

एक बात और भी उल्लेखनीय हैं। भावसग्रहमें पशुवधका निषेध करते हुए कहा है कि हरिहरादिके भक्तोके शास्त्रोमें कहा है कि सब जीवोके पाच स्थानोमें देवताओका आवास है। तो उनके मारनेपर सब देवताओका भी घात होगा। आगेकी गाथा इस प्रकार है—

देवे वहिऊण गुणा लब्भहि जइ इत्थ उत्तमा केई।
तु रुक्कवदणया अवरे पारद्धिया सव्वे ॥४८॥

केकडीके प० रतनलालजीने हमें सूचित किया है कि अजमेरकी प्रतिमे 'वहिऊण' के स्थानमे 'हणिऊण' तथा 'तु रुक्कवदणया' के स्थानमे 'तो तुरुक्कवदणीया' पाठ है।

इन पाठोसे गाथाका अर्थ स्पष्ट हो जाता है जो इस प्रकार है—'यदि देवोका हनन करनेसे किन्ही उत्तम गुणोकी प्राप्ति होती है तो तुर्क (मूर्तिभजक मुसलमान) तथा सब शिकारी भी वदनीय है। इससे स्पष्ट है कि भावसंग्रह उस समय रचा गया हैं जब भारतमें मुसलमानोका आक्रमण हो चुका था। प्रसिद्ध मूर्तिभंजक मुहम्मद गजनीने ई० स० १०२३ में सोमनाथका मन्दिर तोडा था। उसके बाद बारहवी शताब्दीमें सहाबुद्दीन गौरीके आक्रमण हुए थे। उसकी चर्चा आशाधरजीने अनगार धर्मामृतकी प्रशास्तिमें की है। अत यह निश्चित है कि भावसग्रह वि०स० ९९० (ई० सन् ९३३)की रचना किसी भी तरह हो नही सकती।

अत भावसग्रहके देवसेन (वि० ९९०) की रचना होनेके सम्बन्धमें अनेक विप्रतिपतियाँ है और कोई सबल प्रमाण नही है।

---

१ किं किंचिवि वेयमय किंचिवि पत्त तवोमयं परम। त पत्तं संसारे तारणय होइ णियमेण ॥५०५॥—भा० स०

प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डमें नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है—

णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥

यह गाथा भावसग्रहमें विल्कुल इसी रूपमें वर्तमान है और उसकी क्रम सख्या ११० है। न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमारजीने उक्त ग्रथकी भूमिकामें प्रभाचन्द्राचार्यका समय ९८० ई० से १०६५ तक निश्चित किया है। किन्तु भाव सग्रहकी उक्त स्थितिको देखते हुए यह नही कहा जा सकता कि उक्त गाथा भावसंग्रहसे ली गई है।

भावसग्रह अवश्य ही कम से कम भारतमें गजनीके आक्रमणके पश्चात् रचा गया है। और उसे उसकी पूर्वावधि माना जा सकता है। तथा कर्मप्रकृति नामके सग्रह ग्रन्थमें कुछ गाथाएँ ऐसी है जो भावसग्रहमें भी है और उनकी क्रमसख्या भावसग्रहमें ३२५ से ३३८ तक (न० ३३० को छोडकर) है। चूँकि कर्म प्रकृतिमें उन गाथाओकी स्थिति उतनी सगत नही जान पडती जितनी भावसग्रहमें है। अत भावसग्रहसे यदि उन्हे कर्मप्रकृतिमें सगृहीत किया माना जाये तो भावसग्रहकी उत्तरावधि कर्मप्रकृतिके पूर्व हो सकती है। किन्तु कर्मप्रकृतिके सग्रहका समय भी सुनिश्चित नही है।

वामदेवकृत सस्कृत भावसंग्रह प्राकृत भावसग्रहका ही छायानुवाद जैसा है। वामदेव रचित त्रैलोक्य प्रदीप ग्रन्थकी स० १४३६ की लिखी हुई प्रति श्री महावीर जीके शास्त्र भण्डारमें है। अत वामदेवने अपना भावसग्रह यदि विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें रचा हो तो यह निश्चित है कि प्राकृत भावसग्रह उससे पूर्वका रचा हुआ है। पूर्वोल्लिखित वातोकी ध्यानमें रखते हुए प्राकृत भावसग्रहको विक्रमकी १२वी १३वी शताव्दीका मानना ही उचित प्रतीत होता है। जैसा कि प० परमानन्दजीका भी मत है।

गर्गर्षि रचित कर्मविपाक

शतक और सित्तरीसे प्रमाणित होता है कि जैन परम्परामें इस प्रकारके प्रकरणोको रचनेकी प्रवृत्ति आरम्भसे ही रही है। उससे कर्मसिद्धान्तके एक एक विपयको समझनेमें सरलता होती है, अन्यथा यह सिद्धान्त इतना गहन और विस्तृत है कि साधारण वुद्धिका प्राणी उसका पार पाना तो दूर, उसमें प्रवेश करनेका भी साहस नही कर सकता। इस प्रकारके प्रकरण ग्रन्थ दोनो जैन परम्पराओंमें रचे गये। दिगम्बरमें तो आचार्य नेमिचन्द्रने गोम्मटसारके द्वारा जीव और कर्मविपयक मौलिक सिद्धान्तोंको दो भागोमें निवद्ध कर दिया। किन्तु

श्वेताम्बर परम्परामें विभिन्न आचार्योंने छोटे २ प्रकरण रचकर उस कमीकी पूर्ति की।

आचार्य[1] गर्गर्षिने १६८ गाथाओके द्वारा कर्मविपाक नामक ग्रन्थ रचा। जैसा कि ग्रन्थके नामसे प्रकट होता है इस ग्रन्थमें आठो कर्मों और उनकी उत्तर-प्रकृतियोके विपाक (पककर फल देने) का कथन किया है। साधारणतया आठो कर्मोकी १४८ प्रकृतियाँ ही मान्य है किन्तु नामकर्मकी प्रकृतियोमे पाँच शरीरोके अवान्तर भेदोको ले लेनेसे उनकी सख्या १५८ भी हो जाती है। तदनुसार गर्गर्पि-ने अपने कर्मविपाकमें कर्मप्रकृतियोकी सख्या १५८ ही मान्य की है।

आठो कर्मोके स्वभावको बतलानेके लिये आठ दृष्टान्त दिये गये है—

पड-पडिहारसिमज्जा-हलिचित्त-कुलाल-भडगारीण।
जह एदेसि भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥

यह गाथा शतकमें है। फिर उसीसे प्राकृत दि० पञ्चसग्रह, कर्मकाण्ड, और गर्गर्पिके कर्मविपाकमें भी ज्यो-की-त्यो ले ली गई है। केवल चतुर्थचरणमें थोडा-सा पाठ भेद है। कर्मविपाकमें गर्गर्पिने प्रत्येक दृष्टान्तका पृथक्से स्पष्टीकरण भी किया है। दिगम्बर परम्पराके भावसग्रह और कर्मप्रकृतिमें भी वैसा किया गया है।

कर्मविपाकमें प्रत्येक कर्मप्रकृतिका कार्य पृथक् २ बतलाया है। इससे वह बहुत विस्तृत हो गया है, किन्तु उससे प्रत्येक प्रकृतिका कार्य स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है।

प्रकृतियोके स्वरूपमे अन्तर

दोनो जैन परम्पराओमें आठो कर्मो और उनकी उत्तरप्रकृतियोंकी सख्या तथा उनके नामोमें अन्तर नही है। किन्तु कुछ उत्तरप्रकृतियोके कार्योमें और अर्थोमें अन्तर[2] है। ऐसी प्रकृतियोमें दर्शनावरण कर्मके अन्तर्गत पाँच निद्राएँ और नामकर्मके अन्तर्गत कुछ प्रकृतिया उल्लेखनीय है। उनमे भी नामकर्मके सहननके

---

१ 'भणिओ कम्मविवाओ समासओ गग्गरिसिणा उ ॥१६७॥
एव गाहाण सय अहिय छावट्ठिए पढिऊण।
जो गुरु पुच्छइ नाही कम्मविवाग च सो अइरा ॥१६८॥'—ग०क०वि०।

यह कर्मविपाक ग्रन्थ दो सस्कृत टीकाओके साथ 'सटीकाश्चत्वार प्राचीना कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ था।

२ आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे प्रकाशित 'पहला कर्मग्रन्थ' पृ० १३३ आदिमें यह अन्तर दिया हुआ है।

भेद वज्रर्षभनाराच सहननका अर्थ विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। कर्मविपाकमें उसका अर्थ इस प्रकार किया है—

रिसहो य होइ पट्टो वज्ज पुण कीलिया मुणेयव्वा।
उभओ मक्कडवधं नाराय त वियाणाहि ॥१०९॥

यह गाथा जीव समास ग्रन्थसे ली गई है। अत इसे प्राचीन होना चाहिये। इसमें कहा है—ऋषभ पट्टको अर्थात् परिवेष्टन पट्टको कहते है। वज्रका अर्थ कील जानना चाहिये और दोनो ओरसे मर्कटवन्धको नाराच जानना चाहिये। अर्थात् जिसमें दो हड्डियाँ दोनो ओरसे मर्कटवन्धमे वधी हो, और पट्टकी आकृति वाली तीसरी हड्डीमे वेष्टित हों और ऊपरसे इन तीनो हड्डियोको वीधने वाली कील हो उस संहननको वज्रऋषभनाराच कहते है।

दिगम्वर परम्परामें—सहनन अर्थात् हड्डी समूह, ऋषभ-वेष्टन, वज्रके समान अभेद्य होनेसे वज्रऋषभ कहलाता है। और वज्रके समान नाराचको वज्र नाराच कहते है। अर्थात् जिस सहनन नामकर्मके उदयसे वज्रमय हड्डियाँ, वज्र-मय वेष्टनसे वेष्ठित और वज्रमय नाराचसे कीलित होती हैं वह वर्ज्रपभ नाराच शरीर सहनन है।' (षट्खं०, पु० ६, पृ० ७३)

यह अर्थभेद वहुत पुराना प्रतीत होता है। इसी तरहका अर्थ भेद कुछ अन्य प्रकृतियोमें भी पाया जाता है।

इस कर्मविपाकको वृहत्कर्मविपाक भी कहते हैं। और इसे प्रथम प्राचीन कर्मग्रन्थ भी कहा जाता है। इसका कारण यह है कि देवेन्द्र सूरिने विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके अन्तमें चार कर्मग्रन्थोकी रचना की थी जो नवीन कर्मग्रन्थ कहे जाते है। उन्हीके कारण पहलेके कर्मग्रन्थोको प्राचीन तथा वृहत् विशेपण दिया गया है जिससे दोनोका भेद परिलक्षित किया जा सके, क्योकि देवेन्द्र सूरिने अपने कर्मग्रन्थोको वही नाम दिया है।

आचार्य गर्गर्षि

आचार्य गर्गर्पिने अपने सम्बन्धमें कोई जानकारी नही दी और न अन्य स्रोत-से ही उनके सम्वन्धमें कोई जानकारी मिलती है। उनके कर्मविपाककी दो संस्कृत टीकाएँ मुद्रित हो चुकी है उनमेंसे एक टीका तो अज्ञातकर्तृक है। उसके कर्ताके सम्वन्धमें कोई भी बात ज्ञात नही है। दूसरी टीका परमानन्द सूरिकी रची हुई है। यह कुमारपालके (स० ११९९–१२३०) राज्यमें वर्तमान थे। उनकी टीका की एक ताडपत्रीय प्रति स० १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध[1] है। और गर्गर्षि कुमारपालसे पहले हो गये है।

---

१ जै० सा० इ० (गु०), पृ० ३९०।

सिद्धर्षिने अपनी उपमिति भव प्रपञ्च कथामें गर्गर्षिका गुरु रूपसे स्मरण किया है। और उक्त कथा उन्होने स० ९६२ में समाप्त की थी। अत गर्गर्षि और उनकी कृति कर्मविपाकका समय विक्रमकी नौवी शताब्दीका अन्तिम चरण या दशवीका प्रथम चरण होना चाहिये।

गोविन्दाचार्य रचित कर्मस्तव वृत्ति

कर्मस्तव[1] के सम्बन्धमे पहले लिखा जा चुका है। श्वेताम्बर परम्परामें उसे द्वितीय प्राचीन कर्म ग्रथके रूपमे माना जाता है। इस पर २४ और ३२ गाथात्मक दो भाष्य भी हैं। उनके कर्ता आदिके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नही है। तथा गोविन्दाचार्य रचित एक सस्कृत वृत्ति है। इस वृत्तिकी एक प्रति १२८८ की लिखी हुई उपलब्ध है। अत यह निश्चित है कि ग्रन्थकार उससे पहले हो गये हैं।

बन्धस्वामित्व[2]

यह एक ५४ गाथाओका प्रकरण ग्रन्थ है। जैसा कि नामसे प्रकट होता है, इसमें चौदह मार्गणाओके आश्रयसे कर्मप्रकृतियोके बन्धके स्वामियोका कथन है। इसके कर्ताका नाम अज्ञात है। अन्तिम गाथामें उसने कहा है—'मुझ[3] जडबुद्धि-ने पूर्व सूरि रचित प्रकरणोमेंसे कर्मस्तवको सुनकर इस बन्ध स्वामित्वको रचा।' अत कर्मस्तवके पश्चात् इसकी रचना हुई है। इस प्रकरण पर हरिभद्रसूरि रचित एक सस्कृत टीका हैं। यह वृहद्गच्छके मानदेव सूरि जिनदेव उपाध्यायके शिष्य थे। इन्होने जयसिंहके राज्यमें वि० स० ११७२ में बन्धस्वामित्व षडशीति आदि कर्मग्रन्थो पर वृत्ति रची थी। इन्होने अपनी टीकामें[4] कर्मस्तव टीकाका निर्देश किया है। यदि यह टीका गोविन्दाचार्य रचित है तो गोविन्दाचार्यका समय उनसे पहले होना चाहिये।

जिनवल्लभ गणि रचित षडशीति

यह छियासी गाथाओका एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसीसे इसका नाम षडशीति

---

१ यह कर्मस्तव भी गोविन्दाचार्यकी टीकाके साथ आत्मानन्दसभा भावनगरसे 'सटीका चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुका है।

२ यह बन्धस्वामित्व भी हरिभद्रसूरि रचित टीकाके साथ 'सटीका चत्वार कर्मग्रन्था' के अन्तर्गत आत्मानन्द जैन सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

३ 'इय पुव्वसूरि कय पगरेणसु जडबुद्धिणा मए रइय।
बधसामित्तमिण नेय कम्मत्थय सोउ ॥५४॥'—व० स्वा०।

४ 'आसा दसानामपि गाथाना पुनर्व्याख्यान कर्मस्तवटीकातो वोद्धव्यमिति।
—प्रा० व० स्वा० गा० १४।

है। इसमें ग्रन्थकारने जीवसमास, मार्गणा, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या आदिका कथन किया है। इसका दूसरा नाम आगमिक वस्तु विचारसार भी है।

इसमें जो विषय वर्णित है वह सब गोमट्टसार जीवकाण्डमें है। किन्तु दोनोकी शैलीमें बहुत अन्तर है। जीवकाण्डमें वीस प्ररूपणाएँ हैं और प्रत्येक प्ररूपणाका उसमें बहुत विस्तृत और विशद वर्णन है। प्रकृत षडशीति तो उसका एक अंश जैसा है। अनेक स्थलोमें दोनोमें मतभेद[1] भी हैं।

इसके रचयिता जिनवल्लभगणि[2] चैत्यवासी जिनेश्वर सूरिके शिष्य थे और उन्होने नवाग वृत्तिकार अभयदेव सूरिके पास विद्याध्ययन किया था। इससे वह चैत्यवासके विरोधी हो गये और उन्होने अभयदेव सूरिसे दीक्षा ली। वादको वे उनके पट्टधर हुए और स० ११६७ में उनका स्वर्गवास हुआ।

इस ग्रथकी तीन वृत्तियाँ उपलब्ध है। एक वृत्ति तो बन्धस्वामित्व पर वृत्तिके रचयिता हरिभद्रसूरिकी है। दूसरी वृत्ति मलय गिरिकी है। तीसरी वृत्ति यशोभद्र सूरिकी है। इनमेंसे पहली दो वृत्तियोके साथ षडशीतिका प्रकाशन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है।

ये सब वृत्तियाँ विक्रमकी १२वी १३वी शताब्दी की है।

जिन वल्लभ गणिका एक सार्धशतक नामक ग्रथ भी है। इसमें १५५ गाथायें है और ११० गाथाओका उसपर एक भाष्य है। उसके कर्ताका नाम ज्ञात नही है। मुनिचन्द्र सूरिने वि० सं० ११७० में उस पर चूर्णि रची थी और धनेश्वर सूरिने उसी समयके लगभग उस पर वृत्ति रची थी।

देवेन्द्रसूरि रचित नव्य कर्मग्रन्थ

आचार्य देवेन्द्रसूरिने पाँच कर्मग्रन्थोकी रचना की थी और उन्होने उनका नामकरण भी पूर्वमें विद्यमान प्रकरणोके नामोके आधारपर कर्मविपाक, कर्मस्तव, वन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक ही रखा था। वास्तवमें उनके ये पाँचो कर्मग्रन्थ स्वतत्र नही है किन्तु प्राचीन कर्मग्रन्थोके आधारपर ही उनकी रचना हुई है। यद्यपि ग्रन्थोका नाम, विषय, वस्तु वर्णनका क्रम आदि प्राय सभी उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थोंका ऋणी है। तथापि उसमें जो वैशिष्ट्य है वह ग्रन्थकारके वैदुष्य और रचना चातुर्यका परिचायक है। इन नवीन कर्मग्रन्थोकी इस विशिष्टताके कारण ही प्राचीन कर्मग्रन्थोकी ओरसे पाठक उदासीन जैसे बन गये।

---

१. जै० सा० इ० (गु०), पृ० २३०–३१।

२ श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरासे षडशीति नामक नवीन चतुर्थ कर्मग्रथका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है। उससे मतभेदोको जाना जा सकता है।

हमने भी इसीसे उनका साधारण परिचय देकर सन्तोप कर लिया क्योंकि नवीन कर्मग्रन्थोके विपयमें आवश्यक वक्तव्य देना अपेक्षित था।

उक्त नामके प्राचीन पाँचो कर्मग्रन्थ विभिन्न आचार्योंकी कृति होनेसे विभिन्न कालोमें रचे गये थे। अत उनका कोई क्रम निर्धारित नही था। देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचो कर्मग्रन्थोको पुराना नाम देकर जो क्रम निर्धारित किया, उसी क्रमके अनुसार प्राचीन कर्मग्रन्थोको भी पहला दूसरा आदि सज्ञाएँ दे दी गई। फलत कर्मविपाक पहला, कर्मस्तव, दूसरा, वन्धस्वामित्व तीसरा, पडशीति चौथा और शतक पाँचवा कर्मग्रन्थ प्रसिद्ध हो गया।

यह क्रम इतना अधिक रूढ हो गया है कि इन कर्मग्रन्थोके मूलनामसे अपरिचित भी प्रथम, द्वितीय आदि कर्मग्रन्थ कहनेसे ठीक-ठीक समझ जाते है।

कर्मविपाक

इस प्रथम कर्मग्रन्थमें कर्मोंकी सब प्रकृतियोके विपाकका ही मुख्य रूपसे कथन है। उस कथनको पाँच भागोमें बाटा जा सकता है—

१—प्रत्येक कर्मके प्रकृति आदि भेदोका कथन। २—कर्मोकी मूल तथा उत्तरप्रकृतियाँ। ३—पाँच प्रकारके ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनोका कथन। ४—सब प्रकृतियोका दृष्टान्तपूर्वक कार्य-कथन और ५—मव प्रकृतियोंके कारणो का कथन। इसमे केवन ६० गाथाएँ है। और इस तरह यह प्राचीन कर्मविपाकसे बहुत छोटा है। किन्तु उससे इसमें विपय अधिक है। आठों कर्मोंके वन्धके जो कारण शतकमें वतलाये है, देवेन्द्रसूरिने उन्हे कर्मविपाकमें ही दे दिया है।

प्राचीन कर्मविपाकमे श्रुतज्ञानावरण कर्मका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानके चौदह भेदोका निर्देश मात्र किया है। किन्तु इस कर्मविपाकमें एक गाथाके (६) द्वारा उन चौदह भेदोको गिनाया है और एक गाथा (७) के द्वारा श्रुतज्ञानके उन बीस भेदोको भी गिनाया है जो षड्खण्डागम और जीवकाण्डमें गिनाये गये है। श्वेताम्बर परम्परामें ये बीस भेद अन्य किसी ग्रन्थमें देखनेमें नही आये।

२ कर्मस्तव

देवेन्द्रसूरि रचित इस नवीन कर्मस्तवमें केवल ३४ गाथाएँ है और इस तरह यह भी प्राचीन कर्मस्तवसे प्रमाणमे छोटा है। इसमे गुणस्थानोमे कर्मोके बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्त्वका कथन थोडेमें वडे सुन्दर ढंगसे किया गया है।

३ बन्धस्वामित्व

बन्ध स्वामित्व नामके इस तीसरे कर्मग्रन्थकी गाथा सख्या मात्र २४ है। और इस तरह प्राचीन बन्ध स्वामित्वसे प्रमाणमें यह भी छोटा है। दोनोंमें विषय समान होते हुए भी प्राचीनमें जो बात विस्तारसे कही है नवीनमे उसे

परिमित शब्दोंमें कहा है। इसीमे गति आदि मार्गणाओमे गुणस्थानोकी सख्याका निर्देश जैसा प्राचीन बन्धस्वामित्वमें अलगसे किया है, नवीन कर्मग्रन्थमें वैसा नही किया। किन्तु गुणस्थानोको लेकर बन्ध स्वामित्वका कथन इस रीतिसे किया है उनका ज्ञान पाठकको स्वत हो जाता है।

४ षडशीति

षडशीति नामक चतुर्थ कर्मग्रन्थमें प्राचीनकी तरह ही ८६ गाथाएँ है। इसीसे दोनोके षडशीति नाममे भी समानता है। किन्तु प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम 'आगमिक वस्तु विचारसार' दिया है, जबकि नवीनके कर्ताने 'सूक्ष्मार्थ विचार' नाम दिया है। प्राचीनकी तरह नवीनमें भी मुख्य अधिकार तीन ही है—जीवस्थान, मार्गणा स्थान और गुणस्थान। किन्तु गाथासख्या समान होते हुए भी नवीनमें ग्रन्थकारने विषयका विस्तारपूर्वक कथन किया है। 'भाव' और 'सख्या' का कथन प्राचीनमें नही है किन्तु नवीनमे विस्तारसे है।

शतक

शतक नामक इस पञ्चम कर्मग्रन्थका नाम शतक होते हुए भी प्राचीन शतकसे इसके विषयवर्णनमें अन्तर है। सबसे प्रथम ध्रुवबन्धिनी, देशघाती, अघाती, पुण्यरूपा, पापरूपा, परावर्तमाना और अपरावर्तमाना कर्मप्रकृतियोका कथन है। फिर उन्ही प्रकृतियोमें कौन क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भवविपाकी और पुद्गलविपाकी है यह बतलाया है। फिर बन्धके चार भेदोका स्वरूप बतलाकर उनका कथन किया है। प्रकृतिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तरप्रकृतियोमें भूयस्कार, अल्पतर, अवस्थित और अवक्तव्यबन्धोको बतलाया है। स्थितिबन्धका कथन करते हुए मूल तथा उत्तप्रकृतियोकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति, एकेन्द्रिय आदि जीवोमें उसका प्रमाण निकालनेकी रीति, और उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति बन्धके स्वामियोका कथन किया है। प्रदेशबन्धका कथन करते हुए वर्गणाओका स्वरूप, उसकी अवगाहना, बद्ध कर्मदलिकोका मूल तथा उत्तरप्रकृतियोमें बटवारा, कर्मके क्षपणमें करण ग्यारह गुणश्रेणियाँ, गुणश्रेणी रचनाका स्वरूप, गुणस्थानोका जघन्य और उत्कृष्ट अन्तराल, प्रसगवश पल्योपम सागरोपम और पुद्गल परावर्तके भेदोका स्वरूप, योगस्थान वगैरहका अल्पबहुत्व और लोक आदिका स्वरूप बतलाया है। तथा अन्तमें उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणिका कथन किया है। इनमेंसे बहुतसे कथन प्राचीन शतकमें नही है।

कर्मग्रन्थोकी स्वोपज्ञ टीका

देवेन्द्रसूरिने अपने पाँचो कर्मग्रन्थो पर सस्कृतमें टीका भी बनाई है। और

उनकी टीका उनकी विद्वत्ता और रचना चातुर्य्यकी परिचायिका है। इससे उनकी अध्ययन शीलताका पता चलता है। उनकी टीकाएँ कर्मसाहित्यके उद्धरणोसे और कर्मविपयक विविध चर्चाओसे भरी हुई है। उसको देखनेसे उनके कर्मविषयक पाण्डित्यके प्रति गहरी आस्था होती है। टीकाकी शैली प्रसन्न और भाषा सरल है। कर्मसाहित्यके अभ्यासीके लिए यह टीका अवश्य ही अवलोकनीय है।

ग्रन्थकार तथा उनका समय

उक्त कर्मग्रन्थोके रचयिता श्री देवेन्द्रसूरिने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति दी है। उससे ज्ञात होता है कि उनके गुरुका नाम जगच्चन्द्रसूरि था और वे चान्द्रकुलमें हुए थे। तथा विवुध श्री धर्मकीर्ति और विद्यानन्दसूरिने उनके कर्मग्रन्थोकी टीकाका सशोधन किया था।

गुर्वावलि[1]में श्री जगच्चन्द्रसूरिके विषयमें लिखा है कि वि०स० १२८५में इन्होने उग्र तप धारण किया, इससे इनकी ख्याति 'तपा' नामसे हो गई और इनका वृद्धगच्छ तपागच्छ नामसे प्रसिद्ध हुआ। दैलवाराके प्रसिद्ध मन्दिरोंके निर्माता श्री वस्तुपाल तेजपाल इनका वहुत आदर करते थे। तपागच्छकी स्थापनाके वाद श्री जगच्चन्द्रसूरिने अपने शिष्य देवेन्द्रसूरि और विजयचन्द्रसूरिको सूरिपद दिया।

श्री देवेन्द्रसूरिने उज्जैनी नगरीके वासी सेठ जिनचन्द्रके पुत्र वीरधवलको प्रतिवुद्ध करके वि०स० १३०२में दीक्षा दी थी और वि०सं० १३२३में गुजरातके प्रल्हादनपुर नामक नगरमें उसे सूरिपद दिया था। यही वीरधवल विद्यानन्द-सूरिके नामसे प्रसिद्ध हुए और उन्होने अपने गुरु श्री देवेन्द्रसूरि रचित कर्मग्रन्थो-की टीकाका सशोधन किया। गुर्वावलीके अनुसार वि०स० १३२७में देवेन्द्रसूरिका स्वर्गवास हुआ। अत उनका समय विक्रमकी तेरहवी शताब्दीका उत्तरार्ध तथा चौदहवीका पूर्व भाग है।

संस्कृत कर्मग्रन्थ

विक्रमकी १५वी शताब्दीके प्रारम्भमें जयतिलक सूरिने संस्कृतके ५६९ श्लोकोमें चार कर्मग्रन्थोकी रचना की थी।

कर्मप्रकृति नामक अन्य ग्रन्थ

जिन रत्नकोशमे कर्मप्रकृति नामक आठ ग्रन्थोका निर्देश है। इनमेंसे पहलीके रचयिता शिवशर्म सूरि है इसके सम्वन्धमे पीछे विस्तारसे लिख आये है। दूसरी-

---

१ 'तदादिवाणद्विप भानुवर्षे श्रीविक्रमात् प्राप तदीयगच्छ ।
वृहद्गणाह्वोऽपि तपेति नाम श्रीवस्तुपालादिभिरर्च्यमान ।'

के रचयिता तथागच्छके यशोविजय सूरि है जो विक्रमकी १८वी शतीके पूर्वार्धमें हुए है। तीसरीके रचयिता नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक है। इसकी प्रतियाँ अनेक भण्डारोमें पाई जाती है। चौथीके रचयिता ऋषभनन्दि है। आरा जैनसिद्धान्त भवनकी ग्रन्थसूचीमें ऐसा ही छपा हुआ है। उसीका निर्देश जिन रत्नकोशमे है। हमने आरासे उसकी प्रति मगाई तो नेमिचन्द्र सैद्धान्तिककी कर्मप्रकृति आई। अत उक्त ऋषभनन्दिका निर्देश भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है किन्तु उस भ्रमका कारण क्या है यह चिन्त्य है। अस्तु,

पाँचवीके रचयिता सुमतिकीर्ति है। किन्तु यह उल्लेख भी भ्रमपूर्ण ही प्रतीत होता है। कोशमें लिखा है कि ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, वम्वईकी सूचीमें कर्मप्रकृति टीकाको ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति रचित वतलाया है। वही ठीक भी प्रतीत होता है क्योकि उसकी प्रति देहली और जयपुरके शास्त्र भण्डारोमें भी वर्तमान है। अस्तु,

नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक रचित कर्मप्रकृति नामक ग्रन्थकी गाथा सख्या १६२ है। यह कोई स्वतन्त्र कृति नही है किन्तु सकलित है। और इसका सकलन गोम्मटसारके कर्मकाण्डसे किया गया है। इसमें प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थितिवन्ध, अनुभागवन्ध और मूलप्रकृतियोके वन्धके कारणोका कथन है जो कर्मकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकार, वन्धोदयसत्ता नामक द्वितीय अधिकार और प्रत्यय नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया है और आवश्यकतानुसार सकलयिताने कुछ अन्य गाथाएँ भी यथास्थान उसमें सम्मिलित कर दी है जो सम्भवतया सकलयिताकी कृति हो सकती है।

कर्मप्रकृतिकी गाथाओका पूरा विश्लेषण इस प्रकार है—कर्मकाण्डके प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक प्रथम अधिकारकी पहली गाथासे कर्मप्रकृतिका प्रारम्भ होता है इस अधिकारकी प्रथम १५ गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान है। १५वी गाथामें सप्तभगीके द्वारा जानकर श्रद्धान करनेकी वात आई है अत कर्मप्र०में १६वी गाथा सात भगोका कथन करनेवाली है। यह गाथा पञ्चास्तिकायकी १४वी गाथा है और वहीसे ली गई जान पडती है। इस एक गाथाके वीचमें वढ जानेसे कर्मकाण्ड और कर्मप्रकृतिकी यथाक्रम गाथा सख्यामें एकका अन्तर पड गया है। आगे पुन कर्मकाण्डकी २० पर्यन्त गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें यथाक्रम वर्तमान है। कर्मकाण्डकी वीसवी गाथामें जिसकी सख्या कर्मप्रकृतिमें २१ है, आठो कर्मोके क्रमपाठका समर्थन करते हुए उसका उपसहार किया गया है। इसके आगे पाँच गाथाएँ कर्मप्रकृतिमें नवीन है। इनमें वतलाया है कि जीवके अनादिकालसे विविध कर्मोका वन्ध होता है। उनका उदय होनेपर जीवके राग-द्वेपरूप भाव होते है। उन भावोंके कारण पुन कर्मवन्ध होता है। उस वन्धके चार भेद है।

चालू चर्चाके मध्यमें उक्त कथन बिल्कुल वेमौके प्रतीत होता है। उसका गाथा २१ और २७ के साथ कोई सम्वन्ध नही है। अस्तु,

२७वी गाथामें, जिसका नम्वर कर्मकाण्डमे २१ है आठो कर्मोका स्वभाव उदाहरणके द्वारा प्रकट किया गया है। कर्मप्रकृतिकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उस गाथाका संस्कृतमें व्याख्यान किया गया है। आगे नवीन आठ गाथाओ-के द्वारा उसी कथनको विस्तारसे किया है अर्थात् एक एक गाथाके द्वारा एक-एक कर्मका स्वभाव वतलाया गया है। फिर गाथा ३६ में जिसका क्रमाक कर्म-काण्डमें २२ है प्रत्येक कर्मकी उत्तरप्रकृतियोकी सख्या वतलाई है।

आगे जीवकाण्ड[1]के ज्ञानमार्गणाधिकारसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञानका लक्षण वतलानेवाली गाथाएँ देकर तथा दर्शन[2]-मार्गणाधिकारसे दर्शन, चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन सम्वन्धी गाथाएँ देकर ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मोकी प्रकृतियाँ वतलाई है। दो गाथाओके द्वारा जिनकी क्रमसख्या ४७-४८ है, दर्शनावरणीयके भेद गिनाकर पाचो निद्राओका स्वरूप तीन गाथाओके द्वारा वतलाया है। ये तीनों गाथाएँ कर्मकाण्ड की है। कर्मकाण्डमें इनकी क्रमसख्या २३, २४, २५ है और कर्मप्रकृतिमें ४९, ५०, ५१ है। गाथा ५२-५३ के द्वारा वेदनीय और मोहनीयके एक भेद दर्शनमोहनीयके भेद वतलाकर कर्मकाण्डकी २६वी गाथाके द्वारा दर्शन-मोहनीयके तीन भेद कैसे हो जाते है यह वतलाया है।

आगे चारित्रमोहनीयके भेद गिनाये है। उसके लिये पहली दो गाथाएँ तो नई रची गई है। आगे कपायके भेदोका कथन करनेवाली ५ गाथाएँ जीवकाण्ड[3]के कषायमार्गणाधिकारसे ली गई है।

फिर एक गाथा न० ६२ के द्वारा नोकषायके भेद वतलाये है। आगे स्त्री और पुरुषकी व्युत्पत्ति करनेवाली दो गाथाएँ तथा नपुंसक वेदका स्वरूप वतलाने वाली एक गाथा जी का[4] के वेद मार्गणाधिकारसे ली है।

आगे आयु और नाम कर्मकी प्रकृतियोको गिनाया है। कर्मकाण्डमें गा० २७ के द्वारा पाँच शरीरोके सयोगीभेद, गा० १८के द्वारा शरीरके आठ अग और गाथा २९–३२के द्वारा सहननोके बारेमें विशेष कथन किया गया है तथा गाथा ३३के

---

१ जी० का०, गा० ३०५, ३१४, ३६९, ४३७, ४५९।

२ जी०का०, गा० ४८१, ४८३, ४८४, ४८५। इनमेंसे गा० ३०५ के उत्तरार्ध-में थोडा परिवर्तन कर दिया गया है।

३ जी०का०, गा० २८३, २८४, २८५, २८६ और २८२।

४ जी० का०, गा० २७२, २७३, २७४।

द्वारा आतप नामकर्म और उष्ण नामकर्मके अन्तरको स्पष्ट किया है। नामकर्मके भेदोको बतलाते हुए कर्मप्रकृतिके संकलयिताने इन सब गाथाओको यथास्थान सकलित कर लिया है। इस तरह सब कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोकी सख्या समाप्त होने पर्यन्त कर्म प्रकृतिकी गाथा सख्या १०२ हो जाती है। आगे पुन कर्म-काण्डकी गाथा ३४ से ५१ तक यथाक्रम है। ५१ सख्याकी गाथाका नम्बर कर्म प्रकृतिमें १२२ है। यही प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार समाप्त हो जाता है। जबकि कर्मकाण्डके इस अधिकारमें ५१के बाद भी ३५ गाथाएँ शेप रह जाती हैं जो कर्म प्रकृतिमें नही ली गई हैं। अस्तु,

इसके बाद कर्म प्रकृतिमें स्थितिबन्धका कथन है। यह कर्मकाण्डसे सक-लित है। कर्मकाण्डके अन्तर्गत स्थिति बन्धाधिकारकी गा० १२७से १४४ तक ज्यो की त्यो यथाक्रम सकलित हैं। उनका नम्बर १२३ से १४० तक है। यही स्थिति-बन्धाधिकार समाप्त हो जाता है। यद्यपि कर्मकाण्डमे आगे भी चलता है। अनु-भागबन्धाधिकारमें केवल चार गाथाएँ है जो कर्मकाण्डके अनुभागबन्धा० की है। कर्मकाण्डमें उनका नम्बर १६३, १८०, १८१ और १८४ हैं।

आगे आठो कर्मोंके प्रत्ययोका कथन भी कर्मकाण्डके प्रत्ययाधिकार नामक छठे अधिकारसे सकलित किया गया है। कर्मकाण्डमें ८०० से ८१० गाथा तक ग्यारह गाथाओसे यह कथन किया गया है। किन्तु कर्मप्रकृतिमें गा० १४५ से १६२ तक १८ गाथाओसे प्रत्ययोका कथन है। उसका कारण यह है कि कर्मप्रकृतिके सकलयिताने एक गाथाके द्वारा असाता वेदनीयके बन्धके कारणोका, ५ गाथाओ-के द्वारा तीर्थंकर नामकर्मके बन्धके कारणोका और एक गाथाके द्वारा अशुभ नामकर्मके बन्धके कारणोका विशेप कथन किया है जो कर्मकाण्डमें नही है। इससे गाथा सख्या बढ गई है।

इस तरह कर्मप्रकृति एक सकलित रचना है। मुख्य रूपसे कर्मकाण्डसे उसका सकलन किया गया है और कमी पूर्तिके रूपमें सकलयिताने उसके कुछ अन्य गाथाएँ भी जो उसकी स्वरचित प्रतीत होती है, जोड दी है। किन्तु सकलयिता-की रुचि कुछ विचित्र सी जान पडती है। उसने अनुभागबन्धकी केवल चार गाथाएँ ही सकलित की और प्रदेशबन्ध[1] को तो एक तरहसे छोड ही दिया है।

---

१ कर्मप्रकृतिकी गाथा २१–२६ में जीव प्रदेशों और कर्मप्रदेशोके बन्धादिका कथन किया है। और गाथा २६ में बन्धके चार भेद बतलाकर उत्तरार्धमें लिखा है—'पयडिट्ठिदि अणुभागपएसबधो पु कहिओ।' मुख्तार साहबने अपनी पु० वा० सू० की प्रस्ता० (पृ० ८३) के फुटनोटमें लिखा कि 'पयडि-ट्ठिदि अणु भाग पएसबधो पुरा कहिओ' कर्मप्रकृतिकी अनेक प्रतियोमे यही पाठ पाया जाता है जो ठीक जान पडता है क्योकि 'जीवपएसेक्केक्के'

अथवा जिस रूपमें उसका कथन किया गया है वह सकलयिताकी बुद्धिमत्ताका परिचायक नही है। जो गाथाएँ उसकी स्वरचित है उनसे वह विशेष दक्ष प्रतीत नही होता।

सकलयिताका नाम तथा समय

प्रतिमें कर्मप्रकृतिके रचयिताका नाम नेमिचन्द सिद्धान्ति लिखा है। कर्मकाण्डके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती था। अत यह नेमिचन्द सिद्धान्ती कोई दूसरे ही व्यक्ति प्रतीत होते है। मुखतार साहवने लिखा है—'मेरी रायमें यह कर्मप्रकृति या तो नेमिचन्द्र नामके किसी दूसरे आचार्य, भट्टारक अथवा विद्वान्‌की कृति है, जिनके साथ नामसाम्यादिके कारण 'सिद्धान्त चक्रवर्ती पद बादको कही कही जुड गया है, सब प्रतियोमें यह नही पाया जाता। या किसी दूसरे विद्वान्‌ने उसका सकलन कर उसे नेमिचन्द्र आचार्यके नामाकित कर दिया है। ऐसा करनेमें उसकी दो दृष्टि हो सकती है, एक तो ग्रथ प्रचारकी और दूसरी नेमिचन्द्रके श्रेय तथा उपकार स्मरणको स्थिर रखनेकी क्योकि इस ग्रथका अधिकाश शरीर आद्यन्त भागो सहित उन्हीके गोम्मटसारसे वना है। (पु० वा० सू० प्रस्ता०, पृ० ८८)।

यद्यपि सकलयिताके नामका निर्णय न हो सकनेसे उसके समयका निर्णय किया जा सकना शक्य नही है। तथापि हमारे सामने आरा जैन सिद्धान्त भवनकी जो प्रति उपस्थित है उस पर प्रति लेखनका काल सम्वत् १६६९ लिखा है। भट्टारक ज्ञान भूषण और सुमतिकीर्ति ने उस पर एक टीका भी लिखी है। पचसग्रहकी वृत्ति भी सुमतिकीर्तिकी लिखी हुई है और उसमें उसका रचनाकाल सम्बत् १६२० दिया है। उसका सशोधन भी ज्ञानभूषणने ही किया था। अत यह वृत्ति भी उसी समयके लगभग की होनी चाहिये।

अत इतना तो सुनिश्चित है कि विक्रमकी ११वी शताब्दीके पश्चात् १६वी

इत्यादि पूर्वकी तीन गाथाओमें प्रदेश वन्धका ही कथन है। ज्ञानभूषणने अपनी टीकामें इसका अर्थ देते हुए लिखा है—'ते चत्वारो भेदा के ? प्रकृतिस्थित्यनुभागा प्रदेशबन्धश्च, अय भेद पुरा कथित।' मुख्तार साहवने यह भी लिखा है कि मेरे पास कर्मप्रकृतिकी एक वृत्ति सहित प्रति और है जिसमें यहाँ पाँचके स्थान पर छै गाथाएँ है। छठी गाथा 'सो वधो चउभेओ' से पूर्व इस प्रकार है—

'आउगभागो थोवो णामा गोदे समो तदो अहिओ।
घादि तिये वि य तत्तो मोहे तत्तो तदो तदिये ॥'

यह कर्मकाण्डकी गाथा १९२ है।

शताब्दी पर्यन्त ५०० वर्षोके सुदीर्घ कालके अन्दर किसी समय इस कर्मप्रकृतिका सकलन किया गया है।

इस कालमें कब इसकी रचना हुई यही विचारणीय है—

सस्कृत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्र त्रैविद्यके गुरुका नाम भी नेमिचन्द्र गणी था। उन्होने क्षपणासारकी प्रशस्तिमें उन्हे सैद्धान्ताधिप लिखा है। कर्मकाण्डके आधार पर सकलित बन्ध त्रिभगीके रचयिताका नाम एक प्रतिमें नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्र लिखा है। अत क्षपणासारके रचयिता माधवचन्द्रके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्ती ही कर्मप्रकृतिके सकलयिता प्रतीत होते है। माधवचन्द्रने क्षपणासारको शक स० ११२५ (वि०स० १२६०)मे रचा है। अत कर्मप्रकृति भी इसी समयके लगभग संकलित की गई जान पडती है।

बन्धत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगी

जिस तरह किसी सकलयिताने कर्मकाण्डके आधारसे कर्मप्रकृतिकी सकलना की है सभवतया उसी प्रकार कर्मकाण्डके आधार पर अन्य भी प्रकरण सग्रहीत किये गये है। इसी तरहके तीन प्रकरण कर्मकाण्डके बन्धोदय सत्त्व नामक दूसरे अधिकारसे सकलित किये गये है। कर्मप्रकृतिके सकलयिताकी तरह इनके सकलयिताने उक्त अधिकारसे अपनी रुचिके अनुसार गाथाएँ सकलित की है और आवश्यकताके अनुसार उनके बीचमें कुछ स्वरचित गाथाएँ भी जोड दी है।

इनमेंसे प्रथम प्रकरण बन्धत्रिभगीका प्रारम्भ कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी प्रथम गाथासे होता है जिसकी क्रमसख्या कर्मकाण्डमें ८७ है। ८७के बाद ८८वी गाथा है और फिर कर्मकाण्डकी गा० ३४, ३७ यथाक्रम है। फिर कर्मप्रकृतिकी ५३-५४वी गाथा यथाक्रम है। फिर कर्मकाण्डकी ३५वी गाथा है। फिर कर्मकाण्डके दूसरे अधिकारकी ८९, ९०, ९१ नम्बरकी तीन गाथाएँ छोडकर ९२वी से १०७ पर्यन्त गाथाएँ है। फिर जीवकाण्डकी १२८वी और त्रिलोकसारकी २०३वी गाथा है। पुन कर्मकाण्डकी गाथा १०८ और १०९ है। फिर एक गाथा स्वरचित है। पुन कर्मकाण्डकी गाथा ११० है। फिर स्वरचित गाथाएँ है। बीच-बीचमें कुछ व्याख्या भी सस्कृत में है। सदृष्टिया भी है। इस तरहसे बधत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभंगीका कथन किया गया है। कुल गाथा सख्या १४३ है। अन्तमें लिखा है 'तत्त्वत्रिभगी समाप्ता।' शायद 'सत्त्व'के स्थानमें तत्त्व लिखा गया है। एक दूसरी प्रति भी उक्त भण्डारमें उसीके साथ है उसमें 'सत्त्वत्रिभगी' लिखा हुआ है उसमें कुछ गाथाएँ अधिक है।

इनकी एक सस्कृत टीका भी है। उसके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायेगा।

आराके जैनसिद्धान्त भवनमें त्रिभगीके नामसे एक हस्तलिखित ग्रन्थ वर्तमान है उसमें ही उक्त प्रकरण वर्तमान है।

जिन रत्न कोशमें त्रिभगीमार नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जिसे नेमिचन्द्र सैद्धान्तिकका बतलाया है। उसके विवरणमें लिखा है कि इस ग्रन्थमें आगे लिखे विभाग है—१ आस्रवत्रिभगी, २ वन्धत्रिभगी, ३ उदय-उदीरणात्रिभगी, ४ सत्तात्रिभगी, ५ सत्त्वस्थानत्रिभगी, ६ भावत्रिभंगी। इस ग्रन्थका निर्देश वम्बई रायल एशियाटिक सोसायटीकी वम्वई शाखामें स्थित हस्तलिखित प्रतियोकी विवरणात्मक सूचीसे जिन रत्नकोशमें लिया गया है।

जिन रत्नकोशमे उसका विवरण देते हुए लिखा है कि त्रिभंगीमारके अन्तर्गत विभाग विभिन्न ग्रन्थ कर्ताओके द्वारा रचे गये है—प्रथम आस्रवत्रिभगीमें ६३ गाथाएँ है और वह श्रुतमुनिके द्वारा रचित है। द्वितीय वन्धत्रिभंगीमें ४४ गाथाएँ है और उनके रचयिता नेमिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र है। तीसरी उदयत्रिभगीमें ७३ गाथाएँ है और उसके कर्ता नेमिचन्द्र है। चौथी सत्तात्रिभगीमें ३५ गाथाएँ है और उनके रचयिता भी नेमिचन्द्र है। पाँचवी सत्त्वस्थानत्रिभगीमें ३७ गाथाएँ है और उनके रचयिता कनकनन्दि है। इस पर नेमिचन्द्रकी टीका भी है। अन्तिम भावत्रिभगीमें ११६ गाथाएँ है और यह भी श्रुतमुनिके द्वारा रचित है।

आराकी उक्त त्रिभंगी उक्त त्रिभगीसार की ही प्रतिलिपि है। उसमें उक्त क्रमसे छहो त्रिभगियाँ सकलित है। किन्तु उसमें वन्धत्रिभगी, उदयत्रिभगी और सत्त्वत्रिभगीके कर्ताका नाम नही दिया है। गाथा सख्यामें भी कुछ अन्तर है।

उक्त छहो त्रिभगीमेंसे आदि और अन्तकी त्रिभंगी तो श्रुतमुनि रचित है। एक सत्त्वस्थानत्रिभगी कनकनन्दि रचित है। यह कनकनन्दि नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गुरुओमें से थे। शेष तीन त्रिभगी कर्मकाण्डसे सकलित की गई है। उनमेंसे एकका रचयिता नेमिचन्द्रके शिष्य माधवचन्द्रको वतलाया है और शेषका नेमिचन्द्र को। जैसाकि कर्मप्रकृतिके सम्बन्धमें विचार करते हुए लिख आये है— क्षपणासार सस्कृतके रचयिता माधवचन्द्र और उनके गुरु नेमिचन्द्र सैद्धान्ताधिप या सैद्धान्ती ही उनके संकलयिता प्रतीत होते है।

श्रुतमुनिकी रचनाएँ—

भावत्रिभगी

श्रुतमुनिके[1] द्वारा रचित इस भावत्रिभंगीमें जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक औदयिक और पारिणामिक भावोका कथन गुणस्थान और मार्गणा-स्थानोमें ११६ गाथाओके द्वारा किया गया है।

१ 'इदि गुणमग्गणटाणे भावा कहिया पवोह सुयमुणिणा।
सोहंतु ते मुणिंदा सुयपरिपुण्णा दु गुणपुण्णा ॥११६॥'—भा० त्रि०

कर्मकाण्डके भावचूलिका नामक सातवें अधिकारमें भावोका कथन विविध भगोंके साथ किया गया है। यहाँ भगोको छोडकर सामान्य कथन है किन्तु कर्म-काण्डमें मार्गणाओके आश्रयसे भावोका कथन नही है, जबकि इस ग्रन्थमें है। पहले गुणस्थानोमें कथन है और फिर मार्गणास्थानोमें कथन है।

पाँचो भावोके उत्तर भेदोमेंसे किस स्थानमें कितने भाव होते हैं, कितने नही होते और कितने भाव उसी स्थानमें होकर आगे नही होते। इन तीन बातोंको लेकर भावोका कथन होनेके कारण इसे भावत्रिभगी कहते है। वैसे दूसरी[1] गाथामें तो सूत्रोक्त मूलभाव तथा उत्तरभावोका स्वरूप कहनेकी प्रतिज्ञाकी गई है। उसपरसे इसे 'भाव स्वरूप' नामसे कहा जा सकता है।

श्रीमाणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित भावसग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। उसमें भावत्रिभगी नाम पर लगे पाद टिप्पणमें लिखा है कि पुस्तकके अन्तमें 'भावसग्रह समाप्त.' पाठ था किन्तु प्रारम्भमें उल्लिखित नामके अनुसार उसे परिवर्तित करके 'भावत्रिभगी समाप्ता' ऐसा छापा गया है। इसपरसे उसका भावसग्रह नाम भी ज्ञात होता है।

पुस्तकके साथमें सदृष्टियाँ भी बनी हुई है। सभव है ये सदृष्टियाँ श्रुत-मुनिने ही अपने ग्रन्थमें बनाकर लगा दी हो। इनसे ग्रन्थका विषय स्पष्ट हो जाता है।

रचना सरल और स्पष्ट है। प्रत्येक बातको बहुत सरलता और स्पष्टताके साथ कहा गया है। और उसका आधार कर्मकाण्डका सातवाँ अधिकार है। गोम्मटसारकी गाथाओकी अनुकृति उसकी गाथाओ पर छाई हुई है।

आस्रवत्रिभगी

इन्ही श्रुतमुनिकी दूसरी कृति आस्रवत्रिभगी[2] है। कर्मकाण्डके प्रत्यय नामक छठे अधिकारमें भी आस्रवके प्रत्ययोका कथन आया है। और यहाँ उस प्रकरण की दो एक गाथाएँ भी ज्योकी-त्यो ले ली गई हैं। किन्तु कर्मकाण्डमें केवल गुणस्थानोमें भगोके साथ कथन है जब कि यहाँ गुणस्थानोमें सामान्य कथन है और उसके सिवाय चौदह मार्गणाओमें भी प्रत्ययोका कथन है जो कर्मकाण्डमें नही है। तथापि उसका आधार कर्मकाण्ड ही प्रतीत होता है। आस्रवके कारण

---

१ 'इदि वंदिय पचगुरू सरूव सिद्धत्थ भवियबोहत्थं।
सुत्तुत्त मुलुत्तरभावसरूव पवक्खामि ॥२॥'—भा० त्रि०।

२ यह आस्रवत्रिभंगो माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित भावसंग्रहादि नामक २०वें ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

चार है—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। मिथ्यात्वके ५ भेद है अविरतिके १२ भेद हैं, कषायके २५ और योगके १५ भेद है। इस तरह मूल प्रत्यय चार है और उत्तर प्रत्यय ५७ है। इनके निमित्तसे कर्मोका आस्रव होता है।

ये आस्रव प्रत्यय किस गुणस्थानमें कितने होते है, कितने नही होते और कितने प्रत्यय उसी गुणस्थान तक होते है आगे नही होते, इन तीन भगोका कथन होनेसे इसका नाम आस्रवत्रिभगी है। इसमें कुल ६२ गाथाएँ है और साथमें सदृष्टियाँ भी है।

श्रुतमुनिका परिचय और समय

श्रुतमुनिने अपने भावत्रिभगी अथवा भावसग्रह नामकग्रन्थके अन्तमें अपनी प्रशस्ति[1] दी है उससे ज्ञात होता है कि श्रुतमुनिके अणुव्रतगुरु वालेन्दु या वालचन्द्र थे और महाव्रतगुरु अभयचन्द्र सैद्धान्तिक थे। तथा शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे। इनका परिचय कराते हुए श्रुतमुनिने लिखा है कि कुन्दकुन्दान्वयके मूलसघ, देशगण, पुस्तकगच्छकी इगुलेश्वर शाखामें हुए मुनि प्रधान अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य वालचन्द्र मुनि थे। और शब्दागम, परमागम, तर्कागमके पूर्णज्ञाता अभयसूरि सैद्धान्तिक थे। तथा सारत्रयमें निपुण, शुद्धात्मामें लीन और भव्य जीवोका प्रतिवोध करनेवाले प्रभाचन्द्र नामक मुनि थे।' श्रुतमुनिने वालचन्द मुनि और अभयसूरि सिद्धातका जयघोष करनेके वाद दो गाथाओके द्वारा चारुकीर्ति मुनिका भी जयघोष किया है।

श्रुतमुनिके द्वारा रचित एक ग्रन्थ परमागमसार है उसमे भी उक्त प्रशस्ति

---

१ 'अणुवदुगुरु बालेन्दु महव्वदे अभयचद सिद्धति। सत्थेऽभयसूरि पभाचंदा खलु सुयमुणीस गुरु ॥११७॥ श्रीमूलसघ देसियगणपुत्थयगच्छकोडकुदाणं। परपण्णइगलेसरवलिम्हि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥ सिद्धताभयचदस्स य सिस्सो वालचदमुणिपवरो। सो भव्वकुवलयाणं आणंदकरो सया जयउ ॥११९॥ सद्दागम-परमागम-तक्कागम णिरवसेसवेदी हु। विजिदसयलण्णवादी जयउ चिर अभयसूरि सिद्धती ॥१२०॥ णयणिक्खेवपमाण जाणित्ता विजिदसयलपर-समओ। वरणिवयिणि वह वंदियपयपम्मो चारुकीत्तिमुणी ॥१२१॥ णाद णिक्खिलत्थसद्दो सयलणरिंदेहिं पूजियो विमलो। जिणमग्गगयणसूरो जयउ चिरं चारुकित्तिमुणी ॥१२२॥ वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहियपर-भावो। भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचदणाम मुणी ॥१२३॥'—भा० त्रि० प्रश०।

दी है किन्तु उसमें उसका रचनाकाल भी दिया है जो शक स० १२६३ (वि० स० १३९८) है अत श्रुतमुनि विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए है।

श्रवणवेल गोलाके विन्ध्यगिरि पर्वतके एक शिलालेख[2] न० १०५ में अभय-चन्द्रके शिष्य श्रुतमुनिकी बडी प्रशंसा की गई है। इसमें चारुकीर्ति और अभय-सूरिकी भी प्रशसा है। अत यह श्रुतमुनि ही प्रतीत होते है। यह शिलालेख शक स० १३२० का है अर्थात् परमागमसारकी रचनाके ५७ वर्ष पश्चात् का है।

चन्द्रगिरि पर्वत परके एक अन्य शिलालेखमें भी अभयचन्द्र और उनके शिष्य वालचन्द्र पण्डितका उल्लेख है। यह शिलालेख शक स० १२३५ का है। ये दोनो श्रुतमुनिके व्रत गुरु ही प्रतीत होते है।

इन्ही अभयचन्द्रको डॉ० उपाध्येने गोम्मटसारकी मन्द प्रवोधिकाका रचयिता माना है। किन्तु वेलूर शिलालेखोके आधारपर अभयचन्द्रका स्वर्गवास सन् १२७९ में और वालचन्द्रका ईस्वी १२७४ में वतलाया है जो ठीक प्रतीत नही होता। मन्द प्रवोधिकाकी रचनाके समयकी चर्चामें इसपर प्रकाश डाला गया है।

केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति शक स० १२८१ में वनाकर समाप्त की थी। केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे। अभयसूरि श्रुतमुनिके शास्त्र गुरु प्रतीत होते है। क्योकि परमागमसारकी रचनाके १८ वर्ष वाद केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्ति समाप्त की थी। अत श्रुतमुनिके वह लघु समकालीन थे, यह निश्चित है।

पचसग्रहकी प्राकृत टीका

पञ्चसग्रह पर एक प्राकृत टीका है उसकी जो प्रति हमारे सामने है उसमें उसका लेखनकाल सवत् १५२६ दिया है। यह टीका किसने कब रची इसका कोई पता उससे नही चलता। किन्तु इतना निश्चित है कि धवला टीकाके पश्चात् ही उसकी रचना हुई है क्योकि टीकाके प्रारम्भमें धवलाकी तरह मगल निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता की चर्चा है जो धवलासे ली गई है किन्तु यथा-स्थान उसमें कुछ काट-छाट कर दी गई है। उल्लेखनीय बात यह है कि ग्रन्थका नाम वतलाते हुए 'आराधना' नाम वतलाया है। यथा—

'तत्थ गुणणाम आराहणा इदि। किं कारण ? जेण आराधिज्जते अणआ दसण-णाण-चरित्त-तवाणि त्ति।'

इससे प्रतीत होता है कि आराधना भगवतीकी प्राकृत टीकाका यह आद्यश

---

१ 'सगगा (का) ले हु सहस्से विसयतिसट्ठिगदे दुविसवरिसे। मग्गसिर सुद्ध सत्तमि गुरुवारे गथ सपुण्णो ॥२२३॥—जै० प्र० सं०, भा० १, पृ० १९१।

२ शि० सं०, भाग १, पृ० २०१।

होना चाहिये। भगवती आराधनाकी विजयोदया[1] टीकामें प्राकृत टीकाका उल्लेख है। किन्तु वह टीका धवलासे प्राचीन होनी चाहिये, अत उसमें धवलाकी अनुकृतिकी सभावना नही की जा सकती। सम्भव है धवलाके बाद किसीने उस पर कोई प्राकृत टीका रची हो। किन्तु यह सब अनुमान मात्र है।

अन्य सब कथन धवलासे लेने पर भी उसके रचयिताने कर्ताके विषयमें परिवर्तन कर दिया है। धवलामें कर्ताके दो भेद बतलाये हैं अर्थकर्ता और ग्रथकर्ता। किन्तु इसमें तीन भेद बतलाये है, मूलतंत्रकर्ता[2], उत्तरतत्रकर्ता और उत्तरोत्तरतंत्रकर्ता। तथा भगवान महावीरको मूलतत्रकर्ता, गौतम गणधरको उत्तरतत्रकर्ता और लोहाचार्य तथा भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्यको उत्तरोत्तर तत्रकर्ता लिखा है। यथा—

'कत्तारा तिविधा मूलततकत्ता, उत्तरततकत्ता, उत्तरोत्तरततकत्ता चेदि। तत्थ मूलततकत्ता भगव महावीरो। उत्तरततकत्ता गोदम भयवदो। उत्तरोत्तर ततकत्ता लोहायरिया भट्टारक अप्पभूदिअ आयरिया।'

यहाँ उत्तरोत्तर तत्रकर्तामें जो भट्टारक 'अप्पभूदिअ' आचार्य का नाम दिया है, वह टीकाके कर्ताके अन्वेषणकी दृष्टिसे चिन्त्य है।

आगे श्रुतज्ञान रूपी वृक्षका वर्णन है उसमें बारह अंगो और चौदह पूर्वोका कथन धवलासे प्राय ज्योका त्यो ले लिया गया है। और अन्तमें लिखा है— 'एव श्रुतवृक्ष समाप्त।'

इसके पश्चात् पचसग्रह गत प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकार आता है। पञ्चसग्रहमें इसका नम्बर दूसरा है और जीवसमास नामक अधिकारका पहला। किन्तु इस टीकामें प्रकृति समुत्कीर्तनको पहला स्थान दिया है।

प्राय प्रत्येक अधिकारमे टीकाकार पहले ग्रन्थका मूलभाग जो प्राय अधूरा होता है, देता है। फिर उसका व्याख्यान करता है। प्रत्येक गाथाका अलग-अलग व्याख्यान करनेकी पद्धति टीकाकारने नही अपनाई है।

प्रकृति समुत्कीर्तन अधिकारमें प्रकृतियोका स्वरूप निरूपण प्राकृतगद्यमें बहुत सुन्दर रीतिसे किया गया है। और बीच-बीचमें कुछ गाथाएँ भी ग्रन्थान्तरसे उद्धृत की गई है।

टीकामें धवलाकी तरह प्राकृतके साथ यत्रतत्र सस्कृत भाषाका भी उपयोग

---

१ इसके परिचय तथा उल्लेखोके लिये देखें—जै०सा० इ० पृ० ८४ आदि।

२ इयमूलततकत्ता सिरिवीरो इदभूदि विप्पवरो। उवतते कत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥८०॥—त्रि० प०, अधि० १।

किया गया है खास कर जहाँ व्युत्पत्ति आदि दी गई है। और इस तरह उसमें जानने योग्य विपयकी वहुतायत है। आभिनिवोधिक ज्ञानकी जो व्युत्पत्ति दी गई है वह अभी तक हमारे देखनेमें किसी ग्रन्थान्तरमें नहं आई। यथा—

'आभिनिवोधिक ज्ञानमिति'—अ इति द्रव्य पर्याय । भि इति द्रव्याभिमुख 'निरिति निश्चयवोध इति ।' वुध अवगमने धातु । अभिनिवोधिक एव आभिनिवोधिक वा प्रयोजन अस्येति आभिनिवोधिकम्। आभिनिवोधिकमेव ज्ञान आभिनिवोधिक ज्ञानम्। आभिनिवोधिक ज्ञानस्य आवरण आभिनिवोधिक ज्ञानावरणीय चेति।

इसमें 'अ' का अर्थ द्रव्य और 'भि' का अर्थ द्रव्याभिमुख अश्रुत पूर्व है। समस्त दिगम्वर तथा श्वेताम्वर साहित्यमें 'अभिमुख नियमित वोध' अर्थ ही किया गया है। ज्ञानके भेदोका अच्छा कथन ज्ञानावरणीय कर्मके कथनमें किया गया है।

नामकर्मकी कुछ प्रकृतियोका स्वरूप कथन प्राय तत्त्वार्थवार्तिकसे लिया गया है। किन्तु आनुपूर्वी नामकर्मका जो लक्षण किया है वह दिगम्वर परम्पराके शास्त्रोमे हमारे देखनेमें नही आया। दिगम्वरीय[1] साहित्यके अनुसार आनुपूर्वी नामकर्मका कार्य पूर्व शरीर छोडनेके वाद और नया शरीर धारण करनेके पहले विग्रह गतिमें जीवका आकार पूर्व शरीरके समान वनाये रखना है।

किन्तु टीकाकारने लिखा[2] है कि यदि आनुपूर्वी नामकर्म न होता तो जीव एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें नही जा सकता था। अत क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरमें ले जाने वाला कर्म आनुपूर्वी है। यह लक्षण श्वेताम्वर परम्परासे मेल खाता है। उसके अनुसार आनुपूर्वी[3] नामकर्म समश्रेणिसे गमन करते हुए जीवको खीचकर उसके विश्रेणि पतित उत्पत्तिस्थानमें ले जाता है।

इसी तरह विहायोगति नामकर्मका स्वरूप वतलाते हुए लिखा[4] है—यदि

---

१ 'पदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम ॥—त०वा० पृ० ५७७।

२ 'अनुपूर्वे भवा अनुपूर्वी अनुगति अनुक्रान्तिरित्यर्थ । यद्यानुपूर्वी नामकर्म न स्यात् क्षेत्रात् क्षेत्रान्तर प्राप्तिर्जीवस्य न स्यात्। अत क्षेत्रान्तर प्रापक-कर्मानुपूर्वी नाम।'

३ देखो प्रथम कर्मग्रन्थके हिन्दी अनुवादका परिशिष्ट पृ० १३४।

४ 'विहायसि गति विहायोगति । यदि विहायोगति नामकर्म न स्यात् आकाशे जीवगतिर्न स्यात्। तदभावे अल्पप्रदेशाना भूम्यवस्थान वहूवा आकाश व्यवस्थापन पतनमेव स्यात्। यदि त्रसनाकर्म न स्यात् न त्रसन्ति जीव,

इसके वाद शतक है। मूल शतककी प्रत्येक गाथाका व्याख्यान टीकाकारने किया है किन्तु पञ्चसग्रह गत भाष्य गाथाएँ केवल तीस पैंतीसके लगभग ली गई है शेषको छोड दिया है। अन्तमे लिखा है—'सदगपजिया समत्ता'। अर्थात् शतककी पजिका समाप्त हुई।

शतकमें गत्यादि मार्गणाओमें वन्ध स्वामित्वका कथन कर लेनेकी सूचना एक गाथाके द्वारा दी गई है। उसकी टीकामें टीकाकारने मार्गणाओमें कर्म-प्रकृतियोंके वन्धादिका कथन विस्तारसे किया है। उसके अन्तमें तीन गाथाएँ इस प्रकार है—

जह जिणवरेंहि कहिय गणहरदेवेंहि गथिय सम्म।
आयरियकमेण पुणो जह गगणइपवाहुव्व ॥१२॥
तह पउमणदि मुणिणा रइयं भवियाण वोहणट्ठाए।
ओघेणादेसेण य पयडीण वधसामित्त ॥१३॥
छउमत्थिया य रइअ ज इत्थ हविज्ज पवयणविरुद्ध।
त पवयणाइ कुसला सोहतु मुणी पयत्तेण ॥१४॥

इसमें कहा है कि जैसा जिनवरने कहा और गणधर देवोने सकलित किया फिर जैसा गगानदीके प्रवाहकी तरह आचार्य परम्परासे आया, वैसा ही ओघ और आदेशकी अपेक्षासे प्रकृतियोके वन्धस्वामित्वको भव्यजीवोको वोघ करानेके लिये पद्मनन्दि मुनिने रचा। इस छद्मस्थके रचे हुएमें जो वात आगमविरुद्ध हो उसे प्रवचनमें कुशल मुनि प्रयत्न पूर्वक शुद्ध करें।

यह पद्मनन्दि मुनि इस टीकाके रचयिता है अथवा टीकाकारने जहाँसे वन्ध-स्वामित्वको लिया हैं उसके रचयिता है, यह विना प्रमाणोके प्रकाशमें निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता।

पद्मनन्दी नामके अनेक आचार्य हुए हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दी था रज० प्रज्ञ० की प्रशस्तिमें उन्हे सिद्धान्त पारगामी भी लिखा है। तथा उसकी अन्तिम गाथा उक्त उद्धृत अन्तिम गाथासे वहुत अधिक मिलती है, जो इस प्रकार है—

छउमत्थेण विरइय ज किं पि हवेज्ज पवयणविरुद्ध।
सोधतु सुगीदत्था तं पवयणवच्छलत्ताए ॥१७०॥

तथा उसमें भी ग्रन्थकारका निर्देश 'मुणिपउमणदिणा' करके है। अत संभव है उन्होने वन्धस्वामित्वका कथन किसी ग्रन्थमें किया हो और उसीसे टीकाकारने उसे लिया है। ज० प्र० की रचना विक्रमकी ग्यारहवी शताब्दीके उत्तरार्धमें

हुई है। अत उसके बाद ही यह टीका रची गई है यह निश्चित समझना चाहिये, क्योकि जीवकाण्ड और त्रिलोकसारसे भी उसमे गाथाएँ उद्धृत है। अस्तु,

शतकके पश्चात् सित्तरीकी टीका है। इसमें टीकाकारने मूल सित्तरी तो प्राय पूर्ण ले ली है किन्तु भाष्य गाथाएँ केवल ३० के लगभग ही ली है। टीका में शतककी टीकाका कई जगह उल्लेख किया गया है।

अन्तमें लिखा है—'एव सत्तरि चूलिया समत्ता'।

टीकामे 'पञ्चसग्रह' नामका निर्देश दृष्टिगोचर नही होता।

सिद्धान्तसार

माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसग्रह नामक २१वें पुष्पके प्रारम्भमें सिद्धान्तसार नामक प्रकरण ज्ञानभूपणके भाष्यके साथ प्रकाशित हुआ है। इसमें ७९ प्राकृत गाथाएँ है। उनके द्वारा ग्रन्थकारने चौदह मार्गणाओं-मे जीवसमासोका, गुणस्थानोका, योगोका और उपयोगोका तथा चौदह जीव-समासोमें योगोका और उपयोगोका, व चौदह गुणस्थानोमें योगोका और उपयोगो-का, फिर चौदह मार्गणाओमे चौदह जीवसमासोमें और चौदह गुणस्थानोमें बन्धके ५७ प्रत्ययोका कथन किया है।

इस तरहसे ग्रन्थकारने थोडी-सी गाथाओके द्वारा काफी सैद्धान्तिक बातोका कथन किया है।

ग्रन्थकार

सिद्धान्तासारादिसग्रहके प्रारम्भमें ग्रन्थकर्ताका परिचय देते हुए श्री नाथूराम जी प्रेमीने लिखा है—'इस सग्रहके प्रथम ग्रन्थ 'सिद्धान्तसार'के मूलकर्ता जिन-नामके आचार्य है जैसा कि उक्त ग्रन्थकी ७८वी गाथासे और उसकी टीकासे भी मालूम होता है। प्रारम्भमें 'जिनेन्द्राचार्य' नाम सशोधककी भूलसे मुद्रित हो गया है।' सम्पादक और सशोधक प० पन्नालालजी सोनीने भी उक्त गाथाके पाद-टिप्पणीमें लिखा है—'प्रारम्भे हि जिनेन्द्राचार्य' इति विस्मृत्य लिखितोऽस्माभि-रन्यमूलपुस्तक विलोक्य' अर्थात् अन्य मूल पुस्तकको देखकर ग्रन्थके प्रारम्भमे हमने भूलसे 'जिनेन्द्राचार्य लिख दिया है। हमारे सामने भी आराके जैनसिद्धान्त भवनकी हस्तलिखित प्रतिके अन्तमे ग्रन्थकारका नाम जिनेन्द्राचार्य ही लिखा है।

गाथा ७८में 'जिनइदेण पउत्त' पाठ है। 'जिनइद' का संस्कृत रूप जिनेन्द्र होता है जिनचंद्र नही होता। किन्तु भाष्यकार ज्ञानभूपणने 'जिणइदेण जिनचन्द्र-नाम्ना, सिद्धान्तग्रन्थ वेदिना' लिखा है। इससे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम जिनचद्र मान लिया गया है।

किन्तु जिनेन्द्राचार्य नामके किसी ग्रन्थकारका पता अन्यत्रसे नही चलता जबकि जिनचद्र[1] नामके सिद्धान्त वेत्ता अनेक विद्वान् हो गये है। उनमेंसे एक धर्मसंग्रह श्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्रके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरुपरम्पराका परिचय देते हुए सरस्वती गच्छके प्रभाचन्द्र-पद्मनन्दि-शुभचन्द्रके शिष्य जिनचन्द्रका उल्लेख किया है जो सैद्धान्तिको की सीमा थे। उक्त प्रशस्ति वि०स० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र वर्तमान थे। परन्तु प्रेमीजीने उन्हे सिद्धान्तसारका कर्ता नही माना है, क्योकि सिद्धान्तसारकी एक कनडी टीका प्रभाचन्द्रकृत है। और प्रभाचन्द्रका समय कर्नाटक कवि चरिते (द्वि०भा०)में तेरहवी शताब्दी अनुमान किया है।

दूसरे जिनचन्द्र तत्त्वार्थसूत्रकी सुखबोधिका टीकाके कर्ता भास्करनन्दिके गुरु थे। इनका ठीक समय मालूम नही है। प० शान्तिराज शास्त्रीने वि०स० १३५३ के लगभग अनुमान किया है। इन्हें भी भास्करनन्दिने महासैद्धान्त कहा है। यदि उक्त अनुमानित समय ठीक हो तो ये भी सिद्धान्तसारके कर्ता नही हो सकते। इस तरहसे सिद्धान्तसारके कर्ताका नाम तथा समय दोनो ही विवाद-ग्रस्त है।

किन्तु ग्रन्थके अन्तरग परीक्षणसे यह स्पष्ट है कि गोम्मटसारको पढकर ग्रन्थकारने उसकी रचना की है। उसका प्रारम्भ ही जीवकाण्डके अन्तकी दो गाथाओको लेकर हुआ हैं वे दोनो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

> सिद्धाण सिद्ध गई केवलणाण व दंसण खयिय।
> सम्मतमणाहार उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥७३२॥
> गुण जीव ठाण रहिया सण्णापज्जत्तिपाण परिहीणा।
> सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होति ॥७३३॥

और सिद्धान्तसारके प्रारम्भकी दो गाथाएँ इस प्रकार है—

> जीवगुणठाणसण्णा पज्जत्तिपाण मग्गणाणवूणे।
> सिद्धतसारमिणमो भणामि सिद्धे णमसिता ॥१॥
> सिद्धाण सिद्धगई दसण णाण च केवल खइय।
> सम्मत्तमणाहारे सेसा ससारिए जीवे ॥२॥

अत ग्यारहवी शताब्दीके पश्चात् ही सिद्धान्तसार रचा गया है। और चूँकि

---

१ देखो—'जिनचन्द्र, ज्ञानभूपण और शुभचन्द्र' शीर्पक निवन्ध, जै०सा०इ०, पृ० ३७८।

सिद्धान्तसारकी कनडी टीकाके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय तेरहवी शताब्दी अनुमान किया गया है, अत बारहवी शताब्दीके लगभग सिद्धान्तसार रचा गया होना चाहिये।

सकलकीर्तिका कर्मविपाक

सकलकीर्ति विरचित कर्मविपाक सस्कृत भाषामे रचित एक सुन्दर सरल ग्रन्थ है। इसमे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धका साधारण कथन है। अधिकतर कथन गद्यमें है। प्रत्येक प्रकरणके प्रारम्भमें श्लोक है जो नमस्कारात्मक है। प्रकृतिबन्धमे कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंके लक्षण विस्तारसे कहकर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोमे प्रकृतियोंके बन्ध और अबन्धका कथन बडे स्पष्ट रूपमें किया है, केवल सख्या न बतलाकर प्रकृतियोंके नाम गिनाये है। फिर स्थितिबन्धका कथन है। उसमें प्रत्येक प्रकृतिकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति विस्तारसे बतलाई है। फिर अनुभाग बन्धका कथन है। और फिर प्रदेशबन्धका कथन है। उसमें प्रत्येक कर्मके बन्धके कारणोंका कथन तत्त्वार्थसूत्र तथा उसकी टीकाओके आधारसे किया है। अन्तमें गुणस्थानोंमें प्रकृतियोंके क्षयका कथन किया है।

इस ग्रन्थमें तो सकलकीर्तिने अपना कोई परिचय नही दिया। किन्तु अन्य ग्रन्थकारोने इनका स्मरण बडे आदरके साथ किया है। इसका कारण यह है कि यह मूलसघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छकी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इनकी शिष्य परम्परामें अनेक विद्वान भट्टारक ग्रन्थकार हुए है और उन्होने अपने पूर्वज सकलकीर्तिका स्मरण बडे आदरके साथ किया है।

कामराजकृत जयपुराणकी प्रशस्तिमें[1] लिखा है कि सकलकीर्ति भट्टारकने गुजरात और वागड आदि देशोमे जैनधर्मका उद्धार किया था। भ० सकलकीर्तिके शिष्य और लघुभ्राता ब्र० जिनदासने भी अपने ग्रन्थोमें सकलकीर्तिका स्मरण बडे गौरवके साथ किया है। प० परमानन्दजीने[2] लिखा है कि स० १४४४ में वह ईडरकी गद्दी पर बैठे थे और स० १४९९ के पूपमासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात) में हुई थी। महसानामें उनका समाधि स्थान भी बना हुआ है। प०

---

१ 'आचार्य कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्ति योगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वर ॥२१॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादि गुणानेवार्हता पुरा ॥२२॥

—जै० प्र० स० भा १, पृ० ४०।

२ जै० स० १ भा०, प्रस्ता, ४० १०-११।

परमानन्दजीने यह भी लिखा है। कि सकलकीर्तिके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोके कितने ही अभिलेख स० १४८० से १४९२ तकके मेरी नोटबुकमें दर्ज है। अत यह निश्चित है कि वे विक्रमकी १५वी शतीके उतरार्द्धके विद्वान है। उनके द्वारा रचित कुछ ग्रन्थोके नाम इस प्रकार है—

सिद्धान्तसार दीपक, धन्यकुमार चरित्र, कर्म विपाक, सद्भापितावली, धर्म प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, मूलाचार प्रदीप, सुकुमालचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल चरित्र, वृषभचरित्र, सुदर्शनचरित्र, वर्धमान पुराण, पार्श्वनाथपुराण, मल्लिनाथ पुराण, सारचतुर्विशतिका, यशोधरचरित्र पुराणसार आदि।

सिद्धान्तसार भाष्य

आचार्य जिनेन्द्र या जिनचन्द्र रचित सिद्धान्तसार पर एक सस्कृत व्याख्या है जो सिद्धान्तसारके साथ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला वम्बईसे प्रकाशित हो चुकी है। व्याख्या साधारण होते हुए भी मूल ग्रन्थको समझनेके लिये उपयुक्त है और उससे प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयका अच्छा अभ्यासी है।

यद्यपि भाष्यकारने सिद्धान्तसारके भाष्यमें अपना कोई स्पष्ट परिचय नही दिया है, ग्रन्थके अन्तमें कोई प्रशस्ति भी नही दी है, तथापि मगलाचरणके श्लोकमें सिद्धान्तसार भाष्यके दो विशेषण दिये है—'लक्ष्मी वीरेन्दुसेवित' और 'ज्ञान सुभूपणम्'। इन विशेषणोके द्वारा लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द और ज्ञानभूषण ये तीन नाम प्रकट होते है। अत प्रेमीजीने ज्ञानभूपणको भाष्यका कर्ता वतलाया है। सुमतिकीर्ति भट्टारकने प्राकृत पचसग्रहकी अपनी वृत्तिके अन्तमें जो प्रशस्ति[1] दी है। उसमें उन्होने ज्ञानभूपणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—मूलसघमें उत्पन्न हुए नन्दिसघमें वलात्कार गण और सरस्वती गच्छमें आचार्य कुन्दकुन्द

---

१ 'श्रीमूलसंघेऽजनि नन्दिसघो वरो वलात्कारगणप्रसिद्ध ।
श्रीकुन्दकुन्दो वरसूरिवर्यो बभौ बुधो भारतिगच्छ सारे ॥१॥
तदन्वये देवमुनीन्द्रवद्य श्री पद्मनन्दी जिनधर्मनन्दी ।
ततो हि जातो दिविजेन्द्रकीर्तिविधा (दि) नन्दी वर धर्ममूर्ति ॥२॥
तदीयपट्टे नृपमाननीयो मल्ल्यादिभूषो मुनिवदनीय ।
ततो हि जातो वरधर्मधर्ता लक्ष्मादिचन्द्रो वहुशिष्यकर्ता ॥३॥
पचाचाररतो नित्य सूरिसद्गुणधारक ।
लक्ष्मीचन्द्र गुरुस्वामी भट्टारकशिरोमणि ॥४॥
दुर्वारदुर्वादिकपर्वताना वज्रायमानो वरवीरचन्द्र ।
तदन्वये सूरिवरप्रधानो ज्ञानादिभूषो गणिगच्छराज ॥५॥
—प्रा० पच ०, प्रशस्ति ।

हुए। उनके वंशमें पद्मनन्दी हुए। उनके पट्ट पर दिविजेन्द्रकीर्ति विद्यानन्दि हुए, उनके पट्ट पर राज मान्य मल्लिभूषण हुए। फिर क्रमसे लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द और ज्ञानभूषण हुए। इन्ही ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे सुमतिकीर्तिने प्राकृत पंचसंग्रहकी वृत्ति बनाई और ज्ञानभूषणने उसका संशोधन किया।

कर्मप्रकृतिकी टीका ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनोंने बनाई है। उसमें भी मल्लिभूषणके पूर्वज विद्यानन्दिसे उक्त गुरु परम्परा दी है।

अतः सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषण ही उक्त भाष्यके रचयिता प्रतीत होते है। किन्तु श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा है कि कारंजा में जो सिद्धान्तसार भाष्यकी प्रति है उससे मालूम होता है कि उसके कर्ता ज्ञानभूषण नही है, सुमतिकीर्ति है। और उसका संशोधन सुमतिकीर्तिके गुरु ज्ञानभूषणने किया है। ऐसा होना संभव है क्योंकि कर्मप्रकृतिकी टीका भी ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिके साथ बनाई थी और प्रा० पंचसंग्रहकी वृत्तिका उन्होंने संशोधन किया था। अतः सिद्धान्तसार भाष्यकी रचना सुमतिकीर्तिने और संशोधन ज्ञानभूषणने किया हो तो कोई विशेष बात नही है। किन्तु ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तसार भाष्यमें सुमतिकीर्तिका नाम कही दृष्टिगोचर न होना कुछ शंका पैदा करता है क्योंकि शेष दोनों टीकाओंमें ज्ञानभूषणके साथ सुमतिकीर्तिका भी नाम है। अस्तु,

ज्ञानभूषणकी दो गुरु परम्पराएँ

प्रा० पंचसंग्रहकी प्रशस्तिमें, ज्ञानभूषणकी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दि, दिविजेन्द्र (देवेन्द्र) कीर्ति, विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण। और ज्ञानभूषणके उत्तराधिकारी प्रभाचन्द्र थे। कर्मप्रकृति

---

१ 'विद्यानन्दि-सुमल्ल्यादिभूप-लक्ष्मीन्दु-सद्गुरून्।
वीरेन्दु, ज्ञानभूपंहि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥'—कर्मप्र० टी०।

२ 'इति श्रीसिद्धान्तसारभाष्य श्रीरत्नत्रयज्ञापनार्थं सुमतीन्दुना लिखितम्। सूरिवर श्रीरमरकीर्तिसमुपदेशात् श्रीमूलसंघबलात्कारगणाग्रणी श्रीमद्भट्टारक श्रीलक्ष्मीचन्द्रस्तत्पट्टपयोधिचचन्द्रभट्टारक श्रीवीरचन्दस्तत्पट्टालंकार भट्टारक श्रीज्ञानभूषण श्री सिद्धान्तसार भाष्यं वल्लभजनवल्लभ मुमुक्षु श्री सुमतिकीर्ति विरचित शोधितवान्।

टीका सिद्धान्तसारस्य सता सद्ज्ञानसिद्धये।
ज्ञामभूप इमा चक्रे मूलसंघविदावर ॥
सिद्धान्तसार भाष्य च शोधित ज्ञान भूषण।
रचित हि सुमत्यादि ॥—जै० सा० इ०, पृ० ३७९।

टीकाके प्रारम्भमें भी यही गुरुपरम्परा दी है। उसमें पद्मनन्दि और देवेन्द्रकीर्ति-का नाम नही है।

किन्तु भट्टारक सकलभूपणने अपनी उपदेश रत्नमालाकी प्रशस्तिमें, ब्रह्म कामराजने जयपुराणकी प्रशस्तिमें और भट्टारक शुभचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जो गुरुपरम्परा दी है वह है—पद्मनन्दि, सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति और ज्ञानभूपण। ज्ञानभूपणके उत्तराधिकारी थे विजयकीर्ति, उनके शुभचन्द्र और शुभचन्द्रके सुमतिकीर्ति।

श्रीयुत नाथूराजी प्रेमीने इन दोनो परम्पराओके ज्ञानभूपणको एक ही व्यक्ति माना है। किन्तु गुरुपरम्परा तथा कालक्रमको देखते हुए ये दोनो ज्ञानभूषण दो व्यक्ति प्रतीत होते है।

प्रथम् गुरुपरम्पराके अनुसार ज्ञानभूषणके गुरु लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द्र थे इसीसे सिद्धान्तसार भाष्यके मगलाचरणमें भी 'लक्ष्मीवीरेन्दुसेवित'के द्वारा उनका स्मरण ज्ञानभूपणने किया है। किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार ज्ञानभूषण के पूर्व गुरु भुवनकीर्ति थे।

तथा प्रथम गुरु परम्पराके अनुसार पद्मनन्दी और ज्ञानभूषणके मध्यमे पाँच व्यक्ति है किन्तु दूसरी परम्पराके अनुसार केवल दो ही व्यक्ति है। अत ये दोनो ज्ञानभूपण एक व्यक्ति नही हो सकते। उन दोनोको एक व्यक्ति मान लेनेसे समय सम्बन्धी कठिनाई उपस्थित होती है। जिसका खुलासा इस प्रकार है—

समय विचार

ज्ञानभूपणकृत तत्त्वज्ञानतरगिणीमें उसका रचनाकाल वि०स० १५६० दिया है। प्रेमी जीने लिखा है कि—'जैन धातु प्रतिमा लेखसग्रहमें प्रकाशित वीसनगर (गुजरात) के शान्तिनाथके श्वेताम्बर मन्दिरकी एक दिगम्बर प्रतिमाके लेखसे और पैंथापुरके श्वेताम्बर मन्दिरकी दि० प्रतिमाके लेखसे मालूम होता है कि वि स १५५७ और १५६१में ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर नही थे, किन्तु उनके शिष्य विजयकीर्ति थे और वे १५५७के पहले इस पदको छोड चुके थे।' इसलिये तत्त्वज्ञान तरगिणीकी रचना उन्होने उस समय की है जब भट्टारक पदपर विजय-कीर्ति थे।'

पूर्वोक्त जैनधातु प्रतिमा लेखसग्रह नामक ग्रन्थमें विक्रम सवत् १५३४, १५३५ और १५३६के तीन प्रतिमा लेख और भी है जिनसे मालूम होता है कि उक्त सवतोमें ज्ञानभूषण भट्टारक पद पर थे। भट्टारक पद छोडनेके बाद भी वह बहुत समय तक जीवित रहे।'

उक्त प्रतिमा लेखोंमे यह स्पष्ट है कि ज्ञानभूषण १५३४मे भट्टारक पद पर थे। किन्तु वे कब उस पद पर बैठे यह ज्ञात नही है। सकलकीर्ति भट्टारकके विषयमें प० परमानन्द जीने लिखा है कि वे स १४४४मे गद्दी पर आसीन हुए थे और सवत् १४९९के पूष मासमें उनकी मृत्यु महसाना (गुजरात)मे हुई थी। इनके शिष्य तथा कनिष्ठ भ्राता ब्र जिनदासने कई ग्रथ रचे है। १५२० स०मे इन्होने गुजराती भाषामें हरिवश रासकी रचना की है। उनके ग्रथोंकी प्रशस्तिमे सकलकीर्ति और उनके शिष्य भुवनकीर्तिका नाम है ज्ञानभूषण का नही है। अत ज्ञानभूषण १५२० के पश्चात् और १५३४ से पहले गद्दी पर बैठे थे।

श्रीयुत प्रेमीजीने जिस जैनधातु प्रतिमा लेख संग्रहका उल्लेख किया है उसमें नन्दिसघ बलात्कारगण सरस्वती गच्छके उक्त आचार्योंके अनेक प्रतिमा लेख सगृहीत है जिनसे उनके समय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उन प्रतिमालेखोंके अनुसार जिस सम्वत्मे जो आचार्य भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे उनकी तालिका इस प्रकार है—

लेख न० ५३५—स० १४८८ भ० पद्मनन्दिदेव
,, न० ६—स० १४९२ भ० सकलकीर्ति
,, न० ६७३—स० १५०९ भ० भुवनकीर्ति
,, ७४८—स० १५१३ ,,
,, ७५१—स० १५१५ ,,
,, ६६—सं० १५१६ ,,
,, ४४—स० १५२३ ,,
,, ४३—स० १५२६ भ० ज्ञानभूषण
,, ८६७—सं० १५३४ ,,
,, ६७४—स० १५३५ ,,
,, ५०९—स० १५३० ,,
,, ५०३—स० १५५७ विजयकीर्ति
,, ४९७—सं० १५५९ ,,
,, ६९३—स० १५६१ ,,
,, ६७७—स० १६११ शुभचन्द्र
,, ६८—सं० १६३२ सुमतिकीर्तिके शिष्य गुणकीर्ति
,, १३९०—स० १६५१ गुणकीर्तिके शिष्य वादिभूषण
,, १४५१—सं० १६६० भ० वादिभूषण

अत उक्त प्रतिमा लेखोसे यह स्पष्ट है कि भ० ज्ञानभूषण स० १५२६ से

१५३६ तक तो अवश्य ही भट्टारक पद पर विराजमान थे। और वे स० १५२३ के पश्चात् और १५२६ से पहले किसी समय भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित किये गये थे। तथा स० १५५७ में उनके शिष्य विजयकीर्ति उस पद पर थे। सूरतके[1] मन्दिरकी एक जिनविम्व पर स० १५४४ का लेख है। लेखसे प्रकट है कि वह मूर्ति भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठितकी गई थी। अत स० १५४४ तक ज्ञानभूपण भट्टारक पद पर थे।

उधर सुमतिकीर्तिने अपनी पचसग्रह वृत्तिके अन्तमे उसका रचना काल स० १६२० दिया है। यह वृत्ति भ० ज्ञानभूपणकी प्रेरणासे रची गई थी और उन्होने उसका सशोधन भी किया था। अत यह स्पष्ट है कि वि० स० १६२० में ज्ञान भूपण जीवित थे। उधर ज्ञानभूपण वि० स० १५२६में भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित थे और वि० स० १५२३ के पश्चात् वे गद्दी पर वैठे थे। यदि यही मान लिया जाये कि वे स० १५२५ में गद्दी पर वैठे थे और उस समय उनकी उम्र १५ वर्प भी मानी जाये तो पञ्चसग्रहवृत्तिकी रचनाके समय उनकी उम्र ११० वर्प ठहरती है। एक तो इतनी छोटी अवस्थामें भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित होना और फिर इतनी लम्वी उम्रका होना चित्तको लगता नही।

फिर यदि ज्ञानभूपणकी दूसरी गुरु परम्परा सामने न होती तो उक्त दोनो वातोको भी अगीकार किया जा सकता था। किन्तु दूसरी परम्परा न केवल ग्रन्थ प्रशस्तियोमें किन्तु मूर्तिलेखोमें भी अकित मिलती है। वुद्धिसागर सूरिके जैनधातु प्रतिमालेख सग्रहमें ही दोनो परम्पराओके मूर्तिलेख मिलते है जो इस प्रकार है।

न० ६७४—स० १५३५ वर्षे पोप व० १३ श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे भ० श्री सकलकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् ।'

न० ७५७—'स० १६३० वर्षे चैत वदि ५ श्री मूलसघे श्री सरस्वती गच्छे श्री वलात्कार गणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री वीरचन्द भ० श्री ज्ञानभूषण भ० श्री प्रभाचन्द्रोपदेशेन। इस तरह पहले वाले ज्ञानभूपणके गुरुका नाम भुवनकीर्ति था और दूसरे ज्ञानभूषणके गुरुका नाम वीरचन्द था।

श्री कामता प्रसादजीके द्वारा सम्पादित प्राचीन जैनलेख सग्रह (१ भाग) में अलीगजके जैनमन्दिरकी एक मूर्तिके तलमें भी दूसरे ज्ञानभूषणसे सम्वद्ध एकलेख अकित है। किन्तु उसमें सम्वत् नही है। यह मूर्ति वीरचन्द्रके शिष्य ज्ञानभूषणके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थी। शिलालेख इस प्रकार है—

---

१ 'स० १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्रीज्ञानभूपण गुरुपदेशात्। —दान० माणि० पृ० ४५।

२६—'श्रीमूलसघे भ० लक्ष्मीचन्द्र तत्पट्टे भ० वीरचन्द तत्पट्टे भ० ज्ञानभूपणोपदेशात् ।'

यही ज्ञानभूपण सिद्धान्तसार भाष्यके रचयिता है ।

उक्त दोनो गुरुपरम्परायें पद्मनन्दीसे प्रारम्भ होती है । जिससे प्रकट होता है कि पद्मनन्दीके दो शिष्य थे सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति । प० परमानन्दजी[1] ने लिखा है कि पद्म नन्दीके शिष्योमे मतभेद हो जानेके कारण गुजरातकी गद्दीकी दो परम्परायें चालू हो गई थी । एक भट्टारक सकलकीर्तिकी और दूसरी देवेन्द्रकीर्ति की । सकलकीर्तिसे ईडरकी गद्दीकी परम्परा चली और देवेन्द्रकीर्तिसे सूरतकी गद्दीकी परम्परा चली ।

देवेन्द्रकीर्तिके उत्तराधिकारी भट्टा० विद्यानन्दि थे । इनके मूर्ति लेख वि० स० १४९९ से वि० स० १५२३ तकके पाये जाते है । विद्यानन्दिके उत्तराधिकारी मल्लिभूपण थे । सूरत आदिके मूर्तिलेखोंसे जाना जाता है कि मल्लिभूपण वि० स० १५४४ मे भट्टारक पद पर आसीन थे ।

सूरत जैनमन्दिरके दो प्रतिमालेखो पर वि० स० १५४४ वैसाख सुदी तीज अकित है । किन्तु एक शिलालेखमें[2] भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूपणका नाम है और दूसरेमें[3] भट्टारक विद्यानन्दिके शिष्य भट्टारक मल्लीभूपणका नाम है । अर्थात् जिस समय ईडरकी गद्दीके भट्टारक पद पर ज्ञानभूपण थे तव सुरतकी गद्दी पर भ० मल्लिभूपण विराजमान थे । मल्लिभूपणके पश्चात् लक्ष्मीचन्द और लक्ष्मीचन्दके पश्चात् वीरचन्द और तव ज्ञानभूपण सूरतकी गद्दी पर वैठे । मल्लिभूपणके समकालीन ज्ञानभूपण वीस पच्चीस वर्प तक ईडरकी भट्टारकी करनेके वाद मल्लिभूपणके दो उत्तराधिकारियोके पश्चात् पुन सूरतके भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित हुए हो ऐसा तो सभव प्रतीत नही होता । अत ईडरके भट्टारक ज्ञानभूपणसे सूरतके भट्टारक ज्ञानभूपण जुदे ही होने चाहिये । अत सूरतवाले ज्ञानभूपण ही सिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीकाके कर्ता है ।

वे कव सूरतकी गद्दी पर वैठे यह ज्ञात नही हो सका । अन्य मूर्तिलेखोके प्रकाशमें आने पर ही उस पर प्रकाश पडनेकी पूर्ण आशा है । किन्तु इतना

---

१ जै० प्र० स०, भा० १, पृ० १९ ।

२ 'स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी ३ सोमे श्रीमूलसघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूपणगुरू पदेशात्' ।—दान० माणि० पृ० ४५ ।

३ स० १५४४ वर्षे वैसाख सुदी २ सोमे । श्रीमूलसंघे । सरस्वतीगच्छे वलात्कार गणे । भट्टारक श्री विद्यानन्दी देवा तत्पट्टे भट्टारक श्री मल्लीभूपण । —दा० मा०, पृ० ४३ ।

सुमतिकीर्तिके उत्तराधिकारी गुणकीर्ति थे। एक प्रतिमालेखसे प्रकट होता है कि वि० स० १६३२ में गुणकीर्ति पट्टपर थे।

सकलभूपणने सुमतिकीर्तिकी वडी प्रशसा की है। लिखा है वह वडे शीलवान, वुद्धिमान्, जितेन्द्रिय और सयमी थे। उनसे सव प्रसन्न रहते थे। आदि।

त्रिभगी टीका

पीछे त्रिभगीसार नामसे सगृहीत जिन छै त्रिभगियोका निर्देश किया है, उनमेंसे आश्रवत्रिभगी तथा वन्ध उदय और सत्त्व त्रिभगीकी टीकाकी कई प्रतियाँ धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें वर्तमान हैं। यह टीका एक ही ग्रन्थके रूपमें है और उसके अन्तमे लिखा है 'इति त्रिभंगीसार टीका समाप्ता।'

प्रारम्भकी आस्रव त्रिभगीके रचयिता श्रुतमुनि है। किन्तु टीकाकारने उसे भी नेमिचन्द्र सिद्धान्तीकी कृति समझकर वन्धोदयसत्त्वत्रिभगीके साथ एक ग्रन्थके रूपमें सम्मिलित कर लिया जान पडता है, क्योकि आस्रवत्रिभगी टीकाके अन्तमें लिखा है—'इति मूलनेमिचन्द्रसिद्धान्तीकर्ता आस्रवत्रिभगी समाप्ता।'

किन्तु प्रथम गाथाके 'वोच्छे ह' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—'श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिणा कथित अह सप्तपचाशदाश्रवा कथयाम (मि)।'

अर्थात् श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा कथित सतावन आस्रवोंको मैं कहता हूँ। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कर्मकाण्डमें सत्तावन प्रत्ययोका कथन किया है और उसीके आधारसे श्रुतमुनिने आस्रवत्रिभगीकी रचना की है। और इसलिये आस्रवत्रिभगीके मूलकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। किन्तु आगे कर्ताका निरूपण करते हुए लिखा है—'उत्तरोत्तरकर्ता गुरु पूर्व क्रमागत सकलसिद्धान्तचक्रवर्ती अखडित रत्नत्रयाभरणभूपित मूलोत्तराराद (?) सकल गुण सम्पूर्ण श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तिना भट्टारकेणासन्नभव्यसंदोहस्योपकारार्थं श्रीमज्जिनागमात्युद्धारकरणार्थं च ग्रन्थरचनानिमित्त।'

टीकाकारकी भाषा वहुत स्खलित है इससे उनका ठीक आशय समझनेमें कठिनाई होती है। आस्रवत्रिभगीके कर्ता श्रुतमुनिने अन्तिम गाथामे अपना नाम दिया है और उसका अर्थ करते हुए टीकाकारने 'सुदमुणिणा-श्रुतमुनिना' ऐसा लिखा है तथापि उन्होने अन्यत्र कही श्रुतमुनिको उसको रचयिता नही लिखा।

टीकाके आरम्भ में एक श्लोक इस प्रकार है—

> या पूर्वं श्रुतटीका कर्णाटभापया विहिता।
> लाटीया भाषया सा विरच्यते सोमदेवेन ॥४॥

अर्थात् पहले जो श्रुतमुनिने कर्णाट भाषामें टीका लिखी थी, उसे सोमदेव लाटीय भाषामें रचता है।

श्रुतमुनिने स्वरचित आस्रवत्रिभगी पर कन्नड भाषामें टीका भी वनाई थी। मूडविद्री[1]के जैन मठमें इसकी प्रति वर्तमान है और उसका ग्रन्थ न० २०४ है। उसी टीकाको सोमदेवने लाटी भाषामें रचा है। किन्तु सस्कृत भाषाके लिये लाटीया भापा शब्दका व्यवहार विचित्र ही है। लाटीया भापाका मतलव लाट देशकी भापा होता है। लाट गुजरातका प्राचीन नाम है। उसकी भाषाको लाटी भाषा कहना चाहिये। अस्तु,

आगे एक श्लोक इस प्रकार है—

प्रणिपत्य नेमिचन्द्र वृषभाद्यान् वीर पश्चिमान् जिनान्।
सर्वान् वक्ष्ये सुभाषयाऽह विशदा टीका त्रिभग्याया ॥६॥

इसमें सुभापाके द्वारा त्रिभगीकी टीका रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। सुभाषासे तो सस्कृत भापाका ग्रहण हो सकता है किन्तु लाटीया भापासे सस्कृतका ग्रहण नही हो सकता। शायद टीकाकारने जिस भ्रष्ट सस्कृत भाषामे अपनी टीका रची है उसे लाटी भाषा कहा हो। किन्तु उसके लिए भी यह प्रयोग विचित्र ही है।

देहलीके सेठके कूचेके जैन मन्दिरमें उक्त टीकाकी एक भाषा टीका भी है। उसे देखकर हमें लगा कि टीकाकारने उस भापा टीकाके लिये तो लाटीया भाषा शब्दका प्रयोग नही किया। क्योकि उस टीकामें किसी अन्य टीकाकारका नाम नही है और सस्कृत टीकाके अन्तमें जो प्रशस्ति है वह प्रशस्ति ज्योकी त्यो है उसकी भापा टीका नही की गई है। यदि कोई अन्य टीकाकार होता तो वह प्रशस्तिकी भी भाषा करता। खेद है कि उस प्रतिका प्रथमपत्र नही है यदि होता तो शायद इस विषय पर उससे विशेष प्रकाश पडता।

रचयिता और समय

इस त्रिभगी टीकाके रचयिताका नाम सोमदेव है। ग्रन्थ टीकाके आदिमें उन्होने श्लोकमें, जो पीछे उद्धृत किया गया है, अपना नाम दिया है। उससे पहले श्लोक[2] ३ में उन्होने गुणभद्र सूरिको नमस्कार किया है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नही होता कि गुणभद्र सूरि उनके गुरु थे।

---

१ कन्नड० ता० ग्र० सू०, पृ० १०।

२ 'कर्म द्रुमोन्मूलनदिक्करीन्द्र सिद्धान्तपाथोनिधिदृष्टपार।
षट्त्रिंशदाचार्यगुणै प्रयुक्त नमाम्यह श्रीगुणभद्रसूरिं ॥३॥'

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें[1] उन्होंने अपने वश वगैरहका कथन किया है। पिताका नाम आभदेव था और माताका नाम वैजेणी था। वह बघेरवाल वशके थे। उन्होने मूल सघके श्री पूज्यपादके प्रसादसे आत्मशक्तिके अनुसार जिनोक्त शास्त्रोका ज्ञान प्राप्त किया था। यह ग्रहस्थ थे और जिन विम्व प्रतिष्ठाचार्य थे। इनका सस्कृत भाषा विषयक ज्ञान परिपक्व नही था इसीसे उन्होने अपनी टीका-में आगम विरोधीके साथ ही साथ शब्द शास्त्रसे विरुद्ध कथनको भी शोधनेकी प्रार्थना मनीपियोसे की है।

प्रशस्तिका अन्तिम श्लोक आशाधरजी की शैलीके अनुकरणको लिये हुए है और उसमें उन्हीकी तरह 'शिवाशाधर' पदका प्रयोग भी किया गया है। आशाधर जी भी बघेरबालवशी थे। शायद इसी जाति स्नेहवश उनके नामका इस प्रकार प्रयोग किया गया है।

सोमदेवने अपने स्थान और समयका कोई निर्देश नही किया। फिर भी यह निश्चित है कि वह विक्रमकी चौदहवी शताब्दीके पश्चात् हुए है क्योकि जिस श्रुतमुनिकी आस्रव त्रिभगी पर उन्होने टीका रची है उन्होने अपना परमागम-सार वि० सं० १३९८में समाप्त किया था। अब विचारणीय यही है कि चौदहवी शताब्दीके पश्चात् वह कब हुए है?

---

१ 'अमितगुणगण साध्वाभदेवाब्धिसोम विजयनिवररत्न काममुद्योतकारी।
गतकलिलकलक सर्वदोष स्ववृत्त स जयति जिनविम्व स्थापनाचार्यचार्या (वर्ण) ॥१॥
यथामरेन्द्रस्य पुलोमजा प्रिया नारायणस्याब्धिसुता वभूव।
तथाभदेवस्य वैजेणिनाम्नी प्रिया सुधर्मा, सुगुणा सुशीला ॥२॥
तयो सुत सद्गुणवान् सुवृत्त सोमोऽभिध कौमुदवृद्धिकारी।
व्याघेरवालवुनिधे सुरत्नं जीयाच्चिर सर्वजनीनवृत्ति ॥३॥
श्रीमज्जिनोक्तानि समजसानि शास्त्राणि लेभे स यथात्मशक्त्या।
श्रीमूलसघाब्धिविवर्धनेन्दो श्रीपूज्यपादप्रभुसत्प्रसादात् ॥४॥

× × ×

शव्दशास्त्रविरोधंयत् यदागमविरोधि च।
न्यूनाधिकं च यत्प्रोक्त शोधित तन्मनीपिभि।
श्रीसद्माघ्रियुगे जिनस्य नितरा लीन शिवाशाधर।
सोम सद्गुणभाजन सविनय सत्पात्रदाने रत।
सद्रत्नत्रययुक् सदा वुधमनाल्हादी चिर भूतले।
नद्याद्येन विवेकिना विरचिता टीका सुवोधाभिधा ॥७॥

त्रिवर्णाचारके कर्ता भट्टारक सोमसेनने भी गुणभद्रसूरिका स्मरण किया है और उन्होंने अपना त्रिवर्णाचार स० १६६७में तथा रामपुराण स० १६५६ में रचा है। इस परसे प० परमानन्दजीने सोमसेन और सोमदेवके ऐक्यकी सम्भावना पर त्रिभगीसार टीकाका समय विक्रमकी सतरहवी शताव्दीका उत्तरार्ध माना है।

किन्तु प्रथम तो दोनोके नामोंमें भेद है। दूसरे, जब सोमसेन भट्टारक है तव सोमदेव गृहस्थ प्रतिष्ठाचार्य है। तीसरे, नया मन्दिर देहलीके भण्डारकी त्रिभगी-टीकाकी प्रतिमें उसका लेखनकाल विक्रम सम्वत् १६१५ लिखा है। अत सोमसेन और सोमदेव एक व्यक्ति नही हो सकते। सोमदेव सोमसेनसे पहले हुए हैं।

अत उक्त उल्लेखोके आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि सोमदेव विक्रम सम्वत्की १५वी और १६वी शताव्दीमें किसी समय हुए है।

गोम्मटसारकी टीकाएँ

कर्मकाण्डके अन्तमें एक गाथा इस प्रकार आती है—

> गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
> सो राओ चिरकाल णामेण य वीर मत्तडी ॥९७२॥

इस गाथाकी जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका तथा तदनुसारिणी सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका भापाटीका इस प्रकार है।

जी० प्र०—गोम्मटसार सूत्रलेखने गोम्मटराजेन या देशी भाषा कृता स राजा नाम्ना वीरमार्तण्डश्चिरकाल जयतु ॥

स च०—गोम्मटसार ग्रन्थके सूत्र लिखने विषै गोम्मट राजाकरि जो देशी भापा करी सो राजा नामकरि वीर मार्तण्ड चिरकालपर्यन्त जीतिवत प्रवृत्तौ।

इस परसे यह धारणा वनी कि चामुण्डरायने गोम्मटसारकी रचनाके समय उसपर देशी भापामें अर्थात् कनडीमें कोई वृत्ति रची थी और चामुण्डरायके नाम पर उसका नाम वीर मार्तण्डी था।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाके आरम्भिक मगलपद्यमें उसके रचयिताने कहा[1] है कि मैं कर्णाट वृत्तिके आधारसे गोम्मटसारकी टीका करता हूँ। इस परसे उक्त धारणा को वल मिला और कतिपय विद्वान[2] लेखकोंने यहा तक लिखा कि जीव० प्रदी-

---

१ 'नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूपण। वृत्ति गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाट-वृत्तित ॥१॥'

२ कर्मकाण्ड भूमिका पृ० ५ (रा० शा० माला स० १९२८ ई०), जीवकाण्ड भूमिका, द्रव्यसग्रह अग्रेजी, भूमिका, पृ० ४१, जीवकाण्ड अग्रेजी, भू० पृ० ७, और गोम्मटसार, मराठी टीकाकी भूमि०, पृ० १ आदि।

पिकामें जिस कर्णाटक वृत्तिका उल्लेख है वह चामुण्डरायकी वह वृत्ति है जिसका उल्लेख गो० कर्मकाण्डकी अन्तिम गाथामें किया गया है।

डॉ० ए० एन० उपाध्येने एक लेख 'गोम्मट शब्दके अर्थ विचार पर सामग्री' शीर्षकसे इ० हि० क्वा०, जि० १६मे प्रकाशित कराया था। उसका अनुवाद जै० सि० भास्करके भा८, कि० २ में प्रकाशित हुआ था। उसमें कर्मकाण्डकी उक्त अन्तिम गाथाके सम्बन्धमें अपने नोटमें डॉ० उपाध्येने लिखा[1] है—'इस गाथाकी रचना असन्तोपजनक है जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अनुसार यह 'वीरमत्तडो' पढा जाता है। क्योकि वहाँ इसे 'राओ' का विशेषण कहा है। जीवतत्त्व प्रदीपिका' में 'जाकया देसी' का 'या देशी भाषा कृता' कर लिया गया है। प० टोडरमल्ल इत्यादि चामुण्डरायकी टीकाका इसे एक उल्लेख समझते है। नरसिंहाचार्यके अनुसार, चामुण्डरायने ऐसी कोई रचना नही की। इसका अर्थ केवल इतना होता है कि इस ग्रन्थकी कोई हस्तलिपि अभी तक प्रकाशमें नही आई है (?)। जीव० प्रदी०का प्रथम श्लोक स्पष्ट रूपमें कहता है कि इसका आधार एक कन्नड टीका पर है। हमारे पास इस कथनके लिये कोई प्रमाण नही है कि यह चामुण्डरायकी कृति है। हमे मालूम है कि कन्नडमें गोम्मटसारकी टीका है जिसका नाम जीवतत्त्व प्रदीपिका है जिसे केशववर्णीने सन् १३५९ में रचा था। वे अभय सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और धर्मभूषणके आदेशानुसार यह टीका की थी। वीर मार्तण्डी, जैसा कि गाथामें मिलता है देशीका विशेपण है और यह वृत्तिका नाम है। चामुण्डरायकी उपाधि भी वीरमार्तण्ड थी, जो उन्होने तोलम्त्राके युद्धमें अपनी वीरता प्रदर्शित करके प्राप्त की थी। और यह असगत प्रतीत नही होता कि उन्ह ने इसका नाम अपनी एक उपाधिके नाम पर रक्खा हो। यदि हमारे देशी शब्दका अर्थ सत्य है तो इसका अर्थ है कि कन्नड जो कि एक द्रविड भाषा है एक प्राकृतभाषाके लेखकके द्वारा देशी नामसे सम्बोधित की गई है।'

उक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि डॉ० उपाध्ये भी इस वातसे सहमत है कि उक्त गाथाका वीरमार्तण्डी देशीका विशेषण है और वृत्तिका नाम है। अत उक्त गाथाका जो अर्थ समझा गया वह एकदम गलत तो नही समझा गया। किन्तु चामुण्डरायकी इस प्रकारकी किसी कृतिका कोई उल्लेख अन्यत्र नही मिलता।

गोमट्टसार पर अव तक दो सस्कृत टीकाएँ प्रकाशमें आई है, उनमेंसे एकका नाम मन्द प्रवोधिका है और दूसरीका जीव तत्त्व प्रदीपिका। ये दोनो टीकाएँ गान्धी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्तासे प्रकाशित गोमट्टसारके शास्त्राकार संस्करणमें प० टोडरमलजीकी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाके साथ

---

१ जै० सि० भा० ८, कि० २, पृ० ९०।

प्रकाशित हो चुकी है। इनमें मन्द प्रवोधिका जीवकाण्डकी गाथा ३८३ तक ही मुद्रित है। इस टीकाके कर्ता अभयचन्द्र है। अभयचन्द्रने अपनी टीका पूरे गोमट्ट-सार पर रची थी। या उसे उन्होने अपूर्ण ही छोड दिया था, यह अभी तक अनिर्णीत है।

जीवतत्त्वप्रदीपिका टीकाके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके रचयिताने मन्द प्रवोधिका टीकाका पूरा अनुसरण किया है। उसके वहुतसे विव-रण मन्दप्रवोधिकाके अनुसार है। मन्द प्रवोधिकाके अधिकाश परिभाषिक विव-रणोको जी० प्रदीपिकामें पूरी तरहसे अपना लिया गया है। जी० प्रदीपिकाके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमे जो सस्कृत पद्य दिये गये है वे भी मन्द प्रवोधिकामें पाये जाने वाले पद्योकी अनुकृति है। जी०[1] प्रदी० में अभयचन्द्रका नामोल्लेख भी किया गया है।

जी०का०गा० ३८३ की मन्द[2] प्रवोधिका टीकामें गाथाका व्याख्यान न करके केवल इतना लिखा है कि श्रीमदभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत व्याख्यान यहाँ समाप्त हो जाता है। अत यह कर्णाटवृत्तिके अनुसार कहता है। यदि यह वाक्य जी० प्रदीपिकामें होता तो उससे यह स्पष्ट था कि वह बात जी० प्रदीपिकाके कर्ताने कही है। किन्तु टोडरमलजीकी टीका जी० प्रदीपिकाका ही अनुवाद है। और उसमें उक्त वाक्यका अनुवाद नही है। अत जी० प्रदी० के कर्ताका तो यह वचन हो नही सकता और मन्दप्रवोधिकाका कर्ता ऐसी बात लिख नही सकता। अत उक्त कथन किसका है यह स्पष्ट नही होता। और उसके आधार पर यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि जी०प्रदी० के कर्ताको भी यही तक टीका प्राप्त हुई थी।

इसके सिवाय कर्मकाण्डके कलकत्ता सस्करणमें दी हुई सपादकीय टिप्पणोसे यह प्रकट होता है कि सभवतया उनके सामने कर्मकाण्ड पर अभयचन्द्र रचित मन्द प्रवोधिका टीका वर्तमान थी क्योकि उन्होने अपने टिप्पणोमें यह वतलाया है कि जी० प्र० के मन्द प्र० में इतना पाठ अधिक है और उस पाठको उद्धृत भी किया है। अत मन्द प्रवोधिका टीकाकी प्रतियोकी खोज किये विना यह कहना शक्य नही है हि अभयचन्द्रने अपनी मन्द प्रवोधिका टीका गोमट्टसार जीवकाण्डके अमुक भाग तक बनाई थी।

---

१ 'इति श्रीमदभयचन्द्रसूरिसिद्धान्तचक्रवर्त्यभिप्राय ।
जी०का०टी०, गा० १३।

२ 'म० प्र०—'श्रीमदभयचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीविहितव्याख्याना विश्रान्तमिति-कर्णाटवृत्यनुरूपमयमनुवदति ।

१ मन्दप्रबोधिका टीका

मन्द प्रबोधिकाका नाम सार्थक है। टीकाकारने यथासभव सक्षेपमें प्रत्येक गाथाका अर्थ दिया है और जहाँ स्पष्टीकरणके लिये विशेष कथनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ विशेष कथन किया है। सस्कृत भी सरल है विशेष कठिन नही है। प्रथम मंगल गाथाका व्याख्यान करते हुए चामुण्डरायके प्रश्नको इस ग्रन्थके निर्माणमें निमित्त बतलाया है। गुरु शिष्य परम्परासे प्रवर्तित उपदेशको हेतु बतलाया है। गाथा सूत्रोका परिमाण ७२५ बतलाया है और ग्रन्थका नाम जीवकाण्ड, जीवप्ररूपण अथवा जीवस्थान बतलाया है। कर्ताके तीन भेद किये है—मूलतन्त्र-कर्ता भगवान महावीर, उत्तर तन्त्रकर्ता गौतम गणधर और उत्तरोत्तर तन्त्रकर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहा है।

टीकाके अवलोकनसे टीकाकारके सिद्धान्त विषयक ज्ञानकी गम्भीरता प्रकट होती है। किन्तु उनके सिद्धान्त चक्रवर्तित्वमे सन्देह होता है। मगलके प्रकरणमे उन्होने लिखा[1] है कि गौतम गणधरने वेदना खण्डके आदिमें 'णमो जिणाण आदि मगल किया है। किन्तु धवला (पृ० ९, १०३) मे लिखा[2] है कि गौतम गणधरने महाकर्म प्रकृति प्राभृतके आदिमे णमोजिणाण आदि मगल किया था और वहाँसे लाकर भूत बलि भट्टारकने उसे वेदना खण्डके आदिमें रखा। अभयचन्द्रजी या तो भूलसे वैसा लिख गये है या फिर उन्होने धवलाका पूरा अनुगम नही किया प्रतीत होता। किन्तु उनका सिद्धान्त विषयक ज्ञान परिपूर्ण था। इसमें सन्देह नही है।

जीवतत्त्व प्रदीपिका में तो उनका अनुसरण किया ही गया है किन्तु जिस कर्णाटवृत्तिके आधार पर जीवतत्त्व प्रदीपिकाको रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने की है उस कर्णाटवृत्तिकी रचना भी मन्द प्रबोधिकाके साहाय्यकी ऋणी है यह बात डा० ए० एन० उपाध्येने अपने लेखमें[3] दोनो टीकाओंसे एक उद्धरण देकर स्पष्ट की है। वह उद्धरण जीवकाण्डकी गा० १३ की टीकाका है। कर्नाटकटीकावाले

---

१ 'श्रीमद् गौतम गणधरपादैरपिवेदनाखण्डस्यादौ णमोजिणाणमित्यादिना'
—गो० म० प्र० टी०, पृ० १४।

२ 'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदियादि चउवीस अणियोगावयवस्स आदीए गोदम-सामिणा परूविदस्स भूदवलिभडारएण वेयणाखण्डस्स आदीए मगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स' ।—षट्खं, पु०, ९, पृ० १०३।

३ गो० जी० प्र० टीका, उसका कर्तृत्व और समय'—अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३।

उद्धरणमें अभयचन्द्र सूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीका नाम भी है जिससे किसी प्रकारका सन्देह नही रहता। अत गोमट्टसारकी उपलब्ध इन तीनो टीकाओमें मन्द प्रबोधिका आद्य टीका है। शेष दोनो टीकाए उसीके आधार पर बनी है। इस दृष्टि से उस टीका और उसके कर्ताका महत्व स्पष्ट है।

कर्ता और रचनाकाल

मन्द प्रबोधिकाके कर्ताका नाम अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती है। उनकी टीकासे उनके तथा रचनाकालके सम्बन्धमें कोई सकेत तक नही मिलता। किन्तु चूंकि कटर्नाटक वृत्तिमे उनका उल्लेख है अत यह निश्चित है कि कर्णाटकवृत्तिसे पहले मन्द प्रबोधिकाकी रचना हो चुकी थी। कर्णाटकवृत्तिके रचयिता केशववर्णी अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य थे और उन्होने अपनी वृत्ति धर्मभूषण भट्टारकके आदेशानुसार शक स० १२८१ या ईस्वी सन् १३५९ में लिखी थी। ऐसा डॉ० उपाध्येने अपने उक्त लेखमें लिखा है। अत निश्चय ही मन्द प्रबोधिकाकी रचना उससे पहले हुई है। किन्तु कितने समय पहले हुई है यह चिन्त्य है।

अभयचन्द्रने जीवकाण्ड गा० ५६–५७की मन्दप्रबोधिका[1] टीकामें श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवका निर्देश किया है। श्रवणबेलगौलाके एक शिलालेखमे जो ई० सन् १३१३ का है बालेन्दु पण्डितका उल्लेख है। डॉ० उपाध्येने अभयचन्दके द्वारा निर्दिष्ट बालचन्द्रको और श्रवणबेलगोलाके शिलालेखमें स्मृत बालेन्दु पण्डितको एक ही व्यक्ति माना है। उन्होने यह भी लिखा[2] है कि 'इसके अतिरिक्त उनकी पदवियो-उपाधियो और छोटे-छोटे वर्णनोसे जो कि उनमें दिये हुए है, मुझे मालूम हुआ है कि हमारे अभयचन्द्र और बालचन्द्र, सभी सम्भावनाओको लेकर वे ही है जिनकी प्रशसा बेलूर शिलालेखोमें की गई है और जो हमें बतलाते है कि अभयचन्द्रका स्वर्गवास ईस्वी सन् १२७९ में और बालचन्द्रका ईस्वी सन् १२७४ में हुआ था।'

इस तरह डॉ० उपाध्येने अभयचन्द्रकी मन्द प्रबोधिकाका समय ईस्वी सन्की तेरहवी शताब्दीका तीसरा चरण स्थिर किया है। जो अन्य प्रमाणसे भी समर्थित होता है।

---

१ 'पुनरपि कथभूता ? विमलतरध्यानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवना -प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धिसामर्थ्येनायुर्वर्जितसप्तकर्मणा गुणश्रेणि गुण सक्रम-स्थित्यनुभागकाण्डकघातै षोडशप्रकृतिक्षपणेन मोहनीयस्याष्टकषायादिक्षपणेन बादरसूक्ष्मकृष्टिविधानेन अन्यैश्चोपायै आत्मन श्रेयोमार्गभ्रान्तिहेतु ' इति-श्रीबालचन्द्र पण्डितदेवाना तात्पयर्थि ।'—म–प्रबो०।

२ वही लेख, अने० वर्ष ४, कि० १।

अभयचन्द्रने जी० का० की प्रथम गाथाकी मन्द प्रवोधिका टीकामें एक पद्य[1] उद्धृत किया है जो प० आशाधरके अनगार धर्मामृतके नौवें अध्यायका २६वा पद्य है। प० आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीका वि० स० १३०० अर्थात् ई० सन् १२४३में समाप्त की थी। अत मन्दप्रवोधिककी रचना उसके वाद हुई यह निश्चित है। और चूँकि कर्णाटक वृत्तिकी समाप्ति ई० सन् १३५९ में हुई।' अत मन्द प्रवधिकाकी रचना सन् १२४३ और १३५९ के मध्यमें किसी समय हुई है। श्रवण वेलगोला और वेलूरके शिलालेखोमें निदिष्ट वालचन्द्र पण्डित और अभयचन्द पण्डित भी इसी समयमें हुए है। किन्तु श्रवणवेल गोलाके शिलालेखमें वालेन्दु पण्डितको अभयचन्द्रका शिष्य वतलाया है। और एक गुरु अपनी टीकामें अपने शिष्यके मतका उल्लेख 'इति वालचन्द्र पण्डित देवाना तात्पर्यार्थ' इस रूपमे नही कर सकता।

किन्तु उसमें[2] अभयचन्द्रको 'सिद्धान्ताम्भोधि सीतद्युति' विशेपण दिया है जो वतलाता है कि अभयचन्द्र सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमाके तुल्य थे। अत ई० सन् १३१३ के शिलालेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र मन्द प्रवोधिकाके कर्ता होना चाहिये। प्रश्न केवल वालचन्द्र पण्डितदेवको उनका शिष्य वतलानेका रह जाता है।

इस सम्वन्धमें परमागमसारके रचयिता श्रुतमुनिने जो अपनी प्रशस्ति उसके अन्तमें दी है वह[3] भी यहाँ उल्लेखनीय है। परमागमसारकी समाप्ति शक स० १२६३ में हुई है। प्रशस्तिमें लिखा है—श्रुतमुनिके अणुव्रत गुरु वालेन्दु, महाव्रत

---

१ 'उच्यते, 'नेष्ट विहतुं शुभभावभग्नरसप्रकर्प प्रभुरन्तराय। तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदार्हदादे।" इति वचनेन।—म० प्रवो०।

२ 'तच्छिष्यश्चरुकीर्ति प्रथितगुणगण पण्डितस्तस्य शिष्य,
ख्यात श्रीमाघनन्दिव्रतिपतिनुतभट्टारकस्तस्य शिष्य।
सिद्धान्ताम्भोधिसीतद्युतिरभयशशी तस्य शिष्यो महीयान्
वालेन्दु पण्डितस्तत्पदनुतिरमलो रामचन्द्रोऽमलाङ्ग ॥१६॥'
—शिला० स०, भा० १, पृ० ३२।

३ 'अणुवद गुरुवालेंदू महव्वदे अभयचद सिद्धति।
सत्येऽभयसूरि पहा (भा) चदा खलु सुयमुणिस्स गुरु ॥२२५॥
सिरिमूलसघ-देसियगण-पुत्थयगच्छ कोडकुदाणं।
परमण्ण-इंगलेसर वलिम्मि जादस्स मुणिपहाणस्स ॥२२६॥
सिद्धंताहयचदस्स य सिस्सो वालचंद मुणिपवरो।
सो भविय कुवलयाण आणंदकरो सया जयउ ॥२२७॥
प्रश० सं० भा० १, पृ० १९१।

गुरु अभयचन्द्र सिद्धान्तिक, और शास्त्र गुरु अभयसूरि और प्रभाचन्द्र थे। आगे लिखा है—सैद्धान्तिक अभयचन्द्रके शिष्य बालचन्द्र मुनि जयवन्त हो। शब्दागम, परमागम, तर्कागमके वेत्ता तथा सकल अन्यवादियोके जेता अभयसूरि सिद्धान्ती जयवन्त हो।

विचारणीय यह है कि श्रवणबेल गोलाके शिलोलेखमें निर्दिष्ट अभयचन्द्र और उनके शिष्य बालचन्द पण्डित तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिमें स्मृत अभयचन्द्र और उनके शिष्य वालचन्द्र मुनि क्या एक ही व्यक्ति है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उक्त शिलालेख मूलसघ देशीगण और पुस्तक गच्छके आचार्योंसे सम्बद्ध है तथा श्रुतमुनिकी प्रशस्तिभी मूलसघ, देशीगण और पुस्तक गच्छकी इगलेश्वर शाखासे-सम्बद्ध है। अन्तर इतना ही है कि एक जगह बालचन्द-को पण्डित लिखा है और एक जगह मुनि। हो सकता है कि मन्दप्रवोधिकाकी रचनाके समय वे केवल वालचन्द पण्डित हो और पीछे उन्होने मुनिपद धारण कर लिया हो।

किन्तु इन दोनो उल्लेखोके समन्वयमें सवसे वडी बाधा वेलूरके शिलालेख है जिनमें शक स० १२०१ मे अभयचन्दकी और उनसे ५ वर्ष पूर्व बालचन्दकी मृत्यु वतलाई है। क्योकि परमागमसारकी रचनाके समय यदि श्रुतमुनिकी अवस्था ५० वर्ष भी मान ली जाये तो शक स० १२१३ में उनका जन्म हुआ होगा। उस समयसे बहुत पहले अभयचन्द और बालचन्दका स्वर्गवास हो चुका था।

किन्तु श्रवणवेलगोलाके जस शिलालेखमें अभयचन्द्र और उनके शिष्य वालचन्द्र पण्डितका नाम है वह शिलालेख शक स० १२३५ का है। शक स० १२३५ में शुभचन्द्र त्रैविद्यकी मृत्यु हुई और उनकी स्मृतिमें उनके शिष्योने उनकी निपद्या निर्माण कराई। शिलालेखके अनुसार शुभचन्द्रके शिष्य चारुकीर्ति थे, चारुकीर्तिके शिष्य माघनन्दि थे, माघनन्दिके शिष्य अभयचन्द्र और अभय-चन्द्रके शिष्य बालचन्द्र पण्डित थे। ऐसी स्थितिसे अभयचन्द्र और वालचन्द्रकी मृत्यु शक स० १२०१ में या उससे पूर्व कैसे हो सकती है? अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि अपने दादा गुरु शुभचन्द्रकी मृत्युके समय अभयचन्द्र और उनके शिष्य वालचन्द्र जीवित थे और ऐसा होनेसे परमागमसारके रचयिता श्रुत-मुनिके वे दोनो व्रतगुरु हो सकते है। अत मन्दप्रवोधिकाकी रचनाका काल ईस्वी सन् की तेरहवी शताब्दीके तीसरे चरणकी अपेक्षा चौदहवी शताब्दीका प्रथम चरण होना चाहिये।

श्रुतमुनिके विद्यागुरु अभयसूरि सिद्धान्ती थे और गोमट्टसारकी कर्नाटक

वृतिके रचयिता केशववर्णीके गुरु अभयसूरि सिद्धान्त चक्रवर्ती थे। परमागमसार शक स० १२६३ में पूर्ण हुआ और गो० कर्नाटक वृत्ति शक स० १२८१ में। दोनोमें केवल १८ वर्षका अन्तर है। अत ये दोनो अभयसूरि भी एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है। इन्हे श्रुतमुनिने परमागम आदिका पूर्ण ज्ञाता वतलाया है। ऐसी स्थितिमें मन्दप्रवोधिकाके रचयिता अभयचन्द्र सिद्धान्तीका अभयसूरिके साथ साक्षात्कार हो सकता है और सम्भवतया उसीके फलस्वरूप मन्दप्रवोधिकाके आधार पर केशववर्णीके द्वारा कर्नाटक वृत्ति रची गई हो। अस्तु, जो कुछ हो पर इतना सुनिश्चित है कि अनगार धर्मामृतकी टीकाके समाप्तिकाल वि० स० १३०० के पश्चात् और कर्नाटक वृत्तिकी समाप्तिके समय शक० स० १२८१ (वि० स० १४१६)से पूर्व अर्थात् विक्रमकी चौदहवी शताब्दीमे मन्दप्रवोधिकाकी रचना हुई।

२ जीवतत्व प्रदीपिका

वर्तमानमें पूरे गोम्मटसार पर उपलब्ध होने वाली पूरी और सुविस्तृत सस्कृत टीका जीवतत्त्व प्रदीपिका ही है। गोम्मटसारके अध्ययनके यथेष्ट प्रचार-का श्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिकाको ही प्राप्त है। पं० श्री टोडरमल जीने उसीको न केवल आधार वनाकर, वल्कि अनुदित करके अपनी हिन्दी टीका सम्यग्ज्ञान चन्द्रिकाकी रचना की थी। उन्होने अपनी टीकाकी पीठिकामें लिखा है—'ऐसै विचारि श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीयनामा पञ्चसग्रह ग्रन्थकी जीवतत्त्व प्रदीपिका नामा सस्कृत टीका ताकै अनुसारि सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामा यहु देशभाषामयी टीका करनेका निश्चय किया है।' और गोम्मटसारके हिन्दी अग्रेजी और मराठीके सभी आधुनिक अनुवाद प० टौडरमल जीकी टीकाके आधार पर हुए है। अत इस सवका परम्पराश्रेय जीवतत्त्व प्रदीपिका को ही है।

किन्तु इस टीकाके कर्तृत्वको लेकर कुछ भ्रम फैल गया था। पं० टोडरमल जी ने अपनी हिन्दी टीकामें इस टीकाको केशववर्णीकी बतलाया है। उसीके आधार पर गोम्मटसारके आधुनिक टीकाकारोने भी उसे केशववर्णीकी वतलाया। प० टोडरमल जीके उक्त उल्लेखका कारण जीवकाण्डकी जीवतत्त्व प्रदीपिकाके अन्तमें पाया जानेवाला एक श्लोक है जो इस प्रकार है—

> श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृतिः।
> कृतेयमन्यथा किंचिद् विशोध्यं तद्बहुश्रुतैः ॥१॥

इसका अनुवाद प० टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है—

> केशववर्णी भव्यविचार। कर्णाटक टीका अनुसार।
> सस्कृत टीका कीनी एहु। जो अशुद्ध सो शुद्ध करेहु ॥१॥

डा० उपाध्येके जिस लेख[1]का उल्लेख पहले किया गया है उस लेख में जीव-तत्त्व प्रदीपिकाके कर्तृत्वके विषयमें फैले हुए इस भ्रमका निराकरण करते हुए डा० साहबने सुन्दर विचार प्रस्तुत किया है।

असलमें उक्त श्लोक जो इस भ्रम फैलानेका कारण बना, अशुद्ध है। श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बईकी जीवतत्त्व प्रदीपिका सहित गोम्मटसारकी लिखित प्रतिमें उक्त श्लोक इस प्रकार पाया जाता है—

'श्रित्वा कर्णाटिकी वृत्तिं वर्णिश्रीकेशवैः कृताम्।
कृतेयमन्यथा किंचित्तद्विशोध्य बहुश्रुतैः ॥'

इसके साथ एक श्लोक और है जो इस प्रकार है—

श्रीमत् केशवचन्द्रस्य कृतकर्णाटवृत्तितः।
कृतेयमन्यथा किंचिच्चेत्तच्छोध्य बहुश्रुतैः ॥'

इन पद्योसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि इन पद्योंमें टीकाके कर्ताने अपना नाम नही दिया बल्कि यह लिखा है कि उसने अपनी टीका केशववर्णीकी कर्णाटवृत्ति परसे लिखी है और साथ ही यह आशा व्यक्त की है कि यदि उसकी टीकामें कुछ अशुद्धियाँ हो तो बहुश्रुत विद्वान् उन्हें शुद्ध करके पढनेकी कृपा करें।

जीवतत्त्व प्रदीपिकाको कर्णाटक वृत्तिके अनुसार रचनेकी प्रतिज्ञा टीकाकारने अपनी टीकाके प्रथम मंगल श्लोकमें ही की है—

'नेमिचन्द्रं जिनं नत्वा सिद्धं श्रीज्ञानभूषणम्।
वृत्तिं गोम्मटसारस्य कुर्वे कर्णाटवृत्तितः ॥'

केशववर्णीकी कर्नाटक वृत्तिकी लिखित प्रतियां आज भी उपलब्ध है। उस वृत्तिका नाम भी जीवतत्त्व प्रदीपिका है और वह सं०जी०प्र० से कुछ बडी है। अतः इसमें तो कोई सन्देह नही रहता कि सं०जी०प्र०का के रचयिता केशववर्णी नही है।

तब प्रश्न होता है कि उसके रचयिता कौन है और कब उसकी रचना हुई है? गोम्मटसारके कलकत्ता संस्करणके अन्तमें एक प्रशस्ति[2] दी हुई है। उससे

---

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० ११३ आदि।

२ 'यत्र रत्नैस्त्रिभिर्लब्ध्वार्हन्त्यं पूज्यं नरामरैः। निर्वान्ति मूलसंघोऽयं नंद्यादाचन्द्र तारकं ॥४॥ तत्र श्रीशारदागच्छे बलात्कारगणोऽन्वयः। कुन्दकुन्द मुनीन्द्रस्य नद्याम्नायोऽपि नन्दतु ॥५॥ यो गुणैर्गणभृद्गीतो भट्टारक शिरोमणिः। भक्त्या नमामि तं भूयो गुरुं श्रीज्ञानभूषणम् ॥६॥ कर्णाटप्रायदेशेशमल्लिभूपाल भक्तितः। सिद्धान्तः पाठितो येन मुनिचन्द्रं नमामि तम् ॥७॥ योऽभ्यर्थ्य धर्मवृद्ध्यर्थं मह्यं सूरिपदं ददौ। भट्टारकशिरोरत्नं प्रभेन्दुः स

पता चलता है कि सस्कृत जी०प्र० टीकाके कर्ता मूलसघ, शारदागच्छ बलात्कार गण, कुन्दकुन्दान्वय और नन्दि आम्नायके नेमिचन्द्र हैं। वे ज्ञानभूषण भट्टारकके शिष्य थे। प्रभाचन्द्र भट्टारकने उन्हें सूरिपद प्रदान किया था। कर्णाटकके जैन राजा मल्लिभूपालकी भक्तिवश उन्हे मुनिचन्द्रने सिद्धान्त पढाया था। लाला वर्णीके आग्रहसे वे गुर्जर देशसे आकर चित्रकूटमें जिनदास शाह द्वारा निर्मापित चैत्यालयमें ठहरे। वहाँ उन्होने सूरि श्री धर्मचन्द्र, अभयचन्द भट्टारक और लाला वर्णी आदि भव्य जीवोंके लिये, खण्डेलवाल वशके साह सागा और साह सहेसकी प्रार्थना पर कर्णाट वृत्तिके अनुसार गोम्मटसारकी वृत्ति लिखी। उसकी रचनामें विविध विद्यामें विख्यात विशालकीर्ति सूरिने सहायता की और उसे प्रथम बार हर्ष पूर्वक पढा। त्रैविद्य चक्रवर्ती निर्ग्रन्थाचार्य अभयचन्द्रने उसका सशोधन करके उसकी प्रथम प्रति तैयार की थी।'

अत उक्त प्रशस्तिके अनुसार सस्कृत जीव तत्त्व प्रदीपिका टीकाके कर्ता नेमिचन्द हैं। गोम्मटसारके अन्तर्गत अध्यायोके अन्तमे जो सन्धि वाक्य हैं उनसे भी इस बातका समर्थन होता है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्रकृताया गोम्मटसारापरनामपञ्चसग्रहवृत्तौ' यहाँ नेमिचन्द्रकृताया पद 'वृत्तिका विशेपण है न कि गोम्मटसारका, क्योकि वृत्तिकी तरह वह भी स्त्रीलिंगमे प्रयुक्त हुआ है। किन्तु गोम्मटसारके रचयिताका नाम भी आचार्य नेमिचन्द्र था। अत किन्ही सन्धिवाक्योमें नेमिचन्द्रके साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जोड दिया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीविरचिताया गोम्मटसारपरनामपचसग्रह वृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकाख्याया कर्मकाण्डे त्रिकरणचूलिका नाम अष्टमोऽधिकार।' किन्तु यहाँ भी 'विरचिताया' पद जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक वृत्तिका विशेषण है। अत ग्रन्थकार और टीकाकारके नाम साम्यके कारण उक्त प्रकारकी भूल हो गई है।

नमस्यते ॥८॥ विविधविद्याविख्यात विशालकीर्तिसूरिणा। सहायोऽस्या कृतौ चक्रेऽधीता च प्रथम मुदा ॥९॥ सूरे श्रो धर्मचन्द्रस्याभयचन्द्रगणेशिन। वर्णि लालादिभव्याना कृते कर्णाटवृत्तित ॥१०॥ रचिता चित्रकूटे श्रीपार्श्वनाथालयेऽमुना। साधुसागासहेसाभ्या प्राथितेन मुमुक्षुणा ॥११॥ गोम्मटसारवृत्तिर्हि नद्याद् भव्यै प्रवर्तिता। शोधयन्त्वागमात् किंचित् विरुद्ध चेद् बहुश्रुता ॥१२॥ निर्गन्थाचार्यवर्येण त्रैविद्यचक्रवर्तिना। सशोध्याभयचन्देणालेखि प्रथम पुस्तक ॥१३॥'—गो०क०का०, पृ० २०९७-९८।

इसके नीचे गद्य प्रशस्ति है जिसमें सक्षेप में वही बात प्राय कही है जो पद्योमें कही गई है।

तथा टीकाका आद्य मगलाचरण भी इसी वातका समर्थक है। उसका पूर्वार्द्ध 'नेमिचन्द्र जिन नत्वा सिद्ध श्रीज्ञानभूपण' में जिनके विशेपण रूपसे प्रयुक्त नेमिचन्द्र और ज्ञानभूपण पद द्व्यर्थक है। इन दो पदोके द्वारा टीकाकारने अपना और अपने गुरु ज्ञानभूपणका निर्देश किया है। ज्ञानभूपण और उनकी परम्परामें होने वाले ग्रन्थकारोने प्राय मगल पद्योमें अपना और अपने गुरुका नाम विशेपण रूपसे प्रयुक्त किया है। उदाहरणके लिये भ० ज्ञानभूपणने सिद्धान्तसार भाष्यके आदिमें जो मंगलाचरण किया है उसमें उन्होने अपना और अपने गुरू लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका नाम विशेपण रूपसे दिया है। यथा

श्री सर्वज्ञ प्रणम्यादौ लक्ष्मी-वीरेन्दु-सेवितम्।
भाष्य सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानसुभूपणम्॥

इस तरहके उदाहरण वहुत मिलते है। अत यह निर्विविवाद है कि जीवतत्त्व प्रदीपिकाके रचयिताका नाम नेमिचन्द्र था और वह ज्ञानभूपणके शिष्य थे।

अव विचारणीय यह है कि वे हुए कव है ?

समय विचार

नेमिचन्द्रने अपनी प्रशस्तिमें जीवतत्त्व प्रदीपिकाकी रचनाके समयका निर्देश नही किया है। किन्तु केशववर्णीने अपनी कर्णाटवृत्तिको शक सम्वत् १२८१ में समाप्त किया था और चूकि नेमिचन्द्रकी जीवतत्त्वप्रदीपिका उसीका अनुसरण करते हुए रची गई है अत यह निश्चित है कि उसकी रचना शक स० १२८१ (वि० स० १४१६) के पश्चात् किसी समयमें हुई है। और प० टोडरमलजीने सं०जी०प्र० का के आधार पर हिन्दी टीकाका निर्माण वि० स० १८१८ या शक स० १६८३ में किया था अत जीव० प्र० उससे पहलेकी है यह भी निश्चित है। अब देखना यह है कि वि० सं० १४१६ से लेकर १८१८ तकके चार सौ वर्पोके अन्दर कव उसका निर्माण हुआ।

उक्त प्रशस्तिमें कर्णाट प्राय देशके स्वामी मल्लिभूपालका नाम आया है। डा० उपाध्येने उसीके आधार पर सस्कृत जी०प्र० की रचनाका समय ईसाकी १६ वी शताब्दीका प्रारम्भ ठहराया है। उन्होंने लिखा[1] है 'जैन साहित्यके उद्धरणो पर दृष्टि डालनेसे मुझे मालूम होता है कि मल्लि नामक एक शासक कुछ जैन लेखकोके साथ प्राय सम्पर्कको प्राप्त है। शुभचन्द्र गुर्वावलीके अनुसार विजय कीर्ति (ई० सन् की १६ वी शताब्दीके प्रारम्भमें) मल्लिभूपालके द्वारा सम्मानित हुआ था। विजयकीर्तिका समकालीन होनेसे उस मल्लिभूपालको १६ वी शताब्दी के प्रारम्भमें रखा जा सकता है। उसके स्थान और धर्म विषयका हमें परिचय

१ अनेकान्त, वर्ष ४, वि० १, पृ० १२०।

नही दिया गया। दूसरे विशालकीर्तिके शिष्य विद्यानन्द स्वामी[1] के विषयमें कहा जाता है कि ये मल्लिरायके द्वारा पूजे गये थे। और ये विद्यानन्द ई० सन् १५४१ में दिवगत हुए हैं। इससे भी मालूम होता है कि १६ वी शताब्दीके प्रारम्भमें एक मल्लिभूपाल था। हुमचका शिलालेख इस विषयको और भी अधिक स्पष्ट कर देता है। वह बतलाता है कि यह राजा जो विद्यानन्दके सम्पर्कमें था सालुव मल्लिराय कहलाता है, यह उल्लेख हमे मात्र परम्परागत किंवदन्तियोसे हटाकर ऐतिहासिक आधार पर ले आता है। सालुव नरेशोने कनारा जिलेके एक भाग पर राज्य किया है और वे जैनधर्मको मानते थे। मल्लिभूपाल मल्लिरायका सस्कृत किया हुआ रूप है। और मुझे इसमे कोई सन्देह नही है कि नेमिचन्द्र सालुव मल्लिरायका उल्लेख कर रहे हैं। यद्यपि उन्होने उनके वशका उल्लेख नही किया है। १५३० ई० के लेखमें उल्लिखित होनेसे हम सालुव मल्लिरायको १६ वी शताब्दीके प्रथम चरणमें रख सकते हैं। और यह उसके विद्यानन्द तथा विजयकीर्ति विषयक सम्पर्कके साथ भी अच्छी तरह सगत जान पडता है। इस तरह नेमिचन्द्र के सालुव मल्लिरायके समकालीन होनेसे हम स० जीव० प्रदीपिकाकी रचनाको ईसाकी १६ वी शताब्दीके प्रारम्भकी ठहरा सकते हैं।'

श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीने 'जिनचन्द्र ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र' शीर्षक अपने लेखके टिप्पणीमे लिखा है कि २६ अगस्त १९१५के जैन मित्रमें गोम्मटसार टीका-की प्रशस्ति प्रकाशित हुई थी। उसके अनुसार यह टीका वीरनिर्वाण सम्वत् २१७७ में समाप्त हुई। प्रेमीजीने उस प्रशस्तिका जो आशय दिया है उससे यही ज्ञात होता है कि वह प्रशस्ति वही है जो गोम्मटसारके कलकत्ता सस्करणके अन्तमें प्रकाशित हुई है। किन्तु उसमें उसका रचनाकाल नही दिया, जबकि जैनमित्रमें प्रकाशित प्रशस्तिमें रचनाकाल दिया हुआ है। किन्तु वह वीर निर्वाण सम्वत्के रूप-में है। प्रेमीजी ने लिखा है—'गोम्मटसारके कर्ताके मतसे २१७७में विक्रम सवत् (२१७७ – ६०५ = १५७२ + १३५) १७०७ पडता है अतएव उक्त नेमिचन्द्रके गुरु ज्ञानभूषण कोई दूसरे ही ज्ञानभूषण हैं जो सिद्धान्त सारके कर्तासे सौ सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं।'

उसका उल्लेख करते हुए डॉ० उपाध्येने लिखा है यह समय (अर्थात् वि० सं० १७०७ या ईस्वी सन् १६५०) मल्लिभूपाल और नेमिचन्द्रको समकालीन नही ठहरा सकता। चूँकि असली प्रशस्ति उद्धृत नही की गई है अत इस उल्लेख-की विशेषताओका निर्णय करना कठिन है। हर हालतमें ई० सन् १६५० जी०

---

१ 'विशालकीर्ते ' श्रीविद्यानन्द स्वामीति शब्दत ।
अभवत्तनय साधुर्मल्लिरायनृपार्चित ॥'
—प्रश० स० [आरा], पृ० १२५ ।

प्रदीपिकाकी वादकी प्रतिलिपिकी समाप्तिका समय है, न कि स्वयं जी० प्रदीपिका रचनाकी समाप्तिका समय।

अर्थात् डॉ० उपाध्येके लेखके अनुसार वि० स० १७०७ से पहले ही टीका-की रचना हो चुकी थी। ऐसी स्थितिमें इस समस्याको सुलझानेके दो साधन हो सकते है, प्रथम, प्रशस्तिमें निर्दिष्ट वीर नि० सम्वत् की समीक्षा और दूसरा नेमिचन्द्रके द्वारा उल्लिखित अपने समकालीन व्यक्तियोकी छानवीन, जिनकी ओर डॉ० उपाध्येने इसलिये ध्यान देना उचित नही समझा कि चूँकि इन नामोके अनेक आचार्य और साधू जैन परम्परामे हो गये है। अत केवल नामोकी समानताके आधार पर कोई निर्णय करना खतरनाक हो सकता है।' किन्तु जब हम अन्य किसी आधारसे किसी निर्णय पर पहुँच जाते है तव यदि उसको आधार वना कर इस वातकी खोज की जाये कि उस समय पर इस नामके व्यक्ति हुए है या नही तो उससे निर्णयकी सारता या निस्सारता पर प्रकाश पडे विना नही रह सकता। अत हम उक्त दोनो साधनोसे प्रकृत समस्याको सुलझानेका प्रयत्न करते है

दक्षिणमें प्रचलित वीर निर्वाण सम्वत्के सम्वन्धमें मतभेद है। और उस मतभेदका कारण है 'विक्रमाक शक' को विक्रम सम्वत् या शक सम्वत् समझा जाना, क्योकि त्रिलोकसारकी गाथा ८५० की टीकामे लिखा है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्प ५ मास पश्चात् विक्रमाक शक राजा होगा। और विक्रम सम्वत् तथा शालिवाहन शक सम्वत्के वीचमें १३५ वर्षका अन्तर है। उत्तर भारतमें जो वीर नि० स० वर्तमानमें प्रचलित है वह उक्त कालको शालिवाहन शकका सूचक मानकर ही प्रचलित है और अनेक शास्त्रीय उल्लेख उसके पक्षमें है यहाँ उनकी चर्चासे प्रयोजन नही है। यहाँ तो यह वतलानेका प्रयोजन इतना ही है कि प्रेमीजी ने जो २१७७ वी० नि० स०में ६०५ वर्प घटाकर जो १३५ जोडे है यदि वे दक्षिण-के मतभेदको दृष्टिमें रखकर न जोडे जायें, और उसे ६०५ घटानेसे जो शेप रहता है उसे विक्रम सम्वत् मान लिया जाये तो डॉ० उपाध्येके द्वारा निर्णीत और प्रशस्तिमें उल्लिखित कालमें जो सौ सवा सौ वर्षका अन्तर पडता है वह नही पडेगा। अथ तु २१७७ – ६०५ = १५७२ विक्रम सम्वत्में और १५७२ – ५७ = १५१५ ई० में नेमिचन्द्रने गोम्मट्टसारकी टीका समाप्त की। डॉ० उपाध्येने यही काल उसका निर्णीत किया है।

अव हम दूसरे साधनको देखेंगे—

मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणके भट्टारक श्रीज्ञानभूषण सागवाडे-

---

१ अनेकान्त, वर्ष ४, कि० १, पृ० १२०।

की गद्दीके भट्टारक थे। नन्दिसघ[1]की पट्टावलीमें उनका विस्तारसे परिचय दिया है। उनके द्वारा रचित तत्त्वज्ञानतरगिणीकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल विक्रम सवत् १५६० दिया है। नेमिचन्द्रकी गोमटसार टीकाका जो रचनाकाल ऊपर दिया है उसके साथ इसका बराबर मेल खाता है। तत्त्व ज्ञान तरगिणीसे गो० टीकाकी रचना बारह वर्षके पश्चात् हुई है। यह ज्ञानभूपण गुजरातके रहनेवाले थे और दक्षिण तथा उत्तरके प्रदेशोमें सम्मान्य थे। नेमिचन्द्र भी गुजरातसे ही चित्रकूट गये थे।

नेमिचन्द्रको सूरिपद भट्टारक प्रभाचन्द्रने प्रदान किया था। वादिचन्द्रने वि० स० १६४० में अपना पार्श्व पुराण रचा था और वि० स० १६४८ में ज्ञान सूर्योदय नाटक रचा था, उन्होने अपने गुरुका नाम भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखा है। तथा अपनेको ज्ञानभूपणका प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रका शिष्य बतलाया है। इन्होने स्व रचित श्रीपालाख्यान नामके गुजराती ग्रन्थमें अपनी गुरु परम्परा[2] इस प्रकार दी है—विद्यानन्दिके पट्टपर मल्लिभूपण, उनके पद पर लक्ष्मीचन्द्र, फिर वीरचन्द्र, ज्ञानभूपण, प्रभाचन्द्र और उनके पद पर वादिचन्द्र। ज्ञानभूपणके शिष्य सुमति-कीर्तिने अपनी पचसग्रह[3] वृत्तिमें भी एक पद्यके द्वारा यही गुरु परम्परा दी है। तथा प्रेमीजीने लिखा है कि इस श्रीपालाख्यानकी प्रशस्तिमें जो लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द है वे वही है जिनका उल्लेख ज्ञानभूपणने अपने सिद्धान्तसार भाष्यके मगलाचरणमें 'लक्ष्मीवीरेन्दु सेवित' पदसे किया है। अर्थात् तत्त्व ज्ञान तरंगिणीके रचयिता उक्त भट्टरक ज्ञनभूपणके शिष्य प्रभाचन्द्र भट्टारक थे और इन्ही प्रभा-चन्द्र भट्टारकने नेमिचन्द्रको सूरि पद दिया था। अत इनकी सगति भी उक्त कालके साथ ठीक बैठ जाती है।

इस तरहसे प्रेमीजीके द्वारा निर्दिष्ट प्रशस्तिमें जो गोमट्टसार टीकाका रचना काल वीर निर्वाण स० २१७७ दिया है उसमें ६०५ वर्ष कम करनेसे १५७२ को शक सम्वत् न लेकर वि० स० लेनेसे, वह टीकाका रचनाकाल उचित ठहरता है और उसकी सगति नेमिचन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट समकालीन व्यक्तियोके साथ भी

---

१ जै० सि० भा० की कि० ४, पृ० ४३-४५।

२ जै० सा० इ०, पृ० ३८७।

३ 'विद्यानन्दि गुरुर्यतीश्वर महान् श्री मूलसघेऽनघे,
श्रीभट्टारक मल्लिभूपणमुनिर्लक्ष्मीन्दुवीरेन्दुकौ॥
तत्पट्टे भुवि भास्करो यतिव्रति श्रीज्ञानभूषो गणी
तत्पाद द्वयपकजे मधुकर श्रीमत्प्रभेन्दुर्यति॥१॥'

—प० सं० वृत्ति० पृ० १२४।

ठीक बैठती है। अत वि० स० १५७२ या ई० सन् १५१५ टीका समाप्तिका काल जानना चाहिये।

टीकाका परिचय

इसमें तो सन्देह ही नही कि जीव तत्त्व प्रदीपिका टीका एक महत्त्वपूर्ण टीका ग्रन्थ है। गोम्मटसारके गहन विषयोंको उसमें वहुत सरल रीतिसे स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है। सैद्धान्तिक विषयोकी चर्चाके साथ ही साथ गोमटसारमें जो अलौकिक गणित-सख्यात, असख्यात, अनन्त, श्रेणि, जगत्प्रतर, घनलोक आदि राशियोका कथन है, उसे सहनानियोके द्वारा अकसदृष्टिके रूपमे स्पष्ट किया गया है। और अपने जानतेमें टीकाकारने किसी विषयको गूढरूपमें नही रहने दिया है। जीव विषयक और कर्मविषयक प्रत्येक चर्चित विषयका सैद्धान्तिक रूपमें सुन्दर विश्लेषण किया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि टीकाकार श्री नेमिचन्द्राचार्यको जैन सिद्धान्तका गम्भीरज्ञान था। उनकी टीकामें प्रसङ्गवश चर्चित विषयोकी यदि तालिका वनाई जाये तो एक लम्वी सूची तैयार हो सकती है।

उनकी शैली स्पष्ट और सस्कृत परिमार्जित है। उसमें दुरूहता और सदिग्धता नही है। साथ ही साथ न अनावश्यक विस्तार है और न आवश्यक विस्तारका सकोच है। सक्षेपमें गोम्मटसार ग्रन्थके हृद्यके समझनेके लिये जिस ढगकी टीका आवश्यक हो सकती है, जी० प्रदीपिका तदनुरूप ही है।

उसके देखनेसे टीकाकारके वहुश्रुतत्वका भी परिचय मिलता है। उसमें सस्कृत और प्राकृतके लगभग एक सौ पद्य उद्धृत है। जो समन्तभद्राचार्यकी आप्त-मीमासा, विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, सोमदेवके यशस्तिलक, नेमिचन्द्रके त्रिलोक-सार और आशाधरके अनगार धर्मामत आदि ग्रन्थोसे लिये गये है। तथा टीकामें यतिवृषभ, भूतवली, भट्टाकलक, नेमिचन्द्र, माधवचन्द्र, अभयचन्द्र और केशववर्णी आदि ग्रन्थकारोका नामोल्लेख है।

किन्तु यह टीका केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिके आधार रची गई है। अत दोनोका मिलान किये बिना यह कहना शक्य नही है कि उक्त विशेषताओंका श्रेय केवल नेमिचन्द्रको ही है, केशववर्णीको नही। सभव है केशववर्णीकी कर्नाटवृत्तिमें भी वे सव विशेषताएँ हो। फिर भी नेमिचन्द्रकी वृत्तिका जो रूप हमारे सामने है वह एक प्रशसनीय टीकाके सर्वथा अनुरूप है।

सुमतिकोर्तिकी पञ्चसग्रह वृत्ति

प्राकृत पचसग्रह पर एक वृत्ति सुमतिकीर्तिकी रची हुई है। इसकी एक प्रति देहलीके पचायती जैन मन्दिरमें वर्तमान है। यह प्रति सवत् १७११की

लिखी हुई है। टीकाकी प्रशस्तिमे उसके रचयिताने अपनी गुरुपरम्पराके साथ उसका रचनाकाल भी दिया है। तदनुसार [2]संवत् १६२० में टीकाकी रचना हुई थी। अत उक्त प्रति टीकाकी रचनासे ९० वर्ष पश्चात् की लिखी हुई है।

रचयिताका परिचय

टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सुमतिकीर्ति मूलसघके अन्तर्गत नन्दिसघ, बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके भट्टारक ज्ञानभूषणके शिष्य थे। प्रशस्तिमें ज्ञानभूषणकी गुरुपरम्परा इस प्रकार दी है—पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र फिर ज्ञानभूषण। लक्ष्मीचन्द और वीरचन्दने तथा ज्ञानभूषणने सुमतिकीर्तिको दीक्षा और शिक्षा दी थी। ज्ञानभूषणके कहनेसे ही सुमतिकीर्तिने पञ्चसग्रहकी यह वृत्ति रची थी और ज्ञानभूषणने उसे [1]शुद्ध किया था। अत यह ज्ञानभूषण भी वही है जिन्होने सिद्धान्तसार भाष्य और कर्मप्रकृति टीका रची है। तथा सुमतिकीर्ति भी उन्हीके शिष्य है।

जैसा कि ऊपर लिखा है विक्रम[2] सं० १६२०में भाद्रपद शुक्ला दशमीके दिन ईलख (?) स्थानमें वृषभालय (ऋषभदेव मन्दिर)में टीकाकी समाप्ति हुई थी। प० परमानन्द[3] जीने 'ईलख' को गुजरातका ईडर नामक स्थान बतलाया है। और लिखा है कि सुमतिकीर्ति भी ईडरकी गद्दीके भट्टारक थे। इन्होने अपने गुरु ज्ञानभूषणके साथ कर्मकाण्ड[4] (कर्मप्रकृति) की भी टीका रची थी, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

भ० सकलभूषणने वि०स० १६२७में अपनी उपदेश रत्नमाला समाप्त की थी। उसकी प्रशस्तिमें अपनी गुर्वावली देते हुए उन्होने भट्टारक शुभचन्द्रका उत्तराधिकारी सुमतिकीर्तिको बतलाया है और अपनेको सुमतिकीर्तिका गुरुभाई कहा है। यह सकलभूषण शुभचन्द्रके शिष्य थे।

---

१ 'दीक्षा शिक्षापद दत्त लक्ष्मीवीरेन्द्र (न्दु) सूरिणा। येन मे ज्ञानभूषेण तस्मै श्री गुरवे नम ॥९॥ आगमेन विरुद्धं यद् व्याकरणेन दूषितम्। शुद्धीकृतं च तत्सर्वं गुरुभिर्ज्ञानभूषणैः ॥१०॥—जै०प्र०स०, पृ० १५६।

२ 'श्रीमद् विक्रम भूपते परिमिते वर्षे शते षोडशे, विंशत्यग्रगते सिते शुभतरे भाद्रे दशम्या तिथौ। 'ईलावे' वृषभालये वृषकरे सुश्रावके धार्मिके, सूरि श्रीसुमतीशकीर्तिविहिता टीका सदा नन्दतु ॥१३॥—जै०प्र०स०, पृ० १५६।

३ जै०प्र०स०, प्रस्ता० पृ० ७५।

४ 'तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकर। टीका हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥'—जै०प्र०स०, पृ० १५३।

पचसंग्रह वृत्ति

इस वृत्तिकी जो प्रति हमें देखनेको प्राप्त हुई उसके प्रारम्भके ४८ पत्र नही है और उनके स्थानमें पचसग्रह मूलके ४९ पत्र रख दिये गये हैं। अत टीकाके प्रारम्भके विपयमें कुछ कहना शक्य नही है। टीकाके अन्तका सन्धिवाक्य इस प्रकार है—

'इति श्री पचसग्रहापरनाम-लघुगोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थटीकाया कर्मकाण्डे सप्तति नाम सप्तमोऽधिकार । इति श्री लघुगोम्मटसारटीका समाप्ता ।'

सर्वत्र सन्धि वाक्योमे ग्रन्थको लघु गोम्मटसार कहा गया है और उसका दूसरा नाम पचसग्रह वतलाया है। गोम्मटसारकी टीकाकी प्रशस्तिमें भी गोम्मटसारका अपर नाम पचसंग्रह वतलाया गया है। यथा—'इत्याचार्य श्री नेमिचन्द्र-विरचिताया गोम्मटसारपरनामपचसग्रहवृत्तौ जीवतत्त्वप्रदीपिकाया ।'

शायद पचसग्रहके टीकाकारने पचसग्रहको लघु गोम्मटसार समझा है। किन्तु अपनी टीकामें उन्होंने पचसग्रहका निर्देश पंचसग्रह नामसे ही किया है। यथा—'इदमुपगमविधान गोम्मटसारे प्रोक्तमस्ति । पचसग्रहोक्त भावोऽय कथ्यते ।'

फिर भी उक्त सन्धिवाक्य इस वातका साक्षी है कि उस समय भी गोम्मट-सारको कितना ऊँचा स्थान प्राप्त था। शायद लोग इस वातकी कल्पना ही नही कर सकते थे कि गोम्मटसारसे भी कोई महान सिद्धान्त ग्रन्थ हो सकता है जिस-परसे गोम्मटसार सग्रहीत किया गया है। अस्तु,

धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सम्वत् १७९९ की लिखी हुई इसकी एक प्रति हमें देखनेको मिली। इस प्रतिमें उसकी अन्तिम प्रशस्ति नही है। किन्तु प० परमानन्दजीने अपने प्रशस्ति सग्रहमें उसकी प्रशस्ति दी है। प्रशस्ति के पश्चात् अन्तिम सन्धिवाक्य इस प्रकार दिया है—'इति श्री भट्टारक श्री ज्ञान भूपणविरचिता कर्मकाण्डग्रन्थटीका समाप्ता ।'

नीचे टिप्पणमें लिखा है कि जयपुर और देहलीकी कितनी ही प्रतियोमें ज्ञान भूषणनामाकिता सूरिसुमतिकीर्ति विरचिता' ऐसा पाठ पाया जाता है जो ग्रन्थ-की दोनो भट्टारको द्वारा सयुक्त रचना होनेका परिणाम जान पडता है (जै० प्र० पृ० १५६)।

ऐ० प० सरस्वती भवन झालरापाटनकी ग्रन्थ नामावलिमें भी कर्म प्रकृति टीका 'सुमति कीर्ति युग् ज्ञानभूपणकृता' ऐसा लिखा हुआ है। ज्ञानभूपणके साथ 'सुमतिकीर्तियुक्' विशेपण लगानेका कारण यह है कि टीकाके आदिवाक्य और प्रशस्तिमें यही पद पाया जाता है—

यथा—

विद्यानन्दि सुमत्यादि भूप लक्ष्मीन्दुसद् गुरुन् ।
वीरेन्दु-ज्ञानभूपं हि वन्दे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

इसमें विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण और सुमति कीर्तिको नमस्कार किया है।
प्रशस्तिमे लिखा है

मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः ।
तस्य पट्टे च वीरेन्दु विबुधो विश्ववन्दितः ॥१॥
तदन्वये दयाम्भोधि ज्ञानभूषो गुणाकरः ।
टीका हि कर्मकाण्डस्य चक्रे सुमतिकीर्तियुक् ॥२॥

अर्थात् मूलसंघमे महासाधु लक्ष्मी चन्द्र यतीश्वर हुए। उनके पट्ट पर विश्व-वन्द्य वीरचन्द्र हुए। उनके वंशमें दयालु गुणाकर ज्ञानभूषण हुए। उन्होंने सुमति कीर्तिके साथ कर्मकाण्डकी टीका रची।

इससे स्पष्ट है कि टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति दोनो है। यह ज्ञानभूषण ईडरकी गद्दी वाले ज्ञानभूषण नही है किन्तु सूरतकी गद्दीवाले ज्ञान भूषण है। उन्हीके शिष्यका नाम सुमतिकीर्ति था।

टीकाके आदि और अन्तिम श्लोकोंमे इसे कर्मकाण्डकी टीका कहा है और इसी लिये मूल ग्रन्थका कर्ता सिद्धान्तपरिज्ञानचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्र कविको वतलाया है। सिद्धान्त और चक्रवर्तीके बीचमें जो परिज्ञान पद डाल दिया गया है वह सिद्धान्त चक्रवर्तीका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये ही डाला गया जान पडता है। किन्तु वास्तवमें यह कर्मकाण्डके आधार पर संकलित कर्मप्रकृतिकी टीका है।

यह टीका गोम्मटसारकी टीकाको देखकर बनाई गई है क्योंकि प्रशस्तिमें इस बातको स्वीकार किया है। यथा

टीका गोमट्टसारस्य विलोक्य विहित ध्रुव ।
पठन्तु सज्जना सर्वे भाष्यमेतन्मनोहरम् ॥३॥

अर्थात् गोम्मट्टसारकी टीकाको देखकर रचे गये इस मनोहर भाष्यको सब सज्जन पढे।

गोमट्टसारकी नेमिचन्द्र कृत जीवतत्त्व प्रदीपिका टीकाके साथ मिलान करनेसे यह बराबर स्पष्ट हो जाता है कि एकको देखकर दूसरीकी रचनाकी गई है। उदाहरणके लिये यहाँ केवल दूसरी गाथाकी दोनो टीकाएं देते है—

नेमि० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इत्यर्थ । सोऽपि कारणान्तरनिरपेक्षता अग्निवायु जलाना उर्ध्वतिर्यग्निम्नगमनवत् । सहि स्वभाववन्तपेक्षते इति । कयो

स । जीवागयो जीव कर्मणो । तत्र रागादिपरिणमनमात्मन स्वभाव रागाद्यु-त्पादकत्व तु कर्मण । तदेतरेतराश्रयदोप तत्परिहारार्थं तयो जीवकर्मणो सम्वन्ध अनादिरित्युक्त । क इव । कनकोपले मलमिव स्वर्णपाषाणे स्वर्णपापाणयो सम्ब-न्धस्य अनादिरिव । अनेन अमूर्तो जीव मूर्तेन कर्मणा कथ वध्यते इत्यपास्त । तयोरस्तित्वं कुत सिद्ध । स्वत सिद्ध । अह् प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मन दरिद्र श्री-मदादिविचित्रपरिणामात् कर्मणश्च तत्सिद्धे ॥२॥

ज्ञान० टी०—प्रकृति शील स्वभाव इति प्रकृतिपर्यायनामानि । स्वभाव-स्य लक्षण किं । इति चेत् कारणान्तरनिरपेक्षत्व स्वभाव । यथा अग्नेरूर्द्धगमन स्वभाव वायो तिर्यग्गमन स्वभाव जलस्य च निम्नगमन स्वभाव । स च स्वभाव-वन्तं अपेक्षते । स स्वभाव कयो जीवागयो जीवकर्मणो इत्यर्थ । तत्र जीवकर्मणो-र्मध्ये आत्मन रागादि परिणमन स्वभाव कर्मण रागाद्युत्पादकत्व स्वभाव । स्व-भावो हि स्वभाववन्तमन्तरेण न भवति, स्वभाववान् स्वभाव विना न भवति इत्युच्यमाने इतरेतराश्रयदोषप्रसग स्यात् । तत्परिहारार्थंअनयो जीवकर्मणो-रनादि सम्वन्ध । कयोरिव कनकोपलयोर्मलमिव । यथा कनकपापाणे मलसम्द्वन्ध अनादि तथा जीव कर्मणोरनादिसम्बन्ध । तयो जीर्वकर्मणोरस्तित्व कथसिद्ध ? स्वत सिद्धं । कथमिति चेत् अह् प्रत्ययवेद्यत्वेन आत्मनोऽस्तित्व एको दरिद्र एक श्रीमान् एक सुखी एको दुखी इति विचित्र परिणमनात् कर्मणोऽस्तित्व सिद्धमिति ।

चू कि कर्मप्रकृति टीकाके रचयिता ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्ति है अत उसका रचनाकाल विक्रमकी सोलहवी शताब्दीका अन्तिम चरण और १७ वी का प्रथम चरण है ।

इस तरह दूसरी टीका पहली टीकाका अनुकरण मात्र है ।

यह हम पहले लिख आये हैं कि कर्म प्रकृतिमें जीवकाण्डकी भी गाथाए सकलित है । कर्म प्रकृतिके टीकाकारने उन गाथाओकी टीका भी जीवकाण्डकी जीवतत्व प्रदीपिका टीकाके अनुसार ही की है । यहाँ एक उदाहरण दे देना पर्याप्त होगा—

> ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टमायार ।
> अविसेसिदूण अट्ठे दसणमिदि भण्णदे समए ॥४३॥—जीवका० गा०४८२

जी० प्र०—भावाना सामान्यविशेषात्मकवाह्यपदार्थाना आकार भेद-ग्रहण अकृत्वा यत्सामान्य ग्रहण-स्वरूपमात्रावभासन तत् दर्शनमिति परमागमे भण्यते । वस्तु स्वरूपमात्रग्रहण कथ । अर्थान्-वाह्यपदार्थान् अविशेष्य-जाति क्रियाग्रहणविकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासन दर्शनमित्यर्थ ।

क० प्र० टी०—भावाना पदार्थाना सामान्यविशेषात्मकवाह्य वस्तूना आकार

भेद ग्रहण (अ) कृत्वा यत् सामान्यग्रहणं स्वरूपमात्रावभासनं तद्दर्शनमिति परमागमे भण्यते। वस्तुस्वरूपमात्रग्रहणं कथं? अर्थात् बाह्यपदार्थान् अविशेष्य जातिद्रव्यगुणक्रियाप्रकारैरविकल्प्य स्वपरसत्तावभासनं दर्शनमित्यर्थः।

वामदेवका संस्कृत[1] भावसंग्रह—

प्राकृत भाव संग्रहके संस्कृत अनुवादके रूपमें इस भाव संग्रहकी रचना हुई है। दोनो ग्रन्थोंको आमने सामने रखकर पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। यहाँ दोनोंसे कुछ उद्धरण दे देना उचित होगा।

पणमिय सुरसेणणुयं मुणिगणहरवंदियं महावीरं।
वोच्छामि भावसंगहमिणमो भव्वपबोहट्ठं ॥१॥
श्रीमद्वीरं जिनाधीशं मुक्तीशं त्रिदशार्चितम्।
नत्वा भव्यप्रबोधाय वक्ष्येऽहं भावसंग्रहम् ॥१॥

× × ×

जीवस्स होंति भावा जीवा पुण दुविहभेयसंजुत्ता।
मुत्ता पुण संसारी मुत्ता सिद्धा णिरालंबा ॥२॥
भावा जीवपरीणामा जीवा भेदद्वयाश्रिता।
मुक्ताः संसारिणस्तत्र मुक्ताः सिद्धा निरत्ययाः ॥२॥

× × ×

लोयग्गसिहरवासी केवलणाणेण मुणियतइलोया।
असरीरा गयरहिया सुणिच्चला सुद्धभावट्ठा ॥३॥
कर्माष्टकविनिर्मुक्ता गुणाष्टकविराजिता।
लोकाग्रवासिनो नित्या ध्रौव्योत्पत्तिव्ययान्विता ॥३॥

यह शब्दश अनुवाद नही है, भावानुवाद है जो प्राकृत भाव संग्रहको सन्मुख रखकर संस्कृत भाषामें अनुष्टुप् श्लोकोंके द्वारा किया गया है। रचयिताने प्राकृत भावसंग्रहका अक्षरश अनुकरण नही किया है, जगह जगह उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन आदि भी किये हैं। उसके भी यहाँ कुछ उदाहरण दे देना उचित होगा।

१ प्रा० भा० स० मे (गा० १६) मिथ्यात्वके पाँच भेद इस प्रकार बतलाये है—एकान्त, विनय, संशय, अज्ञान और विपरीत। ये ही पाच भेद जैन परम्परामें प्रसिद्ध है। किन्तु स० भा० स० में (श्लो० ३२) उनके नाम इस प्रकार दिये है—वेदान्त, क्षणिकत्व, शून्यत्व, विनय और अज्ञान। प्रा० भा० स० में ब्राह्मण-

---

१ संस्कृत भाव संग्रह भी प्राकृतभावसंग्रहके साथ श्रीमाणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईके २०वे ग्रंथ भावसंग्रहादिमे प्रकाशित हो चुका है।

को विपरीत मिथ्यात्वी बतलाया है। स० भा० सं० में वेदवादीको वेदान्त-मिथ्यावी कहा है और ब्राह्मणकी तरह ही तीर्थस्नान, मासभक्षण आदिकी बुराईया बतलाई हैं। अन्तमें लिखा है 'इति वेदान्तोक्त विपरीत मिथ्यात्वम्'। सभवतया ग्रन्थकार वेद और वेदान्तके भेदसे परिचित नही थे ऐसा लगता है। प्रा० भा० स० में सशय मिथ्यात्वका निरूपण करते हुए श्वेताम्बर मतकी उत्पत्तिका कथन किया है किन्तु स० भा० स० में चूँकि इस नामका कोई मिथ्यात्व नही है और उसके स्थानमें जो एक शून्य मिथ्यात्व नाम गिनाया है उसकी उसमें कोई चर्चा नही की गई है। अत शेप मिथ्यात्वोका कथन प्रा० भा० सं० की ही तरह करनेके वाद पृथक्रूप रूपसे श्वेताम्बर मतकी लत्पत्तिका कथन कियो है और उसे स्वमतोद्भूत[1] (अपने मतमें उत्पन्न हुआ) मिथ्यात्व कहा है।

प्रा० भा० स० में स्थविर कल्पका कथन करते हुए वर्तमान कालके मुनियोके सम्बन्धमें कहा गया[2] है कि पहलेके मुनि उक्त सहननसे एक हजार वर्षमें जितनी कर्मनिर्जरा करते थे, आजकल हीन सहननमें उतनी कर्मनिर्जरा एक वर्षमें कर लेते है। स० भा० स० में इस गाथाका अनुवाद नही किया गया और यह उचित ही किया गया क्योकि इस प्रकारका कथन पूर्वशास्त्र सम्मत नही है।

इसी तरह प्रा० भा० स० में काष्ठा सघ आदिके विरोधमें एक भी शब्द नही कहा गया है किन्तु स० भा० स०[3] में एक श्लोकके द्वारा उन्हे मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है।

प्रा० भा० स० (गा० २८० आदि) में सम्यग्दर्शनके आठो अगोमें प्रसिद्ध व्यक्तियोके नाम गिनाये है। किन्तु स० भा० स० में आठों अगोका स्वरूप रत्नकरड श्रावकाचारके अनुसार उसीके शब्दोमे कहा है (श्लो० ४१०–४१७) अन्य भी कई विशेप कथन सम्यक्त्वके सम्बन्धमें है।

पचम गुणस्थानका कथन करते हुए स० भा० स० में ग्यारह प्रतिमाओका कथन है यह कथन प्रा० भा० स० में नही है। उसमें तो केवल बारह व्रतोके नाम गिनाये है प्रतिमाओके तो नाम तक भी नही गिनाये।

स० भा० स०में दूसरी व्रत प्रतिमाका कथन करते हुए पूज्य पूजक और पूजा

---

१ 'अथोर्ध्वं स्वमतोद्भूत मिथ्यात्व तन्निगद्यते। विहित जिनचन्द्रेण श्वेताम्बर मताभिधम् ॥१८७॥'—स० भा० स०।

२ 'वरिससहस्सेण पुरा ज कम्म हणइ तेण काएण। त सपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसहणणे ॥१३१॥'—प्रा० भा० सं०।

३ येचान्ये काष्ठसघाद्या मिथ्यात्वस्य प्रवर्तनात्। आयत्या प्राप्नुयुर्दुख चतुर्गतिषु सन्ततम् ॥२८५॥—स० भा० स०।

पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—पूज्य तो निर्दोष केवली जिन है। और पूजक[1] वेश्या आदि व्यसनोका त्यागी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शीलवान शूद्र होता है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें ग्रथकारने जिनसहिताका प्रमाण भी उद्धृत किया है। यह कथन प्रा० भा० स० में नही है।

प्रा० भा० स० की तरह स० भा० स० में भी प्राभातिक विधिमें शौच आचमनका निर्देश है और नागतर्पण, क्षेत्रपालतर्पण गण अष्ट दिग्पालोकी स्थापनाका भी कथन है किन्तु प्रा० भा० स० में जो शस्त्रसहित यानसहित और प्रियासहित आह्वान करनेका विधान किया है। वह यहाँ नही है। इसी तरह प्रा० भा० स० में जिन चरणोमे चन्दनलेपनका जो कथन है वह भी स० भा० स० में नही है।

पूजनके कथनमें स० भा० सं० के कर्ताने आशाधरके सागरधर्मामृतका अनुकरण विशेषरूपसे किया है। प्रतिमाओके कथनमें भी यत्रतत्र उसकी छाया है। वैसे रत्न करडको मुख्य रूपसे अपनाया गया है।

पूजा, गुरुपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान इन श्रावकके षट्कर्मोका भी कथन है वो प्रा० भा० स० में नही है।

छठे और तेरहवे गुणस्थानके कथनमें भी प्रा० भा० स० से विशेषता है। इस तरह स० भा० स० प्रा० भा० स० का छायानुवाद होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताओको लिये हुए है। रचना सरल और स्पष्ट है। श्लोक सख्या ७८२ है।

रचयिता और समय

संस्कृत भावसग्रहके अन्तमें उसके रचयिता ने अपना नाम वामदेव और अपने गुरुका नाम लक्ष्मीचन्द्र बतलाया है। लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति था और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयेन्दु या विनयचन्द्र था। वे मूलसघी थे। तथा ग्रन्थकार वामदेव[2]का जन्म 'शशिविशदकुले नैगम श्री विशाले' में हुआ था। प्रेमीजीने लिखा[3] है कि 'निगम कायस्थ जातिका एक भेद है। आश्चर्य

---

१ 'भव्यात्मा पूजक शान्त वेश्यादिव्यसनोज्भित। ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्य स शूद्रो वा सुशीलवान् ॥४६५॥—स० भा० स०।

२ 'श्रीमत्सर्वज्ञपूजाकरणपरिणतस्तत्त्वचिन्तारसालो, लक्ष्मीचन्द्राह्निपद्म मधुकर श्रीवामदेव सुधी। उत्पतिर्यस्य जाता शशिविशदकुले नैगमश्रीविशाले सोऽय जीयात् प्रकम जगतिहसलसद्भावशास्त्रप्रणेता ॥७८१॥—स०भा०सं०।

३ भावसंग्रहादिके प्रारम्भमें ग्रंथ परिचय, पृ० ३।

नही जो प० वामदेवजी कायस्थ ही हों। दिगम्बर सम्प्रदायमें महाकवि हरिचन्द्र, दयासुन्दर आदि और भी अनेक विद्वान् कायस्थ जातिके हो चुके है।'

इस प्रकार वामदेवने अपने त्रैलोक्य[1] दीपक नामक ग्रन्थके अन्तमें भी अपना उक्त परिचय दिया है। उसमें उन्होंने अपनेको जैन प्रतिष्ठा विधिका आचार्य वतलाया है। यह ग्रन्थ उन्होने पुरवाडवशके कामदेवके पौत्र तथा जोमनके पुत्र नेमिदेवकी प्रेरणासे वनाया था। इस तरह अपने ग्रन्थोमें वामदेवने अपना सामान्य परिचय देकर भी उसके समयके विषयमें कोई निर्देश नही किया

परन्तु त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थकी एक हस्तलिखित प्रति श्रीमहावीरजी[2]के शास्त्र भण्डारमें है। उसमें उसका लेखनकाल सं० १४३६ और लेखन स्थान योगिनीपुर दिया है। तथा लेखकने फिरोजशाह तुगलकके शासनकालका भी उल्लेख किया है। अत यह निश्चित है कि वामदेवका समय 'स० १४३६ के वाद का नही हो सकता।'

द्विसन्धानकाव्यकी नेमिचन्द रचित टीकाकी प्रशस्तिमें नेमिचन्द्रने अपनेको विनयचन्दका प्रशिष्य और देवनन्दिका शिष्य वतलाया है। तथा त्रैलोक्यकीर्तिके चरण कमलोको भी नमस्कार किया है। वामदेवने भी अपने गुरु लक्ष्मीचन्द्रके गुरुका नाम त्रैलोक्यकीर्ति और त्रैलोक्यकीर्तिके गुरुका नाम विनयचन्द वतलाया है। अत नेमिचन्दके गुरुके गुरु विनयचन्द और वामदेवके दादा गुरु विनयचन्द एक ही व्यक्ति प्रतीत होते है। उन्हीके शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति थे। किन्तु वे कव हुए इसका कोई पता नही चलता क्योकि द्विसन्धान टीकामें भी उनके समयका निर्देश नही है और न अन्यत्रसे ही उनके सम्वन्धमे कोई ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकी जिससे उनके समय पर प्रकाश पड सकता हो।

---

१ जै०ग्र० प्र०स०, भा० १, पृ० २०३-२०५।

२ 'आमेर शास्त्र भण्डारकी ग्रन्थ सूची'—पृ० २१८।

नाम सूची